आगम-व्याकरण-न्याय-ज्योतिष आदि विविध विषय मर्मज्ञ

जैनाचार्य श्री घासीलाल जी महाराज प्रणीत

न्यायरत्न सार

(न्यायरत्न लघु टीका तथा न्याय रत्नावली बृहट्टीका)

संप्रेरक

ध्यानयोगी तपस्वी खानदेश केशरी पंडितरत्न

स्व० मुनिश्री कन्हैयालाल जी महाराज

प्रकाशक

आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति

इन्दौर

प्रकाशक के बोल

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साहित्य समाज का दर्पण तो है ही, गौरव भी है। जिस समाज का साहित्य जीवन्त है, वह अमर है। महाकाल के क्रूर प्रहार भी उसके अमर यश एवं संस्कारों को मिटा नहीं सकते।

स्थानकवासी जैन परम्परा के प्रज्ञापुरुष स्व० आचार्य श्री घासीलालजी महाराज इस शताब्दी के महान् साहित्यस्रष्टा सन्त थे। उनके विषय में कहा जाता है कि वे जैन परम्परा के द्वितीय हेमचन्द्र थे। श्रुतोपासना और श्रुत-सर्जना ही उनके जीवन का अन्यतम उद्देश्य था। उनके द्वारा रचित साहित्य की सूची (जीवन परिचय में) देखकर पाठक अनुभव कर सकते हैं, उन्होंने श्रुत-सर्जना में किस प्रकार अपना जीवन समर्पित कर समूची मानव-जाति के लिये ज्ञान का अमर दीपक प्रज्वलित रखा।

आचार्यश्री द्वारा सम्पादित/संशोधित आगम तथा कतिपय अन्य ग्रन्थ तो प्रकाश में आ चुके हैं, किन्तु अभी भी उनका अधिकांश साहित्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। आश्चर्य है कि एक महापुरुष ने हमारे लिए इतनी विपुल ज्ञान-राशि एकत्र की और हम उसकी सुरक्षा भी नहीं कर सकते! क्या एक व्यक्ति के इस महान श्रम को हम हजारों व्यक्ति मिलकर भी उजागर नहीं कर सकते?

खानदेश केशरी पं० रत्न, तपस्वी, ध्यानयोगी स्व० मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज परम उपकारी गुरुदेव श्री घासीलालजी महाराज की पुण्य स्मृति में जब कभी भाव-विभोर होकर उनके विषय में प्रकाश डालते थे तो हमारे मन की खिड़कियाँ खुल जाती थीं और सोचने लगते थे कि जिस अतीव श्रम और समर्पण भाव से जिन्होंने इतना विशाल साहित्य सृजन किया, वह आज कितनी और कैसी दयनीय स्थिति में है? वे बहुमूल्य पाण्डुलिपियाँ या तो कपाटों में बन्द पड़ी हैं या उन पर धूल, मिट्टी जम रही है और खतरा है कि कहीं यह दुर्लभ विपुल-ज्ञान राशि साहित्य तस्करी के रास्ते विदेशों को न चली जाय? उन विदेशों को, जहाँ हमारी दुर्लभ सांस्कृतिक ज्ञान-सम्पदा मिट्टी के भाव खरीदकर उसमें से सोना पैदा किया जाता है। हम जानते हैं कि भारत की दुर्लभ साहित्य सामग्री विपुल परिमाण में विदेशों में बिकी है और उससे खूब लाभ उठाया गया है। गुरुदेव प्रणीत इस साहित्य-सम्पदा पर भी कहीं किसी की कुदृष्टि न पड़े अतः हमें इस विषय में पहले से ही सावधान रहना चाहिए।

कुछ वर्ष पूर्व तपस्वीराज श्री कन्हैयालालजी महाराज जब इन्दौर पधारे और उन्होंने हमारे सम्मुख जब इस साहित्य के संरक्षण की चर्चा की तो हम सब गद्गद् हो उठे। तत्क्षण दृढ़ संकल्प किया गया कि साहित्य की इस मूल्यवान निधि का यथोचित सम्पादन प्रकाशन करवाकर जन-जन के कल्याण के लिए इसे शीघ्र ही उपलब्ध करवाया जाय। गुरुदेव श्री की प्रेरणा तथा मार्ग-दर्शन में एक समिति

का गठन किया गया और साहित्य प्रकाशन का कार्य सुचारु रूप से संचालित करने का दायित्व श्री फकीरचन्दजी मेहता को सौंपा गया।

इस कार्य में गुरुदेवश्री की प्रेरणा से समाज के अनेक गणमान्य सज्जनों ने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है और हमें आशा है वे भविष्य में भी सहयोग करते रहेंगे। हम प्रयास करेंगे कि आचार्यश्री की महत्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन यथाशीघ्र हो। अब तक तीन विशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—

(१) प्राकृत चिन्तामणि (प्राकृत व्याकरण : प्रथमा परीक्षोपयोगी)

(२) प्राकृत कौमुदी (प्राकृत भाषा का सम्पूर्ण व्याकरण पंचाध्यायी)

(३) श्री नानार्थोदय सागर कोश (विशिष्ट शब्द कोश)

इन तीनों ग्रन्थों का मुद्रण-प्रकाशन कार्य समाज के सुपरिचित विद्वान साहित्यसेवी श्रीचन्दजी सुराना सरस (आगरा) के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ है। विद्वज्जगत में इनका यथेष्ट समादर हुआ है और गुरुदेव के अन्यान्य ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए भी हमें प्रोत्साहन मिला है।

इसी बीच दुर्भाग्य से तपस्वी गुरुदेव श्री कन्हैयालालजी महाराज का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। एक जीवंत तपोमूर्ति हमारे बीच से चली गई। उनके सान्निध्य में ही यदि हमारी प्रकाशन योजना सम्पन्न हो जाती तो गुरुदेव को विशेष सन्तोष होता, और हमें भी अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव होती, किन्तु होनहारवश, ऐसा नहीं हो सका। अस्तु अब पूज्य आचार्यश्री जी का 'न्यायरत्नसार' ग्रन्थ पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है, हमें विशेष गौरव अनुभव होता है कि इस ग्रन्थ पर जैन श्रमणों में प्रसिद्ध विद्वान पण्डित रत्न श्री विजयमुनि जी शास्त्री (राष्ट्रसन्त श्री अमरमुनिजी के सुशिष्य) ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का अवलोकन कर भारतीय दर्शन एवं न्यायशास्त्र पर तुलनात्मक प्रस्तावना लिखी है जो पाठक को मार्गदर्शक तो होगी, न्याय विषय में प्रवेश को सुगम भी बनायेगी। इस अनुग्रह के लिए हम श्री विजयमुनि जी के हृदय से आभारी हैं। आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

विनीत

फकीरचन्द मेहता
(महामन्त्री)

नेमनाथ जैन
(अध्यक्ष)

●●

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन में न्याय विद्या

दर्शन शब्द दृश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—देखना। केवल नेत्रों से देखना ही दर्शन नहीं होता, तत्त्व के साक्षात्कार को भी विद्वानों ने दर्शन कहा है। यह तथ्य 'आत्म-दर्शन' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। दर्शन शब्द का व्यापक अर्थ है—जिसमें जीवन, जगत् और जगदीश का विवेचन किया जाता है। प्राचीन काल में 'तत्त्व-विवेचन' के लिए मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता था। संस्कृत कोष में पूजित विचार को मीमांसा कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण-मोमांसा में, पूजित अर्थ में ही प्रयोग किया है। आगे चलकर आत्म-विद्या और आत्म-विज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा।

दर्शन का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

दर्शन जीवन की व्याख्या है। दर्शनशास्त्र का जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्ध है। जीवन सम्बन्धी किसी ज्ञान-विज्ञान को दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता। इतिहास, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति और विज्ञान आदि से दर्शन का सम्बन्ध दिखाया जाता है। मनोविज्ञान और धर्म-शास्त्र से दर्शन का विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जाता है। क्योंकि मनोविज्ञान से योग का और धर्मशास्त्र से आचार का विशेष सम्बन्ध रहा है। साधना में इनका विशेष उपयोग रहा है। भारतीय दर्शन में विज्ञान, धर्म और तर्क आदि का समन्वय रहा है। पदार्थ विज्ञान तथा शरीरशास्त्र भी दर्शन का अंगभूत रहा है। तर्क युग में आकर व्याकरण और साहित्य ने भी दर्शन का रूप ग्रहण कर लिया। फिलोसफी शब्द इतना व्यापक एवं गम्भीर नहीं है, जितना कि दर्शन। दर्शन समस्त मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति है। किसी एक देश अथवा एक जाति की सम्पत्ति नहीं है। लेकिन यह सत्य है, कि मानव की विभिन्न देश-गत, समाजगत, मानसिक तथा राजनैतिक परि-स्थितियों के कारण विभिन्न देशों में, दर्शनशास्त्र का आकार-प्रकार और स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित होता रहा है। अतः भारतीय दर्शन, यूनानी दर्शन एवं यूरोपीय दर्शन जैसे नाम प्रचलित हो गए हैं।

दर्शन और तर्क :

दर्शन और तर्क दोनों भिन्न हैं, लेकिन आज दोनों पर्यायवाचक जैसे प्रतीत होते हैं। दर्शन का स्थान तर्क ग्रहण करता जा रहा है। दर्शन परम सत्य अथवा परम तत्त्व को देखने एवं प्राप्त करने का उपाय, मार्ग अथवा दृष्टिकोण है। विशुद्ध

विचार का नाम दर्शन है, परन्तु विचार-स्वर्ण की परीक्षा तो तर्क की अग्नि में होती है। तर्क की कसौटी में निखरा विचार विशुद्ध होता है। विचार में दोष— आग्रह, मोह, पक्षपात, बुद्धि की मलिनता और दृष्टि के संकोच के कारण आते हैं। तर्क इन दोषों का निराकरण करके विचार को शुद्ध बनाता है और बुद्धि को निर्मल करता है। अतः तर्क को दर्शन का अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग माना गया है। कहा गया है—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धि,
सूते च संस्कृत पद व्यवहार-शक्तिम्।
शास्त्रान्तरध्यसन योग्यतया युनक्ति ;
तर्क-श्रमो न तनुते किमहोपकारम् ॥

तर्कशास्त्र में किया गया श्रम, व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का पथ प्रशस्त करता है। व्यामोह को दूर करता है। बुद्धि को विमल बनाता है। परस्पर के व्यवहार की योग्यता को बढ़ाता है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन की क्षमता प्रदान करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तर्क का उपयोग

भारतीय दर्शन में, तर्कशास्त्र को हेतु विद्या, हेतु-शास्त्र, प्रमाणशास्त्र और न्यायशास्त्र कहा गया है। तर्क का उपयोग मुख्यतया तीन प्रयोजनों के लिए किया जाता है, जैसे कि—

(क) अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए और अपने पक्ष की सिद्धि के लिए।

(ख) अपने मत पर किये गये, आरोप, आक्षेप या दोष के निवारण के लिए।

(ग) विरोधी के मत एवं सिद्धान्त के खण्डन के लिए।

वाद, जल्प, वितण्डा, कथा और सम्वाद भी तर्कशास्त्र के ही अंगभूत हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ही अपनी रक्षा के लिए तथा विरोधी पर आक्रमण करने के लिए तर्कशास्त्र का भरपूर उपयोग करता था। वादविद्या और वादशास्त्र का अध्ययन करता था। तीर्थंकर के शिष्यों में वादी-प्रतिवादी शिष्य भी होते थे, जिनका संघ में आदर-सत्कार एवं सम्मान होता था। ब्राह्मण परम्परा में, बौद्ध परम्परा में और जैन परम्परा में भी शास्त्रार्थी विद्वानों का होना परम आवश्यक माना जाता था। शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना, धर्म की प्रभावना का एक प्रधान अंग था।

प्रमाण शास्त्र का विभाजन

प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमेय की सिद्धि आवश्यक है, और वह प्रमाण से ही होती है। प्रमाण शब्द का अर्थ भी यही है, जिससे प्रमेय का यथार्थ ज्ञान हो, वह प्रमाण है। प्रत्येक सम्प्रदाय को प्रमाण स्वीकार करना ही पड़ता है। तर्क दर्शन का अंग है। अतः एवं दर्शन के वर्गीकरण के आधार पर तर्क का भी वर्गीकरण किया जा सकता है। भारतीय धर्म की, दर्शन की और संस्कृति की मूल में दो धाराएँ रही हैं—ब्राह्मण और श्रमण। वेदानुकूल और वेद प्रतिकूल। वेदसम्मत और वेदविरोधी। पहले को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक कहने की एक परम्परा चल पड़ी है। पर, यह एक भ्रान्त धारणा है। जैन और बौद्ध, नास्तिक नहीं, आस्तिक हैं। क्योंकि वे लोक और परलोक में विश्वास करते हैं। कर्म और कर्मफल में विश्वास रूरते हैं। आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। केवल वेद में विश्वास न करने भर से यदि नास्तिकता थोपी जाती है, तो वैदिक लोग भी नास्तिक क्यों नहीं ? क्योंकि वे भी जैन आगम में और बौद्ध पिटक में विश्वास नहीं करते। अतः दर्शन, प्रमाण और तर्क का विभाजन इस पद्धति से करना उचित होगा— ब्राह्मण तर्क, बौद्ध तर्क और जैन तर्क। दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है—ब्राह्मण तर्क और श्रमण तर्क। संस्कृति और सम्प्रदाय के आधार पर ही इस प्रकार का विभाजन करना न्याय-संगत कहा जा सकता है, और उचित भी यही है।

दर्शन का उद्भव संशय अथवा जिज्ञासा से माना जाता है। तथ्य यह है कि जब मानव के लिए किसी कर्तव्य का विधान किया गया होगा सुख प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के उपाय बताए गए होंगे, तब अपने स्वरूप और जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी। उसी से दर्शन का उद्भव हुआ होगा। कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जिज्ञासा के मूल में भी व्यक्ति का सुखप्राप्ति और दुःखविनाश का उद्देश्य ही निहित होता है। प्रत्येक आत्मा में दुःखनिवृत्ति की सनातन भावना रही है। जिस दिन मनुष्य ने अपने अन्तर् के सुख-दुःख की और उसके कारणों की खोज प्रारम्भ की होगी, उसी दिन से दर्शन का प्रारम्भ हुआ होगा।

चार्वाक सम्प्रदाय

वेदभिन्न दर्शनों में पहले चार्वाक का नाम लिया जाता है। यह एक भौतिकवादी दर्शन है। इसके आचार्य बृहस्पति कहे जाते हैं। यह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। आत्मा, परमात्मा और परलोक को स्वीकार नहीं करता। भारत के समस्त दर्शनों ने इसका जोरदार खण्डन किया है। फिर भी आज वह जीवित है। सम्प्रदाय के रूप में नहीं, ग्रन्थों में उसकी सत्ता है। जनता में वह लोकप्रिय रहा है। आज उसका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, लेकिन ग्रन्थों में पूर्व पक्ष के रूप में उसकी सत्ता आज भी है। वैदिक, जैन और बौद्ध सभी ने इसके सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

आचार्य बृहस्पति प्रत्यक्षवादी विचारक था। उनके अनुसार सृष्टि के निर्माण के चार तत्त्व हैं—भूमि, जल, अग्नि और वायु। आकाश तत्त्व को वह स्वीकार नहीं करता। क्योंकि उसका किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। तत्त्व चतुष्टय से ही शरीर की उत्पत्ति होती है। उनके मिलन से चैतन्य की भी उत्पत्ति हो जाती है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब चैतन्य भी नष्ट हो जाता है इस मत में चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, जीव है।

चार्वाक अभिमत प्रमाण

अभिमत तत्वों का परिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है। प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष। चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। क्योंकि व्याप्ति का अभाव है। कार्य-कारण का अभाव है। इस मत में शब्द भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि विश्वासयोग्य व्यक्ति के द्वारा कथित शब्द ही प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। वेदों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष न होने के कारण स्वर्ग तथा नरक को भी अस्वीकार कर दिया। परलोक को मानना बेबुनियाद की बात को मानने जैसा है। क्योंकि वह प्रमाणसिद्ध नहीं है। इस भौतिकवादी दर्शन के दो विलक्षण सिद्धान्त हैं—जड़वाद और दूसरा अनीश्वरवाद। संक्षेप में, यही चार्वाक दर्शन की प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था है। इस परम्परा में भी अनेक आचार्य समय-समय पर होते रहे हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय—

बौद्ध धर्म की स्थापना गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व ५४५-४८५ में की थी। बुद्ध के बाद में उनकी शिक्षाओं की विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर १८ सम्प्रदायों में, बुद्ध का धर्म विभक्त हो गया। परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो हैं—हीनयान और महायान। हीनयान को स्थविरवाद तथा सर्वास्तित्ववाद भी कहा जाता है।

सर्वास्तित्ववाद की दो मुख्य शाखाएँ हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक का अर्थ है—विशिष्ट भाष्य। विभाषा त्रिपिटक का टीका ग्रन्थ है। विभाषा के आधार पर विकसित होने के

कारण इस शाखा का नाम वैभाषिक पड़ा। इस शाखा के प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हैं। दिङ्नाग गुरु हैं, और धर्मकीर्ति शिष्य हैं। इन वैभाषिकों का मत है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं। पदार्थ की सत्ता मानते हैं।

सूत्रान्त अथवा बुद्ध के मूल वचनों के आधार पर विश्वास करने वाले सौत्रान्तिक कहे जाते हैं। अतः इस शाखा का नाम सौत्रान्तिक पड़ गया। इस शाखा के मुख्य प्रवर्तक ईस्वी सन् ३०० में होने वाले कुमारलब्ध हैं। सौत्रान्तिकों का मत है कि ज्ञान सत्य है, परन्तु ज्ञेय की सत्यता अनुमान के द्वारा ज्ञात होती है। ज्ञान का अर्थ है—प्रमाण और ज्ञेय का अर्थ है—प्रमेय। अतः बौद्ध तार्किकों ने प्रमाण दो माने हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। दिङ्-नाग बौद्ध न्याय के पिता माने जाते हैं। धर्मकीर्ति ने बौद्ध न्याय को चरम शिखर पर पहुँचा दिया था।

महायान सम्प्रदाय का उदय हीनयान सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। महायान की दो शाखाएँ हैं—माध्यमिक और योगाचार। इनमें से मध्यम मार्ग का अनुसरण करने के कारण पहली शाखा का नाम माध्यमिक पड़ा। इस शाखा के मुख्य प्रवर्तक ईस्वी सन् १४३ के लगभग होने वाले आचार्य नागार्जुन थे। माध्यमिकों का मत है, कि ज्ञेय तो असत्य है ही, ज्ञान भी सत्य नहीं है। इस शाखा के विद्वान् का सिद्धान्त है, शून्यवाद। शून्य-वाद का अर्थ, जैसा कि लोग समझते हैं—अभाव नहीं है। शून्यवाद का अर्थ है, कि वस्तु का निर्व-चन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु अनिर्वच-नीय है। न वह सत् है, न असत्, न उभय है, और न अनुभय ही है।

महायान की दूसरी शाखा का नाम है—योगा-चार। योगाचार शाखा यौगिक क्रियाओं में आस्था रखती है, और मानती है, कि बोधि की उपलब्धि एकमात्र योगाभ्यास के द्वारा ही हो सकती है। अतएव इसका नाम योगाचार पड़ गया। इस शाखा के मुख्य विद्वान् हैं—मैत्रेयनाथ, आर्य असंग और आर्य वसुदन्धु। आर्य असंग का काल ४०० ईस्वी माना गया है। वसुबन्धु ने विज्ञानवाद को जन्म दिया। विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन का चरम विकास कहा जा सकता है। विज्ञानवाद के अनु-सार एकमात्र विज्ञान ही परम सत्य है। बाह्य वस्तु, विज्ञान का ही प्रतिबिम्ब है। उसकी वास्त-विक सत्ता नहीं है। विज्ञानवाद के बाद में, बौद्ध न्याय का विकास हुआ। न्याय के प्रवर्तक हैं—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति। न्याय प्रवेश, प्रमाण समुच्चय, प्रमाण वार्तिक, न्याय बिन्दु, हेतु बिन्दु और बौद्ध तर्क भाषा—बौद्धों के प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ हैं।

जैन सम्प्रदाय

जैन धर्म और दर्शन, अत्यन्त प्राचीन हैं। जैन परम्परा के प्रवर्तक अथवा संस्थापक तीर्थंकर होते हैं। सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे, और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। जैन परम्परामान्य आगम भगवान् महावीर की वाणी हैं। महावीर और बुद्ध, दोनों समकालीन थे। महावीर ने जो कुछ बोला था, वह आगम कहलाया और बुद्ध ने कुछ बोला था, वह त्रिपिटक कहाता है। आगम, जैन सम्प्रदाय के शास्त्र हैं। धर्म और दर्शन का मूल उद्गम, आगम एवं शास्त्र हैं। जैन परम्परा इन आगमों में अथाह आस्था रखती है, और इनके विधानों के अनुसार साधना होती है। मूल आगम पाँच विभागों में विभक्त है—अंग, उपांग, मूल, छेद और चूलिका।

जैन परम्परा का दार्शनिक साहित्य, चार युगों में विकसित हुआ है—आगम युग, दर्शन युग, अने-कान्त व्यवस्था युग और न्याय युग, तर्क युग अथवा प्रमाण युग। आगम युग में, मूल आगम और उसके व्याख्या ग्रन्थ-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका

समाहित होते हैं। इस युग के प्रसिद्ध आचार्य हैं—भद्रबाहु, संघदासगणि, जिनदास महत्तर, शीलांक एवं मलयगिरि आदि। दर्शन-युग वाचक उमास्वाति से प्रारम्भ होता है। उन्होंने षड्द्रव्य, पञ्च अस्तिकाय, सप्ततत्व और नवपदार्थों का नूतन शैली से प्रतिपादन किया था। इस युग के प्रसिद्ध आचार्य हैं—वाचक उमास्वाति, आचार्य कुन्दकुन्द और नेमिचन्द्र सूरि। अनेकान्त व्यवस्था युग, जैन साहित्य के इतिहास में, अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं चिर स्मरणीय है। क्योंकि बौद्धों का शून्यवाद तथा विज्ञानवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद तथा मायावाद, सांख्य का प्रतीकृतिवाद, मीमांसा का अपौरुषेयवाद और न्याय-वैशेषिक का आरम्भ एवं परमाणुवाद-परस्पर द्वन्द्व युद्ध कर रहे थे। उसे मिटाने के लिए अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद की युगानुकूल व्याख्या आवश्यक थी। इस कार्य को किया—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तथा आचार्य समन्तभद्र ने। सिद्धसेन का सन्मति तर्क और समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा—इस द्वन्द्वात्मक युग के प्रतिनिधि ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रमाण युग अथवा तर्क युग

इस युग में प्रमेय की नहीं, प्रमाण की चर्चा अधिक गम्भीर एवं व्यापक हो चुकी थी। नैयायिक और बौद्ध परस्पर घात-प्रतिघात कर रहे थे। एक दूसरे पर आरोप कर रहे थे। एक दूसरे का खण्डन कर रहे थे। जैन दार्शनिक कब तक तटस्थ रहते? उन्हें अपने सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए, नैयायिक और बौद्धों का खण्डन भी करना पड़ा। इस युग के प्रसिद्ध आचार्य थे—सिद्धसेन दिवाकर, वादिदेव सूरि, आचार्य हेमचन्द्र तथा उपाध्याय यशोविजय, अकलंक भट्ट, माणक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र और धर्म भूषण आदि। जैन न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—न्यायावतार, प्रमाण-नयतत्त्वालंकार, प्रमाण मीमांसा, तथा जैन तर्क भाषा, और न्याय विनिश्चय, परीक्षा मुख, प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय दीपिका आदि। जैन तार्किकों ने प्रमाण के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पहले के छह भेद और दूसरे के दो भेद—सकल एवं विकल। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रमाण विभाजन की जैनाचार्यों की यह अपनी मौलिक सूझ है। प्रमाण के विषय में आगे विशेष लिखा जायेगा। यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया है।

सांख्य-योग सम्प्रदाय

वैदिक दर्शन के षट्-सम्प्रदाय माने जाते हैं—सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा-वेदान्त। लेकिन सांख्य और योग से वेदों का सीधा सम्बन्ध नहीं है। सांख्य दर्शन में हिंसामूलक वैदिक धर्म का विरोध किया गया है। योग का सीधा सम्बन्ध शरीर और चित्तवृत्तियों से है। योग के दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। अतः दोनों दर्शनों का सम्बन्ध वेदों से नहीं है। इनका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से अधिक है। क्योंकि दोनों ही अहिंसा धर्म में पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं। योग दर्शन में, यम और नियमों का पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी माना गया है। पाँच यमों में पहला यम अहिंसा माना गया है।

कपिल का सांख्य

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं; इस दर्शन में पच्चीस तत्व माने गये हैं। मूल में तो दो ही तत्व हैं—प्रकृति और पुरुष। दोनों का संयोग संसार है, और वियोग है अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। दोनों के भेदविज्ञान से सांसारिक बन्धन कट जाते हैं। इस दर्शन में ज्ञान की प्रधानता है। सांख्य में प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रसिद्ध आचार्य हैं—कपिल, आसुरि, पंचशिख और ईश्वर-कृष्ण। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—सांख्य सूत्र, सांख्य प्रवचन भाष्य, सांख्य कारिका और उस पर सांख्य तत्व कौमुदी। सांख्य ने योग दर्शन की

साधना को अपनाया है। उसकी अपनी कोई साधना प्रक्रिया नहीं है। उसमें तो प्रकृति और पुरुष के भेद-विज्ञान पर विशेष बल दिया गया है।

पतञ्जलि का योग

योग दर्शन के उद्भावक महर्षि पतञ्जलि हैं। इन्होंने योगदर्शन सूत्र की रचना की है। योगदर्शन ने सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को अपनाया है। योग का मत है, कि केवल व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ से ही मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति और विकृति के प्रभाव से मुक्त होने के लिए चित्त की वृत्तियों का शोधन और नियन्त्रण आवश्यक है। यही है, राज योग।

योग दर्शन में सांख्य की भाँति पच्चीस तत्त्व हैं, और प्रमाण हैं तीन– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। योग का भारत में व्यापक प्रभाव था, और उसका प्रसार-प्रचार भी बहुत था। योग की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती चली गई हैं। परन्तु योग के मुख्य भेद दो हैं—राजयोग तथा हठयोग। राजयोग में मन की एकाग्रता का वर्णन है, और हठयोग में शरीर की विशुद्धि के लिए विभिन्न आसन, मुद्रा और बन्धों का वर्णन है। योग में शरीर की शुद्धि और शरीर की दृढ़ता भी तो परम आवश्यक है। अतः योग क्रियात्मक है।

योग का साहित्य :

पतञ्जलिकृत योग सूत्र, योग-सूत्र पर व्यास भाष्य, भाष्य पर तत्व वैशारदी। राजा भोज ने सूत्रों पर भोज वृत्ति लिखी। विज्ञानभिक्षु ने पातञ्जल भाष्य वार्तिक की रचना की। योग साहित्य सन्त परम्परा के सन्तों ने भी समय-समय पर अपनी भाषा में लिखा है। सांख्य और योग एक दूसरे के पूरक दर्शन सम्प्रदाय रहे हैं।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय

न्याय और वैशेषिक, दोनों एक-दूसरे के पूरक दर्शन हैं, विरोधी नहीं। दोनों में कुछ मौलिक भेद भी हैं—न्याय दर्शन प्रमाण प्रधान है, और वैशेषिक दर्शन पदार्थ प्रधान है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या न्याय दर्शन में की है, और पदार्थ-मीमांसा वैशेषिक दर्शन की अपनी विशेषता है। लेकिन आगे चलकर दोनों में समन्वय हो गया था। न्याय दर्शन चार प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वैशेषिक दर्शन सप्त पदार्थों को स्वीकार करता है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। विशेष पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही इस दर्शन को वैशेषिक कहते हैं।

विकास के तीन युग

न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय के तीन युग हैं—प्राचीन युग, मध्य युग और नवीन युग। महर्षि गौतम के न्याय सूत्र, उन पर वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्तिक, न्याय तात्पर्य वृत्ति और न्याय मञ्जरी आदि ग्रन्थ प्राचीन युग के ग्रन्थ हैं। महर्षि कणाद के सूत्र, उन पर प्रशस्तपाद भाष्य और किरणावली आदि वैशेषिक ग्रन्थ भी प्राचीन युग के ग्रन्थ हैं। आचार्य उदयन के दो ग्रन्थ—न्याय कुसुमाञ्जलि और आत्म तत्त्वविवेक भी प्राचीन युग के महत्वपूर्ण न्याय ग्रन्थ हैं। मध्ययुग में बौद्ध और जैन न्याय की गणना की है। आचार्य दिङ्नाग और आचार्य धर्मकीर्ति–बौद्ध न्याय प्रसिद्ध नैयायिक हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक भट्ट, वादिदेव सूरि, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र सूरि और उपाध्याय यशोविजय आदि जैन न्याय के प्रसिद्ध एवं विख्यात आचार्य रहे हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन का नवीन युग गंगेश उपाध्याय के चिन्तामणि ग्रन्थ से प्रारम्भ होता। मणि पर प्रसिद्ध टीका का नाम—आलोक है। इस परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं—पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य और मथुरा प्रसाद तथा जगदीश आदि प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं।

संयुक्त सम्प्रदाय

नवीन न्याय युग के बाद न्याय-वैशेषिक दर्शन

का एक संयुक्त सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। इस काल में, न्याय-वैशेषिक पर संयुक्त ग्रन्थों की रचना होने लगी थी। इस युग के ग्रन्थों को प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। इस युग के प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ हैं—शिवादित्य की सप्त पदार्थी, भासर्वज्ञ का न्याय सार, केशव मिश्र की तर्क भाषा, लौगाक्षि भास्कर की तर्क कौमुदी, अन्नं भट्ट का तर्क संग्रह और उसकी टीका दीपिका, विश्वनाथ पञ्चानन का भाषा परिच्छेद और उसकी विस्तृत टीका न्याय सिद्धान्त मुक्तावली आदि। तर्क संग्रह पर न्यायबोधिनी टीका और पदकृत्य टीका इसी संयुक्त सम्प्रदाय प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं।

न्याय-वैशेषिक वैदिक नहीं

यह सम्प्रदाय भी वैदिक नहीं है। क्योंकि यह वेदों को नित्य एवं अपौरुषेय स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार वेद, ईश्वर की वाणी हैं। इसके मत में शब्द अनित्य है। वैदिक ज्ञान में विश्वास होते हुए भी वैदिक यज्ञ एवं होम आदि क्रिया-काण्ड में विश्वास नहीं है। शब्द प्रमाण की अपेक्षा, इस में अनुमान प्रमाण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। जबकि वेदमूलक सम्प्रदायों में सर्वाधिक महत्व शब्द प्रमाण का ही माना गया है।

मीमांसा-वेदान्त सम्प्रदाय

मीमांसा सम्प्रदाय तथा वेदान्त सम्प्रदाय–दोनों वेदमूलक है। वेद ही दोनों का आधार है। लेकिन दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं, विरोधी हैं। मीमांसा का जन्म धर्म जिज्ञासा से हुआ है, तथा ब्रह्म जिज्ञासा से वेदान्त का। वेदगत क्रिया-काण्ड मीमांसा का आधार है और उसका ज्ञान-काण्ड वेदान्त का। मीमांसा यज्ञ को धर्म मानता है, और वेदान्त ब्रह्म ज्ञान को। दोनों की स्थिति एवं सत्ता एक-दूसरे के विपरीत है, फिर भी यह तो सत्य है, कि दोनों का मूल वेद है। अतः यथार्थ अर्थ में, दोनों वेदमूलक सम्प्रदाय हैं।

मीमांसा सम्प्रदाय

मीमांसा के प्रवर्तक हैं, महर्षि जैमिनि। मीमांसा-सूत्रों की रचना, इन्होंने की थी। उसका नाम है—द्वादश लक्षणी। इसमें द्वादश अध्याय हैं। इस पर शबर स्वामी का शाबर भाष्य है। कुमारिल भट्ट ने इस पर श्लोक कार्तिक की रचना की है। प्रभाकर ने भी इस पर विशाल टीका रची है। मीमांसा परिभाषा, अर्थ संग्रह और मीमांसा न्याय प्रकाश आदि इस परम्परा के प्रकरण ग्रन्थ हैं, जिनका अध्ययन मीमांसा दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है। मीमांसा दर्शन की अपनी पदार्थ मीमांसा भी है, प्रमाण मीमांसा भी है। मीमांसा दर्शन में षट् प्रमाण स्वीकृत हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अथवा आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेद अपौरुषेय हैं। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। प्रमाणों में आगम प्रमाण अथवा शब्द प्रमाण का विशेष महत्त्व है।

वेदान्त सम्प्रदाय :

इसके प्रवर्तक महर्षि व्यास हैं। वेदान्त सूत्र इनका मुख्य ग्रन्थ है। इसके चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के चार पाद हैं। आचार्य शकर ने इस पर विशालकाय शांकर भाष्य की रचना की है। अद्वैत वेदान्त का यह जीवानुभूत ग्रन्थ माना जाता है। वेदान्त सम्प्रदाय के शेष ग्रन्थ, या तो इसका समर्थन करते हैं, या फिर विरोध करते हैं। इस के अनुसार अद्वैत है, ब्रह्म। वह सत्य है, ज्ञान रूप है, और आनन्दमय है। ब्रह्म सत्य है, और यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है। माया ब्रह्म की शक्ति है। अविद्या के कारण ही जगत् की सत्ता है। इस सम्प्रदाय में एक ही तत्त्व है, और वह है, एक मात्र ब्रह्म। शांकर भाष्य पर अनेक टीकाएँ हैं, लेकिन भामती, परिमल और कल्पतरु विशेष प्रसिद्ध रही हैं। इस परम्परा के अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं। परन्तु विशेष प्रसिद्ध हैं– वेदान्तसार, वेदान्त परिभाषा, अद्वैत सिद्धि और वेदान्त मुक्तावली।

प्रमेय और प्रमाण :

ब्रह्म, जीव, आत्मा, ईश्वर, जगत् और माया—ये सब प्रमेय तत्त्व हैं। वेदान्त षट् प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में, प्रमाणों का अतिविस्तृत तथा अति सुन्दर वर्णन किया गया है। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त हैं—प्रमाण, प्रमेय और प्रयोजन। वेदान्तसार प्रमेय बहुल ग्रन्थ माना जाता है। संक्षेप में, यह वेदान्त का सार है।

जैन दर्शन में प्रमाण व्यवस्था

आगमों में व्यवस्था, अनेक रूपों में प्राप्त होती जिसका उल्लेख स्थानांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र और नन्दिसूत्र में है। यह व्यवस्था पाँच ज्ञानों को आधार मानकर की है। राजप्रश्नीय में कुमारकेशी राजा प्रदेशी को यह कहते हैं, कि हम श्रमण पाँच ज्ञान मानते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। स्थानांग में पाँच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष में मति और श्रुत का समावेश किया है, और प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्याय और केवल का अनुयोगद्वार में इसी प्रकार का कथन है, लेकिन विभाजन की शैली कुछ भिन्न है। नन्दिसूत्र में विभाजन की शैली अधिक स्पष्ट हो चुकी है। वह दर्शन युग के अधिक निकट है। वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में अथवा तत्त्वार्थसूत्र में पाँच ज्ञानों का विभाजन दार्शनिक शैली में किया गया है, जो तर्क युग के समीप पहुँच चुका है। अथवा कहना चाहिए, प्रमाण युग की पूर्व भूमिका है।

तर्क युग में ज्ञान और प्रमाण :

वाचक उमास्वाति ने ज्ञान और प्रमाण में किसी प्रकार का भेद नहीं देखा। पहले पाँच ज्ञानों का नाम बताकर, कह दिया, कि पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहाँ प्रमाण का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया गया। प्रमाण के प्रमाणत्व एवं अप्रमाणत्व की भी चर्चा नहीं की। सीधा ज्ञान और प्रमाण में अभेद सिद्ध कर दिया गया। यह ज्ञान और प्रमाण का सन्धि काल है। ज्ञान, प्रमाण में प्रवेश कर चुका है। तर्क युग का प्रारम्भ हो गया है।

जैन दर्शन में प्रमाण का लक्षण :

आगम से लेकर तत्वार्थ सूत्र तक प्रमाण के भेद-प्रभेद हो चुके थे। परन्तु प्रमाण का लक्षण एवं स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सका। इस कार्य को सम्पन्न किया—परीक्षामुख में माणिक्यनन्दी ने, प्रमाणनयतत्वालोक में वादिदेव सूरि ने और प्रमाण-मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने। माणिक्यनन्दी ने कहा—वही ज्ञान प्रमाण है, जो स्व का और अपूर्व अर्थ का निर्णय करता हो। अपूर्व विशेषण से आचार्य धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते। परन्तु यह ध्यान में रहे, कि श्वेताम्बर आचार्य धारावाही ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। वादिदेव सूरि ने कहा—स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। यहाँ अपूर्व विशेष हटा दिया गया। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने कहा—अर्थ का सम्यग् निर्णय प्रमाण है। यहाँ स्व और पर हटा दिये गये हैं। सम्यक् अर्थ निर्णय को ही रखा है। ज्ञान और प्रमाण में अभेद है। ज्ञान का अर्थ है, सम्यग्ज्ञान न कि मिथ्याज्ञान। दीपक जब उत्पन्न होता है, तब पर आदि पदार्थ को प्रकाशित करने के साथ ही अपने आपको भी प्रकाशित करता है।

प्रमाण के भेद

जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष सीधा आत्मा से उत्पन्न होने वाला है, और परोक्ष इन्द्रिय तथा मन आदि करणों की सहायता से उत्पन्न होता है। बौद्धों ने भी प्रमाण के दो भेद किये हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ न्याय बिन्दु में कहा—प्रत्यक्ष और अनुमान-

प्रमाण के ये दो भेद हैं। लेकिन जैन दर्शन के अनुसार अनुमान परोक्ष का ही एक भेद है। अतः बौद्ध दर्शन का प्रमाण विभाजन अपूर्ण ही हैं। वैशेषिक और सांख्य के तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक के चार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम एवं शब्द। प्रभाकर के पाँच हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति। भाट्ट सम्प्रदाय के छह हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि अर्थात् अभाव। चार्वाक केवल एक ही प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष। जैन दर्शन मान्य दोनों प्रमाणों में, ये सब प्रमाण समा जाते हैं, सबका अन्तर्भाव दो में ही हो जाता है। अतएव प्रमाण दो ही हैं—न कम और न अधिक।

प्रत्यक्ष के भेद

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रत्यक्ष अपने आप में पूर्ण है। उसे किसी अन्य आधार के सहयोग की आवश्यकता नहीं। प्रमाण मीमांसा, प्रमाणनय तत्वालोकालंकार और परीक्षामुख में विशद तथा स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। उसके दो भेद हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक के दो भेद हैं—सकल और विकल। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान है, और विकल प्रत्यक्ष—अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। मतिज्ञान के समस्त भेद-प्रभेद इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्द्रिय जन्य और मनोजन्य ज्ञान भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ही भेद माने जाते हैं। जैन दर्शन में ये सब प्रत्यक्ष हैं।

परोक्ष के भेद

जो ज्ञान अविशद और अस्पष्ट है, वह परोक्ष है। परोक्ष, प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है, जिसमें विशदता एवं स्पष्टता का अभाव है, वह परोक्ष प्रमाण है। उसके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। अतीत का ज्ञान, स्मृति है, अतीत और वर्तमान का ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान है, व्याप्ति ज्ञान में सहयोगी ज्ञान, तर्क है, हेतु से साध्य का ज्ञान, अनुमान है। आप्त वचन से होने वाला ज्ञान है, आगम। संक्षेप में, ये सब परोक्ष प्रमाण हैं।

प्रमाण का प्रमाणत्व

न्याय में इस विषय पर काफी तर्क-वितर्क होता रहा। प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है, कि परतः ? मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी है। सांख्य का कहना है, कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः होते हैं। जैन दर्शन इन तीनों से भिन्न सिद्धान्त की स्थापना करता है। प्रामाण्य निश्चय के लिए स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य दोनों की आवश्यकता है। अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः। यह विषय का संक्षेप है।

प्रमाण का फल

अर्थ का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान आवश्यक है। प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञान का नाश है। केवलज्ञान के लिए उसका फल सुख और उपेक्षा है, शेष ज्ञानों के लिए ग्रहण और त्याग बुद्धि है। यह कथन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का है। सामान्य दृष्टि से प्रमाण का फल यही है, कि अज्ञान नहीं रहने पाता। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं रहता।

जैनदर्शन में नयवाद

जैन परम्परा में पाँच ज्ञानों की मान्यता अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। श्रुत का अर्थ है, जो सुना गया हो। परम्परा से जिसे सुनते आए हैं, वह श्रुत होता है। शास्त्र-ज्ञान और आगम भी कहते हैं। श्रुत के दो उपयोग होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं। विकलादेश को नय कहते हैं। धर्मान्तर की अविवक्षा से किसी एक धर्म का कथन,

विकलादेश कहा जाता है। स्याद्वाद या सकलादेश द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है। विकलादेश अर्थात् नय द्वारा वस्तु के किसी एक देश का कथन होता है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है—अनेकांतात्मक है। वस्तु का ज्ञान नय एवं प्रमाण से होता है। अनेकात्मक वस्तु के कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण किया गया है। अनेकांतवाद और नय, स्याद्वाद और सप्तभंगी, जैनदर्शन के विशिष्ट तथा गम्भीर सिद्धान्त हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने स्वरचित सन्मति तर्क में अनेकान्त और नयों का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वरचित आप्तमीमांसा में स्याद्वाद और सप्तभंगी का सुन्दर वर्णन किया है। नय भी सप्त हैं और भंग भी सप्त हैं।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नयों के भेद

मूल में नयों के दो भेद हैं—द्रव्यनय और पर्यायनय—द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। द्रव्यदृष्टि अभेदमूलक है और पर्यायदृष्टि भेदमूलक है। आचार्य सिद्धसेन के कथनानुसार भगवान् महावीर के प्रवचन में मूलतः दो ही दृष्टि हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जगत् का व्यवहार भी दो प्रकार का है—भेदगामी अथवा अभेदगामी। भेद का अर्थ है विशेष। अभेद का अर्थ है—सामान्य। जैनदर्शन में वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी है।

व्यवहार और निश्चय

आगमों में निश्चय और व्यवहार से कथन करने की प्राचीन परम्परा है। कथन कहीं पर निश्चय से होता है, तो कहीं पर व्यवहार से। व्यवहार आरोप अथवा उपचार होता है। व्यवहार से कोयल कृष्ण वर्ण की है, लेकिन निश्चय से उस में पंचवर्ण हैं। घृत घट यह कथन भी व्यवहार का है, निश्चय में घट घृत का नहीं होता। जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है, उसी रूप में वह सत्य है, या किसी अन्य रूप में ? वेदान्त में दो दृष्टि हैं—प्रतिभास और परमार्थ। परमार्थ से ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। परन्तु प्रतिभास से जगत भी सत्य प्रतीत होता है। प्रतिभास व्यवहार और जो परमार्थ है, वस्तुतः वही निश्चय कहा जाता है।

इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। वह केवल श्रुत या आत्म प्रत्यक्ष का विषय होता है। वस्तुतः यही निश्चय दृष्टि अथवा निश्चयनय कहा जाता है। निश्चय और व्यवहार में यही अन्तर है कि व्यवहार वस्तु के स्थूल रूप को ग्रहण करता है और निश्चय सूक्ष्म रूप को। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य और तत्व का जो वणन किया है, वह निश्चय प्रधान वर्णन है। आचार्य व्यवहारनय को भी स्वीकार करते हैं। लेकिन गौण रूप में। समयसार तो एकदम निश्चय का कथन करता है। यही कारण है कुन्दकुन्द दर्शन, सांख्य तथा वेदान्त के निकट पहुँच गया है।

अर्थनय और शब्दनय

आगमों में स्पष्ट रूप में सप्त नयों का वर्णन मिलता है। भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र आदि में। नयों की संख्या और स्वरूप में काफी मतभेद रहे हैं। आगमगत नय, दर्शनगत नय और तर्कगत नयों में बहुत भिन्नता रही है। अनुयोग द्वार सूत्र में शब्द- समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है। बाद में नयों को दो भागों में विभक्त किया गया—अर्थनय और शब्दनय। जो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, वे अर्थनय हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—अर्थ को विषय करते हैं। अतः ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये तीन शब्द को विषय करते है। अतः ये तीन शब्द नय हैं।

नयों के सात भेद

जैनदर्शन में नय के सात भेद सिद्ध हैं—नैगम,

संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। आगम और दिगम्बर ग्रन्थ इस परम्परा का समर्थन करते हैं। दूसरी परम्परा नयों के छह भेद मानती है। इस परम्परा के अनुसार नैगम नय स्वतन्त्र नय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने स्वरचित सन्मति तर्क ग्रन्थ में इस मान्यता की जोरदार स्थापना की है। उनकी यह अपनी ही परिकल्पना है। अन्यत्र कहीं पर भी इस मान्यता का उल्लेख नहीं है। न आगमों में और न श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य में। तीसरी परम्परा तत्त्वार्थ सूत्र और उसके भाष्य की है। इस परम्परा के अनुसार मूलरूप में नयों के पाँच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से प्रथम नैगमनय के दो भेद हैं—देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी। अन्तिम शब्द नय के तीन भेद हैं—साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत। नयों की संख्या और स्वरूप के सम्बन्ध में काफी मतभेद रहे हैं। लेकिन नयों की सप्त संख्या के विषय में किसी प्रकार के मतभेद नहीं रहे हैं। जैनदर्शन में सप्तनय और सप्तभंग प्रसिद्ध हैं।

नयों का परस्पर सम्बन्ध

उत्तर नय का विषय, पूर्व नय की अपेक्षा कम होता जाता है। नैगम नय का विषय सबसे अधिक है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष अथवा भेद और अभेद, दोनों को ग्रहण करता है। संग्रह नय का विषय नैगम नय से कम हो जाता है, क्योंकि वह केवल सामान्य को अथवा अभेद को ही ग्रहण करता है। व्यवहार का विषय संग्रह से कम है, क्योंकि पृथक्करण करता है। ऋजसूत्र का व्यवहार से कम है, क्योंकि ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान पदार्थ तक ही सीमित रहता है। भूतकाल और अनागत काल उसका विषय नहीं होता है? शब्द का विषय ऋजुसूत्र से भी कम है, क्योंकि वह काल, कारक, लिंग और संख्या आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ़ का विषय शब्द से कम है, क्योंकि वह व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानता है। एवंभूत का विषय समभिरूढ़ से कम है, क्योंकि वह अर्थ को भी तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है, जब अर्थ अपनी व्युत्पत्तिमूलक क्रिया में पूर्णतया संलग्न रहता हो। अतः यह स्पष्ट है, कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय का विषय सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम होता जाता है। इसी आधार पर नयों में पूर्वापर सम्बन्ध है। यही पारस्परिक सम्बन्ध है।

सामान्य और विशेष

जैन दर्शन में, सामान्य और विशेष के आधार पर, नयों का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में विभाजन किया गया है। पहले के तीन नय सामान्यग्राही हैं। बाद के चार नय विशेषग्राही हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। उसमें अभेद के कारण सामान्य भी है, और भेद के कारण विशेष भी है। वस्तुगत ये दोनों धर्म, उसके अविभाज्य अंश अथवा अंग हैं। अतः वस्तु का एकान्त रूप में कथन नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनेक धर्मों का समूह है—वस्तु। नय वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करता है, और प्रमाण वस्तु को समग्र रूप में ग्रहण करता है। नय और प्रमाण में यही अन्तर है।

अभेद और भेद

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु में अभेद और भेद को स्वीकार करता है। वस्तु न एकान्त भिन्न और न एकान्त अभिन्न ही है। द्रव्य दृष्टि से अभेद और पर्यायदृष्टि से भेद भी है। वस्तु नित्य भी है, वस्तु अनित्य भी है। वस्तु एक भी है, वस्तु अनेक भी है। वस्तु सत् भी है, वस्तु असत् भी है। भगवान महावीर की यही तो अनेकान्त दृष्टि है। इसी की व्याख्या है—नयवाद। इसी की व्याख्या है—स्याद्वाद।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

जैन आगमों में स्याद्वाद और विभज्यवाद

शब्दों का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। दोनों ही शब्द जैन-दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैन दर्शन के मर्म को समझने के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। विभज्यवाद का प्रयोग तो बौद्ध पिटक मज्झिम निकाय में भी हुआ है। भगवान् बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी कहा है एकांशवादी नहीं। जैन परम्परा के सूत्रकृतांग सूत्र में, इसी शब्द का प्रयोग किया है। भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग करे। जैन दर्शन में इस शब्द का प्रयोग अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के अर्थ में किया गया है। जिस अपेक्षा से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो, उस अपेक्षा से उसका उत्तर देना ही स्याद्वाद है। अतः अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, विभज्यवाद और अपेक्षावाद समानार्थक शब्द हैं।

भगवती सूत्र में महावीर और जयन्ती का संवाद, महावीर और गौतम के संवाद तथा महावीर और तापसों के संवाद—यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् महावीर अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। किसी भी प्रश्न का उत्तर वे एकान्तवाद से नहीं देते थे, अनेकान्तवाद से ही दिया करते थे। उनकी दृष्टि में सत्—उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वभाव से संयुक्त था। गणधर गौतम को भी उन्होंने यही दृष्टि प्रदान की थी, जिसके आधार पर गणधर ने चतुर्दश पूर्वों की संरचना की थी। जैन दर्शन का यह मूल है।

जैन दर्शन में सप्तभंगी

वस्तु में अनेक धर्म हैं। किसी एक धर्म का कथन किसी एक शब्द से होता है। यह सम्भव नहीं कि अनेकान्तात्मक वस्तु के सभी धर्मों का वर्णन कर सकें। क्योंकि एक वस्तु के सम्पूर्ण वर्णन का अर्थ है—सभी वस्तुओं का सम्पूर्ण वर्णन। अतः वस्तु का कथन करने के लिए दो दृष्टियाँ हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश का अर्थ है—किसी एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद करके वस्तु का वर्णन करना। एक गुण में अशेष वस्तु का संग्रह करना सकलादेश है। यह कथन आचार्य अकलंक का है। उन्होंने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में कहा—"एक गुणमुखेन शेष वस्तुरूप संग्रहात् सकलादेशः।"

विकलादेश में, एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की अपेक्षा। जिस धर्म का कथन अभीष्ट होता है, वही धर्म दृष्टि के सामने रहता है। अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता, अपितु उस समय प्रयोजन न होने से उनका ग्रहण नहीं होता। यही उपेक्षाभाव है, लेकिन यह निषेध नहीं है। निषेध में संघर्ष है। वहाँ अनेकान्त नहीं, एकान्तवाद हो जाता है। सप्तभंगी को समझने में सकलादेश और विकलादेश का बड़ा महत्त्व है।

सकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है, उसे प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं। विकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है, वह नय सप्तभंगी है। इसका अर्थ है कि नय का कथन विकलादेश और प्रमाण का कथन है, सकलादेश। सकल का अर्थ है, सम्पूर्ण। विकल का अर्थ है—अंश; अंश कथन। कथन की ये दो पद्धतियाँ हैं। एक में शेष का अभेद करके कथन करना, और भेद करके अंश-अंश कथन करना।

सप्तभंगों का कथन

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में कहा है कि "प्रश्नवशाद् एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि-प्रतिशेष विकल्पना सप्तभंगी।" एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की विकल्पना सप्तभंगी है। जब हम अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं, तब नास्तित्व भी निषेध रूप से हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। जब हम सत् का प्रतिपादन करते हैं, तब असत् भी सामने आ जाता है। किसी भी वस्तु के विधि और निषेध रूप दो पक्ष वाले धर्म का बिना विरोध के प्रतिपादन करने से जो सात प्रकार के विकल्प उठते हैं, वही सप्तभंगी है। विधि और निषेधरूप धर्म का वस्तु में

किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों पक्ष एक ही वस्तु में अविरोधभाव से रहते हैं।

सप्तभंगों का स्वरूप

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१. कथंचित् घट है,
२. कथंचित् घट नहीं है,
३. कथंचित् घट है और नहीं है,
४. कथंचित् घट अवक्तव्य है,
५. कथंचित् घट है और अवक्तव्य है,
६. कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है,
७. कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है।

प्रथम भंग विधि की कल्पना के आधार पर है। इसमें घट के अस्तित्व का विधिपूर्वक प्रतिपादन है।

दूसरा भंग प्रतिषेध की कल्पना के आधार पर है। जिस अस्तित्व का प्रथम भंग में विधिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, उसी का इसमें निषेधपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

तीसरा भंग विधि और निषेध दोनों का क्रम से प्रतिपादन करता है। पहले विधि का ग्रहण करता है और बाद में निषेध का। यह भंग प्रथम और द्वितीय दोनों भंगों का संयोग है।

चतुर्थ भंग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनों का युगपत् प्रतिपादन होना, वचन के सामर्थ्य के बाहर है। अतएव इस भंग को अवक्तव्य कहा गया है।

पाँचवाँ भंग विधि और युगपत् विधि-निषेध दोनों का प्रतिपादन करता है। प्रथम और चतुर्थ के संयोग से यह भंग बनता है।

छठा भंग निषेध और युगपत् विधि और निषेध दोनों का कथन है। यह भंग द्वितीय और चतुर्थ-दोनों का संयोग है।

सातवाँ भंग क्रम से विधि और निषेध और युगपत् विधि और निषेध का प्रतिपादन करता है। यह तृतीय और चतुर्थ भंग का संयोग है।

'कथंचित् घट है। इसका क्या अर्थ है ?' किस अपेक्षा से घट है। स्वरूप की अपेक्षा से घट है और पररूप की अपेक्षा से घट नहीं है। सर्व पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से हैं, पररूप की अपेक्षा से नहीं हैं। स्वरूप और पररूप को समझना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जिसकी विवक्षा होती है, वह स्वरूप या स्वात्मा है। वक्ता के प्रयोजन के अनुसार अर्थ का ग्रहण करना, स्वात्मा का ग्रहण कहलाता है। इसके विपरीत परात्मा का ग्रहण होता है। वस्तु के स्वरूप और उसके पररूप को समझने से वास्तविक निर्णय हो जाता है, सही रूप सामने आता है।

चार निक्षेप

एक शब्द प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द का चार अर्थों में विभाग किया जाता है। इसी अर्थ विभाग को न्यास एवं निक्षेप कहते हैं। ये चार विभाग हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी का एक नाम रख देना, नाम निक्षेप। मूर्ति और चित्र आदि स्थापना निक्षेप है। भूतकाल और अनागत काल में रहने वाली योग्यता का वर्तमान में आरोप करना, द्रव्य निक्षेप है। वर्तमानकालीन योग्यता का निर्देश करना भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों में रहने वाला जो विवक्षित अर्थ है, वह स्वरूप अथवा स्वात्मा कहा जाता है। स्वात्मा से भिन्न अर्थ परात्मा अथवा पररूप है। विवक्षित अर्थ की दृष्टि से घट है, तद्भिन्न दृष्टि से घट नहीं है। यदि इतर दृष्टि से भी घट हो, तो नाम आदि व्यवहार अर्थात् निक्षेप का उच्छेद हो जाएगा। अतः निक्षेप को समझना अनिवार्य है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से स्वरूप और पररूप का विवेचन यहाँ आवश्यक है। घट का द्रव्य मिट्टी है। जिस मिट्टी से घट बना है, उसकी अपेक्षा से वह सत् है। अन्य द्रव्य की अपेक्षा से वह सत् नहीं है। क्षेत्र का अर्थ है—स्थान-

विशेष। जिस स्थान पर घट है, उस स्थान की अपेक्षा से वह सत् है। अन्य स्थानों की अपेक्षा से वह असत् है। जिस समय घट है, उस समय की अपेक्षा से वह सत् है। उस समय से भिन्न समय की अपेक्षा से वह असत् है। भाव का अर्थ है—पर्याय अथवा आकार विशेष। जिस आकार या पर्याय का घट है, उसकी अपेक्षा से वह सत् है। तद्भिन्न आकार एवं पर्याय की अपेक्षा से वह असत् है अतः स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से घट है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से घट नहीं है।

प्रमाण सप्तभंगी

सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का पहला रूप है। असत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का दूसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभय धर्म मुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का तीसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभय धर्म मुखेन युगपत् वस्तु का प्रतिपादन करना असम्भव है। इसलिए प्रमाण वचन का यह चतुर्थ रूप अवक्तव्य है। उभयमुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ सत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का पाँचवां रूप है। उभयमुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ असत्त्व-मुखेन भी वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का छठा रूप बन जाता है। उभय धर्ममुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ उभय धर्म मुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का सातवां रूप बन जाता है। जैन दर्शन में इसको प्रमाण सप्तभंगी नाम दिया गया है। प्रमाण सप्त-भंगी प्रसिद्ध है।

नय सप्तभंगी

वस्तु के सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना, नय वचन का पहला रूप है। असत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना, नय वचन का दूसरा रूप है। उभय धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करना, नय वचन का तीसरा रूप है। उभय धर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना, असम्भव है। अतः नयवचन का चतुर्थ रूप अवक्तव्य बनता है। नय वचन के पाँचवे, छठे और सातवें रूपों को प्रमाण वचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों के समान समझ लेना चाहिए। जैन दर्शन में नय वचन के इन सात रूपों को नय सप्तभंगी कहा गया है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद—जैन दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त हैं।

धारावाहिकज्ञान

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी विद्यासागर जी महाराज

न्याय, वैशेषिक और मीमांसक—धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण मानते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण ही हैं। बौद्ध दार्शनिक उसे अप्रमाण मानते रहे हैं। जैन परम्परा के श्वेताम्बर दार्शनिक धारावाहिक ज्ञानों को प्रायः प्रमाण ही मानते हैं, उन्हें अप्रमाण नहीं कहा है। लेकिन दिगम्बर आचार्य प्रायः उसे अप्रमाण ही मानते चले आये हैं। अतः दिगम्बरों का प्रमाण लक्षण भी श्वेताम्बराचार्यों से भिन्न प्रकार का ही रहा है। परन्तु समस्त जैनाचार्य स्मरण रूप परोक्ष प्रमाण को एवं स्मृति को प्रमाण ही मानते हैं, अप्रमाण नहीं मानते। न्याय और वैशेषिक स्मृति को प्रमाण मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण मीमांसा में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस प्रकार दार्शनिक एवं तार्किक विद्वानों में कुछ स्थलों पर गम्भीर विचार-भेद भी रहा है, और कहीं पर सहमति भी रही है। भारतीय दर्शन में प्रमाण की चर्चा ने काफी गम्भीर रूप ग्रहण किया है।

सूत्रात्मक जैन न्याय ग्रन्थ

परीक्षामुख सूत्र

जैन न्याय के सूत्रात्मक ग्रन्थों में प्रथम गणना परीक्षा-मुख की होती है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने रचना की है। जैन परम्परा के महान् नैयायिक अकलंक देव के न्याय ग्रन्थों का दोहन करके यह ग्रन्थ लिखा गया है। छह समुद्देशों में विभक्त है। सूत्र रचना सुन्दर तथा मधुर है। गागर में सागर भर दिया है। यह प्रमाण बहुल ग्रन्थ है। प्रमाण, प्रमाण का फल, प्रमाणाभास, प्रमाण का प्रमाणत्व, प्रमाण का विषय, प्रमाण के भेद-प्रभेद आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया है। लेकिन नय, निक्षेप और वाद आदि महत्वपूर्ण विषयों की उपेक्षा भी की गई है।

अनन्तवीर्य आचार्य ने परीक्षामुख के सूत्रों पर मध्यम परिमाण की संस्कृत टीका की है। टीका प्रमेयबहुल है। अतः उसका नाम है—प्रमेय रत्न-माला। आचार्य प्रभाचन्द्र ने सूत्रों पर अति विशाल तथा महाकाय टीका लिखी है, जिसका नाम है—प्रमेय कमल मार्तण्ड। यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, बौद्ध और चार्वाक का जोरदार खण्ड किया है। केवली भुक्ति और स्त्री मुक्ति का विस्तार से खण्डन किया है। ईश्वरवाद, प्रकृतिवाद, अद्वैतवाद और विज्ञानवाद पर चोट की है।

प्रमाण-नय-तत्त्वालोकालंकार सूत्र

वादिदेव सूरि कृत यह विशुद्ध न्याय ग्रन्थ है। आठ परिच्छेदों में विभक्त किया है। इसका भाषा सौष्ठव देखने योग्य है। सूत्र लम्बे हैं, और समासांत भी। सूत्रों में माधुर्य एवं गाम्भीर्य तो है, लेकिन प्रसाद गुण कम है। निश्चय सूत्र अत्यन्त वजनदार हैं। अध्येता और अध्यापक दोनों की कसौटी है। सूत्र संख्या भी काफी अधिक है। प्रमाण-संबद्ध संपूर्ण हैं। नयों पर पूरा परिच्छेद है। सप्तभंगी का विस्तृत वर्णन है, जो जैन न्याय का प्राण रहा है। निक्षेपों का भी वर्णन है। वाद, जल्प एवं वितण्डा जैसे विषयों को भी छोड़ा नहीं गया। न्याय-शास्त्र के इतिहास में आज तक अन्य वैसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया। महान् तार्किक वादिदेव सूरि की यह अमर कृति है।

मूल सूत्रों पर रत्नाकर सूरि ने विस्तृत व्याख्या लिखी है। व्याख्या का नाम है—रत्नाकरावतारिका। न्याय-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का सुन्दर एवं मधुर संगम है। पदावली अत्यन्त ललित है। अनुप्रास अलंकार का विशाल भण्डार है। वैदिक और बौद्ध दर्शनों का सचोट खण्डन किया गया है। केवली कवलाहार और स्त्री मोक्ष का जोरदार मण्डन किया गया है। श्वेताम्बर मान्यताओं को तर्कबल से युक्तियुक्त सिद्ध किया गया है। अन्य दर्शनों का खण्डन है।

स्वयं आचार्य वादिदेव सूरि ने स्व रचित सूत्रों पर अति विशाल तथा महाकाय भाष्य लिखा है, जिसका नाम है—स्याद्वाद रत्नाकर। वस्तुतः आज तक किसी भी अन्य न्याय ग्रन्थ पर इतना विशाल भाष्य नहीं लिखा गया। प्रमाणशास्त्र का, न्याय-शास्त्र का, वैसा कोई विषय नहीं छोड़ा गया, जिस पर आचार्य वादिदेव ने जमकर न लिखा हो। इस एक ही ग्रन्थ को पढ़कर समस्त भारतीय दर्शन और समस्त भारतीय न्याय पर अधिकार किया जा सकता है। न्याय-शास्त्र का कोई वाद छूट नहीं सका है। आचार्य की प्रवाहमयी भाषा है, तर्कों की गर्जना है और न्याय प्रमेयों की मूसलाधार वर्षा है। कोई वादी सामने टिक नहीं पाता।

जैन न्याय का यह अक्षय भण्डार है। अन्य मत के प्रमाणों में दोष दिखाकर स्व मत सिद्ध प्रमाणों की, प्रमाण के विषयों की, प्रमाण के फलों की तथा प्रमाण के प्रमाणत्व की लम्बी चर्चा प्रस्तुत की है। स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा गहन-गम्भीर है। स्याद्वाद और सप्तभंगी, नयवाद और अनेकान्त दृष्टि जैनदर्शन के प्रमाणभूत एवं प्राण-भूत सिद्धान्त हैं। जैन दर्शन का आधार ही ये रहे हैं। बौद्ध का विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा सांख्य का प्रकृतिवाद

और न्याय का ईश्तरवाद—ये सब स्याद्वाद रत्नाकर के रत्न हैं।

प्रमाण-मीमांसा सूत्र

आचार्य हेमचन्द्र सूरि की यह एक अमर कृति है। इसका विषय है—प्रमाण-शास्त्र। प्रमाण के अभाव में प्रमेय की सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः स्वमत और परमत को समझने के लिए प्रमाण का परिज्ञान अनिवार्य है। यह प्रमाण ही प्रमाण-मीमांसा ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

यह भी एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। प्रमाण-मीमांसा के सूत्र लघु, प्रशस्त, सरल और सुन्दर हैं। सूत्रों की संख्या भी बहुत कम है। आचार्य ने स्वयं सूत्रों पर वृत्ति की रचना की है। वृत्ति मध्यम परिमाण वाली है। वृत्ति की भाषा प्रसादपरिपूर्ण है। अध्याय पाँच और आह्निक दशा में विभक्त है, ग्रंथ। परन्तु दुर्भाग्य से पूर्ण ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। काल कवलित हो चुका है। वृत्ति में प्रमाण से सम्बद्ध समस्त विषयों की परिचर्चा की है, आचार्य ने स्वयं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का विषय, प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाण का फल—इन समस्त विषयों पर आचार्य का पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। इन्द्रियों की और मन की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मतिज्ञान का स्वरूप बताया है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा और उसके फल की भी बहुत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।

न्यायरत्नसार सूत्र

यह न्याय-शास्त्र का सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसके रचयिता स्थानकवासी समाज के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्यप्रवर पूज्य घासीलालजी महाराज हैं। स्थानकवासी परम्परा का यह सूत्रात्मक प्रथम ग्रंथ है। सूत्रों की भाषा सरल है। सूत्रों में प्रसाद गुण की कमी नहीं है। ग्रन्थ छह अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ का विषय प्रमाण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का लक्षण, प्रमाण का फल और नय, सप्तभंगी, वाद, जल्प एवं वितण्डा आदि का स्वरूप भी बताया है। यह सूत्रात्मक कृति अति सुन्दर है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री अमोलकऋषि जी महाराज

आचार्य ने स्वयं सूत्रों पर न्यायरत्नावली संस्कृत टीका लिखी और एक विस्तृत टीका भी लिखी है, जिसका नाम—स्याद्वाद मार्तण्ड है। ग्रन्थ रचना से पूर्व आचार्य के समक्ष प्रमाण-नय तत्त्वालोकालंकार सूत्र और उन व्याख्याओं का आदर्श अवश्य रहा है। मूल प्रेरणा और सामग्री का ग्रहण भी अधिकांश वहीं से किया है। व्याख्याओं का नाम भी ग्रन्थ के विषय के अनुकूल है। दो-चार स्थलों पर सम्प्रदाय का अभिनिवेश उभर कर आया है। जैसे कि सडोर मुखवस्त्रिका, केवली कवलाहार और स्त्री मुक्ति के सम्बन्ध में। प्रभाचन्द्र और वादिदेव सूरि का यह स्पष्ट ही प्रभाव है। वस्तुतः आज के युग में इन चर्चाओं की आवश्यकता ही नहीं है। ग्रन्थ की रचना सुन्दर है।

ग्रन्थ का विषय परिचय

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय में १३ सूत्र हैं। ग्रन्थ का मंगलाचार करते हुए कहा है— मैं चरम तीर्थंकर वर्धमान को और प्रथम गणधर गौतम को नमस्कार करके बाल जनों के उपकार के लिए 'न्यायरत्नसार' की रचना करता हूँ। मंगलाचरण करने के तीन प्रयोजन हैं—

१. प्रारब्ध ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति
२. शिष्टाचार का परिपालन
३. कृतज्ञता का प्रकाशन

ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है—प्रमाण का लक्षण। क्योंकि प्रमेय की सिद्धि बिना प्रमाण के नहीं होती। पदार्थ का निर्णय प्रमाण से ही हो सकता है। प्रमाण का लक्षण एक नहीं है। क्योंकि सबका

प्रमेय तत्व भिन्न-भिन्न है। प्रमेय के अनुसार ही प्रमाण का लक्षण किया जाता है।

अध्याय १, सूत्र १, में प्रमाण का लक्षण किया है—स्व और पर का निश्चय करने वाला तथा अबाधित ज्ञान ही प्रमाण है। स्व का अर्थ है—ज्ञान और पर का अर्थ है—ज्ञेय पदार्थ, व्यवसायि का अर्थ है—निश्चय कराने वाला, पर वह ज्ञान बाध रहित हो। ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। न्याय वैशेषिक मत में संनिकर्ष को प्रमाण कहा है। लेकिन वह जड़ होने से प्रमाण नहीं हो सकता। स्व और पर का निर्णय ज्ञान ही कर सकता है। अतः ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। प्रमाण रूप में स्वीकृत ज्ञान समारोप का विरोधी होता है।

बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन में इसको दर्शनोपयोग कहा है। दर्शन अनाकार होने से सामान्य को विषय करता है, विशेष को नहीं। जैन दर्शन में वस्तु सामान्य-विशेषक होती है। अतः सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है निर्विकल्पक नहीं। सविकल्पक ज्ञान से ही समारोप का निषेध हो सकता है।

समारोप क्या है? जो पदार्थ जैसा है, उसका उस रूप में ज्ञान न होना। उसके तीन भेद हैं-संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। ये तीनों विकल्पात्मक ज्ञान हैं। फिर इनको प्रमाण क्यों नहीं मानते? संशय आदि ज्ञान के दोष हैं। अतः ये प्रमाण नहीं हो सकते। जिस ज्ञान में ये दोष हों, वह ज्ञान प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता। संशय और अनध्यवसाय से किसी पदार्थ का निश्चय नहीं हो पाता। विपर्यय से विपरीत निर्णय होता है। अतः ये प्रमाण नहीं है। लक्षण में अबाधित पद विपर्यय के निषेध के लिए ही दिया गया है। क्योंकि विपर्यय से विपरीत निर्णय होता है। समारोप ज्ञानों में स्व निर्णय तो है, पर निर्णय सही नहीं होता अतः समारोप प्रमाण कोटि में नहीं आता।

अध्याय १, सूत्र १०, में बताया है—पर क्या है? ज्ञान के स्वरूप से भिन्न जो ज्ञेय रूप अर्थ है, वह पर है। ज्ञान में प्रमाणता ज्ञेय रूप बाह्य पदार्थ के जानने से ही आती है। केवल अपने आपको जानने से नहीं। ज्ञेय के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में में एक मत नहीं है। शून्यवादी बौद्ध बाह्य पदार्थ को मिथ्या मानते हैं। उनके विचार में ज्ञेय की सत्ता ही नहीं है। शून्यवादी बौद्ध आन्तरिक पदार्थ–आत्मा तथा ज्ञान आदि को भी मिथ्या कहते हैं। वेदान्त ब्रह्म के अतिरिक्त सबको असत् कहता है। विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को सत् स्वीकार करते हैं, अन्य सब असत् कोटि में आता है। ज्ञेय भिन्न होने से प्रमाण भी भिन्न-भिन्न हैं, उनकी संख्या भी एक नहीं हो सकती। अतः ज्ञान से ही स्व और पर का निश्चय होता है। ज्ञान ही प्रमाण है। संनिकर्ष, अन्तःकरण वृत्ति और कारक आदि प्रमाण नहीं बन सकते। आचार्य हेमचन्द्र सम्यग् अर्थ निर्णय को प्रमाण कहते हैं। माणक्यनन्दी स्व और अपूर्व अर्थ के निर्णय को प्रमाण मानते हैं। न्यायरत्नसार में प्रमाण के लक्षण में वादिदेव सूरि का अनुसरण किया गया है। शब्द साम्य भी दोनों में एकसा है।

जैन दर्शन ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक ही मानता है। जैसे दीपक अपना और पर का भी बोध कराता है। दूसरे दार्शनिक ज्ञान को पर प्रकाशक ही कहते हैं। मीमांसक कहते हैं, कि ज्ञान पर को ही जानता है, स्व को वह नहीं जानता। नट कितना भी चतुर क्यों न हो, वह अपने कन्धे पर-कैसे चढ़ सकता है। नैयायिक भी ज्ञान को पर प्रकाशक कहते हैं। वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र सूरि और न्यायरत्नसार के प्रणेता आचार्य घासीलालजी ज्ञान को उभयमुखी मानते हैं। वह दोनों को जानता है।

अध्याय १, सूत्र १२ में कहा गया है, कि प्रमाण का प्रामाण्यत्व क्या है? ज्ञान को प्रामाण्य कब प्राप्त होता है? प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में

जानना—यही प्रतिभात विषय का अव्यभिचारित्व भाव है। यदि ज्ञान से जाना गया पदार्थ उत्तरकाल में वैसा उपलब्ध नहीं होता है, तो उस पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। यही प्रमाण की अप्रमाणता होती है।

न्यायशास्त्र अथवा प्रमाण-शास्त्र में इस विषय पर बहुत विवाद है। प्रमाण के प्रमाणत्व को स्वतः मानने वाले परतः मानने वाले और स्वतः तथा परतः मानने वाले—कम से कम तीन पक्ष तो हैं ही। मीमांसक स्वतः प्रमाणवादी हैं। नैयायिक परतः प्रमाणवादी हैं। जैन दार्शनिक उभय प्रमाण-वादी हैं।

'न्यायरत्नसार' के आचार्य का कथन है, कि प्रमाण में प्रमाणत्व पर से ही आता है। लेकिन उस प्रमाणता का निश्चय अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है। जैसे जिस तालाब में प्रतिदिन स्नान और जलाहरण किया जाता है, वहाँ के जल के अस्तित्व में जरा भी सन्देह नहीं होता। अतः वहाँ स्वतः ही निश्चय हो जाता है। इसी का नाम न्याय की भाषा में स्वतः प्रामाण्य की ज्ञप्ति है। अपरिचित स्थान में तो परतः निश्चय होता है। बक पंक्ति देखने से अथवा किसी विश्वस्त व्यक्ति के कथन से। यही परतः प्रामाण्य है।

परीक्षामुख के समुद्देश १, सूत्र १३ में कहा कि प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः तथा परतः होता है। किन्तु इस अति संक्षिप्त से बात स्पष्ट नहीं होती। प्रमेयरत्न-मालाकार ने अपनी वृत्ति में माणिक्य नन्दी के भाव को अत्यन्त सुंदरता से प्रस्तुत किया है। भारतीय का न्यायशास्त्र मन्थन कर डाला। वृत्ति में कहा है, कि मीमांसक प्रमाण के प्रमाणत्व को स्वतः और अप्रमाणत्व को परतः मानते हैं। सांख्य विद्वान प्रमाणत्व को परतः और अप्रमाणत्व को स्वतः कहते हैं। नैयायिक दोनों को परतः मानते हैं। जैन दार्शनिक कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः स्वीकार करते हैं।

आचार्य वादिदेव सूरि प्रमाण-नय-तत्वालोक सूत्र में परिच्छेद १, सूत्र १८ में कहते हैं, कि प्रमेय से अव्यभिचारि होना, प्रमाण का प्रमाणत्व है। इससे विपरीत अप्रमाणत्व है। प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का भेद बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है। अतः स्वरूप की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण ही होते हैं। बाह्य पदार्थों की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाण है, तो कोई ज्ञान अप्रमाण है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि प्रमाण-मीमांसा के अध्याय १, आह्निक १, सूत्र ८ में कहते हैं, कि प्रामाण्य का निश्चय स्वतः और परतः होता है। इसका अधिक स्पष्टीकरण आचार्य ने अपनी वृत्ति में किया है। इस सम्बन्ध में जितने भी मत-मतान्तर हैं, सबका खुलासा कर दिया है।

द्वितीय अध्याय

इसमें १८ सूत्र हैं। इसमें जैन दर्शन मान्य प्रमाणों के भेद-प्रभेद का कथन किया है। प्रमाणों का विभाजन जैनों ने अपनी अलग पद्धति से किया है। स्थानांग सूत्र में प्रमाण के दो भेद भी हैं, चार भेद भी हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण के सीधे चार भेद उपलब्ध हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। न्याय सूत्रों में भी ये ही चार भेद हैं। नन्दी सूत्र का वर्गीकरण तो अलग पद्धति का है। पहले पाँच ज्ञानों का वर्णन किया गया, फिर उन्हें दो प्रमाणों में विभक्त किया गया—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के दो भेद—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। परोक्ष इसलिए हैं, कि इनमें इन्द्रिय और मन की सहायता होती है। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल और सकल। सकल केवलज्ञान है, विकल के दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्याय। ये तीनों ज्ञान सीधे आत्मा से होते हैं। इनमें इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। अतः ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में, वाचक उमास्वाति ने पाँच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है—प्रत्यक्ष

और परोक्ष। जैन न्याय के पितामह आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने कारिकात्मक न्यायावतार ग्रन्थ में प्रमाण के सीधे तीन भेद किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रतीत होता है, कि न्यायावतार पर सांख्य मत का प्रभाव है। प्रमाण के इस प्रकार के भेद अन्य किसी दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्य ने नहीं किये। अतः ये भेद जैन न्याय में स्थान न पा सके। क्योंकि जैन न्याय की अपनी प्रकृति अलग थी। इस पद्धति का किसी भी आचार्य ने अनुकरण अथवा अनुसरण नहीं किया।

न्यायरत्नसार में प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष क्या है? जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ का स्पष्ट प्रतिभास होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक किसको कहते हैं? संव्यवहार का अर्थ है—लोकानुकूल व्यवहार। नेत्र आदि इन्द्रिय और मन के द्वारा पदार्थ का जो एकदेश निर्मल ज्ञान होता है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—इन्द्रियजन्य और मनोजन्य। इन्द्रियजन्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की प्रधानता रहती है और मनोजन्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में मन की प्रधानता रहती है। न्यायरत्नसार के द्वितीय अध्याय के छठे सूत्र में ज्ञानेन्द्रिय के पाँच भेद हैं। सातवें सूत्र में इन्द्रियों के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। सूत्र ८ में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अध्याय २ सूत्र १४ में पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सकल और विकल। विकल के दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्याय। सकल का अर्थ है—केवलज्ञान। वह एक ही होता है।

अवधिपूर्वक रूपी पुद्गल का ज्ञान, जो कि इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होता है, वह अवधिज्ञान है। दूसरे के मनोगत भावों को स्पष्ट जान लेना, मनःपर्याय ज्ञान है। समस्त द्रव्यों को, उनके गुणों को, उनकी पर्यायों को युगपत् जान लेना, केवलज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ में अवधि, मनःपर्याय और केवल का अलग लक्षण नहीं दिया है। केवल भेदों की गणना की है।

परीक्षामुख में द्वितीय समुद्देश्य में १२ सूत्र हैं। उनमें प्रत्यक्ष के भेद-प्रभेद दिए गए हैं। पारमार्थिक के भेद तो किए हैं लेकिन उनके स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिए गए है। यहाँ पर न्याय रत्नसार ने परीक्षामुख सूत्र अनुसार किया है।

प्रमाणनयतत्त्वालोक में वादिदेव सूरि ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके सांव्यवहारिक के भेद-प्रभेद दिए है, और अलग-अलग लक्षण भी दिए। अवग्रह आदि के भेदों के लक्षण भी दिए है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद-प्रभेद भी दिए हैं। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान के लक्षण बहुत ही सुन्दर दिए हैं। प्रमाण के दो भेद-प्रत्यक्ष और परोक्ष मानने की परम्परा जैनों की अपनी पद्धति है। दो भेदों में सब प्रमाणों को समेट लिया गया है। प्रमाणों को संख्या सबकी भिन्न-भिन्न है।

चार्वाक—एक प्रत्यक्ष। बौद्ध दो—प्रत्यक्ष और अनुमान। वैशेषिक तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। प्राभाकर मीमांसक पाँच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति। भाट्ट मीमांसक छह—प्रत्यक्ष, अनुमान,आगम, उपमान,अर्थापत्ति और अभाव। जैन दो—प्रत्यक्ष और परोक्ष। भारतीय दार्शनिकों के समस्त विचारों का सार इन विभागों में आ जाता है। बौद्ध भी दो प्रमाण मानते हैं। परन्तु दूसरा अनुमान मानते हैं। लेकिन यह विभाजन अधूरा है। क्योंकि उपमान और आगम आदि का समावेश अनुमान में कैसे होगा? परोक्ष में तो समावेश हो जाता है। अन्य भी सम्भव आदि प्रमाण परोक्ष में समाहित हो जाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण मीमांसा में प्रमाण के दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्येक प्रमाण के अवांतर भेद भी किए हैं। प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक भेदों में अवग्रह आदि के भेदों के लक्षण अलग हैं। पारमार्थिक भेदों में अवधि, मनः पर्याय और केवल के लक्षण अलग हैं। इस प्रकार प्रमाण चर्चा काफी लम्बी है। वह अपने आप में परिपूर्ण भी है। सर्वज्ञ की चर्चा भी है। सूत्रों की वृत्ति में विस्तार से दर्शनान्तरों की मान्यता का खण्डन भी जोरदार किया गया है।

न्यायरत्नसार के द्वितीय अध्याय के सूत्र १५, १६, १७ में सर्वज्ञ की सिद्धि की है। कहा गया है कि अर्हन् में ही केवलज्ञान का सद्भाव होता है। केवलज्ञान जिसमें वही परमात्मा है। क्योंकि वह सर्वज्ञ है। वह सर्वज्ञ क्यों है ? क्योंकि वह सर्वथा निर्दोष है। उसमें न राग है, उसमें न द्वेष है। वह निर्दोष क्यों है ? क्योंकि उसके वचनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। उनके वचन में, आगम में किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती। बाधा क्यों नहीं आती ? क्योंकि उनका जो अभिमत तत्व है, वह किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं हो पाता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि वह सर्वज्ञ है, केवली है, सर्वदर्शी है, परमात्मा है।

न्यायरत्नसार के अध्याय २, सूत्र १८ में कहा गया है कि कवलाहार और सर्वज्ञ में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। दिगम्बर केवली को कवलाहार नहीं मानते हैं। श्वेताम्बर मानते हैं। यह चर्चा बहुत पुरानी है। परम्परा चली आ रही है। संक्षेप में उसकी चर्चा यहाँ कर दी गई है। ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में उक्त विषय की चर्चा करते रहे हैं। इन्होंने भी अपने न्यायरत्नसार में उस चर्चा को उठाया है। उसका तर्कों को द्वारा समाधान भी किया है। पाठक मूल ग्रन्थ में पढ़ लें।

तीसरा अध्याय

जैन न्याय में प्रमाणों का जो विभाजन किया है, वह अन्य दर्शनों के विभाग से भिन्न प्रकार का है, और विलक्षण भी है। मुख्य रूप से प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भेद-प्रभेदों का कथन किया जा चुका है। परोक्ष प्रमाणों के भेद और प्रभेदों का वर्णन इस प्रकार है—

परीक्षामुख ग्रन्थ में परोक्ष प्रमाण का कथन ९६वें सूत्रों में किया है। प्रमाणनयातत्वलोक में १०९ सूत्रों में किया गया है। प्रमाण-मीमांसा में २३ सूत्रों में किया है। न्यायरत्नसार में ७३ सूत्रों में किया है। न्यायरत्नसार में न बहुत संक्षेप है और न बहुत विस्तार है। मध्यम शैली को स्वीकार किया गया है। इन ग्रन्थों में विचार का अन्तर तो है नहीं। शब्दों का अन्तर अवश्य है। जैसे कि किसी ने स्मृति शब्द दिया है, तो किसी ने स्मरण शब्द का प्रयोग किया है। किसी ने प्रत्यभिज्ञान दिया है, तो किसी ने प्रत्यभिज्ञा शब्द रखा है। किसी ने तर्क शब्द दिया है, तो किसी ने ऊह शब्द का प्रयोग किया है। किसी ने आगम शब्द दिया है, तो किसी ने शब्द प्रमाण का प्रयोग किया है। अनुमान शब्द का प्रयोग सबने किया है। शब्दान्तर करने से भावान्तर नहीं हो जाता। भाव सबका एक ही है।

परोक्ष प्रमाण के लक्षण में भेद देखा जाता है। किन्तु परोक्ष का लक्षण क्या हो सकता है, जो सबको मान्य हो। आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया—'विशदं प्रत्यक्षम्' लेकिन परोक्ष का लक्षण नहीं किया। केवल इतना कहा—'परोक्षमितरत्।' प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष होता है। 'अविशदं परोक्षम्' कहना चाहिए। आचार्य वादिदेव सूरि ने कहा—'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' और 'अस्पष्टं परोक्षम्।' आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया—'विशदः प्रत्यक्षम्' और परोक्ष का लक्षण किया—'अविशदः परोक्षम्।' पुल्लिग शब्द का प्रयोग क्यों किया ? प्रत्यक्षं तो नपुंसकलिंग है। लेकिन हेमचन्द्र सूरि ने सम्यग् अर्थ निर्णय को प्रमाण का लक्षण कहा था। निर्णय शब्द पुल्लिग है। अतः 'विशदः' शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है। माणिक्यनन्दि ने विशद को प्रत्यक्ष ज्ञान का विशेषण माना है। अतः वह भी गलत नहीं कहा जाता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

न्यायरत्नसार में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया—'विशदात्म स्वरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।' परोक्ष का लक्षण किया— 'वैशद्यविहीनं ज्ञानं परोक्षम् ।' ये दोनों लक्षण ही निर्दोष नहीं है। प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्म और स्वरूप शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि आत्म और स्वरूप दोनों का एक ही अर्थ है। दोनों व्यर्थ विशेषण हैं। इसकी अपेक्षा 'विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इतना ही पर्याप्त था। परोक्ष का लक्षण भी ठीक नहीं। क्योंकि 'वैशद्य विहीनं' इसकी अपेक्षा अविशद इतना ही पर्याप्त था। पहले विशद से वैशद्य बनाया, फिर विहीन शब्द जोड़ा। इतनी लम्बी प्रक्रिया स्वीकार करने पर भी समस्या सुलझी नहीं। बात स्पष्ट न हो सकी। पाठक उलझ जाता है।

सूत्र शैली की दृष्टि से भी यह लक्षण ठीक नहीं कहा जा सकता। सूत्र में शब्द कम से कम हों, और अर्थ गम्भीर हो। अतएव पूर्वकथित लक्षण ठीक है। न्यायरत्नसार के दोनों लक्षण—प्रत्यक्ष का भी तथा परोक्ष का भी—ठीक नहीं कहा जा सकता। पाठक समझ नहीं पाता। परोक्ष के लक्षण में पूर्व आचार्यों ने अविशद, अस्पष्ट शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह सर्वथा उपयुक्त है। परोक्ष ज्ञान में, अन्य किसी ज्ञान को कारण बनना पड़ता है। जैसे स्मृति में पूर्व अनुभव कारण है। प्रत्यभिज्ञान में पूर्व स्मृति और वर्तमान का अनुभव कारण है। तर्क में व्याप्ति ज्ञान कारण है। पर्वत पर अग्नि के अनुमान में धूम का पर्वत पर प्रत्यक्ष कारण है। अतः परोक्ष प्रमाण के लक्षण में अविशद और अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग करना उचित है। प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्य ज्ञान कारण नहीं होता। अतः वह विशद एवं स्पष्ट है।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मरण क्या है ? धारणा रूप संस्कार के प्रबुद्ध होने पर पूर्व पदार्थ को जानने वाला जो ज्ञान, वह स्मरण है। पूर्व अनुभूत वस्तु को जानना। जैसे वह पर्वत, जिसे पहले देखा था। स्मरण धारणा रूप संस्कार के प्रबुद्ध होने पर उत्पन्न है। कुछ आचार्य स्मरण को प्रमाण नहीं मानते। यदि स्मरण को प्रमाण नहीं माना जाएगा, तो अनुमान भी प्रमाण नहीं बन सकेगा। क्योंकि अनुमान व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है। लोक व्यवहार भी स्मरण के आधार पर चलता है।

प्रत्यभिज्ञान क्या है ? प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न तथा संकलनात्मक जो ज्ञान, वह प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। जैसे यह वही जिनदत्त है। यह वही गाय है। कल जिनदत्त को देखा था, आज फिर वह फिर सामने आया। जिस गाय को कल देखा, उसे ही आज देख रहा हूँ। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार होता है। जैसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, एकत्व प्रत्यभिज्ञान। नैयायिक उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसे सादृश्य को जानने वाला भी प्रमाण है, तो एकता और विलक्षणता को जानने वाला भी प्रमाण होना चाहिए। फिर तो प्रमाणों की संख्या का पार ही नहीं रहेगा। अतः उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता।

तर्क क्या है ? त्रिकालवर्ती साध्य-साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को अर्थात् व्याप्ति को बताने वाला जो ज्ञान है, उसको तर्क कहते हैं। यह इसके होने पर ही होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता। ऊह इसका नामांतर है। तर्क में व्याप्ति का होना आवश्यक है।

व्याप्ति क्या है ? जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह अविनाभाव सम्बन्ध त्रैकालिक होता है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निर्णय होता है, उसे तर्क कहते हैं। तर्क ज्ञान उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होता है।

उपलम्भ क्या है ? धूम और अग्नि को एक साथ देखना उपलम्भ है। अनुपलम्भ क्या है ? अग्नि के अभाव में धूम का अभाव जानना अनुपलम्भ है। तर्क ज्ञान को यदि प्रमाण न माना जाए, तो अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तर्क से धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर ही धूम से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। अतः अनुमान को प्रमाण मानने वालों को तर्क भी मानना होगा। तर्क के अभाव में अनुमान की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। नैयायिक भी अनुमान एवं व्याप्ति ज्ञान में तर्क को सहकारी स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन में तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है।

अनुमान क्या है ? साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहा गया है। साधन से, धूम से, साध्य का, अग्नि का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है। इसको लिंग से लिंगि का ज्ञान भी कह सकते हैं। क्योंकि वह साध्य ज्ञान ही अग्नि आदि के अज्ञान को दूर करता है। साधन ज्ञान अनुमान नहीं है, क्योंकि वह तो साधन सम्बन्धी अज्ञान को दूर नहीं कर सकता है। अतः नैयायिकों का यह कथन संगत नहीं है कि लिंग ज्ञान अनुमान है। जैन न्याय में व्याप्ति स्मरण सहित लिंग ज्ञान को अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। अनुमान दो प्रकार का है— स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। अनुमान के दो भेद सभी स्वीकार करते हैं। वैदिक बौद्ध और जैन दार्शनिक।

स्वार्थानुमान क्या है ? स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान होने को स्वार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान के तीन अग हैं—धर्मी, साध्य और साधन। साधन साध्य का गमक होता है। अतएव वह गमक रूप से अंग है। साध्य साधन के द्वारा गम्य होता है। वह गम्य रूप से अंग है। धर्मी अर्थात् पक्ष साध्य धर्म का आधार होता है। वह साध्यधर्म के आधार रूप से अंग होता है। स्वार्थानुमान के दो अंग हैं—पक्ष और हेतु। यहाँ दोनों जगह विवक्षा का भेद है। केवल कथन की शैली का ही भेद है।

परार्थानुमान क्या है ? दूसरे के उपदेश की अपेक्षा को लेकर साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्नि वाला होने के योग्य है, क्योंकि वह धूम वाला है। परार्थानुमान में कारणीभूत वाक्य के दो अवयव हैं —प्रतिज्ञा और हेतु। कहीं उदाहरण भी हैं। कहीं पर उपनय और निगमन भी हो सकते हैं। न्यायशास्त्र में अवयवों की चर्चा बहुत लम्बी है।

साधन क्या है ? जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति अर्थात् अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन कहते हैं। साध्य क्या है ? शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं।

यह अन्यथानुपपत्ति के निश्चय रूप एक लक्षण वाला हेतु संक्षेप में दो प्रकार का है—विधिरूप और प्रतिषेधरूप। विधिरूप हेतु भी दो हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक। प्रतिषेध रूप के भी दो भेद हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक। हेत्वाभास क्या है ? जो हेतु के लक्षण से रहित है, किन्तु हेतु जैसा प्रतीत होता है, उसे हेत्वाभास कहते हैं। वे चार प्रकार के हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर। न्यायशास्त्र के सभी सम्प्रदायों ने अनुमान को प्रमाण स्वीकार किया है। चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता।

चतुर्थ अध्याय

न्यायरत्नसार के चतुर्थ अध्याय में आचार्य ने परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में से पञ्चम भेद आगम प्रमाण का भेद किया है, उसका लक्षण भी बताया है। दर्शनान्तरों में इसको शब्द प्रमाण कहा गया है। चार्वाक और बौद्ध को छोड़कर सभी ने आगम अथवा शब्द को प्रमाण माना है। बौद्ध अनुमान में ही इसका समावेश कर लेते हैं। चार्वाक सर्वथा इन्कार करता है, वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं मानता।

चतुर्थ अध्याय में सप्तभंगी का विस्तार से वर्णन किया है। स्याद्वाद और सप्तभंगी जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए सप्तभंगी को समझना परम आवश्यक माना जाता है।

चतुर्थ अध्याय में तीसरा विषय है, प्रमाण की विषयभूत वस्तु का स्वरूप। यदि वस्तु के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा, तो सब व्यर्थ है। वस्तु क्या है? वस्तु अनेकान्तात्मक है। वस्तु में अनेक धर्म एक साथ रहते हैं। उन सबका एक साथ बोध सम्भव नहीं है। मुख्य-गौण भाव से ही उनका परिज्ञान होता है। वस्तुतः यही तो सप्त-भंगी का विषय रहा है।

आगम प्रमाण क्या है? आप्त पुरुष के वचन से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं। उपचार से आप्त का वचन भी आगम कहा जाता है। आप्त क्या है? प्रामाणिक पुरुष को आप्त पुरुष कहते हैं। आप्त पुरुष के शब्दों को सुनकर श्रोता को पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसी ज्ञान को आगम कहते हैं। अतः शब्द कारण हैं, और ज्ञान कार्य। कारण में कार्य का उपचार करने से आप्त के वचन भी आगम हैं।

मिथ्या भाषण के दो कारण हैं—अज्ञान और कषाय। मनुष्य किसी वस्तु का स्वरूप समझे बिना यदि कथन करता है, तो उसका कथन मिथ्या होगा। परन्तु जिसका ज्ञान यथार्थ है, और तदनु-सार ही कथन है, तो वह कभी मिथ्या नहीं होगा। सर्वज्ञ का कथन सर्वथा यथार्थ ही होता है। अतः वह आप्त है, उसका कथन भी यथार्थ होता है।

वचन क्या है? वर्ण, पद तथा वाक्यरूप वचन होता है। परस्पर सापेक्ष वर्णों के समूह को पद कहते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। ये वर्ण भाषा वर्गणा के पुद्गल द्रव्य से बनते हैं। फिर पद और फिर वाक्य। जैसे महावीर यह वर्ण समूहपद है, क्योंकि इससे वर्धमान के अर्थ का बोध होता है। पदों का वही समूह वाक्य कहा जाता है, जो योग्य अर्थ का बोध करा सकता हो।

सप्त भंगी क्या है? किसी एक ही वस्तु में, किसी एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से सात प्रकार के वचन प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। वह वचन 'स्यात्' पद से युक्त होता है, उसमें कहीं विधि होती है। कहीं निषेध होता है। कहीं पर उभय भी होते हैं। यही हैं सप्तभंगी। जैसे—

१. स्यात् अस्ति घटः
२. स्यात् नास्ति घटः
३. स्यात् अस्ति-नास्ति घटः
४. स्यात् अवक्तव्यो घटः
५. स्यात् अस्ति अवक्तव्यो घटः
६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यो घटः
७. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यो घटः
१. विधि की कल्पना से प्रथम भंग
२. निषेध की कल्पना से द्वितीय भंग
३. क्रमशः विधि-निषेध कल्पना से तृतीय भंग
४. युगपत् विधि-निषेध कल्पना से चतुर्थ भंग
५. युगपत् विधि कल्पना से पंचम भंग
६. युगपत् निषेध कल्पना से षष्ठ भंग
७. क्रमशः विधि-निषेध कल्पना से सप्तम भंग

सप्तभंगी के दो भेद हैं—सकलादेश सप्त-भंगी और विकलादेश सप्तभंगी। जो सप्तभंगी प्रमाण के अधीन होती है, वह सकलादेश और जो नय के अधीन होती है, वह विकलादेश सप्तभंगी।

पञ्चम अध्याय

न्यायरत्नसार ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में प्रमाण-फल पर विचार किया गया है। प्रमाण सामान्य का क्या फल है? विशेष प्रमाणों का क्या फल है। उसके बाद आभासों का वर्णन किया गया है। जैसे प्रमाण और प्रमाणाभास। प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास। अनुमान और अनुमानाभास। आगम और आगमाभास। हेतु और हेत्वाभास।

आचार्य वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र

सूरि ने हेत्वाभास तीन माने हैं—असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक। न्यायरत्नसार में भी तीन हेत्वाभास स्वीकृत हैं। आचार्य ने उभयाचार्यों का अनुसरण किया है। श्वेताम्बर विद्वानों ने तीन ही हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। परीक्षामुख में चार हेत्वाभास माने हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर। यह दिगम्बर परम्परा है।

न्याय-शास्त्र में पाँच हेत्वाभास माने गये हैं—अनेकान्त, असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष और अबाधित विषयत्व। केशव मिश्रकृत तर्क भाषा में, अन्नंभट्ट कृत तर्क संग्रह में और विश्वनाथकृत सिद्धान्त मुक्तावली में पाँच प्रकार के हेत्वाभास स्वीकृत हैं। हेत्वाभास का वर्णन न्याय-शास्त्र का एक विशिष्ट विषय माना गया है।

द्रव्य, गुण और पर्याय—ये तीनों जैन दर्शन के मुख्य विषय हैं। बिना इनके समझे, जैन दर्शन को और न्याय को समझना, सम्भव नहीं है। द्रव्य अर्थात् वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य क्या है? और विशेष क्या है? पदार्थ में सदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है, और विसदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विशेष है। वस्तु का स्वरूप है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। वस्तु पर्यायरूप से उत्पन्न होती है, और नष्ट भी होती है। द्रव्य रूप में वह ध्रुव भी है। अतएव वस्तु अनेकधर्मात्मक है। वस्तु में जो सामान्य अंश है, वह द्रव्य है। वस्तु में जो विशेष अंश है, वह पर्याय है। पर्याय क्या है? गुण का परिणमन ही पर्याय है। सहभावी धर्म गुण कहा जाता है। क्रमभावी धर्म को पर्याय कहते हैं। इस प्रकार की वस्तु ही प्रमाण का विषय होती है।

सांख्य सामान्य को मानते हैं, विशेष को नहीं। बौद्ध विशेष को ही वस्तु मानते हैं, सामान्य को नहीं। जैन सामान्य और विशेष दोनों को वस्तु का धर्म मानते हैं। अतः जैन अनेकान्तवादी हैं, एकान्तवादी नहीं। वस्तु की सिद्धि अनेकान्त से ही हो सकती है। वस्तु भेदाभेदात्मक भी है। वस्तु सदसदात्मक भी है। जैन न्याय-शास्त्र का मुख्य विषय अनेकान्तवाद ही है। अतः अनेकात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

प्रमाण का फल क्या है? फल दो प्रकार का होता है—साक्षात्फल और परम्पराफल। साक्षात्फल है—अज्ञान की निवृत्ति। अज्ञान का नाश होते ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। परम्पराफल तीन प्रकार के हैं—हेय बुद्धि, उपादेय बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि।

प्रमाण का फल, प्रमाण से भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। क्योंकि जो आत्मा प्रमेय को प्रमाण से यथार्थ रूप में जानता है, उसी के अज्ञान की निवृत्ति होती है। वही छोड़ता है, वही ग्रहण करता है। वही उपेक्षा भी करता है। जैन दर्शन का यही कथन है। प्रमाण के विषय में चार बात कही हैं—स्वरूप, संख्या, विषय और फल। इनके विपरीत आभास है। आभास चार प्रकार का होगा—स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास।

तत्त्वार्थ सूत्र में वाचक उमास्वाति ने कहा है—प्रमाण और नय से वस्तु का अधिगम अर्थात् यथार्थ परिबोध होता है। प्रमाण का विवेचन किया जा चुका है। नय का वर्णन करना शेष है। जैन दर्शन में नयों का विशेष वर्णन किया जाता है। नयवाद अन्य दर्शनों में मान्य नहीं है। अतः नयवाद जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। वस्तु को यथार्थ रूप में देखने के दो नेत्र हैं—प्रमाण और नय। अतः कहा गया है, कि प्रमाण और नय से वस्तु का अधिगम होता है।

छठा अध्याय

न्यायरत्नसार के इस अन्तिम छठे अध्याय में मुख्य रूप से नय, संख्या, फल और तथा भासों का वर्णन किया है। नय सप्तभंगी का भी कथन किया गया है। नयों के भेद-प्रभेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। शब्दनय और अर्थनय। निश्चय नय और व्यवहारनय।

प्रमाता के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। मोक्ष क्या है ? उसे प्राप्त करने की योग्यता क्या है ? वाद कथा का स्वरूप और उसके भेदों का भी संक्षेप में कथन कर दिया गया है।

नय क्या है ? श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थ, पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से ज्ञाता के विशेष भाव को जाना जाता है, उस अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। इसके जो विपरीत हो, उसको नयाभास कहा गया है।

नय के दो प्रकार हैं—व्यासनय और समास नय। व्यासनय के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं। समास नय दो प्रकार का है—द्रव्यार्थिकनय और दूसरा पर्यायार्थिकनय। व्यास का अर्थ है-विस्तार। समास का अर्थ है—संक्षेप। द्रव्य को मुख्य रूप से विषय करने वाला द्रव्यार्थिक। पर्याय को मुख्य रूप से विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक होता है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। इन सात नयों में पहले के चार नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं। अतः वे अर्थनय हैं। अन्तिम तीन नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं। इस कारण उन्हें शब्दनय कहते हैं। इन सात नयों में पहले-पहले के नय अधिक-अधिक विषय वाले हैं, और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

नय वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करता हुआ, विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है। विकलादेश नय वाक्य होता है। नय सप्तभंगी में 'स्यात् और एव' पद लगाया जाता है। जैसे 'स्यात् अनित्य एव घटः।' नय का फल भी अज्ञान की निवृत्ति ही माना गया है।

प्रमाता क्या है ? चेतन, कर्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण और प्रतिशरीर भिन्न जो जीव है, वह प्रमाता है। मोक्ष क्या है ? पुरुष शरीर अथवा स्त्री शरीर पाने वाले आत्मा को सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से समस्त कर्म क्षय रूप मोक्ष प्राप्त होता हैं। वह अजर-अमर हो जाता है।

साधक को वाद, जल्प एवं वितण्डा में नहीं पड़ना चाहिए। कथा के दो भेद हैं—तत्वनिर्णय तथा विजिगीषा। जय-पराजय की भावना को छोड़ कर साधक को सदा वीतराग कथा में तल्लीन और एकाग्र होना चाहिए।

न्यायरत्नसार

आचार्य प्रवर जैन धर्म दिवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज कृत न्यायरत्नसार ग्रन्थ जैन न्याय का एक सुन्दर, सरल और समीचीन ग्रंथ है, जिसमें षट् अध्याय हैं, सूत्र संख्या २१७ है। अक्षर कम और अर्थ गम्भीर है। सूत्रों की भाषा प्रांजल है, उसमें सहज प्रवाह है। न्यायशास्त्र के समस्त पदार्थों का इसमें समावेश हो गया है।

प्रमाण और प्रमेय मुख्य विषय हैं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल—इन समस्त विषयों का मनोग्राही वर्णन आचार्यश्री ने किया है। प्रमाण विभाजन की पद्धति तथा प्रमाण के भेद-प्रभेद की पद्धति जैन परम्परा एवं उसकी मान्यता के अनुकूल है। प्राचीन आचार्यों ने जिस पद्धति का निर्माण किया था, वही पद्धति आचार्य प्रवर ने स्वीकार की है।

प्रथम ग्रन्थ 'न्यायरत्नसार' में मूल सूत्र ओर उनका अति संक्षिप्त एवं सरल अर्थ दिया गया है। छात्र आसानी से सूत्रों के भाव को ग्रहण कर लेता है। जैसे ग्रन्थ के सूत्र सरल हैं, वैसे ही उनका अर्थ भी सरल एवं सुबोध्य है। जैन न्याय का अभ्यास करने वालों के लिए यह कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

स्थानकवासी परम्परा में, सूत्रात्मक न्याय का यह प्रथम ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा के परीक्षा मुख तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के प्रमाण-नयतत्वालोकालंकार से भी अधिक स्पष्ट, अधिक सरल और अधिक बुद्धिगम्य है—यह लघुकाय ग्रंथ।

तेरापन्थी परम्परा का न्याय ग्रन्थ 'भिक्षु न्याय-कर्णिका' भी एक लघुकाय सुन्दर ग्रन्थ कहा जा सकता है।

न्याय रत्न

यह नया ग्रंथ नहीं है। न्यायरत्न पर जो टीका है, उसका नाम है—न्यायरत्नावली और इसी ग्रंथ पर आचार्य प्रवर घासीलालजी म. की विशालकाय टीका है—स्याद्वाद मार्तण्ड। अतः एक ही ग्रन्थ के तीन रूप हैं—मूल सूत्र, लघ्वी टीका और बृहती टीका। वस्तुतः यह वादिदेव सूरि का अनुकरण है। उनका मूल ग्रन्थ है, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार सूत्र। उसकी लघ्वी टीका है, रत्नाकरावतारिका। बृहती टीका है, स्याद्वाद—रत्नाकर। इसी पद्धति को आचार्य श्री घासीलालजी म. ने अपनाया है। इस प्रयत्न में वे सफल भी हुए हैं।

न्यायरत्नावली में, न्यायरत्नसार से अधिक सामग्री प्रस्तुत की है। कहीं-कहीं पर प्राचीन पद्धति से अन्य सम्प्रदायों का खण्डन भी किया है, मगर सौम्य एवं संयत भाषा में। केवली कवलाहार को लेकर दिगम्बर सम्प्रदाय का खण्डन किया है। आचार्य ने कहा है—केवलज्ञान और कवलाहार में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

ग्रन्थकार आचार्य ने दूसरा खण्डन किया है—मूर्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय का। आचार्य ने कहा है—मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधे बिना वायुकाय की यतना नहीं हो सकती। यतना के अभाव में संयम नहीं हो सकता है। संयम के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अतः सदोरक मुखवस्त्रिका को स्वीकार करो।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चर्चा अथवा आक्षेप नहीं उठाया है। अन्यथा, दया और दान को लेकर, उनका भी खण्डन किया जा सकता था लेकिन आज के युग में ये तीनों ही प्रयत्न अन्यथा सिद्ध हो चुके हैं।

श्रुत-सेवा

श्रुत-सेवा का अर्थ है—साहित्य सर्जना। स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्यों में सर्वाधिक श्रुत सेवा—जैन धर्म दिवाकर आचार्य प्रवर पूज्य घासी लालजी महाराज ने की है। स्थानकवासी मान्य ३२ आगमों पर संस्कृत टीका, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रन्थ लिखकर उन्होंने कमाल कर दिया। फिर हिन्दी और गुजराती टीकाएँ भी की हैं। एक ही व्यक्ति ने अनेक आचार्यों का, अनेक ग्रन्थकारों का काम कर दिखाया। साहित्य—सर्जना में वे एक प्रकार से सम्राट हैं, समर्थ हैं।

संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना भी उन्होंने की है। श्रावक धर्म पर उन्होंने गाथाबद्ध ग्रंथ की रचना की, उसी में साधु धर्म की भी रचना है। फिर उस पर संस्कृत तथा हिन्दी टीका भी की है। न्याय विषय पर न्याय रत्न की कृति प्रस्तुत है। अनेक संस्कृत एवं प्राकृत स्तोत्रों की रचना की। वर्धमान भक्तामर उनकी एक अमर कृति है। प्राकृत व्याकरण और प्राकृत कोष भी उन्हों ने बनाया है। साहित्य की समस्त विधाओं पर उनकी कलम चली है। वस्तुतः आचार्य घासीलालजी म. इस बीसवीं शती के सर्वाधिक समर्थ साहित्यकार हैं। वे इस वर्तमान युग के आचार्य हेमचन्द्र कहे जा सकते हैं। स्थानकवासी समाज के लिए कामधेनु हैं, सुरतरु हैं और चिन्तामणि रत्न हैं। स्थानकवासी समाज को समग्र भाव से आचार्य श्री घासीलाल जी म. पर गौरव एवं गर्व होना चाहिए। यह समाज का महान् सद्भाग्य है।

जैन भवन, लोहामंडी
आगरा
३०-६-१९८९

—विजय मुनि शास्त्री
साहित्यरत्न

अनुक्रमणिका

[न्यायरत्नसार लघुव्याख्या]

प्रथम अध्याय	सूत्र १–१३	पृष्ठ १–६
प्रमाण का स्वरूप तथा लक्षण		
द्वितीय अध्याय	सूत्र १–१८	पृष्ठ ७–१२
प्रमाण के भेदोपभेद		
तृतीय अध्याय	सूत्र १–७३	पृष्ठ १३–३३
परोक्ष प्रमाण के भेद : उनके विविध लक्षण		
स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क एवं अनुमान प्रमाण का कथन		
चतुर्थ अध्याय	सूत्र १–३६	पृष्ठ ३४–४४
आगमप्रमाण का वर्णन : सप्तभंगी स्वरूप		
पंचम अध्याय	सूत्र १–४०	पृष्ठ ४५–५८
प्रमाण के फल—ज्ञान का वर्णन		
षष्ठ अध्याय	सूत्र १–३७	पृष्ठ ६९–६९
नय का वर्णन		

न्यायरत्नसार न्यायरत्नावली बृहत् टीका समन्वित

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रथम अध्याय — सूत्र १–१३ — पृष्ठ १–१९

मंगलाचरण : प्रमाण स्वरूप-चर्चा

द्वितीय अध्याय — सूत्र १–१८ — पृष्ठ २०–३७

प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि भेद से प्रमाण के भेदोपभेद की चर्चा

तृतीय अध्याय — सूत्र १–७३ — पृष्ठ ३८–८१

परोक्ष प्रमाण के अनुमान आदि प्रमाणों का प्रामाण्य कथन

चतुर्थ अध्याय — सूत्र १–३६ — पृष्ठ ८२–१२४

आगम प्रमाण चर्चा

पंचम अध्याय — सूत्र १–४१ — पृष्ठ १२५–१६७

प्रमाण-फल की चर्चा

षष्ठ अध्याय — सूत्र १–३७ — पृष्ट १६७–१९८

नय विवेचन

न्यायरत्नसार

(हिन्दी व्याख्या-सहित)

प्रथमोऽध्यायः

श्री वर्द्धमानं गुणरत्न-दानं,
गुणाकरं गौतममत्र नत्वा ।
बालोपकाराय करोमि सम्यक्,
श्री न्यायरत्नं मुनि घासिलालः ॥१॥

अर्थ—ज्ञानादि गुणरूपी रत्नों को देने वाले श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को, एवं ज्ञानादि गुणों के आकर (खानिरूप) मुनिजनों के नायक श्री गौतम गणधर को मन, वचन और काय की एकाग्रता-पूर्वक नमस्कार करके जैन न्यायशास्त्र से अनभिज्ञ—अपरिचित-बालजनों को जैनशास्त्र प्रतिपादित प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने के निमित्त मैं मुनि घासीलाल इस न्यायरत्न की सम्यग् रूप से रचना करता हूँ।

व्याख्या—प्रस्तुत मङ्गलाचरण में अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को और उनके प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी को नमस्कार किया गया है। मङ्गलाचरण करने का मुख्य उद्देश्य ग्रन्थ-निर्माण करने में आगत विघ्नों का निवारण करना होता है तथा शिष्टाचार का पालन और कृतज्ञता का प्रकाशन करना भी होता है।

प्रमाण का स्वरूप :—

सूत्र—स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानमबाधितं प्रमाणम् ॥ १ ॥

अर्थ—स्व और पर का निर्दोष रूप से निश्चय करने वाला अबाधित ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है।

व्याख्या—हर एक पदार्थ का निर्णय प्रमाण से ही होता है। इसीलिये पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये प्रमाण को कसौटी जैसा कहा गया है, प्रमाण यद्यपि भिन्न-भिन्न सिद्धान्त-कारों ने भिन्न-भिन्न रूप से माने हैं, पर जैन दार्शनिकों ने एक स्व और पर के निश्चायक ज्ञान को प्रमाण माना है। स्व शब्द का अर्थ ज्ञान का स्वरूप, और पर शब्द का अर्थ ज्ञेय-पदार्थ—ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ है। इस तरह अपने आपको जानने वाला और पदार्थों का यथार्थ रूप से निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है ऐसा इस सूत्र का निष्कर्षार्थ है ॥ १ ॥

ज्ञान को ही प्रमाण मानने में युक्ति :—

सूत्र—इष्टानिष्ट वस्तूपादान-हान क्षमत्वाज्ज्ञानमेव प्रमाणम् ॥ २ ॥

अर्थ—इष्ट—सुख और सुख के साधन एवं अनिष्ट—दुःख और दुःख के साधन को क्रमशः प्राप्ति कराने में और परिहार कराने में ज्ञान ही समर्थ होता है। इसलिये ज्ञान ही प्रमाण है।

व्याख्या—इष्ट वस्तु क्या है और अनिष्ट वस्तु क्या है, यह बतला देना ही प्रमाण का प्रयोजन है। यह प्रमाण का प्रयोजन तभी सिद्ध हो सकता है कि जब प्रमाण को ज्ञानरूप माना जाय। यदि प्रमाण ज्ञानरूप नहीं होता है तो यह बात निश्चित है कि उससे इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में उपादेय और हेयरूप बुद्धि नहीं हो सकती है। अब प्रमाण से इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में स्वीकार और तिरस्कार कराने की बुद्धि उत्पन्न होती है, तो इसका अभिप्राय यही है कि वह प्रमाण ज्ञान रूप ही है, सन्निकर्षादि रूप नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इस तरह ज्ञान ही प्रमाण क्यों है, सन्निकर्षादि प्रमाण क्यों नहीं है ? इस बात का इस सूत्र द्वारा उत्तर दिया गया है ॥ २ ॥

सन्निकर्षादिकों में प्रमाणता का निरसन :—

सूत्र—स्वार्थनिर्णये साधकतमत्वविरहाद् घटादेरिव जडस्य प्रामाण्याभावः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जड़ होता है उसमें प्रमाणता नहीं होती है, जैसे—घटादि। घटादि पदार्थ जड़ हैं। इसलिये वे प्रमाणभूत नहीं हैं। जो स्व और पर-पदार्थ के निर्णय करने में साधकतम होता है, प्रमाणता उसी में आती है, और जो स्व—अपने आपके निश्चय करने में और पदार्थ के निश्चय करने में साधकतम नहीं होता है, उसमें प्रमाणता नहीं आती है।

व्याख्या—ऐसा नियम है कि जो अपने आपको नहीं जानता है वह पर-पदार्थ को कैसे जान सकता है ? सन्निकर्ष—इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध—चूंकि जड़रूप है, अतः घटादि की तरह वह न अपना निश्चायक होता है और न पर-पदार्थ का निश्चायक होता है। इसलिये स्व और पर के निर्णय करने में अक्षम—अकरण होने से उसमें प्रमाणता का निषेध किया गया है। स्व और पर के निर्णय करने में साधकतम ज्ञान ही होता है, सन्निकर्ष नहीं; क्योंकि वह ज्ञानरूप नहीं है, प्रत्युत जड़रूप है। इसीलिये ज्ञान में प्रमाणता और सन्निकर्ष में अप्रमाणता कही गई है ॥ ३ ॥

जड़ में साधकतमता का अभाव कथन :—

सूत्र—चेतनधर्मव्यतिरिक्तस्य सन्निकर्षादेः स्व-परनिर्णये स्तम्भादेरिव न साधकतमत्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—चेतनधर्म से भिन्न होने के कारण सन्निकर्षादिकों में स्व और पर के निर्णय करने के प्रति स्तम्भ आदि की तरह साधकतमता नहीं है।

व्याख्या—स्व और पर के निर्णय करने के प्रति जड़ में साधकतमता नहीं है ऐसा जो पूर्व सूत्र में कहा गया है उसी का समर्थन इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने किया है—इसके द्वारा यह समझाया गया है कि सन्निकर्षादि जड़ इसलिये हैं कि वे चेतनधर्म से भिन्न हैं, जैसा कि चेतनधर्म से भिन्न स्तम्भ होता है, अतः चेतनधर्म से भिन्न होने के कारण स्तम्भ में जिस प्रकार जड़ता है, उसी प्रकार सन्निकर्षादि में भी जड़ता है। जहाँ-जहाँ चेतनधर्म से भिन्नता होती है, वहाँ-वहाँ जड़ता होती है। सन्निकर्ष इसी प्रकार का है, अतः उसमें साधकतमता नहीं आती है, ऐसा मानना चाहिये। यहाँ सन्निकर्ष में प्रमाणता का निषेध करने के लिये "वह स्व-निर्णय और पर का निर्णय करने में साधकतम नहीं है" ऐसा जो तृतीय सूत्र द्वारा हेतु रूप से कहा गया है सो यह हेतु प्रतिवादी—सन्निकर्ष प्रमाणवादी वैशेषिक-को सिद्ध नहीं है, अतः यह असिद्ध है—सो इस प्रकार की आशङ्का को दूर करने के निमित्त यहाँ कहा गया है कि सन्निकर्ष स्व और पर के निर्णय करने में साधकतम इसलिये नहीं हो सकता है कि वह चेतनधर्म से व्यतिरिक्त है—अचेतन है। जो अचेतन होता है वह स्तम्भादि की तरह जब अपना ही निर्णय नहीं कर सकता है तो फिर वह पर का निर्णय कैसे कर सकता है ? ॥ ४ ॥

ज्ञान में स्व-पर व्यवसायात्मकता का कथन :—

सूत्र—तद्व्यवसाय स्वभावं समारोप-तिरस्कारकत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रमाण रूप से स्वीकृत हुआ वह ज्ञान समारोप का तिरस्कार करने वाला होने से निश्चयात्मक स्वभाव वाला है।

व्याख्या—प्रमाण का लक्षण प्रकट करते समय ज्ञान को निश्चयात्मक स्वभाव वाला कहा गया है। उसी का समर्थन इस सूत्र द्वारा यहाँ पर इसलिये किया गया है कि बौद्ध सिद्धान्तकारों ने निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण माना है। जैन सिद्धान्त में जिसे दर्शनोपयोग कहा गया है और केवल सामान्य को जो विषय करता है, उसी का नाम निर्विकल्पक ज्ञान है। सो उस निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता का निषेध करने के लिये यहाँ यह सुस्पष्ट किया गया है कि सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, निर्विकल्पक ज्ञान नहीं। क्योंकि—उसके द्वारा समारोप का तिरस्कार नहीं होता है, सविकल्पक ज्ञान से ही समारोप का तिरस्कार—विनाश होता है ॥ ५ ॥

सविकल्पक ज्ञान में प्रमाणता मानने पर संशयादि ज्ञानों में प्रमाणता का निषेधपरक कथन :—

सूत्र—संशयविपर्ययानध्यवसायभेदात्त्रिविधः समारोपः ॥ ६ ॥

अर्थ—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के भेद से समारोप तीन प्रकार का है। जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा ज्ञान नहीं होना, इनका नाम समारोप है।

व्याख्या—सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण होता है, जब ऐसा सिद्धान्त स्थिर हो गया तब यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये सब विकल्पात्मक ज्ञान हैं, इन्हें भी प्रमाण कोटि में आना चाहिये; पर ये तो प्रमाण कोटि से बहिष्कृत किये गये हैं। अतः सविकल्प ज्ञान ही प्रमाण होता है, यह बात स्थिर नहीं रहती है। सो इस प्रकार की इस आशङ्का का समाधान ऐसा है कि संशयादि ये ज्ञान के दोष हैं। जिस ज्ञान में ये दोष रहते हैं, वह ज्ञान प्रमाण कोटि से बहिष्कृत रहता है। प्रमाण का लक्षण करते समय स्व और पर का निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। संशय और अनध्यवसाय ज्ञान से किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं हो पाता है और विपर्यय ज्ञान से विपरीत पदार्थ का निश्चय होता है। इसी कारण प्रमाण लक्षण में 'अबाधित' यह पद निक्षिप्त करके सूत्रकार ने उसकी व्यावृत्ति की है। क्योंकि विपर्यय ज्ञान से जाने गये पदार्थ में उत्तर काल में बाधा आती है ॥ ६ ॥

संशय ज्ञान का लक्षण :—

सूत्र—विरुद्धानेककोटि-स्पर्शिज्ञानं संशयः ॥ ७ ॥

अर्थ—एक वस्तु में अनिश्चित, विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है।

व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने संशय का लक्षण समझाया है। जैसे—यह स्थाणु है या पुरुष है ? इस प्रकार के इस ज्ञान में विषयभूत बने हुए किसी भी पदार्थ पर ज्ञान की स्थिरता नहीं है। स्थाणु और पुरुष ये दोनों आपस में एक दूसरे से विरुद्ध हैं—भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान ने जानते समय न तो स्थाणु का ही निश्चय कर पाया है और न पुरुष का ही। ऐसा ज्ञान तब होता है कि जब द्रष्टा को केवल सामान्य धर्म का—स्थाणु और पुरुष की ऊँचाई आदि का—प्रत्यक्ष होता है और विशेष धर्म का—दोनों की वक्रता, शिर, हाथ आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस तरह एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध अंशों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहा गया है ॥ ७ ॥

विपर्यय का लक्षण :—

सूत्र—अतस्मिंस्तदवगाहि ज्ञानं विपर्ययः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसे उस प्रकार का जानने वाला ज्ञान विपर्यय ज्ञान है।

व्याख्या—विपर्यय ज्ञान का लक्षण इस सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने यह समझाया है कि जब चक्षुरादि इन्द्रियगत दोष आदि के कारण द्रष्टा को चाँदी में सीप का ज्ञान, या रस्सी में सर्प का भान होता है, उस समय यह ज्ञान हुआ माना जाता है। इस ज्ञान के द्वारा वास्तविक पदार्थ का निर्णय नहीं हो पाता है, प्रत्युत विपरीत ही पदार्थ का निर्णय हो जाता है। सीप से विपरीत चाँदी है और रस्सी से विपरीत सर्प है। इस तरह विपर्यय ज्ञान वाला व्यक्ति जो पदार्थ है उसका तो निश्चय नहीं कर पाता है और जो पदार्थ नहीं है उसका निश्चय कर लेता है। इसी कारण ऐसे विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहा गया है। विपर्यय ज्ञान और संशयज्ञान में यही भिन्नता है कि संशय ज्ञान में परस्पर विरुद्ध अनेक अंशों का निश्चय नहीं हो पाता है और विपर्यय ज्ञान में एक विरुद्ध अंश का निश्चय हो जाता है ॥ ८ ॥

अनध्यवसाय का लक्षण :—

सूत्र—विशेषाध्यवसायविहीनं ज्ञानमनध्यवसायः ॥ ९ ॥

अर्थ—विशेषांश को ग्रहण नहीं करके जो केवल 'यह कुछ है' इस प्रकार से सामान्यांश को ग्रहण करने वाला बोध होता है, वही अनध्यवसाय है।

व्याख्या—प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मों वाला माना गया है। सामान्य पदार्थ अर्थ-क्रियाकारी नहीं होता। अर्थक्रियाकारी विशेष पदार्थ ही होता है, अतः वस्तु के विशेषांश को नहीं जानने वाला और केवल सामान्यांश को ही जानने वाला जो बोध होता है, जैसे—रास्ते में चलते हुए पुरुष को तृणादि का स्पर्श हो जाने पर कुछ स्पर्श हुआ है, ऐसा जो ज्ञान होता है वही अनध्यवसाय ज्ञान है। बौद्धों द्वारा मान्य निर्विकल्पकदर्शन इसी अनध्यवसायरूप होता है। यह ज्ञान संशय ज्ञान से बिलकुल जुदा है, क्योंकि संशयज्ञान में विशेष का स्पर्श होता है, पर इसमें तो उसका स्पर्श तक भी नहीं होता है ॥ ९ ॥

पर का अर्थ :—

सूत्र—ज्ञानस्वरूपभिन्न ज्ञेयार्थः परः ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञान के स्वरूप से भिन्न जो ज्ञेयरूप अर्थ है, वही पर है। ज्ञान में प्रमाणता इसी ज्ञेयरूप बाह्य पदार्थ के जानने से ही आती है, केवल अपने आपको जानने से नहीं।

व्याख्या—प्रमाण का लक्षण कहते समय जो ज्ञान का विशेषणभूत 'पर' शब्द है उसका वाक्यार्थ सत्यरूप से प्रकट करने के लिये ही सूत्रकार ने इस सूत्र का निर्माण किया है। बाह्य पदार्थ घट-पटादि—ज्ञेयार्थ—के विषय में माध्यमिक सिद्धान्त स्वप्नोपलब्ध पदार्थ की तरह ये मिथ्या हैं, ऐसी मान्यता वाला है। इसी तरह वह आन्तरिक पदार्थों को आत्मा, प्रमाण-ज्ञान आदि को भी सर्वथा असत् कहता है। वेदान्ती बाह्य पदार्थ को असत् मानते हैं, आन्तरिक पदार्थ को सत्स्वरूप मानते हैं।[1] इनकी मान्यतानुसार ब्रह्म

---

१. ब्रह्म एव इदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत् पश्यति कश्चन ॥

ही एक वास्तविक तत्त्व है। सौत्रान्तिक जो कि बौद्धों का ही एक सम्प्रदायविशेष है, बाह्य पदार्थ को सद्रूप मानता है। इन सब मान्यताओं के विरुद्ध जैन दर्शन अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् दोनों को वास्तविक मानता है। अतः इस सूत्र से सूत्रकार ने बौद्धदर्शन और वेदान्तदर्शन की एकान्त मान्यता को दूर किया है, ऐसा जानना चाहिये। यहाँ "ज्ञानस्वरूपभिन्न ज्ञेयार्थः परः" ऐसा जो सूत्र कहा गया है, उस से सूत्रकार का ऐसा अभिप्राय है कि ज्ञान में जो प्रमाणता आती है, वह प्रतिभात ज्ञेयार्थ की यथार्थता से ही आती है, अपने स्वरूप के जान लेने से नहीं आती है॥ १०॥

ज्ञान में स्वपरावभासकत्व का समर्थन :—

सूत्र—ज्ञानस्य स्वपरावभासकत्वमेव स्व-पर-व्यवसायः॥ ११॥

अर्थ—ज्ञान में जो स्व की और पर की अवभासकता है, वही ज्ञान का स्व और पर का व्यवसाय है।

व्याख्या—ज्ञान जब अपनी ओर झुकता है, तब वह अपने को जानता है, यही ज्ञान में स्व-व्यवसाय है और जब वह पर-पदार्थ की ओर झुकता है तब वह उस पदार्थ को जानता है, यही उसका पर-व्यवसाय है। जिस प्रकार दीपक पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ ही अपने को भी प्रकाशित करता है—अर्थात् दीपक को देखने के लिए जैसे अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती है, उसी प्रकार प्रमाण को जानने के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यही ज्ञान में स्व-पर-व्यवसायता है। ज्ञान को स्व-व्यवसायी मानने का प्रयोजन यही है कि कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि "जैसा पदार्थों को जानने में कारण ज्ञान है तो ज्ञान को जानने में कारण क्या है।"

प्रश्न—क्या सभी प्रकार के ज्ञान स्व-परिच्छेदक होते हैं या केवल प्रमाणभूत ज्ञान ही स्व-परिच्छेदक होता है ?

उत्तर—सभी प्रकार के ज्ञान स्वपरिच्छेदक होते हैं और इस स्वपरिच्छेद की दृष्टि से कोई ज्ञान प्रमाण या मिथ्या ज्ञान नहीं होता। ज्ञान में सच्चापन या झूठापन विषय के सच्चेपन या झूठेपन पर[1] निर्भर है॥ ११॥

ज्ञान में प्रमाणता का कथन :—

सूत्र—प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्॥ १२॥

अर्थ—प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप से जानना यही प्रतिभातविषयअव्यभिचारित्व है। यही ज्ञान में प्रमाणता है।

व्याख्या—जो पदार्थ जिस तरह का है, उसी तरह का उसे जानने वाला ज्ञान प्रमाण है और यही उसकी सच्चाई है कि जो पदार्थ ज्ञान के द्वारा जैसा जाना गया है, वैसा ही वह उपलब्ध होता है। यदि ज्ञान से जाना गया पदार्थ उत्तर काल में वैसा उपलब्ध नहीं होता है तो उस पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता, यही ज्ञान की अप्रमाणता है॥ १२॥

प्रमाणता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति का कथन :—

सूत्र—तदुत्पत्तौ परत एव स्वनिश्चये तु अभ्यासानभ्यासापेक्षया स्वतः परतश्च॥ १३॥

---

१. "ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये अपि बहिरर्थापेक्षयैव न स्वरूपापेक्षया" —लघीयस्त्रयटीकायाम्।
"भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः, बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते" —देवागमे।

अर्थ—प्रमणता ज्ञान में पर से ही आती है, तथा उस प्रमाणता का निश्चय अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में पर से होता है।

व्याख्या—प्रमाण-ज्ञान के द्वारा जो वस्तु जैसी होती है, वह वैसी ही यदि जानी जाती है तो वह ज्ञान सच्चा—सम्यक् कहा गया है। अब इस पर प्रश्न यह होता है कि ज्ञान में यह सच्चाई अपने आप आती है या उसके लिये अन्य कारणों की आवश्यकता होती है? इसी का उत्तर इस सूत्र द्वारा दिया गया है। इस में यह समझाया गया है कि ज्ञान एक सामान्य गुण है और सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्या-ज्ञान ये दो उसकी विशेष अवस्थाएँ हैं। इन दोनों विशेष अवस्थाओं के लिये विशेष कारणों की आवश्यकता पड़ती है। हम देखते हैं कि सामान्य धागों से ही वस्त्र तैयार होता है, परन्तु जब लाल वस्त्र बनाना होता है, तब सामान्य डोरों से वह नहीं बनाया जाता है, उसके लिए तो लाल डोरों की ही आवश्यकता होती है। इस से निष्कर्ष यही निकलता है कि अच्छे-बुरे कार्यों के लिये सामान्य सामग्री से अधिक विशेष सामग्री की आवश्यकता होती है। जिस सामान्य सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी सामग्री से उसमें प्रमाणता की उत्पत्ति नहीं होती है, उसके लिए तो विशेष कारणों की—इन्द्रियादिकों की निर्मलतारूप गुणों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं विशेष कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति परतः कही गई है। तथा जब यह जानने की इच्छा होती है कि हमें जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह सच्चा है, तो इसके लिये प्रकट किया गया है कि अभ्यस्त विषय में—परिचित ग्राम जलाशय आदि में जो ज्ञान उन-उन को जानने का होता है, वह इतना पक्का होता है कि उसकी सच्चाई जानने के लिये हमें अन्य कारणों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। जैसे—जिस तालाब आदि में जो प्रतिदिन स्नान आदि कार्य किया करते हैं, वहाँ के पानी के सद्भाव में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं होता है, अतः वहाँ जल-ज्ञान होते ही यह हमारा जल-ज्ञान निर्दोष है, यह स्वतः ही निश्चय हो जाता है। इसी का नाम स्वतः प्रामाण्य की ज्ञप्ति है; और जो अपरिचित स्थान आदि हैं वहाँ ज्ञान में प्रमाणता जानने के लिये अन्य कारणों की अपेक्षा रहती है। जैसे—अपरिचित स्थान में दूर से पानी दिखने पर हमें यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जो जल-ज्ञान हमें हुआ है वह सत्य है या असत्य है? क्योंकि कहीं यह मृगमरीचिका—मृग-तृष्णा तो नहीं है और उसी में यह जल-ज्ञान तो हमें नहीं हो रहा है? इतने में ही यदि उस ओर से कोई पानी का घड़ा भरा हुआ ला रहा होता है तो उसे देखकर हम यह जान जाते हैं कि जो जल-ज्ञान हमें हुआ है, वह बिलकुल सच्चा है। इस तरह अनभ्यस्त विषय में—अपरिचित ग्राम जलाशय आदि में—जायमान ज्ञान की सत्यता का भान अन्य कारणों के अधीन होने के कारण प्रमाणता की ज्ञप्ति को परतः कहा[1] गया है॥ १३॥

॥ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

---

१. ज्ञप्तिः अभ्यस्तविषये स्वतः, अनभ्यस्तविषये तु परतः, परिचित स्वग्राम तटाक जलादिरभ्यस्तः, अपरिचित स्वग्राम तटाक जलादिरनभ्यस्तः। —न्याय दीपिकायाम्।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रमाण के दो भेद :—

सूत्र—प्रत्यक्षपरोक्षभेदात् तत् प्रमाणं द्विविधम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है।

व्याख्या—प्रथम अध्याय में प्रमाण के स्वरूप का वर्णन करके अब इस द्वितीय अध्याय में सूत्रकार ने उसके भेदों का वर्णन किया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रकार का होता है। अन्य सिद्धान्तकारों के द्वारा मान्य प्रमाण संख्या को हटाने के निमित्त 'द्विविधम्' इस पद का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

प्रत्यक्ष का लक्षण :—

सूत्र—विशदात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस ज्ञान का आत्मस्वरूप विशद-निर्मल होता है, उस ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है, अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ का स्पष्ट प्रतिभास होता है, उसी ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है।

व्याख्या—जब हम किसी व्यक्ति को अपनी आँखों से देखते हैं तो जितना स्पष्ट ज्ञान उसका हमें होता है, उतना स्पष्ट ज्ञान हमें उसका परिचय देने वाले व्यक्ति से या उसका चित्र देखने से नहीं हो सकता है, यही प्रत्यक्ष प्रमाण की निर्मलता है। इस ज्ञान को किसी दूसरे ज्ञान के सहारे की आवश्यकता नहीं होती है, जिस प्रकार की दूसरे ज्ञान के सहारे की अपेक्षा परोक्ष ज्ञान को होती है। धूम को देखने से अग्नि का ज्ञान तो हो जाता है पर वह स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जो ज्ञान अपने विषय की स्पष्टता के निमित्त दूसरे ज्ञान की सहायता चाहता है, वह परोक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्ष नहीं। धूम को जानने के लिये हमें पहले किसी अन्य ज्ञान के सहारे की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु अग्नि का अनुमान धूम को जाने बिना नहीं हो सकता। इसीलिये ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा गया ॥ २ ॥

विशदता—वैशद्य का लक्षण :—

सूत्र—अनुमानाद्यसंभवि नैर्मल्यं वैशद्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ—अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों में नहीं संभावित हो सकने वाली जो निर्मलता है, उसी का नाम वैशद्य है।

व्याख्या—सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में कही गई विशदता का स्वरूप समझाया है। यह तो स्पष्ट है कि अनुमान, आगम आदि परोक्ष प्रमाणों द्वारा जानी गई वस्तु में स्पष्टता रूप प्रतिभास की प्रतीति नहीं होती है। जब गुरुजन शिष्य को ऐसी बात समझाते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ नियम से अग्नि होती है। शिष्य गुरु की इस बात का अवधारण कर जब अविच्छिन्न शाखा वाले धूम को पर्वत में से उठता हुआ देखता है, तब वह इस पर्वत में अग्नि है ऐसा अनुमान उस

धूम से कर लेता है। अब शिष्य को जो धूम के प्रत्यक्ष हो जाने से परोक्ष अग्निरूप पदार्थ का अनुमान रूप ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान परोक्ष है। इस परोक्ष ज्ञान में और दृश्यमान धूम के ज्ञान में निर्मलता को लेकर अन्तर है। धूम को जानने के लिए हमें किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और अग्नि का अनुमान करने के लिये धूम को जानने की आवश्यकता है। धूम-ज्ञान में निर्मलता है, अग्नि-ज्ञान में निर्मलता नहीं हैं, क्योंकि अग्निज्ञान का विषय अग्निरूप पदार्थ लकड़ी की अग्नि है या छांणे की अग्नि है इस रूप से स्पष्ट प्रतिभास वाला नहीं है। यह प्रतिभास तो वहाँ जाने पर प्रत्यक्ष से ही हो सकता है। इसलिये अनुमानादिरूप परोक्ष प्रमाण में निर्मलता असंभावित है, यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण में ही संभावित है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रत्यक्ष के भेद :—

सूत्र—सांव्यवहारिक-पारमार्थिकाभ्यां प्रत्यक्षं द्विविधम् ॥ ४ ॥

अर्थ—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—जो प्रमाण वास्तव में प्रत्यक्ष तो नहीं है, किन्तु अन्य परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा कुछ-एकदेश—स्पष्ट होने से लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष मान लिया जाता है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वैसे देखा जाय तो इन्द्रियजन्य होने के कारण यह प्रत्यक्ष परोक्ष ही है। यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान अनुमान आदि परोक्ष ज्ञानों की अपेक्षा निर्मल अवश्य होता है, पर वह पूर्णरूप से निर्मल नहीं होता। इसीलिये प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद किये गये हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष में पूर्ण निर्मलता रहती है, क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियादिकों की सहायता के बिना केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण :—

सूत्र—इन्द्रियानिन्द्रियनं देशतो विशदं सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

अर्थ—चक्षुरादिक इन्द्रियों से और अनिन्द्रिय रूप मन से पदार्थ का जो एकदेश निर्मलता लिये हुए ज्ञान होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियज और अनिन्द्रियज के भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की प्रधानता एवं मन की सहायता रहती है, तथा अनिन्द्रियज प्रत्यक्ष में मन की प्रधानता रहती है ॥ ५ ॥

सूत्र—श्रोत्रादि भेदाज्ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्शन—इस प्रकार से इन्द्रियां पाँच होती हैं।

व्याख्या—श्रोत्रादिक ये पाँच इन्द्रियाँ ज्ञानजनक होने से ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं। यहाँ पर इन्ही का प्रकरण है, कर्मेन्द्रियों का नहीं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं, न कम होती हैं और न अधिक होती हैं। इन्द्रियनामकर्म के उदय से इनकी रचना होती है, ये संसारी आत्मा के लिङ्ग रूप से कही गई हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रियों के भेद :—

सूत्र—द्रव्यभावभेदात्प्रत्येकमिन्द्रियं द्विविधम् ॥ ७ ॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की कही गई है।

व्याख्या—जो पुद्गल और आत्म-प्रदेश भिन्न-भिन्न इन्द्रियाकाररूप से रचना वाले हो रहे हैं वह द्रव्येन्द्रिय है, तथा क्षयोपशमविशेष से होने वाला जो आत्मा का ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम है, वह भावेन्द्रिय है ॥ ७ ॥

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद :—

सूत्र—द्विविधमपि सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुः प्रकारकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—दोनों प्रकार का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार-चार प्रकार का है।

व्याख्या—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के जो दो भेद ५वें सूत्र द्वारा प्रकट किये गये हैं वे प्रत्येक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद वाले हैं। अवग्रहादि ज्ञानों के स्वरूप का कथन स्वयं ग्रन्थकार करने वाले हैं। तथा इस विषय को अधिक रूप से स्पष्ट जानने के लिये इसी ग्रन्थ की न्याय रत्नावली नाम की टीका देखनी चाहिये ॥ ८ ॥

अवग्रह का लक्षण :—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र—विषय-विषयि-संबन्धोद्भूतदर्शनानन्तरावान्तरसत्ताविशिष्टवस्तु ग्रहणमवग्रहः ॥ ९ ॥

अर्थ—विषय—पदार्थ और विषयी—चक्षु आदि इन्द्रियों का यथायोग्य स्थान में सम्बन्ध होने पर सत्ता मात्र को विषय करने वाले दर्शन के बाद जो अवान्तर सत्ताविशिष्ट वस्तु को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अवग्रह कहा गया है।

व्याख्या—पदार्थ का और इन्द्रियों का जब अपने उचित प्रदेश में सम्बन्ध होता है तब सत्ता-सामान्य को विषय करने वाला दर्शन होता है। यह दर्शन निराकार होता है। इसके बाद ही अवान्तर सत्ता-विशिष्ट मनुष्य आदि वस्तु का ग्रहण होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियादिकों के द्वारा जो सब से पहले पदार्थ का ज्ञान होता है, वह अवग्रह है; जैसे यह मनुष्य है ॥ ९ ॥

ईहा का लक्षण :—

सूत्र—अवग्रहगृहीतार्थोद्भूत संशयनिरासायत्नमीहा ॥ १० ॥

अर्थ—अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में उत्पन्न हुए संशय को दूर करने की आकांक्षा रूप जो प्रयत्न है, उसका नाम ईहा है।

व्याख्या—जैसे यह पुरुष है, इस प्रकार से अवग्रह के द्वारा जान लेने पर "यह दक्षिणी है या गुजराती है" इस प्रकार का जो वहाँ सन्देह हो जाता है, उस सन्देह को दूर करने वाला यह ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी का नाम निर्णयाभिमुखी प्रवृत्ति है। अतः यह दक्षिणी होना चाहिये, इस प्रकार से इसकी प्रवृत्ति अवग्रह से गृहीत हुए अर्थ में होती है ॥ १० ॥

अवाय का लक्षण :—

सूत्र—ईहा भावित विशेषार्थावधारणमवायः ॥ ११ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञान के द्वारा विषयभूत हुए अर्थ का विशेष रूप से निर्णय करने वाला जो ज्ञान है, उसी का नाम अवाय है।

व्याख्या—"यह दक्षिणी होना चाहिये" ऐसा जो ईहा ज्ञान ने जाना है सो उस जाने हुए पदार्थ का उसकी भाषा आदि से पूर्ण निश्चय कर लेना कि यह दक्षिणी ही है, इसी का नाम अवाय है ॥ ११ ॥

धारणा का लक्षण :—

सूत्र—कालान्तराविस्मरणहेतुर्धारणा ॥ १२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—अवाय ज्ञान का इतना दृढ़ हो जाना, जिससे कालान्तर में स्मृति हो सके, धारणा है।

व्याख्या—धारणा के बिना कालान्तर में किसी भी जाने हुए पदार्थ का स्मरण नहीं हो सकता है। इसीलिये कालान्तर में जानी हुई वस्तु की स्मृति कराने में धारणा को हेतुभूत कहा गया है ॥ १२ ॥

दर्शन, अवग्रहादि का क्रम कथन :—

सूत्र—क्रमिकाविर्भूतदर्शनावरणादि कर्मक्षयोपशमजन्यत्वेनैषामुक्तक्रमवत्त्वं नो चेद्विषयव्यवस्थाभावः ॥ १३ ॥

अर्थ—अपने-अपने आवारक दर्शनावरणादि कर्मों का क्षयोपशम क्रमशः होता है और उसी क्षयोपशम के क्रमानुसार इन दर्शनादिकों की उत्पत्ति होती है, इसलिये इनमें क्रमिकता इसी प्रकार से मानी गई है, अन्यथा विषय-व्यवस्था नहीं बन सकती है।

व्याख्या—जिसका दर्शन नहीं होता उसका अवग्रह नहीं हो सकता है, अवग्रह ज्ञान का जो विषय नहीं हुआ है उसमें ईहा ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, ईहा ज्ञान की प्रवृत्ति हुए बिना अवाय नहीं हो सकता है और अवाय के अभाव में धारणा रूप संस्कार नहीं हो सकता है। अतः पहले दर्शन, फिर अवग्रह, फिर ईहा, फिर अवाय और फिर धारणा इस प्रकार के क्रम से इनका होना होता है। इस प्रकार के क्रम का कारण अपने-अपने आवारक कर्मों के क्रमिक क्षयोपशम का होना है, दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से सत्त्व सामान्य विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करने वाला दर्शन होता है। फिर मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवग्रहादि रूप ज्ञान होते हैं। यदि इस तरह से इनके उत्पन्न होने की व्यवस्था नहीं मानी जावे तो विषय-पदार्थ की व्यवस्था नहीं बन सकेगी और समस्त सांसारिक व्यवहार छिन्न-भिन्न हो जावेगा क्योंकि बिना दर्शन के अवग्रह, अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय और अवाय के बिना धारणा पदार्थ के विषय में कथमपि उद्भूत नहीं हो सकती है ॥ १३ ॥

सभेद पारमार्थिक प्रत्यक्ष का कथन :—

सूत्र—द्विविधमतीन्द्रियं ज्ञानं पारमार्थिकं प्रत्यक्षम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से नहीं होता है किन्तु केवल आत्म द्रव्य की सहायता से ही होता है वही पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यह सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—पारमार्थिक प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की तरह इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु आत्मा मात्र की सहायता से ही उत्पन्न होता है। हम लोगों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं है। इस कारण इसका अनुभूत उदाहरण नहीं दिया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूप से प्रत्यक्ष है[1] और यही स्वानुभव पारमार्थिक प्रत्यक्ष का उदाहरण कहा जा सकता है। क्योंकि पदार्थों के जानने के लिये छद्मस्थ संसारी जीवों की आत्मा को इन्द्रियादिकों की सहायता लेनी पड़ती है। लेकिन अपने ज्ञान को जानने के लिये इन्द्रियादिकों की सहायता नहीं लेनी पड़ती है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष सकल और विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा

---

१. ज्ञानस्य बाह्यार्थापेक्षयैव वैशद्यावैशद्येदेवैः प्रणीते, स्वरूपापेक्षया सकलमपि ज्ञानं विशदमेव स्व-संवेदन ज्ञानान्तराव्यवधानात्। —लघीयस्त्रय टीकायाम्।

गया है। सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष में केवलज्ञान और विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञान गृहीत हुए हैं। दूसरे लोगों ने पारमार्थिक प्रत्यक्ष को 'योगज' प्रत्यक्ष के नाम से कहा है।

इन्द्रियादिकों की सहायता के विना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक रूपी--पुद्गल पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। इन्द्रियादिकों की सहायता के बिना दूसरे के मनोगत भाव को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है। समस्त द्रव्यों को और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। अवधि-मनःपर्यय ज्ञान को जो देशप्रत्यक्ष—विकल प्रत्यक्ष कहा गया है, उसका अभिप्राय ऐसा नहीं है कि इनमें निर्मलता केवलज्ञान की अपेक्षा कम है। निर्मलता तो सब में एकसी है परन्तु ये दोनों केवल रूपी द्रव्य को ही मर्यादा लेकर जानते हैं, अरूपी द्रव्यों को नहीं जानते हैं॥ १४॥

अर्हन्त में ही केवलज्ञान के सद्भाव का कथन :—

सूत्र—सर्वज्ञत्वात्केवलज्ञानवानर्हन्नेव निर्दोषत्वात् स एव सर्वज्ञः॥ १५॥

अर्थ—केवलज्ञान अर्हन्त परमात्मा में ही है, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, तथा वे सर्वज्ञ इसलिये हैं कि वे निर्दोष हैं।

व्याख्या—यहाँ अर्हन्त परमात्मा को पक्ष, केवलज्ञान को साध्य और सर्वज्ञत्व को हेतु बनाया गया है। क्योंकि साध्य परोक्ष होता है, परोक्ष साध्य की सिद्धि आगम और अनुमान प्रमाण से की जाती है। यहाँ सर्वज्ञ हेतु को लेकर केवलज्ञान का सद्भाव अर्हन्त परमात्मा में ही किया गया है, अर्हन्त परमात्मा में सर्वज्ञत्वरूप हेतु के सद्भाव की सिद्धि निर्दोषत्वरूप हेतु से की गई है, ये दोनों ही हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु हैं। इसका विस्तृत अर्थ जानने के लिये न्याय रत्नावली टीका का अवलोकन करना चाहिये॥ १५॥

निर्दोषता की सिद्धि :—

सूत्र—प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात्तत्रैव निर्दोषत्वम्॥ १६॥

अर्थ—प्रमाण से अर्हन्त परमात्मा के वचनों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है, अतः वे ही निर्दोष हैं।

व्याख्या—अर्हन्त परमात्मा में ही केवलज्ञानशालिता है, यह बात सर्वज्ञत्वरूप हेतु द्वारा साधित की है, सर्वज्ञता की सिद्धि उनमें निर्दोषत्वरूप हेतु द्वारा साधित की गई है तथा उनमें निर्दोषता है, यह बात प्रमाणाविरोधिवचनतारूप हेतु द्वारा साधित की गई है। उनके वचन में—आगम में—किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है, यही प्रमाणाविरोधिवचनत्व का अर्थ है॥ १६॥

प्रमाणाविरोधिवचनत्व की सिद्धि :—

सूत्र—तत्संमत तत्त्वस्य प्रमाणाबाधितत्वेन स एव प्रमाणाविरोधिवचनः॥ १७॥

अर्थ—अर्हन्त परमात्मा ही प्रमाणाविरोधिवचन वाले हैं, क्योंकि उनका जो अभिमत तत्त्व है, वह किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है।

व्याख्या—इस सूत्र द्वारा अर्हन्त परमात्मा में प्रमाण से अविरोधी वचनता की सिद्धि की गई है। इस प्रकार हेतुओं की सिद्धि करने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई स्वमत-व्यामोह के वशवर्त्ती होकर

ऐसी कुतर्कणा कर बैठे कि ये प्रदत्त हेतु स्वरूपासिद्ध हैं तो इसके लिये हेतुओं को साध्य बनाकर पूर्वोक्त रूप से भिन्न-भिन्न हेतुओं द्वारा उनकी सिद्धि की गई है[1] ॥ १७ ॥

कवलाहार और केवलज्ञान में अविरोधता :—

सूत्र—कवलाहारवत्त्वेन नार्हतोऽसर्वज्ञत्वं तयोरविरोधात् ॥ १८ ॥

अर्थ—कवलाहारी होने से अर्हन्त परमात्मा में सर्वज्ञता नहीं बनती है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कवलाहारिता भी वहाँ रहे और सर्वज्ञता भी वहाँ रहे, इसमें कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—दिगम्बर संप्रदाय वाले केवली को कवलाहारी नहीं मानते हैं, श्वेताम्बर संप्रदाय वाले मानते हैं। अतः इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि कवलाहारी होने से उनमें असर्वज्ञता नहीं आ सकती है, क्योंकि सर्वज्ञता का और कवलाहारता का आपस में कोई विरोध नहीं है। यदि विरोध माना जावे तो हमारे ज्ञान के साथ भी उसका विरोध मानना पड़ेगा ॥ १८ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

---

१. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
—आप्तमीमांसायाम् ।

तृतीयोऽध्यायः

स्थानकवासी शब्द की सिद्धि :—

सूत्र— जैनमुनिरर्हदादि गुणोत्कीर्तनादि स्थानसेवित्वात् स्थानकवासी ॥ १ ॥

अर्थ—जैन मुनि अर्हन्त, सिद्ध आदि के गुणों के उत्कीर्तन करने आदि रूप २० स्थानों में बसने के कारण सेवन करने के स्वभाव वाला होने के कारण स्थानकवासी सिद्ध होता है।

व्याख्या—इससे पहले प्रथम अध्याय में प्रमाण की प्ररूपणा एवं द्वितीय अध्याय में उसके भेद के अन्तर्गत हुए प्रत्यक्ष प्रमाण की प्ररूपणा करने में आई है। अब इस तृतीय अध्याय में परोक्ष प्रमाण के भेद रूप अनुमान प्रमाण की प्ररूपणा करने के लिये उसका सूचक ही यह सूत्र कहा गया है। परोक्ष प्रमाण का सर्वप्रथम यहां पर लक्षण न कहकर जो स्थानकवासित्व का कथन किया गया है वह अर्हन्त प्रभु द्वारा उपदिष्ट अनादि कालिक मार्ग है, इस बात को प्रकट करने के लिये कहा है। वे अनादिकालीन २० स्थान इस प्रकार हैं—अर्हद्गुणोत्कीर्तन (१) सिद्धगुणोत्कीर्तन (२) प्रवचन गुणोत्कीर्तन (३) गुणवद्गुरु-गुणोत्कीर्तन (४) स्थविर गुणोत्कीर्तन (५) बहुश्रुत गुणोत्कीर्तन (६) तपस्विगुणोत्कीर्तन (७) तथा इन सब के ज्ञान के विषय अर्थात् प्रवचन में बारम्बार निरन्तर ज्ञानोपयोग रखना (८) दर्शनविशुद्धि (९) गुरुदेवादि विषयक विनय (१०) उभय काल आवश्यककरण (११) निरतिचार शीलव्रत पालन (१२) क्षण लव आदि कालों में प्रमाद छोड़कर शुभ ध्यान करना (१३) बारह प्रकार के तप का पालना (१४) अभय दान देना, सुपात्र दान देना (१५) आचार्यादिकों की सेवा शुश्रूषा करना (१६) समाधि—सर्व जीवों को सुखी करने का भाव रखना (१७) अपूर्व ज्ञान का ग्रहण और उसके साधनों का अध्ययन करना (१८) श्रुतभक्ति—जिनोक्त आगम में परम अनुराग रखना (१९) प्रवचन प्रभावना (२०) अनेक भव्यों को दीक्षा देना, जिनशासन की महिमा वृद्धिगत करना, जीवों को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्व रूपी तिमिर का निवारण करना एवं चरण सत्तरी और करण सत्तरी की शरण में रहना। इस प्रकार के ये २० स्थान हैं। साधुजन इन २० स्थानों में ही अनादि काल से बसते चले आ रहे हैं। अतः इनमें स्थानकवासिता अनादि काल से है, यह बात स्पष्ट हो जाती है ॥ १ ॥

स्थानकवासिता में प्रशस्तता कथन :—

सूत्र—प्रशस्तः खलु स्थानकवासी मुनिस्तथाविध विंशतिस्थान समाराधकत्वेन तीर्थकृद्गोत्रोपार्जकत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—स्थानकवासी मुनि श्रेष्ठ है क्योंकि वह पूर्वोक्त २० स्थानकों का समाराधक होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्धक होता है।

व्याख्या—यह सूत्र जैन मुनियों में स्थानकवासित्व के कारणभूत २० स्थानों के समाराधन के कारण से ही तीर्थंकर प्रकृति की बन्धकता आती है, अतः वह श्रेष्ठ है, इस बात को समझाने के लिये कहा गया है। जो इस प्रकार के नहीं हैं वे श्रेष्ठ नहीं हैं जैसे जैनाभास । ये जैनाभास शास्त्रनिषिद्ध द्रव्यपूजा को मुक्ति का कारणभूत मानते हैं। अतः वे २० स्थानकों के सेवन द्वारा तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्धक नहीं होने से प्रशस्त नहीं कहे गये हैं ॥ २ ॥

मुख पर मुखवस्त्रिका का बाँधना आगमानुकूल है, ऐसा कथन :—

सूत्र—जैनमुनिर्मुखे सदोरकमुखवस्त्रिकां बध्नीयादागमे तदबन्धनापेक्षया तद्बन्धनस्य श्रेष्ठत्वेन ज्ञापितत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जैन मुनि मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका को अवश्यमेव बांधे क्योंकि आगम में उसके नहीं बांधने की अपेक्षा उसका मुख पर बांधना ही श्रेष्ठ रूप से कहा गया है।

व्याख्या—पूर्व में २० स्थानों का समाराधक होने से जैन मुनियों में श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। अब इस सूत्र द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा है कि यदि मुनि मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका नहीं बांधता है तो वह जिनाज्ञा का विराधक होने के कारण सच्चा जैन मुनि नहीं है क्योंकि आगम में इसी प्रकार की आज्ञा है ॥ ३॥

मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधने में युक्ति का कथन :—

सूत्र—मुखे मुखवस्त्रिकाबन्धनं श्रेष्ठं सावद्यकर्म परिवर्जकत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका का बाँधना श्रेष्ठ है क्योंकि यह इसी रूप में सावद्य कर्म की परिवर्जना कराने वाली है।

व्याख्या—मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका का बाँधना श्रेष्ठ इसलिये है कि इसके बाँधने से प्राणियों के प्राण-विघात आदि होने रूप सावद्य कर्म नहीं हो पाते हैं। नहीं बाँधने पर भाषण करते समय वायुकायिक जीवों की मुख-वायु से विराधना का होना बच नहीं सकता है। मशकादि का मुख में प्रवेश भी हो जाया करता है। अतः निरवद्य भाषा के लिये, वचनादि गुप्ति के लिये, सचित्त रजोरेणु के प्रवेश को रोकने के लिये, संपातिम जीवों की रक्षा के लिये एवं प्रमार्जनादि कार्यों के लिये मुखवस्त्रिका का मुख पर बाँधना आवश्यक कर्म है ॥ ४ ॥

दोरा बिना मुखवस्त्रिका से मुँह ढकना—यह अप्रशस्त है, ऐसा कथन :—

सूत्र—बन्धनरहित मुखवस्त्रिकया मुखपिधानमप्रशस्तं जीवरक्षाऽभावात् ॥ ५ ॥

अर्थ—बन्धनविहीन मुखवस्त्रिका से मुँह का ढकना अप्रशस्त है क्योंकि इस स्थिति में जीवों की रक्षा नहीं हो पाती है।

व्याख्या—षट्काय के जीवों की रक्षा के निमित्त मुखवस्त्रिका मुँह पर बाँधना आवश्यक है। ऐसा किये बिना षट्काय के जीवों की रक्षा होना असंभव है ॥ ५ ॥

परोक्ष प्रमाण का लक्षण :—

सूत्र—वैशद्यविहीनं ज्ञानं परोक्षम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञान विशदता—स्पष्ट प्रतिभास—से रहित होता है वही ज्ञान परोक्ष कहा जाता है।

व्याख्या—वैशद्य का स्वरूप द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है। इस विशदता से हीन जो ज्ञान होता है वही परोक्ष प्रमाण का लक्षण है।

प्रश्न—परोक्ष प्रमाण स्व-पर-व्यवसायी होता है या नहीं ?

उत्तर—परोक्ष प्रमाण स्व-पर-व्यवसायी होता है क्योंकि प्रमाण का यही स्व-पर-व्यवसायी होना लक्षण कहा गया है। अतः स्व-पर-व्यवसायी होते हुए जो ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास वाला होता है वही परोक्ष होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥

परोक्ष प्रमाण के भेद :—

सूत्र—स्मृति-प्रत्यभिज्ञा-तर्कानुमानागमभेदात्तत्पञ्चविधम् ॥ ७ ॥

अर्थ—परोक्ष प्रमाण पाँच प्रकार है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ॥ ७ ॥

स्मृति का लक्षण :—

सूत्र—पूर्वानुभूतविषयकं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिः ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से जाने गये पदार्थ को जानने वाला तथा "वह" इस प्रकार के आकार वाला जो ज्ञान है उसी का नाम स्मृति है।

व्याख्या—स्मरण ज्ञान पहले जाने गये पदार्थ का ही होता है। इस स्मरण को उत्पन्न कराने वाला धारणा नाम का संस्कार होता है। धारणा आत्मा में ऐसा संस्कार पैदा कर देती है कि जिससे किसी निमित्त के मिलने पर उस अनुभूत पदार्थ की स्मृति हो जाया करती है। विना धारणा के स्मृति नहीं होती, यह पहले बताया जा चुका है। जो ज्ञान दूसरे ज्ञान की सहायता की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष होता है। यहाँ पर स्मरण धारणा की अपेक्षा रखता है, इसलिये वह परोक्ष है। यहाँ स्मृति का लक्षण विषय, कारण और आकार ये तीन बातें प्रकट की गई हैं। पूर्वानुभूत पदार्थ इस का विषय है, धारणा इसका कारण है और "वह" इसका आकार है। कुछ लोग स्मरण को प्रमाण नहीं मानते हैं। पर स्मरण को प्रमाण माने विना अनुमान प्रमाण उत्पन्न ही नहीं हो सकता है तथा लौकिक व्यवहार भी नहीं चल सकता है। अतः स्मृति को प्रमाण अवश्य मानना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण का लक्षण :—

सूत्र—प्रत्यक्ष-स्मृतिजैकत्वादि संकलनात्मिका संवित् प्रत्यभिज्ञा ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष और स्मृति के मिलने से जो एकत्वादि की संकलना करने रूप ज्ञान होता है उसका नाम प्रत्यभिज्ञा है।

व्याख्या—प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को उत्पन्न करने वाले दो ज्ञान हैं—एक तो प्रत्यक्ष और दूसरा स्मरण। इसका विषय पूर्व और उत्तर दशा व्यापी एकत्व आदि होता है।

स्मृति और अनुभव के मिलने से जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसी का नाम प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है। जैसे—यह वही मनुष्य है जिसे चम्पा नगरी में देखा था। यहाँ पर वर्तमान में उस मनुष्य का प्रत्यक्ष हो रहा है और चंपानगरी में देखने का स्मरण हो रहा है। इन दोनों ज्ञानों के मिल जाने से यह प्रत्यभिज्ञा नाम का एक तीसरा ही ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इसके एकत्व प्रत्यभिज्ञा, सादृश्य प्रत्यभिज्ञा आदि अनेक भेद हैं। पदार्थ की पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था वर्ती एकत्व को विषय करने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञा ज्ञान

होता है और सादृश्य आदि को विषय करने वाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञा नाम का ज्ञान होता है। जैसे—गवय (रोझ) गाय के समान होता है। गवय के प्रत्यक्ष होने पर गाय का स्मरण हो आता है। यह उससे विलक्षण है, यह उससे दूर है इत्यादि उदाहरण भी वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के और प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के जानना चाहिये। दो पदार्थों में समानता को बतलाने वाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है, और दो पदार्थों में विसदृशता को बतलाने वाला वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है। जैसे—गाय भैंस से विलक्षण है। दो पदार्थों की तुलना भी प्रत्यभिज्ञान के द्वारा की जाती है—जैसे यह आंबला उस आम से छोटा है। किन्हीं-किन्हीं दार्शनिकों ने एकत्व प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष के भीतर ही शामिल किया है। परन्तु यह उसके अन्तर्गत नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय सामने रहा हुआ पदार्थ ही होता है और एकत्व प्रत्यभिज्ञा उस पदार्थ की पूर्व दशा और उत्तर दशावर्ती एकत्व को विषय करता है। कोई-कोई सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान प्रमाण में अन्तर्हित करते हैं। सो ऐसा उनका कहना इसलिये उचित नहीं है कि उसके भीतर प्रत्यभिज्ञान के सभी भेदों का समावेश नहीं होता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उसमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है? अतः इसे स्वतन्त्र ही मानना चाहिये। जब दोनों वस्तुएँ समक्ष होती हैं और उनमें तुलना की जाती है तो ऐसे ज्ञान को भी परोक्ष ही माना गया है क्योंकि तुलना में एक दूसरे की स्मृति रूप विचारधारा काम करती है, अतः इसे प्रत्यभिज्ञान ही कहा गया है ॥ ९ ॥

सूत्र—त्रिकालवर्ति साध्य-साधनविषयक व्याप्ति ज्ञानं तर्कः ॥ १० ॥

अर्थ—त्रिकालवर्त्ती साध्य साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को बताने वाला जो ज्ञान है उसका नाम तर्क है।

व्याख्या—साधन के होने पर साध्य का होना अन्वय है और साध्य के न होने पर साधन का नहीं होना व्यतिरेक है। अग्नि का लिङ्ग धुंआ है। धुंआ को देखकर ही अग्नि का ज्ञान किया जाता है। अतः अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान कराने में साधन धूम है और अग्नि साध्य है। इस तरह धूम का और अग्नि का जो सम्बन्ध है वही अन्वय है। इस अन्वय का ही दूसरा नाम अविनाभाव है। क्योंकि धूंआ अग्नि के विना नहीं हो सकता है। होगा तो नियम से अग्नि के सद्भाव में ही होगा। साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना इसका नाम व्यतिरेक है। अग्नि के अभाव में धूम क्वचिदपि कदाचिदपि उपलब्ध नहीं होता है। रसोईघर आदि में हम प्रत्यक्ष से धूम और अग्नि को बार-बार देखकर यह नियम नहीं बना सकते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होगा वहां-वहाँ अग्नि होगी। यह नियम बनाने का काम तर्क का है। यह तर्क प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की सहायता से उत्पन्न होता है। इसलिये यह उन तीनों में से किसी में भी अन्तर्लीन नहीं हो सकता है। तर्क के द्वारा निश्चित किये गये नियम के आधार पर अनुमान की उत्पत्ति होती है। अतः अनुमान में भी इसे शामिल नहीं कर सकते हैं। ॥ १० ॥

अनुमान का लक्षण :—

सूत्र—साध्याविनाभाविलिङ्गजं ज्ञानमनुमानम् ॥ ११ ॥

अर्थ—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले लिङ्ग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है।

व्याख्या—जिसे सिद्ध किया जाता है उसका नाम साध्य है और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है वह साधन कहलाता है। जब हम पर्वत से अविच्छिन्न शाखा वाला धूम उठते हुए देखते हैं तो हम

उसके द्वारा पर्वत के भीतर रही हुई परोक्ष अग्नि का ज्ञान कर लेते हैं। यही अनुमान का लक्षण है। साध्य के—अग्नि के—सद्भाव में ही धूम होता है। अग्नि के अभाव में नहीं होता है। इस प्रकार जो अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध है वही अविनाभाव है। यह अविनाभाव जिसमें हो वह अविनाभावी है। ऐसा अविनाभावी लिङ्ग ही होता है। तभी जाकर वह अपने लिङ्गी का ज्ञान कराता है। अतः लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान ही अनुमान है ॥ ११ ॥

अनुमान के भेद :—

सूत्र—स्वार्थं—परार्थं भेदात्तद् द्विविधम् ॥ १२ ॥

अर्थ—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इस प्रकार के अनुमान के दो भेद हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—अपने लिये जो अनुमान होता है वह स्वार्थानुमान है और पर के लिये जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है। इस कथन का तात्पर्य ऐसा है कि जिसने पहले तर्क-प्रमाण से साध्य और साधन का साहचर्य सम्बन्ध निश्चित कर लिया है ऐसा वह व्यक्ति जब पर्वतादि स्थान में धूम को उठता हुआ देखता है तब उसे तर्कानुभूत व्याप्ति का स्मरण आता है और उससे सहकृत उस साध्याविनाभावी एक लक्षण वाले दृष्ट धूमादिरूप लिङ्ग से वहां अग्नि आदि रूप साध्य के होने का स्वयं अनुमान कर लेता है। बस, यही स्वार्थानुमान है। यह स्वार्थानुमान ज्ञान रूप होता है। इस अनुमान में वह गुर्वादिक के साध्य साधन की व्याप्ति प्रदर्शक उपदेश की अपेक्षा विना साध्याविनाभावी लिङ्ग की सहायता से साध्य के सद्भाव का निश्चय कर लेता है। यह अनुमान किसी-किसी प्रबुद्ध पुरुष को ही होता है। परार्थानुमान वचन रूप होता है। अर्थात् स्वार्थानुमान का अभिधान करने वाला जो वचन है उसे उपचार से परार्थानुमान कहा गया है। वास्तव में अनुमान तो ज्ञानरूप ही होता है परन्तु विना समझाये शिष्य को अनुमान का ज्ञान हो नहीं सकता है। अनः शिष्य को होने वाले ज्ञान का कारण होने से वचन को अनुमान कह दिया गया है ॥१२॥

हेतु लक्षण कथन :—

सूत्र—तथोपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिपञ्चलक्षणस्तस्य तदाभासेऽपि सत्त्वात् ॥१३॥

अर्थ—तथा-साध्य के होने पर ही उपपत्ति हेतु का होना यही है एक लक्षण जिसका ऐसा हेतु होता है।

व्याख्या—अनुमान के लक्षण में साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा गया है। अतः यहां पर उस साधन का—हेतु का—लक्षण प्रकट किया गया है। साधन अपने साध्य के विना नहीं होता है किन्तु साध्य के सद्भाव में ही होता है। इसलिये इसे "अन्यथानुपपत्ति" शब्द से भी अभिहित किया गया है। कितनेक सिद्धान्तकारों ने हेतु का लक्षण जो पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति वाला होता है वही सच्चा हेतु है ऐसा माना है, तथा कितनेकों ने इन तीनों के सहित जो अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्ष वाला होता है वही सच्चा हेतु है ऐसा माना है। प्रथम मान्यता बौद्धों की है और द्वितीय मान्यता नैयायिकों की है। पर ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ इस तथोपपत्ति लक्षण या अन्यथानुपपत्ति लक्षण के माने विना निर्दोष नहीं मानी गई हैं ॥१३॥

साध्य लक्षण का कथन :—

सूत्र—अनिश्चिताभिमतमबाधितं साध्यम् ॥ १४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—जो अनिश्चित हो, वादी को स्वीकृत हो, प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, और प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से जो बाधित न हो, वही साध्य होता है।

व्याख्या—यह तो हम जान चुके हैं कि जिसे किसी आधार विशेष में सिद्ध करना होता है, उस का नाम साध्य है। यह साध्य तीन विशेषणों वाला होता है। इनमें एक विशेषण अनिश्चित है। अनिश्चित का अर्थ असिद्ध है जो अभी तक किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ है, उसका नाम असिद्ध है। सिद्ध साध्य नहीं होता है, असिद्ध ही साध्य होता है। वादी जिसे सिद्ध करना चाहता है उसका नाम अभिमत—इष्ट है। प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से जिसमें बाधा नहीं आती है, उसका नाम अबाधित है। अग्नि गर्म है इसमें गर्म साध्य प्रत्यक्ष है। अतः यह साध्य कोटि में नहीं आता है। आत्मा नहीं है। यह "नहीं है" साध्य वादी को अनिष्ट है अतः यह भी साध्य नहीं हो सकता है। इस समस्त कथन का निष्कर्ष यही है जो संदिग्ध हो, विपर्यस्त हो और अनध्यवसित हो, वही साध्य होता है तथा जो साध्यकोटि में रखा जावे उसे अबाधित होना चाहिये और वादी को मान्य होना चाहिये ॥ १४ ॥

साध्य सम्बन्धी नियम :—

सूत्र—व्याप्तौ धर्म एव साध्यमनुमाने तु तद्विशिष्टो धर्मी ॥ १५ ॥

अर्थ—व्याप्ति में—व्याप्ति-ग्रहण काल में—तर्क प्रमाण में—धर्म ही साध्य होता है, साध्य-धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य नहीं होता। साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी साध्य तो अनुमान काल में ही होता है।

व्याख्या—पर्वतादिक रूप आधार विशेष में अग्न्यादि रूप साध्य को सिद्धि करना यह काम अनुमान का है, व्याप्ति—तर्क—का नहीं है। इसीलिये व्याप्ति-ग्रहणकाल में—तर्क के समय में साध्यधर्म-विशिष्ट धर्मी को साध्यकोटि में नहीं रखा जा सकता है। नहीं तो व्याप्ति ही नहीं बन सकेगी। ऐसी व्याप्ति थोड़े ही हो सकती है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ पर्वत अग्नि वाला होता है। रसोईघर को भी धुँआ देखकर पर्वत रूप मानने का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा। अतः तर्क के साध्य में और अनुमान के साध्य में यही अन्तर आता है कि तर्क का साध्य सामान्य—केवल अग्नि आदि रूप ही होता है और अनुमान का साध्य साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी होता है। यदि अनुमान का साध्य तर्क का साध्य, बना दिया जावे तो बात बिलकुल बिगड़ जावेगी। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है यह कहना तो ठीक है। लेकिन जहाँ धूम है वहाँ अग्नि वाला पर्वत है, यह ठीक नहीं है। रसोईघर आदि भी अग्नि वाला हो सकता है ॥ १५ ॥

धर्मी की सिद्धि का कथन :—

सूत्र—क्वचिद्विकल्पात्प्रमाणात्तदुभयतश्च धर्मिसिद्धिः ॥ १६ ॥

अर्थ—धर्मी की सिद्धि कहीं पर विकल्प से, कहीं पर प्रमाण से और कहीं पर प्रमाण और विकल्प दोनों से होती है।

व्याख्या—अनुमान में साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को साध्य कहा गया है इसलिये अनुमान के साध्य के दो भाग हो जाते हैं—एक धर्म और दूसरा धर्मी। इनमें "प्रसिद्धो धर्मी" के अनुसार धर्मी प्रसिद्ध होता है। इसी बात को इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने प्रकट किया है। इसमें यह समझाया गया है कि धर्मी की प्रसिद्धि तीन प्रकार से होती है—एक विकल्प से, दूसरे प्रमाण से और तीसरे दोनों से। इनमें विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता-अस्तित्व या असत्ता-नास्तित्व ये दो ही साध्य होते हैं। जिस धर्मी में अस्तित्व और नास्तित्व के अतिरिक्त और कोई धर्म साध्य नहीं हो सकता है, वही विकल्पसिद्ध धर्मी कहा गया है। हर एक धर्मी

प्रमाणप्रसिद्ध होता है। यदि ऐसी ही बात मान ली जाय तो अनुमान व्यर्थ ही नहीं हो जाता किन्तु वह स्वयं का विरोधी भी हो जाता है, जैसे—"खरविषाणं नास्ति" खर विषाण नहीं है "अनुपलब्धेः" क्योंकि उसकी प्राप्ति—उपलब्धि नहीं है। यहाँ धर्मी खरविषाण है। उसका नास्तित्व साध्य है और अनुपलब्धि हेतु है। यहाँ यदि खरविषाण को प्रमाणप्रसिद्ध धर्मी मान लिया जावे तो इससे खरविषाण का अस्तित्व ही सिद्ध हो जाने से "खरविषाणं नास्ति अनुपलब्धेः" इसी अनुमान द्वारा फिर उसका नास्तित्व सिद्ध करना अपने ही अङ्ग के साथ अपना विरोध करना है। क्योंकि इसी अनुमान का एक अङ्ग खरविषाण का अस्तित्व सिद्ध करता है और दूसरा अङ्ग नास्तित्व। जो धर्मी केवल शाब्दिक रूप में अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिये मान लिया जाता है वही धर्मी विकल्पसिद्ध कहलाता है। विकल्पसिद्ध धर्मी का अस्तित्व या नास्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। प्रमाण से जिसका अस्तित्व सिद्ध होता है वह धर्मी प्रमाणप्रसिद्ध धर्मी कहलाता है, जैसे—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि इसमें धूम है। यहाँ पर्वत धर्मी प्रमाणप्रसिद्ध धर्मी है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष से देखने में आ रहा है। उभयसिद्ध धर्मी में धर्मी का कुछ अंश प्रमाणप्रसिद्ध होता है और कुछ अंश विकल्पसिद्ध होता है—जैसे "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृत्रिम है। यहाँ समस्त ही त्रिकालवर्ती शब्द धर्मी हुए हैं सो वर्त्तमानकालिक शब्द तो श्रवण-प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं और भूत-भविष्यत्काल का शब्द विकल्पसिद्ध है ॥ १६ ॥

परार्थानुमान का लक्षण :—

सूत्र—स्वार्थानुमान प्रतिबोधकं पक्षहेतु वचनात्मकं वाक्यं परार्थानुमानमुपचारात् ॥१७॥

अर्थ—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है। अनुमान यद्यपि ज्ञानस्वरूप कहा गया है पर यहाँ जो वाक्य को परार्थानुमान कहा है वह कारण में कार्य का उपचार करके कहा गया है। यह परार्थानुमान पक्ष और हेतु के कहने रूप होता है।

व्याख्या—अनुमान प्रमाण है। और प्रत्येक प्रमाण ज्ञानस्वरूप होता है। यहाँ परार्थानुमान को वचनरूप कहा गया है। सो वचन तो जड़रूप हैं—अतः वे प्रमाणरूप कैसे हो सकते हैं ? सो इसी बात का उत्तर "उपचारात्" पद द्वारा दिया गया है। समझाने वाला दूसरे शिष्यादि को वचन द्वारा ही समझाता है और उसके कहने से वह अनुमान के स्वरूप को समझ लेता है। अतः शिष्यादिगत अनुमान ज्ञानरूप कार्य का कारण होने से वचन को कारण में कार्य के उपचार से अनुमानरूप कह दिया गया है ॥१७॥

व्याप्ति का स्वरूप :—

सूत्र—साध्याविनाभावो व्याप्तिः ॥१८॥

अर्थ—साध्य के साथ साधन का जो अविनाभाव है उसी का नाम व्याप्ति है।

व्याख्या—साध्य—वह्नि आदि के विना साधन—धूमादि हेतु का नहीं होना इसी का नाम साध्याविनाभाव है। क्योंकि जहाँ अग्नि नहीं होती है ऐसे जलह्रदादि प्रदेश में धूम का अभाव होता है। ऐसे बाधक प्रमाण के बल से इस व्याप्ति का निश्चय होता है ॥१८॥

व्याप्ति के भेद :—

सूत्र—अन्तर्व्याप्ति-बहिर्व्याप्तिभेदादियं द्विविधा ॥१९॥

अर्थ—यह व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के भेद से दो प्रकार की कही गई है।

व्याख्या—यह प्रकट किया जा चुका है कि साध्याविनाभावरूप व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति पूर्वोक्त रूप से दो प्रकार की कही गई है। पक्ष में ही जो साध्य-साधन का साहचर्यरूप सम्बन्ध गृहीत कर लिया जाता है वह अन्तर्व्याप्ति है। जैसे—यह मेरा पुत्र घर में बोल रहा है क्योंकि यदि यह मेरा पुत्र न होता तो उसका ऐसा स्वर नहीं होता। यहाँ पर पक्ष मेरा पुत्र है, गृह में बोल रहा है यह साध्य है और एवंविधस्वरान्यथानुपपत्ति यह हेतु है। यहाँ पर साधन की व्याप्ति साध्य के साथ मत्पुत्र रूप पक्ष में ही गृहीत हुई है बाहर में नहीं क्योंकि यहाँ दृष्टान्त का अभाव है। तथा जहाँ पर साध्य साधन की व्याप्ति पक्ष से अतिरिक्त दूसरे स्थल में गृहीत की जाती है वह बहिर्व्याप्ति है। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि इसमें से धूम निकल रहा है। जो धूम वाला होता है वह अग्नि वाला है जैसे —रसोईघर। यहाँ धूम और अग्नि की व्याप्ति रसोई में गृहीत की गई है ॥१९॥

अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप कथन :—

सूत्र—पक्षीकृते धर्मिणि तदन्यत्र च साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहोऽन्तर्बहिर्व्याप्तिः ॥२०॥

१९वें सूत्र की व्याख्या से इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है॥ २० ॥

पक्ष प्रयोग की आवश्यकता :—

सूत्र—पक्षे हेतोरुपसंहारवचनवत् साध्ये विवक्षिता धारता प्रदर्शनार्थं स प्रयोक्तव्यः ॥२१॥

अर्थ—पक्ष में हेतु को दुहराने की तरह साध्य में विवक्षित आधारता प्रकट करने के लिये पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

व्याख्या—बौद्ध सिद्धान्त पक्ष का प्रयोग नहीं मानता है अतः उसका प्रयोग करना चाहिये, इस बात को प्रकट करने के लिये यह सूत्र कहा गया है। यद्यपि यह बात ठीक है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इतना निश्चय तर्क से हो जाता है और इस तरह पक्ष गम्यमान हो जाता है, परन्तु फिर भी साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग आवश्यक है। यदि पक्ष का प्रयोग न किया जावे तो साध्य कहाँ पर है? पर्वत में है या रसोईघर में है? ऐसा सन्देह दूर नहीं हो सकता है। अतः जिस प्रकार हेतु में विवक्षित आधारता प्रकट करने के लिये पुनः पक्ष में हेतु का प्रयोग किया गया निर्दोष माना गया है उसी प्रकार से गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग निर्दोष मानना चाहिये ॥२१॥

प्रकारान्तर से पक्ष प्रयोग का समर्थन :—

सूत्र—साधन समर्थनमिव पक्षप्रयोगोऽपर्यनुयोगार्हः ॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार हेतु का समर्थन किया जाता है उसी प्रकार पक्ष का प्रयोग भी अपर्यनुयोगार्ह है।

व्याख्या—हेतु के प्रयोग के बाद जिस प्रकार उसका समर्थन किया जाता है, हेतु के प्रयोग के बिना उसका समर्थन नहीं हो सकता। उसी प्रकार पक्ष के प्रयोग बिना साध्य के आधार का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता है। तात्पर्य इस कथन का ऐसा है कि बौद्धों ने स्वयं इस बात को अङ्गीकार किया है कि हेतु प्रयोग किये बिना उसका समर्थन नहीं होता है और समर्थन हुए बिना वह अपने साध्य की

सिद्धि करने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार साध्य का नियत आधार प्रकट करने के लिये पक्ष का प्रयोग प्रश्नार्ह नहीं है—क्यों करना चाहिये—इस प्रकार से आक्षेपार्ह नहीं है ॥२२॥

हेतु प्रयोग के भेद :—

सूत्र—हेतुप्रयोगोद्विविधस्तथोपपत्तिरूपोऽन्यथाऽनुपपत्तिरूपश्च ॥२३॥

अर्थ—हेतु का प्रयोग तथोपपत्तिरूप और अन्यथानुपपत्तिरूप के भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—साध्य के सद्भाव का नाम तथा है, और उपपत्ति नाम हेतु का होना है। इस तरह साध्य के सद्भाव में ही हेतु का होना यह तथोपपत्तिरूप हेतु है, जैसे—"पर्वत में अग्नि है क्योंकि उसमें धूम है"। यहां धूमरूप हेतु तथोपपत्ति रूप है, क्योंकि वह साध्य—अग्नि के सद्भाव में ही प्रकट किया गया है। अन्यथा शब्द का अर्थ साध्य का अभाव है और अनुपपत्ति शब्द का अर्थ धूम का—साधन का—नहीं होना है। इस तरह साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना यह अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु है। इनमें किसी एक के प्रयोग करने से ही साध्य के सद्भाव का ज्ञान हो जाता है। अतः एक साथ अनुमान में दोनों का प्रयोग करना अनावश्यक है ॥२३॥

अनुमानों के अङ्गों का विचार :—

सूत्र—पक्ष साधन एवानुमानाङ्गे ॥२४॥

अर्थ—पक्ष—प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अङ्ग हैं। उदाहरणादिक नहीं।

व्याख्या—सूत्र में अवधारणार्थक जो एव शब्द आया है उससे ये दो ही—पक्ष-और साधन—हेतु अनुमान के अङ्ग हैं, उदाहरणादिक नहीं। उदाहरण, उपनय और निगम ये—तीन अनुमान के अङ्ग नहीं हैं। पक्ष शब्द से यद्यपि साध्य धर्म का आधारभूत पर्वतादि प्रदेश कहा जाता है परन्तु यहां अनुमानाङ्ग के विचार में धर्म—साध्य एवं धर्मी—जिसमें धर्म रहता है—इन दोनों का समुदाय ही पक्ष से गृहीत हुआ है। दूसरे शब्दों में इसे प्रतिज्ञा भी कहा गया है। प्रतिज्ञा शब्द का प्रयोग परार्थानुमान की अपेक्षा से और पक्ष शब्द का प्रयोग स्वार्थानुमान की अपेक्षा से कहा गया जानना चाहिये। यद्यपि कोई-कोई अनुमान के—परार्थानुमान के—उदाहरण, उपनय और निगमन ये तीन अङ्ग और भी मानते हैं। इस तरह उनके मत के अनुसार पाँच अङ्ग हो जाते हैं। इन अङ्गों का स्वरूप कथन आगे इसी अध्याय में आने वाला है। परन्तु यहाँ पर जो दो ही अङ्ग अनुमान के प्रकट किये गये हैं, वे व्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा से ही प्रकट किये गये हैं, अल्पबुद्धि श्रोता की अपेक्षा से नहीं, उसकी अपेक्षा तो पाँचों का भी प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणादिक समझने के सुभीते के लिये हैं। वास्तव में ये अनुमान के अङ्ग इसलिये नहीं हैं कि ये अनुमान के हिस्से नहीं हैं। अङ्ग का तात्पर्य हिस्सा है। उदाहरणादिक सहायक मात्र हैं। जैसे हाथ पैर आदि शरीर के अङ्ग हैं वैसे पक्ष, हेतु अनुमान के अङ्ग हैं। वस्त्रादि आवश्यक होने पर भी अङ्ग नहीं माने गये हैं। वैसे ही समझने के लिये आवश्यक होने पर भी उदाहरणादिक अङ्ग नहीं कहे गये हैं ॥२४॥

शेष अङ्गों के कथन की अपेक्षा—

सूत्र—मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षयोदाहरणादीन्यपि पञ्च यथायथं प्रयोज्यानि ॥२५॥

अर्थ—मन्द मति वाले प्रतिपाद्य—शिष्यजनों की अपेक्षा उदाहरणादिकों का भी यथायोग्य रीति से प्रयोग करना कहा गया है।

व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने यह समझाया है कि परार्थानुमान का एक ही प्रकार नहीं है। दूसरे को जिस किसी भी तरह सरलता से प्रमेय की प्रतीति हो जाय उसी तरह से यत्न करके समझाना चाहिये। दूसरों को समझाना परार्थानुमान है। व्युत्पन्न तीव्र बुद्धि वाले शिष्य की अपेक्षा पूर्वोक्त रूप से दो ही अङ्ग कहे गये हैं। परन्तु जो प्रतिपाद्य पक्ष आदि के ज्ञान से अभी तक अनभिज्ञ है, उसे समझाने के लिये पाँचों अङ्गों तक का भी प्रयोग आवश्यक है। इस तरह प्रयोग की परिपाटी प्रतिपाद्य के आशय के अनुसार कही गई जाननी[1] चाहिये ॥२५॥

पक्ष का स्वरूप कथन—

सूत्र—साध्यधर्माधारः पक्षः ॥२६॥

अर्थ—साध्य रूप धर्म का जो आधार होता है उसका नाम पक्ष है। जैसे—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस अनुमान प्रयोग में वह्निरूप साध्य धर्म का आधार पर्वत है। इसी का नाम पक्ष है ॥२६॥

प्रतिज्ञा का स्वरूप—

सूत्र—धर्मधर्मिसमुदायरूप पक्षस्य प्रतिपादनं प्रतिज्ञा यथा पर्वतोऽयमग्निमानिति ॥२७॥

अर्थ—धर्म और धर्मी का समुदाय रूप जो पक्ष है उस पक्ष का कथन करना, यह प्रतिज्ञा है। जैसे—"यह पर्वत अग्नि वाला है" इतना कहना। यहां अग्नि धर्म है और पर्वत धर्मी है। यह पर्वत अग्नि वाला है, ऐसा कहना प्रतिज्ञा है। यह प्रतिज्ञा परार्थानुमान की अपेक्षा से ही कही है। स्वार्थानुमान की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि वचनों द्वारा प्रतिपादन करना परार्थानुमान में ही होता है, स्वार्थानुमान में नहीं। इसलिये स्वार्थानुमान में धर्मधर्मिसमुदाय पक्ष कहा गया है ॥२७॥

हेतु का स्वरूप—

सूत्र—साध्याविनाभावी हेतुः ॥२८॥

अर्थ—साध्य के बिना जो नहीं होता है ऐसा साध्याविनाभावी हेतु कहा गया है।

व्याख्या—हेतु यदि होगा तो नियम से साध्य के सद्भाव में ही होगा और जो अपने साध्य के बिना होगा वह हेतु नहीं हेत्वाभास होगा। हाँ, साध्य अपने साधन के बिना भी हो सकता है। क्योंकि साध्य व्यापक होता है और साधन उसका व्याप्य होता है। व्याप्य व्यापक को व्याप्त करता है, व्यापक व्याप्य को व्याप्त नहीं करता है। ऐसा नियम है, जहां-जहाँ शिंशपा होगा वहाँ-वहाँ नियम से वृक्षत्व होगा। पर जहाँ वृक्षत्व होगा वहाँ शिंशपा हो भी और न भी हो। इसीलिये साध्य के साथ अविनाभावी जो होता है वही समीचीन हेतु कहा गया है। यद्यपि इस लक्षण से ही साधन की ठीक-ठीक जानकारी हो जाती है फिर भी अनेक दार्शनिकों ने दूसरे शब्दों में भी साधन का लक्षण बतलाया है। जैसे—जिसमें पक्षधर्मता, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष से व्यावृत्ति हो उसे साधन कहते हैं। साध्य जहाँ सिद्ध किया जाय या साध्य के रहने का जहाँ सन्देह हो उसका नाम पक्ष है। जैसे अग्नि के अनुमान में पर्वत। जहाँ साध्य के रहने का निश्चय हो उसे सपक्ष कहते हैं, जैसे—उसी अनुमान में रसोईघर आदि। जहाँ साध्य के अभाव का निश्चय हो उसे विपक्ष कहते हैं, जैसे—तालाब आदि। धूमरूप हेतु पर्वतरूप पक्ष में और रसोईघर आदि रूप सपक्ष में रहता है और विपक्ष—तालाब आदि में नहीं रहता है। इस तरह यह हेतु त्रिलक्षण वाला सिद्ध होता है। इन

---

१. "प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः।"

तीन के अतिरिक्त और भी दो अधिक लक्षण किन्ही-किन्ही दार्शनिकों ने माने हैं, वे अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्ष हैं। "अग्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् जलवत्" इस अनुमान प्रयोग में द्रव्यत्व हेतु का विषय जो अनुष्णत्व है वह अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि अग्नि गरम होती है। ऐसी बाधित विषयता हेतु में नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार हेतु को असत्प्रतिपक्ष भी होना चाहिये। सत्प्रतिपक्ष वाला हेतु अपने साध्य का साधक नहीं हो सकता। इस प्रकार त्रिरूपता या पंचरूपता हेतु का लक्षण मानने में आपत्ति केवल इतनी ही है कि अनेक हेतु त्रिरूपता या पंचरूपता के बिना भी साध्य को सिद्ध करते हैं। क्योंकि सभी हेतु साध्य के साथ रहने वाले नहीं होते, कोई सहभावी होते हैं और कोई क्रमभावी होते हैं। धूम अग्नि के साथ रहता है अतः इसमें पक्षधर्मता भले हो परन्तु जो क्रमभावी हैं उनमें पक्षधर्मता कैसे रह सकती है ? जैसे—एक मुहूर्त के बाद शकटनक्षत्र[1] का उदय होगा क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है। यहाँ दोनों नक्षत्रों का उदयकाल भिन्न-भिन्न है अतः कृत्तिकोदय हेतु में पक्षधर्मता नहीं बन सकती फिर भी हेतु अपने साध्य का गमक होता है। अतः हेतु का अविनाभाव ही ठीक—निर्दोष लक्षण है ॥ २८ ॥

दृष्टान्त का लक्षण—

सूत्र—अविनाभावप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः ॥ २९ ॥

अर्थ—साध्य और साधन आपस में गम्य गमक होते हैं। साध्य गम्य होता है और साधन गमक होता है। इन दोनों का जो अविनाभाव सम्बन्ध है—अग्नि के बिना धूम नहीं हो सकता है ऐसा जो साध्य के बिना साधन का नहीं होना है—इस सम्बन्ध को समझने का—जानने का जो स्थान है उसका नाम दृष्टान्त है। साधन द्वारा साध्य की सिद्धि करने में दिया गया दृष्टान्त उन दोनों की व्याप्ति का स्मरण कराने से वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होता है ॥ २९ ॥

दृष्टान्त की द्विविधता—

सूत्र—साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां स द्विविधः ॥ ३० ॥

अर्थ—दृष्टान्त दो प्रकार का कहा गया है—एक साधर्म्य दृष्टान्त और दूसरा वैधर्म्य दृष्टान्त।

व्याख्या—दृष्ट—प्रत्यक्ष से अवलोकित साध्य और साधन की अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जिसमें साध्य-साधनभाव की व्यवस्थिति का—व्याप्ति का—कारणभूत अन्त ज्ञान हो गया होता है वह दृष्टान्त है। साधर्म्य दृष्टान्त जब पर्वतादि प्रदेश में धूमरूप साधन द्वारा अग्निरूप साध्य सिद्ध किया जाता है महानसादि रूप होता है। क्योंकि साध्य साधन का दृष्टान्त में रहना या तो अन्वय द्वारा जाना जा सकता है या व्यतिरेक के द्वारा। जहाँ पर साध्य—अग्नि आदि के अभाव में उसके गमक साधन—धूमादिक का अवश्य अभाव दिखाया जाता है वह वैधर्म्य दृष्टान्त है। साधर्म्य दृष्टान्त को अन्वय दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त को व्यतिरेक दृष्टान्त भी कहा गया है ॥ ३० ॥

अन्वय—व्यतिरेक का लक्षण :—

सूत्र—अन्वय व्याप्तिप्रदर्शनस्थलं साधर्म्यं दृष्टान्तः ॥ ३१ ॥

व्यतिरेक व्याप्तिप्रदर्शनस्थलं वैधर्म्यं दृष्टान्तः ॥३२ ॥

अर्थ—जहाँ पर साध्य और साधन की अन्वयरूप व्याप्ति दिखाई जाती है—अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है ऐसा धूम और अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध प्रतिपाद्य को समझाया

१. मुहूर्तान्ते शकटोदयं भविष्यति कृत्तिकोदयात्—परीक्षामुखे।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाता है और इसके स्पष्टीकरण के लिये जो विधिमुख से उदाहरण दिया जाता है जैसे—रसोईघर, यह साधर्म्य दृष्टान्त है। तथा जहाँ पर अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है यह व्यतिरेक व्याप्ति है। इस व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन स्थल तालाब आदि होता है अतः यह वैधर्म्य दृष्टान्त है ॥ ३१-३२ ॥

उपनय का लक्षण—

सूत्र—साध्याधारे पुनर्हेतु सद्भाव ख्यापनमुपनयः ॥ ३३ ॥

अर्थ—साध्य के आधारभूत पक्ष में हेतु का दुहराना—पुनः हेतु के सद्भाव का कथन करना—इस का नाम उपनय है।

व्याख्या—जब प्रतिपाद्य को ऐसा समझाया जाता है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है जैसे महानस। उसी प्रकार से इस पर्वतादि प्रदेश में भी धूम है अतः यहां पर भी अग्नि है सो इस प्रकार से एक बार तो धूमादि रूप साधन का प्रयोग "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस प्रकार की प्रतिज्ञा को कहने समय किया गया फिर अन्वय दृष्टान्त महानसादि रूप दिखाते हुए पुनः ऐसा कहा गया कि "धूमश्चात्र" यहां पर भी धूम है सो इस प्रकार से पक्ष में जो हेतु का दुहराना है वही उपनय है ॥ ३३ ॥

निगमन का स्वरूप—

सूत्र—प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह पर्वत अग्नि वाला है ऐसी जो प्रतिज्ञा है सो इस प्रतिज्ञा का उपनय के बाद पुनः दुहराना ही निगमन है ॥ ३४ ॥

दृष्टान्तादि अनुमान के अङ्ग क्यों नहीं हैं, इसका स्पष्टीकरण—

सूत्र—दृष्टान्त वचनं न साध्यप्रतिपत्त्यर्थं प्रभवति तत्र हेतोरेव व्यापारात् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—अन्य दार्शनिकों ने अनुमान का अङ्ग दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन सबको माना है पर जैन दार्शनिकों ने व्युत्पन्नमति वाले वादी एवं प्रतिवादी को ही वाद करने का अधिकार होता है इस अभिप्राय से अनुमान के—परार्थानुमान के—प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अङ्ग माने हैं। यद्यपि पीछे के प्रकरण में इस बात का विचार हो गया है परन्तु फिर भी प्रकरणवश इसका विचार पुनः प्रकारान्तर से यहां पर किया जा रहा है—अनुमान का अङ्ग दृष्टान्त है यह किस बात को आधार मानकर कहा जाता है? क्या उससे पक्ष में साध्य का ज्ञान होता है? इसलिये वह अनुमान का अङ्ग है तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि पक्ष में साध्य का ज्ञान तो उसके अविनाभावी हेतु के प्रयोग से ही हो जाता है ॥ ३५ ॥

सूत्र—नापि तदविनाभावस्मृतयेऽन्यथानुपपत्तिबलादेव तत्सिद्धेः ॥ ३६ ॥

अर्थ—यदि कहा जावे कि वह दृष्टान्त अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति करा देता है इसलिये वह अनुमान का अङ्ग है सो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि अन्यथानुपपत्तिरूप जो हेतु का लक्षण है उसके बल से ही साध्य और साधन के अविनाभाव की स्मृति प्रमाता को हो जाया करती है ॥ ३६ ॥

सूत्र—नापि दृष्टान्तेनान्यथानुपपत्तेर्निर्णयोऽनवस्था प्रसङ्गात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—दृष्टान्त से हेतु के स्वरूपरूप अन्यथानुपपत्ति का निर्णय होता है यदि ऐसा कहा जावे सो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में अनवस्था दूषण आने का प्रसङ्ग प्राप्त

होता है। क्योंकि विवक्षित दृष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति के निर्णय निमित्त विवाद हो जाने पर दूसरे दृष्टान्त की उसके निर्णय के लिए आवश्यकता होगी। दूसरे दृष्टान्त में तीसरे दृष्टान्त की—इस तरह दृष्टान्तरों की अपेक्षा होते-होते कहीं भी अन्यथानुपपत्ति के निर्णय की व्यवस्थिति नहीं बन सकेगी ॥ ३७ ॥

सूत्र—उपनयनिगमनयोरप्येवमेव ॥ ३८ ॥

अर्थ—अनुमान का अङ्ग उदाहरण—दृष्टान्त—नहीं है। जिस तरह यह कहा गया है उसी प्रकार उपनय और निगमन भी अनुमान के अङ्ग नहीं हैं यह समझ लेना चाहिये ॥ ३८ ॥

हेतुभेद कथन :—

सूत्र—विरुद्धाविरुद्धोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् साध्य-सत्ताऽसत्तासाधको ह्युपलब्ध्यनुपलब्धि रूपो हेतुरनेकविधः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—हेतु दो प्रकार का कहा गया है—एक उपलब्धिरूप हेतु और दूसरा अनुपलब्धिरूप हेतु। उपलब्धिरूप हेतु विधिरूप और अनुपलब्धिरूप हेतु प्रतिषेधरूप होता है। पर्वत में अग्नि सिद्ध करने वाला धूमरूप हेतु उपलब्धिरूप—विधिरूप होता है। "वहाँ धूम नहीं है क्योंकि वहाँ अग्नि नहीं है" यहाँ अग्नि की अनुपलब्धिरूप जो हेतु है वह प्रतिषेधरूप—अनुपलब्धिरूप है। उपलब्धिरूप हेतु या अनुपलब्धिरूप हेतु ये दोनों ही हेतु अपने साध्य की सत्ता के भी साधक होते हैं और असत्ता के भी साधक होते हैं। इस तरह विधिरूप—उपलब्धिरूप हेतु दो तरह का और अनुपलब्धिरूप हेतु दो तरह का होता है। इस प्रकार से हेतुओं के चार भेद हो जाते हैं—विधिरूप विधिसाधक (१), विधिरूप प्रतिषेकसाधक (२), प्रतिषेधरूप विधिसाधक (३), और प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक (४)। इन चारों को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं—अविरुद्धोपलब्धि (१), विरुद्धोपलब्धि (२), अविरुद्धानुपलब्धि (३) और विरुद्धानुपलब्धि (४)। इस प्रकार से तथा इन्हीं के उत्तरभेदों से हेतु में अनेकविधता आती है ॥ ३९ ॥

इसी का स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों से किया जाता है।

साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—ध्वनिः परिणतिमान् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादितिप्रथमा ॥ ४० ॥

अर्थ—ध्वनि—शब्द परिणति वाला है—अनित्य है—क्योंकि वह प्रयत्नपूर्वक होता है। जो प्रयत्नपूर्वक होता है, वह अनित्य होता है जैसे घट, अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न नहीं होता जैसे वन्ध्या पुत्र।

व्याख्या—शब्द प्रयत्नपूर्वक होता है अतः वह अनित्य है। इस प्रकार से यह अन्वय व्यतिरेक द्वारा साध्य से अविरुद्ध व्याप्य की उपलब्धि विधिसाधक कही गई है। यहाँ प्रयत्नपूर्वक होने रूप हेतु "परिणतिमत्त्व" साध्य का व्याप्य है, और "परिणतिमत्त्व" यह व्यापक है। क्योंकि परिणतिमत्व तो मेघ, इन्द्रधनुष आदि में भी रहता है, पर यहाँ प्रयत्नान्तरीयकत्व नहीं रहता है। इस तरह यह हेतु साध्य से अविरुद्ध व्याप्योपलब्धिरूप है। इसी तरह "घड़ा" स्थूल परिणामी है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा बनाया जाता है। जो किसी के द्वारा बनाया जाता है, वह स्थूल परिणामी होता है—जैसे वस्त्र। जो स्थूल परिणामी नहीं होता वह किसी मनुष्य के द्वारा बनाया नहीं जाता जैसे आकाश-परमाणु आदि। यहाँ किसी के द्वारा बनाया जाना रूप हेतु स्थूल परिणाम रूप साध्य का व्याप्य है। क्योंकि बहुत सी चीजें ऐसी हैं जो स्थूल परिणामी तो होती हैं, परन्तु किसी मनुष्य के द्वारा वे बनाई नहीं जाती हैं, जैसे—इन्द्रधनुष आदि। यहाँ

स्थूल परिणामित्व व्यापक और किसी मनुष्य के द्वारा बनाया जाता साध्य-हेतु-व्याप्य है। यह व्याप्य यहाँ उपलब्ध है और स्थूल परिणामित्व के अस्तित्व की सिद्धि करता है" ऐसा कथन भी इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये। ॥ ४० ॥

अविरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—पर्वतोऽयमग्निमान् धूमोपलम्भादिति द्वितीया ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि यहाँ पर धूम की उपलब्धि हो रही है। यहाँ धूमरूप हेतु साध्य का—अग्नि का—अविरुद्ध कार्य है और उसकी उपलब्धि पर्वत में हो रही है। अतः यह वहाँ अग्नि अस्तित्व सिद्ध करता है ॥ ४१ ॥

का अविरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—यहाँ छाया है क्योंकि उसके कारणभूत छत्र की उपलब्धि हो रही है, यहाँ छायारूप साध्य का अविरुद्ध कारण छत्र है और उसकी उपलब्धि हो रही है। इससे छाया का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यहाँ ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि रात्रि में छत्र के अस्तित्व में भी छाया का अस्तित्व नहीं रहता है क्योंकि अन्धकार की अधिकता होने से उसमें वह छिप जाती है ॥ ४२ ॥

साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—भविष्यति रोहिण्युदयः कृतिकोदयोपलम्भादिति चतुर्थी ॥ ४३ ॥

अर्थ—रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। कृत्तिका नक्षत्र के बाद ही रोहिणी नक्षत्र का उदय होता है। यहाँ कृत्तिका नक्षत्र का उदय रूप हेतु रोहिणी नक्षत्ररूप साध्य का अविरुद्ध पूर्वचर है। इसलिये वह अपने उदय के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय का अस्तित्व प्रकट करता है, इसी प्रकार "कल रविवार होगा क्योंकि आज शनिवार है। यहाँ शनिवार रूप हेतु होने वाले रविवार के उदय का अविरुद्ध पूर्वचर हेतु है। इससे वह कल रविवार के होने की सत्ता सिद्ध करता है" यह कथन भी इसी के अन्तर्गत जान लेना चाहिये ॥ ४३ ॥

अविरुद्ध उत्तर चरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—उदगान्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुनर्वसुः पुष्योदयोपलम्भादिति पञ्चमी ॥ ४४ ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त के पहिले पुनर्वसु नक्षत्र का उदय हो चुका है क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय हो रहा है। यहाँ साध्य पुनर्वसु नक्षत्र का उदय हो चुकना है और उसका अविरुद्ध उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का हो रहा उदय है। इसकी उपलब्धि से उसके उदय हो चुकने का अनुमान किया गया है इसी प्रकार से "कल रविवार हो चुका है क्योंकि आज सोमवार है" इस प्रकार के कथन को इसी के अन्तर्गत जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

अविरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्मिन् सहकार फले रूपविशेषोऽस्ति समास्वाद्यसान-रस-विशेषात् इति साध्याविरुद्ध-सहचरोपलब्धिः ॥ ४५ ॥

व्याख्या—इस आम में रूपविशेष है क्योंकि इस समय जो रस चखने में आ रहा है वह विशेष

प्रकार का है। यहाँ साध्य रूपविशेष है और उसका अविरुद्ध सहचर रसविशेष है। उसकी उपलब्धि होने रूप विशेष का अनुमान किया गया है। गाय के जैसे सींग साथ-साथ होते हैं उनमें कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार से रूप रसादिक का सम्बन्ध होता है। अतः रात्रि में प्रकाशाभाव में चखे गये रस-विशेष के स्वाद से उसके सहचारी रूपविशेष की अनुमिति हो जाती है। इस प्रकार से ये विधिरूप हेतुओं द्वारा विधिरूप साध्य की साधक ६ उपलब्धियाँ दृष्टान्तों द्वारा प्रस्फुटित की हैं। अब विधिरूप हेतुओं द्वारा साध्य के प्रतिषेध की साधिका जो उपलब्धियाँ हैं वे समझाई जाती हैं॥ ४५॥

विरुद्धोपलब्धि का कथन :—

सूत्र—साध्यविरुद्धोपलब्धिप्रतिषेधानुमितौ सप्तविधा विरुद्धस्वभाव-व्याप्याद्युपलब्धि भेदात्॥ ४६॥

अर्थ—निषेध सिद्ध करने वाली साध्यविरुद्धोपलब्धि—विधिरूप प्रतिषेधसाधकोपलब्धि स्वभावविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धव्याप्योपलब्धि आदि के भेद से सात प्रकार की कही गई है।

व्याख्या—जब साध्य से अविरुद्ध व्याप्यादि रूप हेतुओं की प्राप्ति होती है तब उन हेतुओं द्वारा साध्य का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है यह बात अभी-अभी स्पष्ट उदाहरणों से स्पष्ट की जा चुकी है। अब इस सूत्र द्वारा यह समझाया जा रहा है कि जो हेतु अपने साध्य से विरुद्ध हो और उसकी वहाँ उप-लब्धि हो तो वह नियम से साध्य के प्रतिषेध को ही सिद्ध करेगी। इसीलिये विरुद्धोपलब्धि को साध्य के प्रतिषेध की साधिका कहा गया है। इसके स्वभाव विरुद्धोपलब्धि आदि के भेद से सात प्रकार कहे गये हैं—जो इस प्रकार से हैं—स्वभाव विरुद्धोपलब्धि (१), विरुद्ध व्याप्योपलब्धि (२), विरुद्ध कार्योपलब्धि (३), विरुद्ध कारणोपलब्धि (४), विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि (५), विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि (६), और विरुद्धसहचरोपलब्धि (७)। अब सूत्रकार आगे के सूत्रों द्वारा इन्हें ही दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं॥ ४६॥

सूत्र—आद्या—सर्वथैकान्तपक्षो न संभवति। अनेकान्त पक्षोपलम्भादिति॥ ४७॥

व्याख्या—विरुद्धोपलब्धि का प्रथम भेद जो स्वभाव विरुद्धोपलब्धि है उसका स्वरूप इस प्रकार से है। जैसे—सर्वथा एकान्त पक्ष संभवित नहीं होता है क्योंकि अनेकान्त पक्ष की उपलब्धि है। यहाँ प्रतिषेध्य सर्वथा एकान्त पक्ष है, उसका प्रतिषेधक अनेकान्त पक्ष है। उसकी उपलब्धि से उसका प्रतिषेध किया गया है क्योंकि यह एकान्त पक्ष से विरुद्ध स्वभावरूप है अतः अनेकान्त पक्ष की उपलब्धि से उस एकान्त पक्ष का निषेध किया गया है॥ ४७॥

विरुद्ध व्याप्योपलब्धि का कथन :—

सूत्र—द्वितीया—अस्मिंस्तत्वनिश्चयोनास्ति तत्व-सन्देहात्॥४८॥

व्याख्या—विरुद्ध व्याप्योपलब्धि यह विरुद्धोपलब्धि का द्वितीय भेद है। इसका खुलासा इस प्रकार से है—इस प्राणी में तत्त्वों का निश्चय नहीं है क्योंकि इसे वहाँ सन्देह है। यहाँ तत्वों का निश्चय प्रतिषेध है उससे विरुद्ध अनिश्चय है और उसका व्याप्य सन्देह है। उसकी उपलब्धि इस प्राणी में है, इससे तत्त्व निश्चय का अभाव वहाँ अनुमति होता है॥४८॥

विरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—तृतीया—अस्मिन्नास्ति क्रोधोपशमो वदन विकारोपलम्भात्॥४९॥

व्याख्या—विरुद्ध कार्योपलब्धि यह विरुद्धोपलब्धि का तीसरा भेद है। इसका अभिमत ऐसा है

कि—साध्य से विरुद्ध कार्य की उपलब्धि जहाँ होती है वहाँ वह अभाव की साधक होती है। जैसे—इस प्राणी में क्रोध की शान्ति नहीं है क्योंकि इसमें मुख के विकार मौजूद हैं। यहाँ पर प्रतिषेध्य साध्य क्रोधोपशम है उससे विरुद्ध क्रोधानुपशम है और उसका कार्य वदन विकार है उसकी उपलब्धि इसमें पायी जा रही है। इससे क्रोधोपशमाभाव इसमें अनुमित हो जाता है। इसी प्रकार से "यहाँ ठंड नहीं है क्योंकि धुंआ निकल रहा है' यह उदाहरण भी इसी के अन्तर्गत जानना चाहिये ॥४९॥

विरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—चतुर्थी—अस्य मुनेरसत्यवचो नास्ति रागद्वेष कालुष्यादूषित ज्ञानवत्त्वादिति ॥५०॥

व्याख्या—विरुद्धोपलब्धि का चौथा भेद विरुद्ध कारणोपलब्धि है और वह इस प्रकार से है। इस मुनि का वचन असत्य नहीं है क्योंकि इनका ज्ञान राग-द्वेष कालुष्य आदि से रहित है। यहाँ प्रतिषेध्य असत्य है उससे विरुद्ध सत्य है और सत्य के कारणभूत रागद्वेषादि रहित ज्ञान का सद्भाव है। अतः यह विरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण है, इसी प्रकार से "यह आदमी सुखी नहीं है क्योंकि इसके हृदय में शल्य है। यहाँ प्रतिषेध्य सुख है और उससे विरुद्ध दुःख है उसका कारण हृदय शल्य है" यह उदाहरण भी इसी के सम्बन्ध में जानना चाहिये ॥५०॥

विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—पञ्चमी—नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युद्गमोपलम्भादिति ॥५१॥

व्याख्या—विरुद्धोपलब्धि का पांचवां भेद विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। उसका यह उदाहरण है। जैसे—एक मुहूर्त के बाद शकट—अश्विनी नक्षत्र का उदय नहीं होगा क्योंकि अभी रेवती का उदय हो रहा है, यहाँ पर प्रतिषेध्य शकटोदय है इसके विरुद्ध अश्विनी का उदय है और इसका पूर्वचर रेवती का उदय है। इससे शकटोदय के अभाव की अनुमिति हो जाती है ॥५१॥

विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—षष्ठी—नोद्गान्मुहूर्तात् पूर्वं रोहिणी उत्तरफल्गुन्युदयादिति ॥५२॥

व्याख्या—विरुद्धोपलब्धि का छठवां भेद यह विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है—इसका उदाहरण इस प्रकार से है। जैसे—एक मुहूर्त के पहिले रोहिणी का उदय नहीं हुआ क्योंकि अभी उत्तर-फल्गुनी का उदय हो रहा है। यहाँ प्रतिषेध्य रोहिणी का उदय है, इसके साथ साक्षाद्विरुद्ध पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र है और उसका उत्तरचर उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र है। इससे मुहूर्त पूर्व रोहिणी के उदय होने का अभाव अनुमित हो जाता है। इसी प्रकार से "इससे पहिले भरणी का उदय नहीं था क्योंकि इस समय पुष्य का उदय हो रहा है। यहाँ भरणी के उदय का विरोधी पुनर्वसु का उदय है और उसका उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का उदय है" यह भी इसके अन्तर्गत जानना चाहिये ॥५२॥

सप्तमी विरुद्धसहचरोपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—सप्तमी—साध्यविरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा—अस्य मुनेर्मिथ्याज्ञानं नास्ति सम्यग्दर्शनोपलम्भादिति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—विरुद्धोपलब्धि का सातवां भेद विरुद्धसहचरोपलब्धि है उसका यह उदाहरण है—जैसे—इस मुनि का ज्ञान मिथ्याज्ञान रूप नहीं है क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है। यहाँ प्रतिषेध्य मिथ्याज्ञान है उससे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर सम्यग्दर्शन है। उसकी उपलब्धि से मिथ्या-

ज्ञान का अभाव अनुमित हो जाता है। इसी तरह "तराजू का पहिला पलड़ा नीचा नहीं है क्योंकि दूसरा पलड़ा नीचा है। यहाँ प्रतिषेध्य पलड़े का नीचापन है उसके विरुद्ध उसका ऊँचापन है और इसका सहचर है दूसरे पलड़े का नीचापन। उसकी उपलब्धि से पहिले पलड़े का नीचापन का अभाव अनुमित हो जाता है" यह कथन भी इसी के अन्तर्गत जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

अविरुद्धानुपलब्धि—प्रतिषेधरूप प्रतिषेध्य साधिका का यह हेतु का तीसरा भेद है—इसका स्पष्टीकरण :—

सूत्र—प्रतिषेध्याविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधानुमितौ सप्तविधा—प्रतिषेध्याविरुद्ध स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर-सहचरानुपलब्धिभेदात् ॥ ५४ ॥

व्याख्या—यह प्रकट ही किया जा चुका है कि अनुपलब्धिरूप जो हेतु होता है वह भी विधि-साधक और प्रतिषेधसाधक होता है। अनुपलब्धि मूल में दो प्रकार की कही गई है—अविरुद्धानुपलब्धि (१), और विरुद्धानुपलब्धि (२)। इनमें प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध हेतु की जहाँ अनुपलब्धि है वह प्रतिषेध साधक ही होती है, यह प्रतिषेध-साधिका अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की कही गई है। जैसे—प्रतिषेध्य से अविरुद्ध स्वभाव की अनुपलब्धि (१), प्रतिषेध्य से अविरुद्ध व्यापक की अनुपलब्धि (२), प्रतिषेध्य से अविरुद्ध कार्यरूप हेतु की अनुपलब्धि (३), प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध कारण की अनुपलब्धि (४), प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध पूर्वचर की अनुपलब्धि (५), प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध उत्तरचर की अनुपलब्धि (६), और प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध सहचर की अनुपलब्धि (७) ॥ ५४ ॥

सूत्र—इह भूतले घटो नास्ति उपलब्धिलक्षण प्राप्तस्याप्यनुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध स्वभावानुपलब्धेरुदाहरणम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—इस भूतल में घड़ा नहीं है क्योंकि वह उपलब्ध होने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस अनुमान में प्रतिषेध्य कुम्भ है। इसका अविरुद्ध स्वभाव होने पर उपलम्भ होना है, पर वह उपलब्ध नहीं हो रहा है। अतः यह घड़े के प्रतिषेध को सिद्ध करता है। यह अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण है ॥ ५५ ॥

अविरुद्धव्यापकानुलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्मिन् प्रदेशे शिंशपा नास्ति वृक्षानुपलब्धेरिति प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धेः ॥५६॥

अर्थ—प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है। जैसे—इस प्रदेश में शिंशपा नहीं है क्योंकि वृक्षकी उपलब्धि नहीं है—यहाँ प्रतिषेध्य शिंशपा है उसका अविरुद्ध व्यापक वृक्ष है, उसकी अनुपलब्धि होने से शिंशपा के अभाव की अनुमिति हुई है। क्योंकि व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव रहता है ॥ ५६ ॥

सूत्र—अस्मिन् केदारेऽप्रतिहतशक्तिकं बीजं नास्ति अंकुरानुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध कार्यानुपलब्धेः ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस खेत में अप्रतिहत शक्ति वाला बीज नहीं क्योंकि यहाँ अंकुर की उपलब्धि नहीं हो रही है। जिसकी शक्ति मन्त्र आदि से रोक न दी गई हो या पुराना होने से स्वभावतः नष्ट न हो गई हो वह अप्रतिहत शक्ति वाला कहलाता है। यहाँ प्रतिषेध्य अप्रतिहत शक्ति वाला बीज है। उसका अविरुद्ध कार्य अंकुर है—सो इस अंकुर की अनुपलब्धि से अप्रतिहत शक्ति वाले बीज का अभाव अनुमित किया गया है ॥ ५७ ॥

अविरुद्ध कारणानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्य प्रशमादयो न सन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानाभावादितिप्रतिषेध्याविरुद्ध-कारणानुपलब्धेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—अविरुद्ध कारणानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है, जैसे—इस पुरुष में प्रशम आदि भाव नहीं हैं क्योंकि इस में तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का अभाव है। यहाँ प्रतिषेध्य प्रशमादि भाव हैं। इनका कारण तत्त्वार्थश्रद्धान है। उसका इसमें अभाव है। उससे उसमें प्रशमादि भावों का अभाव अनुमित हो जाता है ॥ ५८ ॥

अविरुद्ध पूर्वचरानुलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—मुहूर्तान्ते उत्तरफल्गुनी नोद्गमिष्यति पूर्वफल्गुन्युदयाभावादिति प्रतिषेध्या विरुद्ध पूर्वचरानुलब्धेः ॥ ५९ ॥

व्याख्या—अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है, जैसे—एक मुहूर्त्त के बाद उत्तरफल्गुनी नक्षत्र का उदय नहीं होगा क्योंकि इस समय पूर्वफल्गुनी नक्षत्र का उदय नहीं हुआ है। यहाँ प्रतिषेध्य साध्य उत्तरफल्गुनी का उदय है। इसका अविरोधी पूर्वचर पूर्वफल्गुनी का उदय है। पूर्व-फल्गुनी के उदय होने के बाद ही एक मुहूर्त्त में उत्तरफल्गुनी का उदय होता है। अतः जब पूर्वफल्गुनी रूप अविरुद्ध पूर्वचर हेतु की अनुपलब्धि है तो इससे यह अनुमित हो जाता है कि एक मुहूर्त्त के बाद अभी उत्तरफल्गुनी का उदय होने वाला नहीं है ॥ ५९ ॥

अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—नोद्गान्मुहूर्तात्पूर्वं भरणी कृत्तिकोद्गमाभावादिति प्रतिषेध्या-विरुद्धोत्तर-चरानुपलब्धेः ॥ ६० ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त के पहिले भरणी नक्षत्र का उदय नहीं हुआ, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र का उदय अभी तक नहीं हो रहा है। यहाँ प्रतिषेध्यसाध्य एक मुहूर्त्त के पहिले भरणी का उदय होना है। उसके साथ अविरुद्ध उत्तरचर कृत्तिका नक्षत्र है। उसके उदय नहीं होने से भरणी नक्षत्र का उदयाभाव अनुमित हुआ है ॥ ६० ॥

अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्य सम्यग्ज्ञानं नास्ति सम्यग्दर्शनानुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध सहचरानु-पलब्धेः ॥६१॥

अर्थ—अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है, जैसे—इस पुरुष का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन का अभाव है। यहाँ प्रतिषेध्यसाध्य सम्यग्ज्ञान है और उसका अविरुद्ध सहचारी सम्यग्दर्शन है। उसका इसमें सद्भाव नहीं है अतः इसके अभाव से उसमें सम्यग्ज्ञान का अभाव अनुमित हो जाता है ॥६१॥

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि का विचार :—

सूत्र—साध्यविरुद्धानुपलब्धिर्विधिसिद्धौ पञ्चविधा-साध्य-विरुद्ध कार्य, कारण, स्वभाव, व्यापक, सहचरानुपलम्भभेदात् ॥ ६२ ॥

अर्थ—इसका दूसरा भेद प्रतिषेधरूप विधिसाधक है। क्योंकि इसमें जो हेतु दिया जाता है वह तो प्रतिषेधरूप होता है और साध्य विधिरूप होता है। यह पाँच प्रकार की कही गई है, जैसे साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धि १, साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्धि २, साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि ३, साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि ४, और साध्यविरुद्ध सहचरानुपलब्धि ५, इनका प्रत्येक का स्पष्टीकरण सूत्रकार स्वयं आगे सूत्रों द्वारा करते हैं। ॥६२॥

साध्यविरुद्धकार्यानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—साध्यविरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा—अस्मिन्पुरुषे रोगातिशयो नीरोगचेष्टानुपलम्भात् ॥६३॥

अर्थ—इस अनुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध के कार्य की अनुपलब्धि विवक्षित हुई है। अतः जहाँ साध्य से विरुद्ध के कार्य की अनुपलब्धि होती है, वहाँ साध्य के सद्भाव की ही सिद्धि होती है। जैसे—इस पुरुष में रोग का अतिशय है क्योंकि नीरोग चेष्टा देखने में नहीं आ रही है। यहां पर साध्य रोगातिशय है इससे विरुद्ध नीरोगता है और इसका कार्य मुख की प्रसन्नता आदि रूप व्यापारविशेष है। इसकी इसमें अनुपलब्धि है। इससे परोक्षभूत भी रोगातिशय का सद्भाव अनुमित हो जाता है। ॥६३॥

साध्यविरुद्धकारणानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—साध्यविरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा—अस्मिन् पुरुषे दुःखमस्ति सुखसाधनानुपलब्धे ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस पुरुष में दुःख है क्योंकि इसके पास सुख-साधन की अनुपलब्धि है। यहाँ साध्य दुःख है, दुःख से विरुद्ध सुख है और इसका साधन इष्टसंयोगादि है। इसकी इसके पास उपलब्धि नहीं है। इससे परोक्षभूत दुःख का सद्भाव इसमें अनुमित हो जाता है ॥ ६४॥

साध्यविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्यथा—वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकम् एकान्तस्वभावानुपलम्भात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—साध्यविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है—वस्तु मात्र अनेकान्तात्मक है क्योंकि एकान्त स्वभाव की उसमें अनुपलब्धि है। यहाँ साध्य अनेकान्तात्मकता है इससे विरुद्ध एकान्तात्मकता है। इस स्वभाव की यहाँ वस्तुमात्र में उपलब्धि नहीं है अतः अनेकान्तात्मक साध्य की अनुमिति हो जाती है ॥६५॥

साध्यविरुद्धव्यापकानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्त्यस्मिन् प्रदेशे छाया उष्णत्वानुपलब्धेः ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस प्रदेश में छाया है क्योंकि यहाँ पर उष्णता की अनुपलब्धि है। यहाँ साध्य छाया है उससे विरुद्ध आतप है। इसका व्यापक उष्णत्व है। उसकी अनुपलब्धि से छाया साध्य के अस्तित्व का अनुमान किया गया है ॥ ६६ ॥

साध्यविरुद्धसहचरानुपलब्धि का उदाहरण :—

सूत्र—अस्मिन् पुरुषे मिथ्याज्ञानमस्ति सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ ६७ ॥

व्याख्या—साध्य से विरुद्ध के सहचर की जो अनुपलब्धि है वह साध्यविरुद्धसहचरानुपलब्धि है। जैसे—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है। यहाँ पर साध्य मिथ्या

ज्ञान है, उससे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है। उसका सहचर सम्यग्दर्शन है, उसकी अनुपलब्धि से मिथ्याज्ञान का अनुमान किया गया है ॥ ६७ ॥

शङ्का—हमने इतने इस पूर्वोक्त कथन से यह तो समझ लिया है कि साध्य दो प्रकार का होता है एक विधिरूप एक प्रतिषेधरूप। इसी प्रकार हेतु भी दो प्रकार का होता है—एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। इनमें उपलब्धिरूप हेतु विधिसाध्य का और प्रतिषेधसाध्य का दोनों का साधक होता है। इसी प्रकार से अनुपलब्धिरूप हेतु भी विधिसाध्य और प्रतिषेधसाध्य का साधक होता है। परन्तु यह समझ में नहीं आ रहा है कि विधि शब्द का और प्रतिषेध शब्द का वाच्यार्थ क्या है ?

सूत्र—उत्तर—**भावरूपो विधिरभावरूपश्च निषेधः ॥ ६८ ॥**

अर्थ—भावरूप विधि अंश होता है और अभावरूप निषेधांश होता है ॥ ६८ ॥

व्याख्या—जितने भी पदार्थ हैं वे सब कथञ्चित् सत्स्वरूप हैं और कथंचित् असत्स्वरूप हैं। इनमें जो सदंश है वह विधिरूप है और जो असदंश है वह प्रतिषेधस्वरूप है। कथंचित् शब्द का अर्थ किसी अपेक्षा है। इस तरह पदार्थ में भावरूपता—विधिरूपता और प्रतिषेधरूपता—अभावरूपता किसी अपेक्षावश कही गई है, एक ही अपेक्षा से नहीं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६८ ॥

अभाव के प्रकार :—

सूत्र—अभावश्चतुर्विधः प्रागभावप्रध्वंसाभावान्योन्याभावात्यन्ताभावभेदात् ॥६९॥

अर्थ—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के भेद से अभाव चार प्रकार का कहा गया है ॥६९॥

प्रागभाव का लक्षण :—

सूत्र—विवक्षितपर्यायाविर्भावरिक्तोऽनादि सान्तस्तस्योत्पतेः प्रागुपादानपरिणामः प्रागभावः ।७०।

व्याख्या—विवक्षित पर्याय की उत्पत्ति से रहित, जो उपादान परिणाम है वही उसकी उत्पत्ति के पहिले उसका प्रागभाव है। मृत्तिका से जब तक घट नहीं बनता है तब तक घट का वह मृत्तिका प्रागभाव रूप कही जाती है। यह मृत्तिका ही घट का उपादान परिणाम है। क्योंकि मृत्तिका ही घटरूप से परिणमित हुई है। यह प्रागभाव अनादि और सान्त होता है। घट के उत्पन्न होते ही उसका प्रागभाव नष्ट हो जाता है और जब तक घट उत्पन्न नहीं होता है तब तक अनादि से उसका प्रागभाव चला आता है ॥७०॥

प्रध्वंसाभाव का लक्षण :—

सूत्र—भूत्वाऽभवनं साद्यनन्तः प्रध्वंसाभावः ॥ ७१ ॥

व्याख्या—कार्य का उत्पन्न होकर के फिर उस रूप में वर्तमान नहीं रहना, इसका नाम प्रध्वंसाभाव है। यह प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त होता है। जब मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है तब वह कपालमाला के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यही घट की कपालमाला के रूप में जो पर्यायान्तरिता हुई है वही घट का प्रध्वंसाभाव है। यह सान्त होकर अनन्त रहता है। घट के फूट जाने पर फिर वही घड़ा नहीं बनाया जा सकता ॥७१॥

अन्योन्याभाव का लक्षण :—

सूत्र—पर्यायात्पर्यायान्तर व्यावृत्तिरन्योन्याभावः सादिः सान्तश्च ॥ ७२ ॥

व्याख्या—एक पर्याय से जो दूसरी पर्याय की भिन्नता है वह अन्योन्याभाव है। इसका दूसरा नाम इतरेतराभाव है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से, एक पुस्तक दूसरी पुस्तक से जो भिन्न—अलग—प्रतीत होती है यह अन्योन्याभाव के कारण ही प्रतीत होती है। इसका तात्पर्य यही है कि पुद्गल की एक पर्याय का दूसरी पर्याय रूप नहीं होना, यही अन्योन्याभाव है। यह सादि और सान्त होता है ॥७२॥

अत्यन्ताभाव का लक्षण :—

सूत्र—द्रव्ययोर्द्रव्यान्तर व्यावृत्तिरत्यन्ताभावोऽनादिरनन्तश्च ॥ ७३ ॥

व्याख्या—त्रिकाल में भी एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप नहीं होना, यही अत्यन्ताभाव है। यह अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होता है। जीव द्रव्य का त्रिकाल में भी पुद्गल द्रव्य रूप और पुद्गल का त्रिकाल में भी जीव द्रव्य रूप परिणमन जो नहीं होता है, वह अत्यन्ताभाव इन दोनों में होने के कारण नहीं होता है ॥७३॥

। तृतीय अध्याय समाप्त ।

चतुर्थोऽध्यायः

परोक्ष प्रमाण के स्मरणादि भेद चतुष्टय का कथन करके अब इस अध्याय में आगम प्रमाण का जो कि परोक्ष प्रमाण का पाँचवां भेद है, उसका प्रतिपादन किया जाता है।

सूत्र—आप्तवाक्यजन्यमर्थज्ञानमागमः ॥ १ ॥

व्याख्या—आप्त के वाक्य से जो अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका नाम आगम है। इसका तात्पर्य ऐसा है—आप्त के वचन से जो जीव व अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान—बोध—होता है उस ज्ञान का नाम आगम है। इन पदों की सार्थकता—पदव्यावृत्ति—न्यायरत्नावली से जो इस न्यायरत्न की बड़ी टीका है जान लेनी चाहिये ॥१॥

आप्त वाक्य में आगमता का कथन :—

सूत्र—तद्वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमः ॥ २ ॥

व्याख्या—आप्त के वचन भी ज्ञान के हेतु होने से आगम रूप कहे गये हैं। जिस प्रकार स्वार्थानुमान के प्रतिपादक वचन अनुमानरूप कहे गये हैं। उसी प्रकार आप्त के वचन भी प्रतिपाद्य जन के ज्ञान के कारणभूत होने से आगमरूप कहे जाते हैं ॥२॥

आप्त के भेद :—

सूत्र—अविसंवादिवचनत्वात्परमार्थतो वीतरागसर्वज्ञ—हितोपदेष्टैवाप्तस्तीर्थंकरादि व्यवहार-तस्तु लौकिको जनकादिः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसके वचन में पूर्वापर में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं पाया जाता है और इसी कारण जो अविसंवादी वचन वाले होते हैं ऐसे तीर्थंकर अर्हन्त परमात्मा परमार्थ से वीतराग सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी होने के कारण आप्त कहे गये हैं तथा व्यवहारदृष्टि से लौकिक जनक आदि प्रामाणिक पुरुष भी आप्त माने गये हैं।

व्याख्या—मिथ्याभाषण के दो कारण होते हैं—अज्ञान और कषाय। मनुष्य वस्तु-स्वरूप ठीक-ठीक नहीं जानता हो या ठीक-ठीक जानता हुआ भी वह कषाययुक्त हो तो ऐसी हालत में वह वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन यथार्थ रूप से नहीं कर सकता है। जिसमें इनका सद्भाव नहीं होता है वहाँ अयथार्थ रूप से वस्तु के प्रतिपादन का कोई कारण न हो सकने से उनके द्वारा वस्तु का विवेचन अपने ज्ञान के अनुसार यथार्थ ही होता है, मिथ्या नहीं होता। यहां सूत्र में वचन यह उपलक्षण है। इससे आप्त की अँगुली आदि के इशारे से जो ज्ञान होता है अथवा उनके द्वारा रचित पुस्तकों के पढ़ने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सब आगम ज्ञान है। धार्मिक ग्रन्थों में आप्त के सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी ये तीन विशेषण बताये

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गये हैं, वे अलौकिक पारमार्थिक-आप्त के ही बताये गये हैं। पारमार्थिक आप्त ही पूर्ण आप्त होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार "यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः" जो जिस विषय में धोखा नहीं देता है वह वहाँ आप्त है ऐसा कहा गया है। इस कथन के अनुसार लौकिक जनकादि प्रामाणिक पुरुष होने से लौकिक आप्त कोटि में परिगणित कर लिये गये हैं। तथा मुक्तिमार्ग के उपदेश में धोखा नहीं देने से तीर्थंकर आदि प्रामाणिक पुरुष पारमार्थिक आप्त—अलौकिक आप्त—पूर्ण आप्त कहे गये हैं ॥३॥

शब्द द्वारा अर्थबोध का कथन :—

सूत्र—स्वार्थप्रकाशनशक्तिः शब्दानां सहजाऽपि संकेत सहकृतया तयाऽर्थ-बोधः ॥ ४ ॥

अर्थ—शब्दों में अपने वाच्यार्थ को प्रकाशन करने की शक्ति स्वाभाविक है परन्तु फिर भी वह सङ्केत से सहकृत होकर ही अपने वाच्यार्थ का बोधक होता है।

व्याख्या—शब्द के द्वारा हमें अर्थज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र द्वारा दिया गया है। इसमें यह समझाया गया है कि शब्द में स्वार्थ प्रकाशन की शक्ति स्वाभाविक है। परन्तु यह शक्ति सङ्केत से सहकृत होकर ही अपने वाच्यार्थ का प्रकाशन करती है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक है। जब तक इस प्रकार के सङ्केत से शब्द सहकृत नहीं होता है तब तक वह अपने वाच्यार्थ का बोध नहीं करा सकता है ॥ ४ ॥

शब्द का लक्षण :—

सूत्र—वर्णपदवाक्यात्मकः शब्दः ॥ ५ ॥

व्याख्या—शब्द तीन प्रकार के होते हैं—एक वर्णात्मक, दूसरे पदात्मक और तीसरे वाक्यात्मक, जैसे—अ, आ, इ, ई आदि शब्द वर्णात्मक शब्द हैं। इन के एकाक्षरी नाम माला में कृष्ण आदि अनेक अर्थ कहे गये हैं। घट पट आदि रूप जो शब्द हैं वे पदात्मक शब्द हैं। ये घटरूप एवं वस्त्ररूप अर्थ के बोधक होते हैं। जिनदत्त आता है, महेश जाता है इत्यादि रूप जो शब्द हैं वे वाक्यात्मक शब्द हैं और इनसे जिनदत्त के आने का और महेश के जाने का बोध होता है ॥ सू. ५ ॥

वर्ण का लक्षण :—

सूत्र—कथंचिन्नित्यानित्यात्मकः पौद्गलिकः स्वर-व्यञ्जन रूपोवर्णः ॥ ६ ॥

अर्थ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ (दीर्घ) ए, ऐ, ओ, औ ये १४ स्वर और क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, स्, ष्, और ह्, ये ३३ व्यञ्जन हैं, इन सबके भिन्न-भिन्न अर्थ एकार्थनाममाला में लिखे हुए हैं। वर्ण भाषा वर्गणा रूप पुद्गल से निष्पन्न होने के कारण उसे यहाँ पौद्गलिक प्रकट किया गया है। ये किसी अपेक्षा से नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य माने गये हैं ॥६॥

पद का लक्षणः—

सूत्र—परस्परापेक्षवर्णानां निरपेक्षसमुदायः पदं तथाविध पद समुदायश्च वाक्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—परस्पर की अपेक्षा वाले वर्णों का पदान्तरवर्त्ती वर्णों की अपेक्षा बिना का जो समुदाय है वही पद का लक्षण है, तथा परस्पर की अपेक्षा वाले पदों का पदान्तरवर्त्ती पदों की अपेक्षा बिना का जो समुदाय है वह वाक्य का लक्षण है।

व्याख्या—वर्णों का मेल जब ऐसा होता है कि उसमें किसी और वर्ण को मिलाने की आवश्यकता न रहे और मिले हुए वही वर्ण किसी अर्थ का बोध करा दें तभी वे पद कहलाते हैं। निरर्थक वर्ण समूह को पद नहीं कहा गया है। इसी प्रकार सार्थक पदों का समुदाय वाक्य कहा गया है। यह वाक्य भी अन्य वाक्यान्तरवर्त्ती पदों की स्वार्थबोध कराने में अपेक्षा नहीं रखता है ॥७॥

शब्द में प्रमाणता अप्रमाणता की व्यवस्था :—

सूत्र—निवारणप्रदीपवत्स्वार्थप्रकाशनं शब्दे सङ्केताधीनमपिबोधे प्रमाणेतरता वक्तृगुण-दोष निश्रा ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आवरण के व्यवधान से विहीन दीपक अर्थ को—इष्टानिष्ट पदार्थ को—प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से स्वार्थप्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति से युक्त हुआ भी शब्द सङ्केत की सहायता से अर्थ का प्रकाशन करता है—ज्ञान करता है। परन्तु उस अर्थज्ञान में जो प्रमाणता और अप्रमाणता आती है वह वक्ता के गुण और दोषों को लेकर आती है।

व्याख्या—दीपक चाहे पदार्थ अच्छा हो चाहे बुरा हो उसका स्वभाव उसे प्रकाशित कर देने का है। उसी प्रकार वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का स्वभाव अर्थ का बोध करा देने का है। चाहे वह पदार्थ इष्ट हो चाहे अनिष्ट हो, वास्तविक हो या अवास्तविक हो, कैसा ही क्यों न हो।

"वक्तुः प्रमाण्याद्वचसि प्रामाण्यं" वक्ता की प्रमाणता से ही उसके वचनों में प्रमाणता आती है। इस कथन के अनुसार वक्ता यदि गुणवान् है तो उसके वचनों में प्रमाणता आने से वचनजन्य बोध में भी प्रमाणता आवेगी और वक्ता यदि सदोष है तो उसके वचनजन्य बोध में अप्रमाणता आवेगी ॥८॥

सूत्र—शब्द की प्रवृत्ति—**आदेश[1]भेदाच्छब्दः स्वार्थे विधिनिषेधाभ्यां सप्तभंग्याऽऽलिंग्यते ॥९॥**

अर्थ—विवक्षा के वश से शब्द अपने वाच्य अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ उसमें विधि और निषेध की कल्पना से सप्तभङ्गी द्वारा आलिङ्गित होता है।

व्याख्या—अन्तर्वर्ती एवं बहिर्वर्ती जितने भी जीवादिक और अजीवादिक पदार्थ हैं वे सब अनन्तधर्म वाले हैं एकधर्म वाले नहीं हैं। क्योंकि एकान्ततः एक ही धर्म वाले वे हैं ऐसा ही यदि शब्द प्रतिपादन करता है मान लिया जावे तो वस्तु में वस्तुत्व ही नहीं बन सकने के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। अतः जब शब्द "यह घट है" ऐसा प्रतिपादन करता है तो वह विवक्षा के वश से सप्तभङ्गी को धारण करने वाला हो जाता है। इसके विशेषार्थ को जानने के लिये न्यायरत्नावली टीका का अवलोकन करना चाहिये ॥९॥

सप्तभङ्गी का स्वरूप :—

सूत्र—एकत्रैक धर्म प्रश्न विवक्षातोऽविरोधेनव्यस्त समस्तविधिनिषेधयोः प्रतिपादकः स्याच्चिह्नितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभंगात् ॥ १० ॥

अर्थ—एक वस्तु में के किसी एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से—विवक्षा से—सात प्रकार के वचन प्रयोग को सप्तभङ्गी कहा गया है। वह वचन स्यात् पद से सहित होता है। और उसमें कहीं विधि की एवं कहीं निषेध की विवक्षा होती है और कहीं दोनों की विवक्षा होती है।

---

१. आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमिति वचनात्।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। एक शब्द द्वारा एक साथ उनका कथन वक्ता नहीं कर सकता है। अतः वह उन धर्मों में से किसी एक धर्म को अपनी विवक्षा से प्रधान कर लेता है और उसका प्रतिपादन उस शब्द द्वारा करता है। कहीं वह विधि को मुख्य करता है, और उसका कथन करता है, कहीं वह निषेध को मुख्य करता है और उसका कथन करता है। कहीं वह विधि-निषेध दोनों को मुख्य करता है और उसका कथन करता है। कहीं क्रमशः दोनों को मुख्य करता है, कहीं युगपत् दोनों को मुख्य करता है, कहीं विधि को और युगपत् दोनों को, कहीं निषेध को और युगपत् दोनों को और कहीं क्रमशः और युगपत् दोनों को मुख्य करता है और उनका कथन करता है—इस प्रकार के कथन में विवक्षा के भेद से किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। क्योंकि प्रत्येक धर्म के कथन के साथ स्यात् पद का वह प्रयोग करता है। इस प्रकार से सात प्रकार के वचन प्रयोग को लेकर सप्तभङ्गी बन जाती है। स्यात्पद का अर्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा होता है॥१०॥

प्रथमादि भंगों की उत्पत्ति का क्रम कथन, प्रथम भंग :—

सूत्र—स्यात्सदेव सर्वमिति प्राधान्येन विधिविवक्षया प्रथमोऽङ्गः ॥ ११ ॥

अर्थ—किसी अपेक्षा से समस्त जीवादिक वस्तु सत्स्वरूप ही है। इस प्रकार का यह प्रधान रूप से विधि की विवक्षा करके समस्त वस्तु में अस्तित्व का कथन करने वाला प्रथम भङ्ग है।

व्याख्या—'स्यात्' यह तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। यह अनेकान्त का बोधक है। इससे यह समझाया जाता है कि समस्त वस्तु स्यात्—कथञ्चित्—स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा—सत्स्वरूप ही है॥ ११ ॥

सूत्र—द्वितीय भंग—स्यादसदेव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधविवक्षया द्वितीयो भंगः ॥ १२ ॥

व्याख्या—किसी अपेक्षा से जीवादिक वस्तु असत्स्वरूप ही है ऐसा प्रधान रूप से असत्त्व धर्म की विवक्षा करके समस्त वस्तु में नास्तित्व—असत्त्व का कथन करने वाला द्वितीय भंग है। यहाँ ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि शीत और उष्ण की तरह अस्तित्व और नास्तित्व में विरोध है तो फिर इनका एक ही समय में एक वस्तु में एक साथ रहना कैसे संभव हो सकता है। क्योंकि शीत उष्ण के जैसा अस्तित्व नास्तित्व में विरोध नहीं हो सकता। विरोध तो तभी कहा जा सकता है कि जब एक ही काल में एक ही स्थान में ये दोनों धर्म एकत्रित होकर न रहें। लेकिन स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से एक ही वस्तु में युगपत् सिद्ध है—फिर विरोध कैसा? किन दो धर्मों में विरोध है यह बात हम पहिले से नहीं जान सकते। जब हमें यह बात ज्ञात हो जाती है कि ये धर्म एक ही समय में एक ही जगह नहीं रह सकते तब हम उनमें विरोध मानते हैं। अगर वे एकत्रित होकर रह सकें तो विरोध कैसे कहा जा सकता है? यदि ऐसा कहा जाता कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व है और स्वचतुष्टय की ही अपेक्षा नास्तित्व है तो विरोध कहना ठीक है। लेकिन अपेक्षाभेद से दोनों में विरोध नहीं कहा जा सकता॥ १२ ॥

सूत्र—तृतीयभंग—स्यात्सदेव स्यादसदेवेति क्रमशो विधि-निषेध विवक्षया तृतीयोभंगः ॥ १३ ॥

अर्थ—कथंचित् समस्त पदार्थ सत्स्वरूप ही हैं और कथञ्चित् सर्व पदार्थ असत्स्वरूप ही हैं इस प्रकार क्रम से विधि और निषेध की कल्पना से तीसरा भंग होता है।

व्याख्या—जब हमें वस्तु के स्व-रूप की अपेक्षा होती है तब हम उसे अस्तित्वविशिष्ट और जब पर-रूप की अपेक्षा होती है तब हम उसे नास्तित्वविशिष्ट कहते हैं। इसी प्रकार जब हमें स्व-रूप और पर-रूप दोनों की अपेक्षा होती है तब हम उसे अस्ति-नास्तिस्वरूपविशिष्ट कहते हैं। इस तरह इस तृतीय भङ्ग में क्रमशः दोनों भंग प्रधान रूप से विवक्षित होते हैं ॥ १३ ॥

सूत्र—चतुर्थ भंग—स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत् प्राधान्येन विधिनिषेधविवक्षया चतुर्थः ॥ १४ ॥

व्याख्या—जब अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों की एक साथ प्रधानता कर वस्तु का कथन करना होता है तब वह वस्तु कथंचित् अवक्तव्य हो जाती है। इसी बात को प्रकट करने वाला यह चतुर्थ भंग है। वस्तु अनन्त धर्मों का एक पिण्ड है। अतः उन अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों द्वारा जब हम उस वस्तु को एक साथ कहना चाहें तो नहीं कह सकते। अतः इस दृष्टि से वस्तु अवक्तव्य (न कहने योग्य) कोटि में आ जाती है ॥ १४ ॥

सूत्र—पाँचवाँ भंग—आद्यतर्ययोर्योगे पंचमः ॥ १५ ॥

व्याख्या—प्रथम भंग और चतुर्थ भंग के योग से पाँचवाँ भंग होता है। इसका आलाप प्रकार "स्यात्सदेव स्यादवक्तव्यमेव" ऐसा है। तात्पर्य इसका ऐसा है कि जब वक्ता का आशय ऐसा होता है कि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व धर्मविशिष्ट होती हुई भी अवक्तव्य है तब यह पंचम भंग बनता है ॥ १५ ॥

सूत्र—छठवां भंग—द्वितीयतूर्ययोर्योगे षष्ठः ॥ १६ ॥

व्याख्या—द्वितीय भंग और चतुर्थ भंग का योग करने पर यह छठवाँ भंग निष्पन्न होता है। इसके द्वारा यह समझाया जाता है कि घटादि वस्तु पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वविशिष्ट होती हुई भी अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों द्वारा युगपत् वक्तुं अशक्य है इसलिये "स्यान्नास्त्येव सर्वं अवक्तव्यं च" ॥ १६ ॥

सूत्र—सातवाँ भंग—क्रमाक्रमाभ्यां विधि-प्रतिषेधकल्पनारूपः सप्तमः ॥ १७ ॥

व्याख्या—विधि--अस्तित्व एवं प्रतिषेध-नास्तित्व की जब क्रमशः मुख्यता की जाती है तब तृतीय भंग की और जब इन दोनों की युगपत् मुख्यता की जाती है तब चतुर्थ भंग की निष्पत्ति होती है। अतः तृतीय और चतुर्थ भंग के योग होने पर यह सातवाँ भंग बनता है। इन सात भगों की सार्थकता के विषय में विचार इस कथन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि मूल भंग दो हैं अस्ति और नास्ति। इन दोनों की युगपत् विवक्षा से अवक्तव्य नाम का भंग बना है। इन तीनों के असंयोगी अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, द्विसंयोगी अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य और त्रिसंयोगी अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य भंग बनाने से सात भंग हो जाते हैं।

शंका—मूल भंग में केवल स्यादस्ति यही एक भंग रखा जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि स्यादस्ति यही एक भंग रखा जावे तो वस्तु जिस प्रकार एक जगह अस्ति रूप है उसी प्रकार वह सर्वत्र अस्तिरूप हो जावेगी। ऐसी स्थिति में उसकी सर्वत्र सत्ता स्थापित हो जाने के कारण वह व्यापक हो जावेगी। तो जब कोई "दही खा लो" ऐसा किसी से कहेगा तो उसकी प्रवृत्ति ऊँट की तरफ भी हो जाने लगेगी। इसी प्रकार केवल नास्ति भंग मानने में भी आपत्ति आती है, क्योंकि इससे समस्त दृश्यमान वस्तुओं का अभाव हो जावेगा। इसलिये इनकी प्रत्येक की केवलता प्रमाणविरुद्ध

है। न तो प्रत्येक वस्तु सर्वरूप से अस्तित्वविशिष्ट है और न सर्वरूप से वह नास्तित्व विशिष्ट है। यद्यपि अस्तित्व और नास्तित्व भंग के साथ स्यात् पद प्रयुक्त होता है उससे यह समझ लिया जाता है कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा ही नास्तिरूप है अतः प्रत्येक वस्तु सर्वत्र न व्यापक हो सकेगी और न सर्वत्र वह अभावरूप होगी। अतः एक ही अस्ति भंग से काम चलाया जा सकता है, ऐसी यदि कोई आशंका करे तो उसका उत्तर ऐसा है कि इन दोनों भंगों से जो भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है वह एक प्रथम भग के मानने से नहीं हो सकता है। जैसे—यदि कहा जाय कि अमुक व्यक्ति बाजार में नहीं है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वह अमुक जगह है। बाजार में न होने पर भी कहां पर है यह जिज्ञासा बनी ही रहती है. जिसके लिये अस्ति भंग की जरूरत है। व्यवहार में अस्ति भंग के प्रयोग होने पर भी नास्ति भंग के प्रयोग की आवश्यकता होती है। मेरे हाथ में रुपया है, यह कहना एक बात है और तुम्हारे हाथ में रुपया नहीं है, यह कहना दूसरी बात है। इस तरह दोनों भंगों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। क्या अन्योन्याभाव से नास्ति भंग की पूर्ति नहीं होती ? हां; नहीं होती क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी नियम अभाव से नहीं है, चारों प्रकार के अभावों से है। तीसरे भंग के विषय में यदि ऐसा कहा जाय कि अस्ति नास्ति इन दोनों भंगों में तीसरा भंग गर्भित हो जाता है तो फिर इसकी क्या आवश्यकता है ? तो इसके सम्बन्ध में ऐसा जानना चाहिये कि स्वतन्त्र अस्ति और नास्ति भंग के जो कार्य हैं, उनसे भिन्न ही इस तीसरे भंग का कार्य है। एक और एक मिलकर दो बनते हैं पर एक-एक के कार्य से दो का कार्य अलग होता है। अथवा एक-एक की संख्या से इनके संयोग से जन्य दो संख्या अलग ही मानी जाती हैं। अस्ति और नास्ति इन दोनों को हम एक समय में नहीं कह सकते इसलिये चतुर्थ भंग बन जाता है। क्रमशः अस्तित्व धर्म की विवक्षा में और युगपत् अस्ति नास्ति धर्म की विवक्षा में पांचवां भंग, क्रमशः नास्तित्व धर्म की विवक्षा में और युगपत् दोनों धर्मों की विवक्षा में छठा भंग एवं क्रमशः दोनों धर्मों की विवक्षा में और युगपत् दोनों धर्मों की विवक्षा में सातवां भंग बनता है ॥१७॥

शब्द में विधि प्रतिपादनता की एकान्तता का निरसन :—

सूत्र—विधेरिव निषेधस्यापि बोधकत्वाच्छब्दात्तत्प्रतिपत्तिः ॥ १८॥

व्याख्या—शब्द जिस प्रकार अस्तित्व का बोधक होता है उसी प्रकार से वह नास्तित्व का भी बोधक होता है। अतः जिनकी ऐसी मान्यता है कि शब्द प्रधान रूप से विधि का ही कथक होता है या प्रधानरूप से नास्तित्व का ही कथक होता है अन्य का गौण रूप से सो इस एकान्त का निरसन इस सूत्र द्वारा किया गया है। ॥१८॥

सूत्र—गुणभावे नैवतदभिधाने तत्र गौणत्वानुपपत्तिः ॥१९॥

व्याख्या—यदि ऐसा ही मान लिया जावे कि शब्द विधिधर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादक होता है और गौण रूप से निषेध का—नास्तित्व धर्म का प्रतिपादक होता है तो इस पर यह आपत्ति आती है कि नास्तित्व धर्म में प्रधानता माने बिना गौणता नहीं आ सकती है। अतः उसमें गौणता लाने के कहीं न कहीं उसमें प्रधानता अंगीकार करनी चाहिये। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि शब्द कहीं पर जिस प्रकार से विधि का प्रधानता से कहने वाला होता है उसी प्रकार वह प्रधानता से नास्तित्व धर्म का भी कहने वाला होता है ॥ १९॥

शब्द में द्वितीय भंग की एकान्त कथकता का निरसन :—

सूत्र—मुख्यत्वेन निषेधैकान्त वाच्योक्तिरप्यकान्तोक्त युक्ते : ॥ २० ॥

व्याख्या—शब्द प्रधान रूप से निषेध का ही प्रतिपादक होता है, यदि ऐसी ही एकान्त मान्यता अंगीकार की जावे तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इसकी एकान्तता में विधि की प्रतिपत्ति उससे नहीं हो सकेगी। यदि अप्रधानरूप से वह विधि का प्रतिपादक माना जावे तो पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार उसमें प्रधानता माने बिना अप्रधानता नहीं आ सकती है ॥२०॥

तृतीय भंग की एकान्तता की कथकता का निरसन :—

सूत्र—विधि-निषेधान्यतर प्रतिपादनस्य प्रधानता शब्दे क्रमादुभयैकान्त प्राधान्यमस्तंगमयति ।२१।

व्याख्या—जो ऐसा कहते हैं कि शब्द प्रधानता से क्रमशः विधि और निषेध का ही बोधक है। विधि को प्रधान करके वह निषेध को गौण नहीं करता और निषेध को प्रधान करके विधि को गौण नहीं करता। अतः वह प्रथम भंग और द्वितीय भंग को नहीं बनाता है, केवल एक तीसरे भंग को ही बनाता है। सो इस प्रकार की किसी की एकान्त मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि जब तक इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा तब तक इनमें मुख्यता और गौणता के होने का कथन प्रमाणित नहीं हो सकेगा और तृतीय भंग में जो इन्हें क्रमशः मुख्यता दी गई है वह कैसे दी जा सकेगी अतः शब्द तृतीय भंग की तरह प्रथम और द्वितीय भंग का भी वाचक है ऐसा अनुभव निराकृत नहीं किया सकता है ॥२१॥

चतुर्थ भंग की एकान्तता की कथकता का शब्द में निरसन :—

सूत्र—अवक्तव्य शब्देनापि वाच्यत्वाभाव प्रसङ्गतश्चतुर्थभंगैकान्तोऽप्यकान्तः ॥२२॥

व्याख्या—यदि ऐसा कहा जाय कि एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है इसलिये इन दोनों धर्मों से विशिष्ट वस्तु सर्वथा अवक्त ही है तो इस एकान्त मान्यता का निरसने वाला यह सूत्र है। इसमें यह समझाया गया है कि यदि इसी मान्यता को स्वीकार किया जावे तो फिर जैसे कोई ऐसा कहे कि मेरी माता वन्ध्या है वैसा ही यह कथन है क्योंकि सर्वथा अवक्तता में यह अवक्तव्य है ऐसे शब्द द्वारा भी वह कथित नहीं किया जा सकता है। ऐसा कहना तो कथञ्चित् अवक्तव्य पक्ष में ही हो सकता है। ॥२२॥

पंचम भङ्गादिकों की एकान्तता का निरसन :—

सूत्र—इतरथापि संवेदनाच्छेषभङ्गत्रयैकान्तोऽप्येवमेव ॥२३॥

अर्थ—शेष भङ्गों का—पांचवें, छठवें और सातवें भंगों का एकान्त पक्ष भी इसी तरह का है—एकान्त है—न्यायानुकूल नहीं है।

व्याख्या—जब एकान्तवादी ऐसा कहता है कि शब्द विधिरूप अर्थ का वाचक होता है, एक साथ विधि निषेध का वह अवाचक ही होता है तब उस भंग में एकान्तता आ जाती है और यह एकान्तता इसलिये ठीक नहीं मानी जाती कि शब्द निषेधरूप पदार्थ का वाचक होता युगपत् विधि-निषेध दोनों पदार्थ का अवाचक होता है। इसी प्रकार से शब्द नास्तित्वरूप अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ वह दोनों धर्मों का युगपत्वाचक नहीं ही होता है। यह छठवें भंग की एकान्तता भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इस प्रकार की एकान्तता में वह पांचवें भँग का वाचक नहीं हो सकता। इसी प्रकार सातवें भंग का भी एकान्त ठीक नहीं है क्योंकि शब्द प्रथम आदि भंगों का भी वाचक होता है। अतः किसी भी भंग की एकान्तता अबाधित नहीं है ऐसा इस कथन का निष्कर्षार्थ है ॥२३॥

एक-एक धर्म को लेकर सप्तभंगी का प्रतिपादन—

सूत्र—धर्मं धर्मं प्रति सप्तभंगसद्भावतोऽनन्ताः सप्तभङ्ग्यः प्रश्न-जिज्ञासा-संदेहतद्गोचरांशानां सप्तविधत्वात् ॥२४॥

अर्थ—वस्तुगत एक-एक धर्म को लेकर सात-सात भंग होते हैं। इस तरह वस्तुगत अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभिङ्गियाँ बन जाती हैं।

व्याख्या—किसी ने ऐसी शंका जब की कि जीवादि पदार्थों में विधिरूप और निषेधरूप अनन्त धर्म आर्हत दर्शन में स्वीकार किये गये हैं। अतः उनकी अनन्तभंगी मानना चाहिये, सप्तभंगी मानना ठीक नहीं है। तब इस प्रश्न का समाधान इस सूत्र द्वारा दिया गया है कि एक-एक धर्म को लेकर सात-सात ही भंग होते हैं, न आठ-नौ आदि भंग होते हैं और न कम भंग होते हैं। अतः इस तरह वस्तुगत अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। इसी कारण अनन्त सप्तभंगी बन जाने की यह बात हम जैनों को मान्य है। भंग सात ही क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि पूछने वाला सात ही प्रकार से एक धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न पूछता है। सात ही प्रकार से वह क्यों पूछता है? तो इसका कारण यह है कि उसकी जानने की इच्छा सात ही प्रकार की होती है। जिज्ञासाएँ सात ही क्यों होती हैं? तो इसका कारण यह है कि उसे सात प्रकार से संदेह होता है। संदेह सात कारण से क्यों होता है? तो इसका समाधान यह है कि संदेह के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक वस्तुगत धर्म सात प्रकार के होते हैं ॥२४॥

सप्तभंगी की द्विविधता :—

सूत्र—सप्तभंगीयं प्रतिभंगं सकलदेश-विकलादेश भेदाद् द्विविधा ॥२५॥

अर्थ—यह सप्तभंगी प्रत्येक में सकलादेश रूप और विकलादेशरूप होती है। इस लिये ही सकलादेश और विकलादेश से इसके दो भेद जाते हैं।

व्याख्या—सकलादेश का नाम प्रमाण सप्तभंगी है और विकलादेश का नाम नय सप्तभंगी है। वस्तु को पूर्णरूप से विषय करने वाला प्रमाण है। और वस्तु को अंश रूप से विषय करने वाला नय है। वाक्यों में भी दो भेद होते हैं—एक प्रमाणवाक्य और दूसरा नयवाक्य। प्रमाणवाक्य और नयवाक्य का अन्तर हमें शब्दों से नहीं किन्तु भावों के ज्ञात होता है। जब हम किसी शब्द द्वारा पूरी वस्तु को कहते हैं तब सकलादेश प्रमाणवाक्य माना जाता है और जब शब्द के द्वारा किसी एक धर्म को कहते हैं तब विकलादेश नयवाक्य माना जाता है ॥२५॥

सकलादेश का स्वरूप :—

सूत्र—द्रव्य पर्यायार्पितेन कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च सकलवस्तुनः प्रतिपादकत्वं सकलादेशत्वम् ॥२६॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की मुख्यता और गौणता से अभेद करके एवं पर्यायार्थिकनय की मुख्यता और द्रव्यार्थिकनय की गौणता से अभेद का उपचार करके समस्त धर्मविशिष्ट वस्तु का जो कथन किया जाता है वह सकलादेश है।

व्याख्या—वस्तुगत अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म के प्रतिपादन द्वारा जो वाक्य उन शेष धर्मों की उस प्रतिपादित किये गये धर्म के साथ काल, आत्म-रूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द द्वारा अभेदवृत्ति करके या उनमें अभेद का उपचार करके उन समस्त धर्मों का प्रतिपादक होता है—उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु संबंधी बोध का जनक होता है—वह सकलादेशरूप प्रमाणवाक्य है। यह तो हम जान चुके हैं कि वस्तु अनन्त धर्मों का एक पिण्ड है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों को प्रतिपादन करने के लिये अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। तभी वह वस्तु पूर्णरूप से कही जा सकती है—एक शब्द द्वारा तो उसका एक ही धर्म प्रतिपादित हो सकता है। इससे वस्तु का प्रतिपादन अधूरा

ही रह जाता है और इस तरह लोक व्यवहार निर्दोष रूप से नहीं चल सकता है। अतः अबाधरूप से लोक व्यवहार चलता रहे और वस्तु का प्रतिपादन भी पूर्णरूप से हुआ मान लिया जावे—इसके लिए यह सकलादेशरूप युक्ति काम में लाई गई है। इससे हमें वस्तु के पूर्णरूप से प्रतिपादन करने में यह सहारा मिला कि जिस एक वस्तुगत धर्म को हम मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हैं उस एक धर्म से ही हम शेष बचे हुए धर्मों को अभिन्न मान लेते हैं। इस प्रकार एक धर्म के प्रतिपादित होने पर उस वस्तु का उस शब्द द्वारा पूर्णरूप से प्रतिपादन हो गया मान लिया जाता है। इसे यों समझना चाहिये—हमें अस्तित्व धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद करना है तो वह इस प्रकार से होगा—घटादि पदार्थ में जिस काल में अस्तित्व है उसी काल में उसमें अन्य धर्म भी हैं, यह काल की अपेक्षा अस्तित्व के साथ अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति या अभेद का उपचार है। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म घट-पटादि पदार्थ का स्वभाव है उसी प्रकार अन्य धर्म भी उसके स्वभाव हैं, यह स्वभाव की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार है। जिस प्रकार घटादि पदार्थ अस्तित्व धर्म के आधारभूत हैं उसी प्रकार से वे अन्य धर्मों के भी आधारभूत हैं, यह अर्थ की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार है। जिस प्रकार घटादि पदार्थ का और अस्तित्व धर्म का तादात्म्य सम्बन्ध है वही सम्बन्ध अन्य धर्मों का उस घटादि पदार्थ के साथ है, यह सम्बन्ध की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार है। अस्तित्व धर्म के द्वारा जो अपने स्वरूप में अनुरागरूप उपकार किया जाता है वही उपकार शेष धर्मों द्वारा भी किया जाता है, यह उपकार की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार है। इसी प्रकार से गुणि देश, संसर्ग और शब्द की अपेक्षा भी अभेद वृत्ति या अभेदोपचार समझ[1] लेना चाहिये। अभेदवृत्ति द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से होती है और अभेद का उपचार पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से होता है। इस तरह अनन्तधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाला प्रमाणवाक्य कहा गया है। इसी का नाम सकलादेश है ॥२६॥

विकलादेश का स्वरूप :—

सूत्र—एकधर्ममुखेन भेदं कृत्वा वस्तु प्रतिपादकवाक्यत्वं विकलादेशत्वम् ॥२७॥

व्याख्या—वस्तुगत अनन्त धर्मों को भिन्न-भिन्न मानकर किसी एक धर्म की प्रधानता करके वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेशक कहा गया है। जैसे—"जीवः स्यादस्तिरूपः" स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा जीव अस्तित्व धर्मविशिष्ट है। यहाँ जीव द्रव्य के अनन्त धर्मों में एक अस्तित्व धर्म को लेकर उसका उसके द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यही नयवाक्य है और इसी का नाम विकलादेशक है ॥ २७ ॥

ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था :—

सूत्र—विषयाजन्यमपि ज्ञानं स्वावरणक्षयोपशमादिना तं प्रदीपवत्प्रकाशयति ॥ २८ ॥

अर्थ—ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता है फिर भी वह अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम आदि से विशिष्ट होकर उस पदार्थ को प्रदीप की तरह प्रकाश करता है।

व्याख्या—किन्हीं दार्शनिकों का ऐसा मन्तव्य है कि जिस पदार्थ को ज्ञान जानता है वह उस पदार्थ से उत्पन्न हुआ होता है, नहीं तो वह उसे नहीं जान सकता और पदार्थ उत्पन्न नहीं होकर भी ज्ञान यदि पदार्थों को जानने वाला कहा जावे तो फिर ऐसे ज्ञान से प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। अतः पदार्थ से उत्पन्न होकर ही ज्ञान उस पदार्थ को जानता है। ऐसा मानना चाहिये। इसके ऊपर

---

१. इसके लिए न्यायरत्नावली टीका को देखना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जैन दार्शनिकों ने यह सूत्र कहा है। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार दीपक घटादिक पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता है फिर भी उनका वह प्रकाशक होता है। इसी प्रकार ज्ञान भी विषय—ज्ञेय—घटादिकों से उत्पन्न नहीं होता है फिर भी उनका प्रकाशक—जानने वाला होता है। ज्ञान में जैसा-जैसा आवरण कर्म का क्षयोपशम होता है ज्ञान वैसा-वैसा उन-उन पर पदार्थों को जानता है और इसी से पदार्थ की प्रतिनियत व्यवस्था होती है। पट-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से पट-ज्ञान पट को जानता है और घट-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से घट-ज्ञान घट को जानता है। घट को जानते समय पट-ज्ञान को आवृत करने वाला पट-ज्ञानावरण कर्म मौजूद है तो वह घट-ज्ञान उस समय पट को नहीं जान सकता है ॥ २८ ॥

सूत्र—न ते तदंगे तयोर्व्यस्त सामस्त्येन व्यभिचरितत्वात् ॥२९॥

अर्थ—तदुत्पत्ति और तदाकारता ये दोनों ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था कराने में कारण नहीं हैं। क्योंकि स्वतन्त्र तदुत्पत्ति में और स्वतन्त्र तदाकारता में तथा तदुत्पत्ति-तदाकारता दोनों में व्यभिचार पाया जाता है।

व्याख्या—ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना यह तदुत्पत्ति है। ज्ञान का पदार्थ के आकार होना तदाकारता है। बौद्ध सिद्धान्त इन दोनों से ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था होना मानते हैं। उनका कहना है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है और उसी के आकार होता है वह उसी पदार्थ को जानता है, अन्य को नहीं। इसलिये ऊपर जो प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था में कारण आवरण कर्म की क्षयोपशम रूप शक्ति प्रकट की गई है वह ऐसी व्यवस्था नहीं करती है। ऐसे बौद्ध अभिमत का ही इस सूत्र द्वारा विचार किया गया है। इसमें यह समझाया गया है कि बौद्धों की ही मान्यता के अनुसार पूर्वक्षणज्ञान उत्तरक्षणज्ञान को उत्पन्न करता है अतः उसमें तदुत्पत्ति-तदाकारता होने पर भी वह उत्तरक्षणज्ञान पूर्वक्षणज्ञान का व्यवस्थापक नहीं माना गया है। इस तरह इनमें प्रत्येक में और दोनों में व्यभिचारिता आती है। अतः स्वावरणक्षयोपशमरूपशक्ति के कारण ही ज्ञान प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था करता है, यही सिद्धान्त निर्दोष है ॥२९॥

प्रमाण का विषय :—

सूत्र—प्रमाणविषयीभूतोऽर्थः सामान्य-विशेषाद्यनेकान्तात्मकः ॥३०॥

व्याख्या—प्रमाणभूत ज्ञान का विषय सामान्य एवं विशेष आदि धर्मों वाला पदार्थ होता है।

कोई अन्यतीर्थिक जन प्रमाण का विषय केवल सामान्य धर्म वाले पदार्थ को ही मानते हैं, कोई अन्यतीर्थिक केवल विशेष धर्म वाले पदार्थ को ही मानते हैं—तब कि जैन दर्शन सामान्य और विशेष धर्म से—दोनों से—युक्त हुए अनेकान्तात्मक पदार्थ को प्रमाणभूत ज्ञान का विषय मानता है। यही बात ऊपर के सूत्र द्वारा पुष्ट की गई है। क्योंकि सामान्य को छोड़कर विशेष और विशेष को छोड़कर सामान्य स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व नहीं रखते हैं। सामान्य और विशेष—ये पदार्थ के निज धर्म हैं ॥३०॥

स्वतन्त्र पदार्थ रूप नहीं है, पदार्थ में सामान्य-विशेषात्मकता समर्थन :—

सूत्र—अनुवृत्तव्यावृत्त प्रतीति विषयत्वात् पूर्वोत्तराकार - हानोपादानावस्थानलक्षण - परिणत्यार्थक्रियाकारित्वाच्च ॥३१॥

अर्थ—प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष धर्म वाला है, क्योंकि वह अनुगतप्रतीति का और विशिष्टाकारप्रतीति का विषय होता है। तथा पूर्व-आकार के त्यागरूप और उत्तर-आकार के धारण करने रूप एवं इन दोनों पर्यायों में मौलिक रूप से अवस्थान होने रूप परिणमन से अर्थक्रियाकारिता उसमें

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देखी जाती है। इस कारण भी वह सामान्य विशेष आदि अनेक धर्मों वाला है। यदि पदार्थ ऐसा न हो तो वह प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

व्याख्या—अनेक पदार्थों में एक सी प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही शब्द का वाच्य बनाने वाला धर्म अनुवृत्तप्रतीति—अनुगतप्रतीति कहलाती है। जैसे—अनेक गायों में यह भी गाय है, यह भी गाय है, इस प्रकार का ज्ञान और शब्द प्रयोग कराने वाला गोत्व धर्म होता है। यही सामान्य धर्म है। तथा एक ही जाति वाले पदार्थों में भिन्नता की—विशिष्टाकारता की—प्रतीति कराने वाला धर्म व्यावृत्तप्रतीति कहलाती है। जैसे गोत्व विशिष्ट गायों में यह नीली गाय है और काली से यह भिन्न है। चूंकि इस प्रकार की प्रतीति पदार्थों में होती है अतः पदार्थ सामान्य विशेष दोनों धर्मों वाले हैं, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में पूर्व आकार का विनाश, उत्तराकार उत्पाद और इन दोनों अवस्थाओं में मूल पदार्थ का अवस्थान देखा जाता है अतः उत्पाद-व्यय से पदार्थ में विशेष धर्मात्म का और ध्रौव्य रूप से सामान्यरूपता सिद्ध हो जाती है। इस कारण पदार्थ न केवल सामान्यरूप ही है और न केवल विशेषरूप ही है किन्तु परस्पर सापेक्ष सामान्य-विशेषरूप ही है और ऐसा ही वह प्रमाण का विषय होता है ॥३१॥

सामान्य के भेद :—

सूत्र—सामान्यं द्विविधं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यभेदात् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—सामान्य दो प्रकार का होता है—एक तिर्यक् सामान्य और दूसरा उर्ध्वता सामान्य। जो अपनी पूर्व और उत्तरवर्ती पर्याय में समान रूप से रहता है वह उर्ध्वता सामान्य है। जैसे—मृत्तिका, कपाल, कोश, कुशूल आदि समस्त अपनी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती पर्यायों में एकरस होकर रहती है। अतः यह उर्ध्वता सामान्य रूप है तथा जो अपने-अपने व्यक्तियों में समान परिणाम वाला होता है वह तिर्यक् सामान्य हैं। जैसे—खंडी, मुण्डी, गाय आदिकों में युगपत रहने वाला गोत्वधर्म ॥ ३२ ॥

तिर्यक् सामान्य का लक्षण :—

सूत्र—सदृश परिणामरूपं तिर्यक् सामान्यम् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—जो सामान्य समान परिणाम रूप होता है वह तिर्यक् सामान्य कहा गया है। ३१वें सूत्र द्वारा इसका भाव स्पष्ट कर दिया गया है ॥ ३३ ॥

सूत्र—पूर्वापर विवर्त्त व्याप्यूर्ध्वता सामान्यम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—जो सामान्य अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहता है वह उर्ध्वता सामान्य है। इसका भी भाव ३१वें सूत्र द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है ॥ ३४ ॥

विशेष का कथन :—

सूत्र—गुण-पर्याय भेदाद्विशेषोऽपि द्विविधः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—गुण और पर्याय के भेद से विशेष भी दो प्रकार का होता है। यह पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि परस्पर में जो भिन्नता की बुद्धि का जनक होता है वह विशेष है। यह विशेष गुण और पर्याय के भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥ ३५ ॥

सूत्र—अभिन्नकालवर्तिनः सुखज्ञानादयो गुणाः, भिन्नकालवर्तिनश्च सुख - दुःखादयः पर्यायाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो द्रव्य में एक साथ एक ही काल में ऐसे सुख, ज्ञानादिक गुणरूप विशेष हैं और जो द्रव्य में एक ही काल में एक साथ नहीं रहते हैं ऐसे दुःख-सुख आदि परिणाम पर्याय रूप विशेष है ॥ ३६ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

पंचम अध्याय

प्रमाण फल का विचार :—

सूत्र—प्रमागसाध्यमज्ञाननिवृत्यादिकं तत्फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप जो होता है वही प्रमाण का फल है क्योंकि यह प्रमाण के द्वारा ही साध्य होता है।

व्याख्या—प्रथम अध्याय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इस ग्रन्थ में सूत्रकार ने प्रमाण के स्वरूप का, उसके भेदों का और उसके विषय का बहुत ही अच्छी तरह से निरूपण किया है। अब वे इस पंचम अध्याय द्वारा प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मान्य उस प्रमाणभूत ज्ञान के फल का विचार कर रहे हैं। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि प्रमाण से जब तक पदार्थ नहीं जाना जाता है तब तक उसका नहीं जानने वाले अज्ञान बना रहता है और ज्यों ही ज्ञाताजन पदार्थ को प्रमाण से जान जाते हैं तब यह जाननारूप प्रमिति जो कि उस पदार्थ विषयक अज्ञाननिवृत्तिरूप हुई है, प्रमाण का ही साक्षात फल कहलाता है क्योंकि ये और किसी आलोकादि कारणों से नहीं हुई है। आलोकादिक भले ही उस पदार्थ के जानने में सहायक हों पर वे ज्ञान की तरह वहाँ साधकतम नहीं होते हैं इसलिये अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम—अन्तिम करण—ज्ञान को कहा गया है और यही प्रमिति क्रिया उसका साक्षात्फल कहा गया है ॥ १ ॥

प्रमाण फल के भेद :—

सूत्र—साक्षात्परम्पराभेदात्तद् द्विविधम् ॥ २ ॥

अर्थ—साक्षात् फल और परम्परा फल के भेद से प्रमाण-फल दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—प्रमाण के द्वारा वस्तु के जान लेने पर उसके अभी तक रहे अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है—यही प्रमाण का साक्षात् फल है फिर इस अज्ञाननिवृत्ति के बाद उस वस्तु के प्रति ज्ञाता का भाव यदि उसे ग्रहण करने का होता है तो वह उसे ग्रहण कर लेता है, और यदि उसके परित्याग करने का होता है तो वह उसे छोड़ देता है तथा यदि वह उसे ग्रहण और त्यक्त नहीं करना चाहता है तो उसके प्रति वह माध्यस्थ भाव वाला बन जाता है। यही प्रमाण का परम्परा फल है क्योंकि यह फल साक्षात् फल के बाद हुआ है इसे फल का भी फल कहा जा सकता है ॥ २ ॥

साक्षात् फल का स्वरूप :—

सूत्र—सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः साक्षात्फलम् ॥ ३ ॥

व्याख्या—समस्त प्रमाणभूत ज्ञानों का साक्षात्फल तो अपने-अपने विषय के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने रूप है अर्थात् चाहे प्रत्यक्ष ज्ञान हो चाहे परोक्ष ज्ञान हो इन सबका साक्षात् फल तो यही है कि इन ज्ञानों के विषयभूत बन जाने पर उस-उस पदार्थ में जो संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप जो अज्ञान

चला आ रहा था वह नष्ट हो जाता है और यह अमुक पदार्थ है, अमुक जाति का है और अमुक नाम का है, ऐसा बोध हो जाता है। बस, इसी का नाम अज्ञाननिवृत्ति है और यही प्रमाण का साक्षात् फल है ॥ ३ ॥

परम्परा फल :—

सूत्र—केवलं विहाय प्रमाणानां परम्परा फलं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः ॥ ४ ॥

व्याख्या—केवलज्ञान के सिवाय और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि समस्त ज्ञानों का परम्परा फल ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करना त्याज्य पदार्थों को छोड़ना और उपेक्षणीय पदार्थों में उपेक्षाभाव धारण करना होता है ॥ ४ ॥

केवलज्ञान का परम्परा फल :—

सूत्र—युगपत्सकलपदार्थ-साक्षात्कारितया तस्य व्यवहित फलमुपेक्षाबुद्धिरेव ॥ ५ ॥

अर्थ—एक ही काल में समस्त मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थों का साक्षात्कारी होने के कारण केवलज्ञान का परम्परा फल उपेक्षाबुद्धि—माध्यस्थ्यभाव ही है।

व्याख्या—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के सर्वथा विनाश से आत्मा में एक ऐसे ज्ञान का विकास होता है कि जिसके बल पर आत्मा एक ही साथ समस्त त्रिभुवनोदरवर्ती पदार्थों ज्ञाता द्रष्टा बन जाता है। वीतरागी होने के कारण इन्हें किसी पदार्थ को ग्रहण करने की एवं छोड़ने की बुद्धि नहीं होती है किन्तु सभी पदार्थों पर इनका माध्यस्थ्यभाव रहता है अतः केवलज्ञान का परम्परा फल उपेक्षाबुद्धिरूप ही कहा गया है ॥ ५ ॥

प्रमाण और उसके फल में कथञ्चित् भेदाभेद का कथन—

सूत्र—प्रमाणात्तत्फलं कथंचिदभिन्नं भिन्नं चेति ॥६॥

व्याख्या—प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न भी है और कथञ्चित् भिन्न भी है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रमाण और फल की व्यवस्था नहीं बन सकती है। तात्पर्य इस कथन का यही है कि प्रमाण और उसका फल किसी दृष्टि से एक ही प्रमाता आत्मा में ये दोनों तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं इस अपेक्षा से अभिन्न हैं, तथा इनमें साध्य-साधन भाव है, इस अपेक्षा से ये भिन्न भी हैं ॥६॥

इसी का स्पष्टीकरण—

सूत्र—एक प्रमातृ तादात्म्येन, कार्यकारणभावेन च प्रमाण फलयोः कथञ्चिदेकत्वानेकत्वम् ॥७॥

व्याख्या—छठवें सूत्र में जो कहा गया है उसी का स्पष्टीकरण इस सूत्र द्वारा किया गया है। इसके द्वारा यही समझाया गया है कि प्रमाण और उसका फल चाहे वह साक्षात्फल हो चाहे परम्परा फल हो एक प्रमाता आत्मा में तादात्म्य संबंध से रहने के कारण अभिन्न है क्योंकि जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही उसका परित्याग करता है और वही उसकी उपेक्षा करता है तथा उसी का उस वस्तु विषयक अज्ञान दूर होता है। प्रमाण और उसके फल में अनेकता—भिन्नता इसलिये हैं कि प्रमाण और उसके फल में कार्यकारण सम्बन्ध है। प्रमाण कारण है और अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप फल उसका कार्य है ॥७॥

प्रकारान्तर से इसी का समर्थन—

सूत्र—प्रमाणतया परिणतस्य वात्मनः फलत्वेन परिणति सद्भावात् ॥८॥

व्याख्या—अर्थ—प्रमाणरूप से परिणत आत्मा का ही फल से परिणमन होता है। इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने प्रकारान्तर से प्रमाण और उसके फल में किसी अपेक्षा भिन्नता और किसी अपेक्षा अभिन्नता साधित की है। इसमें यह समझाया गया है कि स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रकार के ज्ञानरूप से परिणमन आत्मा का ही होता है, इन्द्रियादिकों का नहीं। क्योंकि आत्मा प्रमाता है, वही ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानती है। पदार्थों का जाननारूप जो परिणमन आत्मा का हुआ है वही तो अज्ञाननिवृत्ति है और इस अज्ञाननिवृत्ति का परिणमन हान, उपादान और उपेक्षा-बुद्धि रूप है। इस तरह ज्ञानरूप प्रमाण का और उसके फल का तादात्म्य सम्बन्ध एक उसी आत्मा के साथ है कि जिस आत्मा में प्रमाणरूप ज्ञान ने ज्ञेयविषयक अज्ञान की निवृत्ति रूप साक्षात्फल और हानादि रूप परम्परा फल को उत्पन्न किया है। इसके अर्थ को और विशेष रूप से जानने के लिये न्याय-रत्नावली टीका देखनी चाहिये ॥८॥

सूत्र—अन्यथा स्वेतर-प्रमाण फलव्यवस्था न स्यात् ॥९॥

व्याख्या—प्रमाण और फल के विषय में जैसी व्यवस्था दी गई है यदि वह वैसी न मानी जावे तो फिर स्वकीय और परकीय प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। तात्पर्य इस कथन का यही है कि प्रमाण और फल जब परस्पर में सर्वथा भिन्न माने जावेंगे तो जिस प्रकार जिनदत्त की आत्मा में विद्यमान प्रमाण और फल में भिन्नता है उसी प्रकार से वह भिन्नता उन दोनों की देवदत्त की आत्मा से भी है तो फिर ये प्रमाण और फल जिनदत्त की आत्मा के हैं, देवदत्त की आत्मा के नहीं हैं ऐसा सम्बन्ध व्यवहार कैसे हो सकता है ? तथा सर्वथा प्रमाण फल को अभिन्न मानने में यह प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वथा एकत्व में दो का सद्भाव नहीं होता है, एक का ही होता है ॥९॥

सूत्र—स्व-पर-निश्चये साधकतमत्वात्साक्षात्फलं प्रमाणस्यैवकरणत्वम् ॥१०॥

अर्थ—स्व और पर के निश्चय में साधकतम होने के कारण, साक्षात्फल में प्रमाण को ही कारणता है।

व्याख्या—साक्षात्फल और प्रमाणरूप ज्ञान में कार्य-कारण भाव होने से कथंचित् भिन्नता का कथन सातवें सूत्र द्वारा किया गया है। सो इसी बात के समर्थन के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की है। अज्ञाननिवृत्ति कराना यही प्रमाण का साक्षात्फल है। इसके प्रति साक्षात्करणता प्रमाणरूप ज्ञान में ही आती है। इसलिये इस अपेक्षा उन दोनों में कथंचित् भिन्नता कही गई है ॥१०॥

सूत्र—तत्तु प्रमाण निष्पाद्यत्वात्कार्यम् ॥११॥

व्याख्या—वह अज्ञाननिवृत्तिरूप फल—कार्य—इसलिये माना गया है कि वह प्रमाणभूत ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है जिस प्रकार छिदि-क्रिया यद्यपि कुठार से ही जन्य होती है और उसमें कथञ्चित् भिन्नता मानी जाती है ॥११॥

क्रिया-क्रियावान् में कथञ्चित् भिन्नता-अभिन्नता का कथन—

सूत्र—क्रिया क्रियावतोर्मिथः स्याद्भिन्नत्वाभिन्नत्वमेव प्रमातुरर्पितस्मादनेकान्तो नेयः ॥१२॥

व्याख्या—क्रिया और क्रियावान् में सर्वथा न भिन्नता ही है और न सर्वथा अभिन्नता ही है किन्तु कथञ्चित् भिन्नता और कथञ्चित् अभिन्नता है। इसी प्रकार की मान्यता क्रिया की आत्मा—प्रमाता के

साथ भी समझ लेना। इस प्रकार प्रमाता—आत्मा से अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप क्रिया कथञ्चित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ऐसा अनेकान्त इन दोनों में सुस्थापित हो जाता है ॥१२॥

प्रमाण फल-व्यवहार में वास्तविकता :—

सूत्र—प्रमाणफलव्यवहारोऽवितथोऽभिप्रेतानाभिप्रेत साधन दूषणत्वान्यथानुपपत्तेः ॥१३॥

अर्थ—यह प्रमाण है और यह प्रमाण का फल है ऐसा जो व्यवहार है, वह पारमार्थिक है। यदि ऐसा न माना जावे तो फिर स्व-पक्ष की सिद्धि और पर-पक्ष का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

व्याख्या—प्रमाण और फल व्यवहार को कितनेक दार्शनिकों ने काल्पनिक माना है। सो उनका ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि वे अपने इस पक्ष की सिद्धि विना प्रमाण प्रस्तुत किये कैसे कर सकते हैं। प्रमाण मिथ्या है और प्रमाण का फल मिथ्या है ऐसी मान्यता माध्यमिक शून्यवादी की है ॥१३॥

प्रमाणाभासादि का कथन—

सूत्र—तत्तल्लक्षणादिविहीनं तत्तद्व्यवभासते तत्तदाभासं तच्चतुर्विधं स्वरूप-संख्या-विषय-फलाभास भेदात् ॥१४॥

व्याख्या—प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल जैसा कहा जा चुका है उससे भिन्न प्रमाण का स्वरूप मानना जैसा कि अन्य सिद्धान्तकारों ने कहा है वह प्रमाणस्वरूपाभास है। प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों के अतिरिक्त और प्रमाण के भेदों की मान्यता प्रमाण संख्याभास है। प्रत्येक प्रमाण के सामान्य और विशेषरूप विषय के सिवाय स्वतन्त्र सामान्य या विशेष को विषय करने वाला प्रमाण है ऐसी मान्यता प्रमाण विषयाभास रूप है। तथा जो प्रमाण का फल कहा गया है वह उससे सर्वथा भिन्न या सर्वज्ञा अभिन्न है, ऐसा मानना प्रमाण फलाभासरूप है। इस तरह अपने स्वरूप, संख्या, विषय और फल की अयथार्थता के कारण प्रमाणाभास चार प्रकार का हो जाता है ॥१४॥

प्रमाण स्वरूपाभासों का नाम निर्देश—

सूत्र—प्रमाणस्वरूपाभासा अज्ञानात्मकानात्मप्रकाशक - स्वमात्रावभासक - निर्विकल्प समारोपाः ॥१५॥

व्याख्या—१४वें सूत्र द्वारा जो प्रमाणाभास चार प्रकार का कहा है सो उसी के प्रथम भेद रूप प्रमाणस्वरूपाभास के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण इस सूत्र द्वारा किया गया है। यहाँ यह समझाया गया है कि सन्निकर्ष आदि को जो कि अज्ञानरूप हैं प्रमाण का स्वरूप मानना, स्व को अथवा पर को न जानने वाले ज्ञान को प्रमाण मानना, अनिश्चयात्मक ज्ञान अथवा दर्शन को प्रमाण कहना या समारोप को प्रमाण कहना यह सब प्रमाण का स्वरूपाभास है। जो प्रमाण के लक्षण से तो हीन होता है और प्रमाण के जैसा प्रतीत होता है वह प्रमाण स्वरूपाभास है। प्रमाणस्वरूपाभास से स्व और पर का निर्णय नहीं होता है। प्रमाण का स्वरूप स्व और पर का यथार्थ निर्णय करना कहा गया है। सन्निकर्ष ज्ञानरूप नहीं है इसलिये वह प्रमाण स्वरूपाभास है। अनात्म प्रकाशक ज्ञान स्व का व्यवसायक नहीं है। इसलिये वह प्रमाणस्वरूपाभास है। स्वमात्रावभासक ज्ञान पर का व्यवसायात्मक नहीं है इसलिये वह प्रमाणस्वरूपाभास है। निर्विकल्पक दर्शन और समारोप ये पदार्थ के निश्चायक नहीं हैं इसलिये स्वरूपाभास हैं ॥१५॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास—

सूत्र—सांव्यवहारिकप्रत्यक्षलक्षणरहितं तद्वदवभासमानं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभासम् ॥१६॥

व्याख्या—जो ज्ञान वास्तव में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो नहीं है किन्तु उस जैसा ज्ञात होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। इसके इन्द्रियज सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों से जो पदार्थ का एकदेश विशद-निर्मल ज्ञान होता है वह इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इससे विपरीत इन्द्रियों द्वारा मेघों में जो गन्धर्वनगर का ज्ञान होता है वह इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है। इसी प्रकार जो मन की सहायता से ज्ञान होता है। जैसे कि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इत्यादि वह अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक है। इससे विपरीत सुख में दुःख का ज्ञान और दुःख में सुख का ज्ञान जो होता है वह अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है ॥१६॥

पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास—

सूत्र—मनःपर्ययकेवलज्ञानादृते विकलं पारमार्थिक प्रत्यक्षाभासम् ॥१७॥

व्याख्या—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीन ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया है। इनमें मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये दो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास नहीं होते हैं। मिथ्यात्वयुक्त अवस्था में जीवों के होने वाले ज्ञान ही तदाभास रूप होते हैं। मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं होते हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के ही होते हैं। इसलिये इन्हें तदाभासरूप नहीं कहा गया है। अवधिज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष में परिगणित हुआ है। और जब यह मिथ्यादृष्टि जीव के होता है तब इसका नाम विभंगज्ञान कहा गया है। शिवराजर्षि ने इसी विभंग के प्रभाव से असंख्यात द्वीप-समुद्रों से युक्त भी इस मध्यलोक को केवल सात द्वीप-समुद्रों से युक्त कहा है। यह विभंगज्ञान का ही प्रभाव है। यह विभंग पारमार्थिकप्रत्यक्षाभास का उदाहरण है ॥१७॥

स्मरणाभास—

सूत्र—अननुभूते वस्तुनितिदितिज्ञानं स्मरणाभासम् ॥१८॥

व्याख्या—जिसका पहले इस पर्याय में कभी अनुभवन न हुआ हो उस वस्तु में "वह" ऐसा ज्ञान होना स्मरणाभास है। यह तो निश्चित है कि स्मरणज्ञान अनुभूत वस्तु में ही होता है फिर भी जिस पदार्थ को पहले कभी नहीं देखा है उसे स्मरण का विषय बनाना यही स्मरणाभास है ॥१८॥

प्रत्यभिज्ञानाभास—

सूत्र—समान वस्तुनि तदेवेदमित्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥१९॥

व्याख्या—समान आकार वाले पदार्थ में यह वही है ऐसा ज्ञान होना इसका नाम प्रत्यभिज्ञानाभास है। यह पहले प्रत्यभिज्ञान के लक्षण में प्रकट कर दिया गया है कि अनुभवरूप प्रत्यक्ष और स्मृति से जो जोड़रूप ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम प्रत्यभिज्ञान है। और यह प्रत्यभिज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, एकत्व प्रत्यभिज्ञान आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। जहां सादृश्य की प्रतीति में एकत्व की प्रतीति हो वह एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे—देवदत्त और यज्ञदत्त आकार में समान हों तो वहां देवदत्त को देखकर ऐसा कहना कि यह वही यज्ञदत्त है। यह एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास का उदाहरण है। जहां एकत्व की प्रतीति में सादृश्य की प्रतीति हो वहां सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास होता है। जैसे—'यह वही है' इस प्रतीति के स्थान में 'यह उसके समान है' ऐसी प्रतीति होना इत्यादि ॥१९॥

तर्काभास—

सूत्र—असत्यामपि व्याप्तौतद्ग्राहकस्तर्काभास ॥२०॥

व्याख्या—व्याप्ति न होने पर भी व्याप्ति का ग्रहण करने वाला तर्क तर्काभास कहा गया है। तर्क का लक्षण प्रकट करते समय यह बताया गया है कि साध्य साधन की व्याप्ति का जो ग्रहण करने वाला ज्ञान है वही तर्क है। परन्तु जहां पर यह लक्षण घटित नहीं होता है। अर्थात् व्याप्तिशून्य साध्य साधन में जो व्याप्ति ग्रहण करता है। जैसे—"गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामो भविष्यति मैत्रतनयत्वात्" मैत्र का पुत्र होने से गर्भस्थ मैत्रपुत्र काला होगा। क्योंकि जो-जो मैत्र-पुत्र होता है वह काला होता है सो ऐसी व्याप्ति ग्रहण करने वाला ज्ञान तर्काभास है। क्योंकि मैत्र-पुत्र के साथ काले होने की व्याप्ति नहीं है ॥२०॥

अनुमानाभास—

सूत्र—पक्षाभासादिजं ज्ञानमनुमानाभासम् ॥२१॥

व्याख्या—तर्काभास का निरूपण करके अब सूत्रकार इस सूत्र द्वारा अनुमानाभास का निरूपण करते हैं। पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये अनुमान के पांच अंग हैं। इनमें किसी भी एक अंग के लक्षण के मिथ्या होने पर अनुमान अनुमानाभास हो जाता है। जैसे—साध्य का लक्षण जो अप्रतीत, अनिराकृत, और अभीप्सित होता है वह साध्य है ऐसा कहा गया है। इनमें से यदि प्रतीत, निराकृत और अनभीप्सित साध्य से विशिष्ट पक्ष है तो वह पक्षाभास है, वास्तविक पक्ष नहीं है। क्योंकि साध्य से विशिष्ट ही तो पक्ष होता है। जब साध्य ही सदोष है तो उसका जो आधारभूत स्थान है—पक्ष है, वह निर्दोष कैसे रह सकता है ? सूत्र में जो आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास, उपनयाभास और निगमनाभास का ग्रहण हुआ है। इन सब आभासों का कथन सूत्रकार स्वयं आगे करने वाले हैं। अतः यहां पर इनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है ॥२१॥

सूत्र—प्रतीत बाधितानभिमत साध्य धर्म विशेषणभेदात्त्रिविधः पक्षाभासः ॥२२॥

व्याख्या—पक्षाभास तीन प्रकार का है—(१) प्रतीत साध्य धर्म विशेषण वाला (२) बाधित साध्य धर्म विशेषण वाला और (३) अनभीप्सित साध्य धर्म विशेषण वाला। इनमें जब कोई जैन मान्यता वालों के समक्ष ऐसा कहता है कि "अस्ति जीवः" जीव है। यहां पक्ष जीव है और "अस्ति" है—यह साध्य है तो उसका ऐसा कथन जैनों को प्रतीत होने के कारण प्रतीत साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास बन जाता है। हां यदि यहां पर प्रयोक्ता ऐसा कहता कि जीव अस्तित्व धर्म विशिष्ट ही है तो ऐसी एकान्त मान्यता जैनों की नहीं है। अतः वह प्रतीत साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास नहीं होता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि "वह्निरनुष्ण" अग्नि अनुष्ण— ठंडी है। यहां पर वह्नि पक्ष है और अनुष्णत्व साध्य है। पर वह्निरूप पक्ष में अनुष्णत्वरूप साध्य स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः यह पक्ष-बाधित साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास है। इसी प्रकार जब कोई जैन धर्मानुयायी ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है या अनित्य ही है तो उसका यह कथन अनभीप्सित साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास की कोटि में आता है। क्योंकि जैन मान्यता प्रत्येक पदार्थ को अनेकधर्मात्मक मानती है। इस तरह जो पक्ष प्रसिद्ध साध्य धर्म वाला, बाधित साध्य धर्म वाला और अनिष्ट साध्य धर्म वाला होता है वह पक्षाभास हो जाता है ॥२२॥

बाधित साध्य धर्म विशेषण पक्षाभास के भेद—

सूत्र—बाधितसाध्यधर्मविशेषणपक्षाभासः साध्यस्य प्रत्यक्षादिभिर्निराकरणादनेकविधः ॥२३॥

व्याख्या—पूर्वोक्त रूप से जो पक्षाभास तीन प्रकार के कहे गये हैं—उनमें से द्वितीय पक्षाभास जो बाधितसाध्यधर्मविशेषण वाला है उसके इस सूत्र द्वारा अनेक भेद प्रकट किये गये हैं। इनमें प्रत्यक्ष से, अनुमान से, आगम से, लोक से और स्ववचन से जिस पक्ष का साध्य निराकृत होता है वह उस नाम का निराकृत साध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास होता है। प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास और अनभीप्सित साध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास के भेद नहीं होते हैं। जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द पौद्गलिक नहीं है क्योंकि वह आकाश का गुण है तो ऐसी प्रतिज्ञा में शब्दरूप पक्ष श्रवण-प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य होने के कारण अपौद्गलिक साध्य से शून्य होता है। इसलिये वह प्रत्यक्ष से बाधित साध्यधर्मविशेषण वाला होने से पक्षाभास हो जाता है। इसी तरह अन्य अनुमान आदि निराकृत साध्य-धर्मविशेषण वाले पक्षाभासों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये। सूत्रकार स्वयं इनका खुलासा आगे के सूत्रों द्वारा कर रहे हैं ॥२३॥

प्रत्यक्ष निराकृतसाध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास—

सूत्र—वन्हिरनुष्णो द्रव्यत्वाज्जलवदिति ॥२४॥

व्याख्या—जिस पक्ष का साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है वह प्रत्यक्ष निराकृत साध्य धर्म वाला पक्षाभास है। जैसे—अग्नि ठंडी है क्योंकि वह द्रव्य है। यहां अग्नि पक्ष और ठण्डी साध्य है। पर यह साध्य स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है क्योंकि उससे तो वह उष्ण ही प्रतीत होती है अतः अग्निरनुष्णः यह प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष निराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभासवाली है। ॥२४॥

अनुमान निराकृत साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास—

सूत्र—नास्ति सर्वज्ञः वक्तृत्वाद्रथ्या पुरुषवदिति ॥२५॥

व्याख्या—जिस पक्ष का साध्य अनुमान प्रमाण से बाधित होता है वह अनुमान निराकृतसाध्य धर्मविशेषण पक्षाभास है। जैसे जब कोई ऐसा कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वक्ता है तो यहां पर "सर्वज्ञ" पक्ष है और "नहीं है" साध्य है। पर यह साध्य "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिता संभवाद्वाधकप्रमाणत्वात्" अपने पक्ष में अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है। इसलिये सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा यह पक्ष सर्वज्ञ है इस अनुमान द्वारा बाधित हो जाने के कारण अनुमानबाधित साध्यधर्मविशेषपक्षाभास रूप है ॥२५॥

आगम निराकृत साध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास—

सूत्र—धर्मः प्रेत्यदुःखदो जीवाधिष्ठितत्वाद अधर्ववदिति ॥ २६ ॥

व्याख्या—यह पक्षाभास वहीं पर होता है जहां पर आगम से निराकृत साध्य होता है। जैसे जीवाधिष्ठित होने के कारण पाप की तरह धर्म परलोक में दुःखदाता है ऐसे इस कथन में धर्म पक्ष है और दुःखदत्व साध्य है। यह साध्य पक्ष में आगम से बाधित होता है क्योंकि आगम में धर्म को उभयलोक सुखदायी कहा[1] गया है ॥ २६ ॥

---

१. धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मंबुधाश्चिन्वते, धर्मेणैवसमाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्यमूलं दया धर्मेचित्तमहंदधे प्रतिदिनं, हे धर्म ! मां पालय ॥

लोक निराकृत साध्यधर्मविशेषण वाला पक्षाभास :—

सूत्र—दयाऽनार्याऽऽर्यजनानाचरित्वात् पापवत् ॥ २७ ॥

व्याख्या—जैसे कोई ऐसा कहे कि दया नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह पाप की तरह आर्य पुरुषों द्वारा अनाचरणीय है सो इस प्रकार का कथन लोक व्यवहार से बाधित है। क्योंकि लोक व्यवहार में दया को आचरणीय कहा गया है। अतः दयारूप पक्ष में अनार्यपना लोक व्यवहार से बाधित होने के कारण यह प्रतिज्ञा लोक निराकृत साध्य धर्मविशेषणवाली है ॥ २७ ॥

स्ववचन निराकृतसाध्यधर्म विशेषण वाला पक्षाभास :—

सूत्र—तत्त्वमनिर्देश्यंवक्तुमशक्यत्वात् ॥ २८ ॥

व्याख्या—यह पक्षाभास तब होता है कि जिसमें अपने ही सिद्धान्त का अपने कथन द्वारा व्याघात हो जावे। जैसे—जब सर्वथा अवक्तव्यैकान्तवादी ऐसा कहता है कि वस्तुतत्व शब्दों द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है—अतः वह अनिर्देश्य है सो ऐसा उसका कथन स्ववचनबाधित होने के कारण स्ववचन निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभासरूप है क्योंकि तत्व की अनिर्देश्यता में "तत्त्वमनिर्देश्यं" ऐसा शाब्दिक व्यवहार भी नहीं हो सकता है। नहीं तो अनिर्देश्य शब्द द्वारा निर्देश्य हो जाने के कारण सर्वथा अनिर्देश्य सिद्ध नहीं हो पाता है। इसी प्रकार भोजन करते समय यदि कोई ऐसा कहता है कि मैं मौन से भोजन करता हूँ तो उसका ऐसा कहना भी इसी पक्षाभास के अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ २८ ॥

हेत्वाभास—

सूत्र—असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदाद्धि हेत्वाभासास्त्रिविधाः ॥ २९ ॥

व्याख्या—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक के भेद से हेत्वाभास तीन प्रकार के कहे गये हैं। अनुमानाभास के प्रसङ्ग को लेकर पक्षाभास का कथन करके अब सूत्रकार हेत्वाभास का कथन करते हैं। जो साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाला होता है उसका नाम हेतु है। यही हेतु का निर्दोष लक्षण है। इस लक्षण से रहित हुआ जो हेतु के जैसा प्रतीत हो उसका नाम हेत्वाभास है। हेत्वाभास पूर्वोक्त रूप से तीन प्रकार के होते हैं। हेतु में हेत्वाभासता तभी आती है कि जब उसकी अन्यथानुपपत्ति साध्य के साथ निश्चित नहीं होती। यह असिद्ध हेत्वाभास स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, उभयासिद्ध और संदिग्धासिद्ध आदि के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है। जब कोई ऐसा कहता है कि "शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है। यहाँ पर चाक्षुषत्व हेतु शब्द में स्वरूप से नहीं रह सकने के कारण स्वरूपासिद्ध है क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। आश्रयासिद्ध हेतु वहाँ होता है जहाँ उसका आश्रय किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। जसे यदि कोई ऐसा कहता है कि "वन्ध्यास्तनन्धयोऽस्ति प्रमेयत्वात्" तो यहाँ पर प्रमेयत्व हेतु आश्रयासिद्ध है। अन्यतरासिद्ध हेतु वहाँ होता है कि जब वह वादी प्रतिवादी में किसी एक को असिद्ध होता है। जैसे जब कोई सांख्य के प्रति ऐसा कहता है कि "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह किया जाता है—उत्पन्न होता है तो यहाँ पर कृतकत्व हेतु अन्यतरासिद्ध है क्योंकि सांख्य सिद्धान्त सत्कार्यवादी है अतः उसके सिद्धान्त में किसी की भी उत्पत्ति नहीं मानी गई है। उभयासिद्ध हेतु वहाँ पर होता है कि जब हेतु वादी प्रतिवादी दोनों को मान्य नहीं होता जैसे—यदि ऐसा कहा जाय कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है तो यहाँ पर हेतु वादी प्रतिवादी दोनों को असिद्ध है। संदिग्धासिद्ध हेतु वहाँ होता है जहाँ हेतु के स्वरूप में संदेह होता है। जैसे कोई मुग्धबुद्धि वाला व्यक्ति जब शब्द मूर्धा में उठती हुई वाष्प

को देखता है तो कहता है कि यहाँ पर अग्नि है क्योंकि इसमें से धूम निकल रहा है। उसकी इस बात को सुनकर गुरुजन उससे कहते हैं कि यह धूम नहीं है, यह तो भाप है। वाष्प के होने पर अग्नि नहीं होती। अब वह इस बात को जानकर जब कभी पर्वत में उड़ते हुए धूम को देखता है तो वह उसके स्वरूप में सन्देह-शील बन जाता है और विचारने लग जाता है कि कहीं यह वाष्प तो नहीं है। इस तरह यह हेतु उसकी अपेक्षा संदिग्धासिद्ध कहा गया है, क्योंकि उसके स्वरूप में उसे संदेह है। इसी प्रकार से और भी इस हेत्वाभास के भेद हैं जो प्रमाण मीमांसा आदि ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। जिस हेतु की व्याप्ति साध्य से विरुद्ध के साथ ही होती है उसका नाम विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह किया हुआ होता है। यहाँ पर हेतु की व्याप्ति अपने साध्य से विरुद्ध के साथ ही है। जो हेतु पक्ष सपक्ष में रहता हुआ भी विपक्ष के साथ रहता है वह अनैकान्तिक हेतु है जैसे—यह पर्वत धूमवाला है क्योंकि अग्निवाला है—यहाँ अग्निवाला यह हेतु पर्वतरूप पक्ष और रसोईघर रूप सपक्ष में रहता हुआ भी विपक्ष जो अग्नियुक्त अयोगोलक है उसमे भी रहता है, अतः अनैकान्तिक है। अब सूत्रकार स्वयं इन हेत्वाभासों का स्पष्टीकरण सूत्रों द्वारा करते हैं ॥ २९ ॥

असिद्ध हेत्वाभास—

सूत्र——निश्चितान्यथानुपपत्त्यभावोऽसिद्धोऽनेकोविधः ॥ ३० ॥

अर्थ—अपने साध्य के जिस हेतु की व्याप्ति किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं होती है उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं और यह अनेक प्रकार का है। २९वें सूत्र की टीका के द्वारा ये अनेक प्रकार प्रकट किये ही जा चुके हैं ॥ ३० ॥

विरुद्ध हेत्वाभास—

सूत्र—साध्याभावे नैव निश्चित नियम को विरुद्धः ॥३१॥

व्याख्या—जिस हेतु का अविनाभावरूप नियम अपने साध्य के अभाव के—साध्य से विरुद्ध के साथ निश्चित होता है ऐसा वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहा गया है। जैसे—जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक[1] है। यहाँ कृतक हेतु की व्याप्ति अपने साध्य नित्य के अभावरूप—विरुद्ध—अनित्य के साथ हैं ॥३१॥

अनैकान्तिक—

सूत्र—पक्ष-सपक्ष-विपक्षेऽपि वृत्तिमाननैकान्तिकः ॥३२॥

व्याख्या—जो हेतु पक्ष, सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी रहता है वह अनैकान्तिक हेतु है। जैसे—जब कोई ऐसा कहता है कि—यह पर्वत धूम वाला है, क्योंकि यह अग्नि वाला है। यहाँ पर धूम वाला है यह साध्य है और अग्नि वाला है यह हेतु है। सो यह हेतु अपने पक्षरूप पर्वत में भी रहता है और सपक्ष जो रसोईघर है उसमें भी रहता है। परन्तु विपक्ष जो जलह्रदादि हैं उनसे यह व्यावृत्त नहीं है। किन्तु उनमें भी रहता है। अतः जो ऐसा हेतु होता है वही अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा गया है ॥३२॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेद—

सूत्र—संदिग्ध निश्चित विपक्ष वृत्ति भेदाद् असौद्विविधः ॥३३॥

व्याख्या—यह अनैकान्तिक हेत्वाभास संदिग्ध विपक्षवृत्ति और निश्चित विपक्षवृत्ति के भेद से दो

---

१. "स्वोत्पत्तौ अपेक्षित परव्यापारो हि कृतक उच्यते" अपनी उत्पत्ति में जो पर के व्यापार की अपेक्षा रखता है, कृतक कहलाता है।

प्रकार का है। जिस हेतु की वृत्ति विपक्ष में संदिग्ध होती है वह संदिग्धविपक्षवृत्ति अनैकान्तिक है। जैसे—जब कोई ऐसा कहता है कि "अर्हत् सर्वज्ञोनास्ति वक्तृत्वात्" अर्हत परमात्मा सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वे वक्ता हैं। तो यहां पर वक्तृत्व रूप हेतु अपने साध्य को निश्चित रूप से सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि सर्वज्ञत्व का और वक्तृत्व का परस्पर में कोई विरोध नहीं है। अर्हन्त प्रभु में सर्वज्ञता भी रही आवे और वक्तृत्व भी रहा आवे। अतः सर्वज्ञाभाव से विपक्ष—सर्वज्ञ—में इस हेतु की वृत्ति शंकित होने से—संदिग्ध होने से यह संदिग्ध विपक्ष वृत्ति वाला हो जाता है। तथा जिस हेतु की वृत्ति विपक्ष में निश्चित रूप से रहती है वह निश्चित विपक्ष वृत्ति वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जैसे "शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात् घटवत्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट की तरह प्रमेय है। यहाँ प्रमेय रूप हेतु पक्ष—शब्द में भी रहता है और सपक्ष घट में भी रहता है पर विपक्ष जो अनित्याभावरूप आकाश है उससे यह व्यावृत्त नहीं है। अतः उसमें भी इसकी वृत्ति निश्चित है। इसलिये यह निश्चित विपक्ष वृत्ति वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास है ॥३३॥

दृष्टान्ताभास—

सूत्र—साधर्म्यदृष्टान्ताभासो नवविध साध्यसाधनोभयधर्म विकलः, संदिग्ध साध्य-साधनोभयानन्वया प्रदर्शितान्वय विपरीतान्वय भेदात् ॥३४॥

व्याख्या—पक्षाभास और हेत्वाभासों का निरूपण करके अब सूत्रकार दृष्टान्ताभासों की प्ररूपणा करते हैं। यह पहले समझा दिया गया है कि दृष्टान्त दो प्रकार का होता है—एक साधर्म्य-दृष्टान्त और दूसरा वैधर्म्यदृष्टान्त। साधर्म्यदृष्टान्त जब सदोष होता है तब वह साधर्म्यदृष्टान्ताभास कहा जाता है। इसी साधर्म्यदृष्टान्ताभास के यहाँ ये नौ भेद बतलाये गये हैं। साध्य धर्म विकलदृष्टान्ताभास (१), साधनधर्म विकल दृष्टान्ताभास (२), साध्य साधनोभय विकल दृष्टान्ताभास (३), संदिग्ध साध्य धर्म वाला दृष्टान्ताभास (४), संदिग्ध साधन धर्म वाला दृष्टान्ताभास (५), संदिग्ध उभय वाला दृष्टान्ताभास (६), अनन्वय दृष्टान्ताभास (७), अप्रदर्शितान्वयवाला दृष्टान्ताभास (८), और विपरीतान्वय वाला दृष्टान्ताभास (९)। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—

"अमूर्त होने के कारण दुःख की तरह शब्द नित्य है" इस अनुमान प्रयोग में शब्द पक्ष, नित्य साध्य, अमूर्त हेतु और दुःख दृष्टान्त है। दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों रहते हैं पर यहाँ जो "दुःख" दृष्टान्त दिया गया है वह साध्यविकल है। क्योंकि दुःख नित्य नहीं है। इसी तरह शब्द में इसी हेतु द्वारा जब नित्यता सिद्ध करने के लिये परमाणु को दृष्टान्त के स्थान पर रखा जाता है तो पौद्गलिक होने से परमाणु में अमूर्तत्व हेतु का अभाव रहता है। अतः यह दृष्टान्त साधन धर्म विकल होने के कारण साधन धर्म विकल दृष्टान्ताभास है। इसी तरह जब इसी हेतु द्वारा शब्द में नित्यत्व साध्य करते समय घट रूप दृष्टान्त दिया जावे तो यह दृष्टान्त साध्य-साधन दोनों से विकल[1] हो जाता है। अतः दृष्टान्ताभास की श्रेणि में परिगणित हो जाता है। संदिग्ध साध्यादि धर्म वाले दृष्टान्ताभास के उदाहरण इस प्रकार से हैं। यह पुरुष रागादि वाला है—क्योंकि वक्ता है, जैसा कि देवदत्त। यहाँ देवदत्त यह दृष्टान्त संदिग्ध साध्य वाला है। क्योंकि अन्य जनों के मनों के मनोविकार अप्रत्यक्ष होने से देवदत्त में रागादि का सद्भाव संदिग्ध है। इसी प्रकार यह पुरुष मरणधर्मवाला है क्योंकि देवदत्त की तरह यह रागादिवाला

---

१. अमूर्तत्त्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कार्यं परमाणु घटाः साध्यसाधनोभय विकला।" —प्रमाणमीमांसायाम् २३

है। यहाँ दिये गये देवदत्त दृष्टान्त में साध्य की सत्ता रहने पर भी हेतु के सद्भाव में संदेह है। यह सर्वदर्शी नहीं है क्योंकि मुनिविशेष की तरह यह रागादिवाला है। यहाँ दृष्टान्तरूप मुनिविशेष में साध्य सर्वदर्शित्व का और साधन रागद्वेषादि का दोनों का संदेह है। इसलिये यह संदिग्धोभय धर्मवाला दृष्टान्ताभास है। "यह पुरुष रागद्वेष आदि वाला है क्योंकि यह वक्ता है।" जैसा कि इष्ट पुरुष यहाँ इस इष्ट पुरुष रूप दृष्टान्त में यद्यपि साध्य और साधन दोनों का सद्भाव है, परन्तु फिर भी ऐसी व्याप्ति—अन्वय—नहीं बन सकती है कि जो-जो वक्ता होता है वह-वह रागादि वाला होता है। इसलिये यह अनन्वय दृष्टान्ताभास है। शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है—जैसा कि घट। तो यहाँ पर जो घट दृष्टान्त है उसमें साध्य और साधन दोनों की सत्ता है। परन्तु फिर भी जहाँ-जहाँ कृतकता होती है वहाँ-वहाँ अनित्यता होती है। इस प्रकार से उसे वादी ने अपने वचन द्वारा प्रदर्शित नहीं किया है। इससे यह अप्रदर्शितान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है जैसा कि घट। तो यहाँ पर जो घट रूप दृष्टान्त है उसमें साध्य और साधन दोनों का सद्भाव है परन्तु फिर भी उसमें जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है ऐसी अन्वय व्याप्ति न कहकर जो-जो अनित्य होता है वह-वह कृतक होता है ऐसी विपरीत अन्वय व्याप्ति कही है और उसमें दृष्टान्त घट का प्रदर्शित किया है अतः यह विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है ॥३४॥

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास

सूत्र –वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोऽप्येवमेवासिद्ध संदिग्ध साध्यादि व्यतिरेकाव्यतिरेकोक्त्यादि योगात् ॥३५॥

व्याख्या—साधर्म्यदृष्टान्ताभास की तरह वैधर्म्यदृष्टान्ताभास भी नौ प्रकार का है। जैसे—असिद्ध साध्यव्यतिरेक, असिद्ध साधन व्यतिरेक, असिद्ध उभय व्यतिरेक, संदिग्ध साध्यव्यतिरेक, संदिग्ध साधन व्यतिरेक, संदिग्ध उभय व्यतिरेक, केवल अव्यतिरेक, तथा आदि पद से गृहीत अप्रदर्शित व्यतिरेक और विपरीत व्यतिरेक। इस प्रकार से ये नौ भेद वैधर्म्यदृष्टान्ताभास के हैं।

अन्वय दृष्टान्त में जिस प्रकार से साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है उसी प्रकार से वैधर्म्यदृष्टान्त में साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है। कहने का निष्कर्ष यही है कि जिस वैधर्म्यदृष्टान्त में साध्य का, साधन का या दोनों का व्यतिरेक—अभाव असिद्ध हो, या संदिग्ध हो, अथवा ठीक तरह से प्रकट न किया गया हो, या विपरीत रूप से प्रकट किया गया हो वह वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। जब कोई ऐसा कहता है—अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह प्रमाण है। यहाँ व्यतिरेक इस प्रकार से बनाना चाहिये—जो भ्रान्त नहीं होता है वह प्रमाण भी नहीं होता है जैसे—कि स्वप्नज्ञान। "अनुमान भ्रान्त है" इस प्रकार कथन में भ्रान्त यह साध्य है और प्रमाणत्वात् यह हेतु है व्यतिरेक में पहले साध्याभाव और बाद में हेत्वाभाव प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ वह इस प्रकार से प्रदर्शित किया गया है—जो भ्रान्त नहीं होता (यह साध्याभाव है) वह प्रमाण भी नहीं होता (यह हेत्वभाव है) जैसा—कि स्वप्नज्ञान (यह वैधर्म्यदृष्टान्त है)। यह असिद्ध साध्य व्यतिरेक वाला होने से वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है—क्योंकि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तत्व का अभावरूप जो साध्य व्यतिरेक है वह नहीं पाया जाता है प्रत्युत भ्रान्तत्व ही पाया जाता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है क्योंकि वह प्रमाण है। यहाँ निर्विकल्पक यह साध्य है और प्रमाणत्वात् यह हेतु है जो निर्विकल्पक नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता यह व्यतिरेक है। इसमें दृष्टान्त अनुमान है। यह अनुमानरूप दृष्टान्त असिद्ध

साधन व्यतिरेक वाला होने से दृष्टान्ताभास है। क्योंकि इसमें प्रमाणत्वाभावरूप साधन व्यतिरेक का अभाव है। जो अनुमान निर्दोष हेतु से उत्पन्न होता है उससे प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द कथंचित् नित्यानित्यात्मक है क्योंकि वह सत् स्वरूप है। जो ऐसा नहीं होता वह सत्स्वरूप भी नहीं होता जैसा कि स्तम्भ। यहाँ स्तम्भरूप दृष्टान्त असिद्ध साध्य साधनोभव व्यतिरेक वाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभासरूप है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि "कपिल असर्वज्ञ या अनाप्त है क्योंकि वह अक्षणिक एकान्तवादी है। जो ऐसा नहीं होता वह एकान्त क्षणिकवादी होता है कि जैसा सुगत। सुगत यह वैधर्म्य दृष्टा है। पर यह संदिग्ध साध्य व्यतिरेक वाला है। इसलिये वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। क्योंकि सुगत में असर्वज्ञत्व या अनाप्तत्व के व्यतिरेक का सन्देह है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है—यह पुरुष अश्रद्धेय वचनवाला है क्योंकि इसमें राग-द्वेष आदि है। जो ऐसा नहीं होता है वह राग द्वेष आदि वाला भी नहीं होता—जैसा कि शुद्धोदन का पुत्र बुद्ध। बुद्ध में साधन का व्यतिरेक संदिग्ध है। इसलिये यह दृष्टान्त संदिग्ध साधन व्यतिरेक वाला होने से वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब ऐसा कहा जाता है—"कपिल वीतराग नहीं है क्योंकि उसने दया करके कृपापात्रों को भी अपने मांस का खण्ड तक नहीं दिया। जो वीतराग होता है वह दयालु होता हुआ कृपापात्रों को अपने मांस का खण्ड प्रदान करता है जैसा कि तपनबन्धु[1] मुनिविशेष ने किया है।" यहाँ साध्य वीतरागाभाव है और साधन दया से प्रेरित होकर कृपापात्रों के लिये अपने मांस का खण्ड नहीं देना है। इन दोनों साध्य और साधन का व्यतिरेक वीतराग और दया से प्रेरित होकर कृपापात्रों को स्वमांस खण्ड का प्रदान करना है। इस व्यतिरेक में—दृष्टान्त में—वीतरागत्वरूप साध्य का और परमदया से प्रेरित होकर कृपापात्रों के लिए स्वमांस खण्ड का प्रदान करना रूप साधन ये दोनों ही संदिग्ध हैं। इसलिये यह संदिग्धसाध्यसाधनोभय व्यतिरेक वाला दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह पुरुष वीतराग नहीं है क्योंकि यह वक्ता है—जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता है—जैसा कि अचित्त प्रस्तर खण्ड। यहाँ प्रस्तर खण्ड में साध्य व्यतिरेक रूप वीतरागत्व का और साधन व्यतिरेक रूप ववतृत्वाभाव (अववतृत्व) का यद्यपि सद्भाव ह परन्तु फिर भी ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बनती है कि जहाँ-जहाँ वीतरागता होती है वहाँ-वहाँ ववतृत्वाभाव होता है अतः यह अव्यतिरेक नाम का दृष्टान्ताभास है। इसी तरह जब कोई ऐसा कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है जो अनित्य नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता जैसा कि गगन। यहाँ पर गगन में व्यतिरेक व्याप्ति यद्यपि मौजूद है। परन्तु फिर भी वादी ने उसे अपने वचन द्वारा प्रदर्शित नहीं की है। इसी कारण यह अप्रदर्शित व्यतिरेक नाम का वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार से जब कोई ऐसा कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है। जो कृतक नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता जैसे—आकाश। इस प्रकार का जो यहाँ पर व्यतिरेक आकाश में प्रकट किया गया है वह विपरीत रूप में प्रकट किया गया है। प्रकट व्यतिरेक तो इस प्रकार से करना चाहिए था—कि जो अनित्य नहीं होता वह कृतक नहीं होता इसीलिये यह विपरीत व्यतिरेक वाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है ॥३५॥

उपनयनिगमनाभास :—

सूत्र—पक्षे हेतोः साध्यस्य चोक्तलक्षण वैपरीत्येनोपसंहारावुपनयनिगमनाभासौ ॥ ३६ ॥

---

१. इस सम्बन्ध में शिवि राजा का भी दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

व्याख्या—पक्ष में हेतु का उपसंहार करना यह उपनय है और पक्ष में साध्य का उपसंहार करना यह निगमन है। ऐसा उपनय और निगमन का यथार्थ स्वरूप कहा गया है। परन्तु इस स्वरूप की अपेक्षा इनका विपरीत रूप से उपसंहार करना यह क्रमशः उपनयाभास और निगमनाभास है। जैसे—जब कोई ऐसा कहता है यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि यह धूमवाला है जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है जैसा कि रसोईघर यहाँ तक तो प्रतिज्ञावाक्य, हेतुवाक्य और दृष्टान्तवाक्य ये सब दार्शनिक पद्धति के अनुसार निर्दोष हैं परन्तु जब दुहराते समय ऐसा कहा जाता है कि यह पर्वत अग्नि वाला है इसलिये यह धूमवाला है ऐसा यह दुहराना जो पक्ष में साध्य के उपसंहार रूप है वही उपनयाभास है क्योंकि इस प्रकार के इस उपसंहार से जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है ऐसी व्याप्ति बनाई गई प्रमाणित हो जाती है, परन्तु ऐसी व्याप्ति सदोष होने के कारण बनती नहीं है। क्योंकि अयोगोलक में इस व्याप्ति का व्यभिचार देखा जाता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि अग्नि- वाला होने से ही यह पर्वत धूमवाला है तो यह पक्ष में हेतु का दुहराना निगमनाभास है क्योंकि पहले हेतु को पक्ष में दुहराया जाता है और बाद में साध्य को दुहराया जाता है, यहाँ ऐसा नहीं किया गया है प्रत्युत विपरीत रूप से इनको दुहराया गया है इसी कारण इनमें तदाभासता आई है ॥३६॥

आगमाभास :—

सूत्र—विप्रतारकादिवाक्यजन्यं ज्ञानमागमाभासम् ॥३७॥

व्याख्या—विप्रतारक आदि जनों के वचनों से जो अर्थज्ञान होता है वह आगमाभास है। जैसे—जब कोई विप्रतारक पुरुष ऐसा कहता है कि हे बच्चो ! गम्भीर नदी के तीर पर मोदक राशि पड़ी हुई है, दौड़ो-दौड़ो, आदि। इसी प्रकार से यदि कोई विप्रतारक भी नहीं है परन्तु यदि कोई हँसी-मजाक आदि में अयथार्थ वचन कहता है तो उन वचनों से जन्य ज्ञान भी अयथार्थज्ञान-आगमाभास ही है, ऐसा जानना चाहिए ॥३७॥

संख्याभास :—

सूत्र—उक्तप्रमाणद्वयातिरिक्तन्यूनाधिक तत्संख्यानं संख्याभासम् ॥३८॥

व्याख्या—पूर्व में प्रमाण के दो भेद प्रकट किये गये हैं। उनसे अधिक या कम भेद प्रमाण के मानना, यह संख्याभास है। चार्वाक की प्रमाण की एक संख्या की मान्यता, बौद्धों की प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो संख्या की मान्यता, सांख्य की प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के भेद से तीन संख्या की मान्यता, अक्षपाद की प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान के भेद से चार संख्या की मान्यता, प्रभाकर की प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति के भेद से पांच संख्या की मान्यता, तथा भट्ट की प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव के भेद से ६ संख्या की मान्यता संख्याभासरूप है, ऐसा जानना चाहिये ॥३८॥

विषयाभास :—

सूत्र—सामान्यमेव विशेष एव वा निरपेक्षं तदुभयमेवप्रमाणविषय इति तस्य विषयाभासः ।३९।

व्याख्या—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है, ऐसा न मानकर जो ऐसी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किसी-किसी की मान्यता है कि प्रमाण का विषय केवल सामान्य ही है या केवल विशेष ही है या परस्पर-निरपेक्ष सामान्य-विशेष ही प्रमाण का विषय है—सो यह सब मान्यता विषयाभासरूप है ॥३९॥

फलाभास :—

सूत्र—प्रमाणात्तत्फलं सर्वथा भिन्नमभिन्नं वेति फलाभासम् ॥४०॥

व्याख्या—यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रमाण का अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप जो फल है वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है—इस सिद्धान्त को न मानकर केवल स्वमत-व्यामोह के कारण जो बौद्ध सिद्धान्त ने प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न, और नैयायिक सिद्धान्त ने प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न माना है सो ऐसी यह मान्यता फलाभासरूप है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४० ॥

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

षष्ठोऽध्याय

नय का स्वरूप :—

सूत्र—प्रमाणाधिगतवस्तून्यनन्तधर्मिण्येकैकांशपर्यवसायीतरांशानपलापीज्ञातुरभिप्रायोनयः ॥ १ ॥

व्याख्या—अनन्त धर्मों की पिण्ड रूप वस्तु में से जो कि श्रुत प्रमाण से अधिगत हुई है किसी एक-एक विवक्षित धर्म की मुख्यता करके और शेष धर्मों को गौण करके उस वस्तु का उस एक विवक्षित हुए धर्म प्रतिपादन करने वाले वक्ता का जो अभिप्रायविशेष है उसका नाम नय है।

प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय, प्रमाण का फल, प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास, एवं फलाभास का निरूपण करके सूत्रकार ने इस ग्रन्थ के समाप्ति करने के अभिप्राय से नय और नयाभासों का निरूपण इस छठवें अध्याय में किया है। सबसे पहले उन्होंने नय का क्या स्वरूप है, यही इस सूत्र द्वारा समझाया है। प्रत्येक जीवादिक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस अनन्तधर्मात्मक वस्तु को जानने वाला श्रुत प्रमाण है, नय नहीं। क्योंकि नय में युगपत् अनन्त धर्मों को जानने की क्षमता नहीं है। यह तो वस्तु का प्रतिपादन उन धर्मों में से किसी एक धर्म को प्रधान करके और शेष धर्मों को गौण करके ही करता है। अतः प्रतिपादन करने वाले वक्ता का इस प्रकार का जो अभिप्रायविशेष है वही नय है ॥ १ ॥

नय के भेद :—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् स सप्तविधः ॥ २ ॥

व्याख्या—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूत नय के भेद से नय सात प्रकार का कहा गया है। अनन्त धर्मों वाली वस्तु में से एक धर्म को ग्रहण करके और उसे ही मुख्य करके नय उस वस्तु का कथन करता है। अतः नय का विषय वस्तु का एक धर्म—अंश—ही होता है, यह नय का सामान्य लक्षण है। इनके भेदों के नाम सूत्रोक्त हैं। ग्रन्थकार इनका सलक्षण कथन स्वयं आगे सूत्रों द्वारा कर रहे हैं अतः इनका स्वरूप हमने यहाँ नहीं कहा है ॥ २ ॥

नयाभास :—

सूत्र—स्वेप्सितधर्मादितरांशापलापी तस्याभासः ॥ ३ ॥

व्याख्या—नय का जैसा लक्षण पूर्व में प्रकट किया जा चुका है उसके अनुरूप न होकर उससे विपरीत स्वरूप वाला नयाभास होता है। नयाभास केवल अपने ही अभिलषित धर्म का मण्डन करता हुआ वस्तु में रहे हुए शेष अन्य धर्मों का खण्डन करता है। इस तरह अन्यतीर्थिक जनों के जो सर्वथा नित्य रूप या सर्वथा अनित्य रूप प्रतिपादक अभिप्राय विशेष हैं, वे सब नयाभास रूप हैं ऐसा इस कथन से पुष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

नय के सामान्य भेद :—

सूत्र—सक्षेप-विस्ताराभ्यामपि नयस्य द्वैविध्यमुक्तम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—संक्षेपनय और विस्तारनय के भेद से भी नय के दो भेद कहे गये हैं। नैगमादि नयों की अपेक्षा यद्यपि नयों के सात भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं फिर भी यहाँ भेद ये कहे गये हैं वे उन सात भेदों के संग्राहक हो जाते हैं इसलिये कहे गये हैं। संक्षेपनय की अपेक्षा भी नय के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग द्रव्यार्थिक रूप होता है और दूसरा विभाग पर्यायार्थिक रूप होता है। विस्तार की अपेक्षा जितने वचन[1] हैं वे सब नय रूप हैं. इस कथन के अनुसार अनेक अपरिमित भेद हो जाते हैं। नैगम-नय, संग्रहनय एवं व्यवहारनय ये आदि के तीन ३ नय द्रव्यार्थिक नय में और शेष ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये चार नय पर्यायार्थिकनय में अन्तर्हित हो जाते हैं ॥ ४ ॥

सूत्र—संक्षेपतो नयो द्विविधो-द्रव्यपर्यायार्थिक विकल्पात् ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने पूर्वोक्त विषय का ही स्पष्टीकरण किया है। यहाँ संक्षेप शब्द का अर्थ "संक्षेप विधि को आश्रित करके" ऐसा है। इस तरह द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय, ये दो भेद नय के संक्षेप से हैं। केवल द्रव्य को ही विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय है और केवल पर्याय को ही विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है। द्रव्य के गुणों को भी विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय ही है। अतः स्वतन्त्र गुणार्थिकनय नहीं माना गया है ॥ ५ ॥

सूत्र—विस्तरतो नयोऽनेकविधः ॥ ६ ॥

व्याख्या—विस्तार की अपेक्षा नय अनेक प्रकार कहा है क्योंकि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक जन के विचार विविध प्रकार होते हैं, एक ही प्रकार के नहीं। इसलिये इन्हें नियत संख्या से बाँधा नहीं जा सकता है। प्रतिपत्ता या प्रतिपादक जन के जो अभिप्राय हैं, वे ही तो नय हैं। इसलिये विस्तार की अपेक्षा नय को अनेक प्रकार का कहा गया है ॥ ६ ॥

द्रव्यार्थिक नय के भेद :—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पैस्त्रेधा द्रव्यार्थिकः ॥ ७ ॥

व्याख्या—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय के भेद से द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का कहा गया है। इन नयों का स्वरूप आगे के सूत्रों द्वारा स्पष्ट किया जाने वाला है अतः यहाँ वह नहीं लिखा ॥ ७ ॥

नैगमनय :—

सूत्र—गौणमुख्यभावेन पर्याययोर्द्रव्ययोर्द्रव्यपर्याययोश्च विवक्षणात्मको नैगमनयः ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो अभिप्रायविशेष दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की और द्रव्यपर्याय की मुख्य और गौण रूप से विवक्षा करता है, ऐसा वह वक्ता का अभिप्राय ही नैगमनय है। यह नैगमनय "नैकेगमाबोध-मार्गाः यस्य स नैगमः" इस कथन के अनुसार अनेक प्रकार के उपायों द्वारा वस्तु का बोध कराता है। कभी यह दो पर्यायों में से किसी एक पर्याय को मुख्य करके और किसी एक पर्याय को गौण करके वस्तु का कथन करता है तो कभी दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की मुख्यता करके और दूसरे द्रव्य की गौणता करके उसका कथन करता है। कभी यह द्रव्य और पर्याय में किसी की मुख्यता और किसी की गौणता करके कथन करता है। जैसे—जब ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मा में सत्त्व से युक्त चैतन्य है।' यहाँ सत्त्व और चैतन्य ये दो गुणरूप पर्यायें हैं और इनका प्रतिपादन आत्मारूप एक वस्तु में हुआ है परन्तु यहाँ चैतन्य

---

१. "जावइया वयणपहा तावइया हुंति णयवाया"

रूप पर्याय की विवक्षा मुख्य रूप से हुई है और सत्त्व की गौण रूप से हुई है क्योंकि सत्त्व को चैतन्य का विशेषण बनाया गया है। इसी तरह जब कोई ऐसा कहता है कि पर्याय वाली वस्तु द्रव्य है—इस प्रकार का यह कथन वस्तु और द्रव्य को प्रकट करने वाला है। यहाँ ये दो धर्मीरूप द्रव्य मुख्य और गौण करके कहे गये हैं। इसमें मुख्य 'द्रव्य' है और 'पर्यायवाली वस्तु' यह गौण है। क्योंकि वह द्रव्य का विशेषण बनाई गई है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है—कि विषयासक्त जीव एक क्षणभर तक सुखी रहता है तो यहाँ पर विशेष्य होने के कारण जीव द्रव्य प्रधान है और सुखात्मकता उसकी पर्याय गौण है। इन पूर्वोक्त उदाहरणों से हम यह जान सके हैं कि नैगमनय ने द्रव्यार्थिकनय का भेद होने के कारण द्रव्य को ही मुख्य रूप से विषय किया है ॥ ८ ॥

नैगमनयाभास :—

सूत्र—पर्यायद्वयाद्विद्रव्यैकान्ततो भिन्नत्वाभिप्रायस्तदाभासः ॥९॥

व्याख्या—दो गुणरूप पर्यायों में, दो द्रव्यों में एवं द्रव्य और पर्यायों में सर्वथा भिन्नता ही है ऐसा जो अभिप्राय है वही नैगमनयाभास है। यह तो हम समझा ही चुके हैं कि आर्हतसिद्धान्त में स्याद्वाद के सिवाय एकान्तवाद को स्थान नहीं है अतः दो पर्यायों में, दो द्रव्यों में और द्रव्य-पर्याय में कथञ्चित्—किसी अपेक्षा ही भेद है, सर्वथा नहीं। अतः इनमें सर्वथा भेद की मान्यता नैगमनयाभास है ॥९॥

संग्रहनय :—

सूत्र—सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्तामात्रग्राही संग्रहनयः परापरभेदाच्च द्विविधः ॥१०॥

व्याख्या—सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता मात्र को विषय करने वाला जो नय है उसका नाम संग्रहनय है। यह संग्रहनय पर-संग्रहनय और अपर-संग्रहनय के भेद से दो प्रकार का है। सत्त्व, द्रव्यत्व, सुवर्णत्व आदि रूप जो जाति है वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता है। इस सत्ता को ही जो प्रधान रूप से ग्रहण करने वाला वक्ता का अभिप्रायविशेष है वही संग्रहनय है। संग्रह नय का विषय सामान्य है और यह सामान्य पर और अपर के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। समस्त पदार्थों में बिना किसी भेदभाव के युगपत् रहने वाली जो सत्ता है उसका नाम पर-सत्ता है। पर-सत्ता की अपेक्षा जिसका आधार क्षेत्र कम होता है वह अपर-सत्ता है। जैसे—सत्त्व यह महासत्ता है क्योंकि यह एक साथ जीव-पुद्गलादिक समस्त पदार्थों में रहती है। इसी प्रकार से द्रव्यत्व भी महासत्ता है क्योंकि यह भी जीवादिक समस्त द्रव्यों में युगपत् रहती है। सुवर्णत्व यह अपर-सत्ता है क्योंकि इसका आधार क्षेत्र केवल स्वर्णरूप व्यक्ति ही है जीवादिक द्रव्य नहीं। संग्रहनय मुख्य रूप से इसी पर-सत्ता और अपर-सत्ता को अपना विषय बनाता है ॥१०॥

पर-संग्रहनय :—

सूत्र—सकलपदार्थसार्थव्यापिसत्ताधीनोऽभिप्रायविशेषः परसंग्रहः ॥११॥

व्याख्या—समस्त पदार्थ समूह में युगपत् व्याप्त होकर रहने वाली जो सत्ता है वह पर-सत्ता है। यही पर-सत्ता समस्त पदार्थों को अपने द्वारा एकत्व में प्रविष्ट कराती है क्योंकि विश्व का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सत्ता से रहित हो। इसका दूसरा नाम पर-सामान्य भी है ॥११॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पर-संग्रहाभास :—

सूत्र—तद्विपरीताभिप्रायस्तदाभासः ॥१२॥

व्याख्या—पर-संग्रहनय के अभिप्राय से विपरीत जो अभिप्राय है वह पर-संग्रहनय का आभास है। इस पर-संग्रहनयाभास में वेदान्तवादी आदि अद्वैतवादियों की मान्यता आती है। क्योंकि इनकी मान्यतानुसार गुण-पर्यायरूप कोई विशेष पदार्थ नहीं हैं। पर-संग्रहनय भी इनका प्रतिपादन नहीं करता है परन्तु फिर भी वह उनका खण्डन भी नहीं करता है सिर्फ वह अपने ही विषय का कथन करता है। इस तरह समस्त अद्वैतवादियों की मान्यताएँ इस पर-संग्रहनयाभास में परिगणित हुई हैं ॥१२॥

अपर-संग्रहनय :—

सूत्र—द्रव्यत्वाद्यवान्तर सामान्य-विषयकः स्वव्यक्तिष्वदासीनोऽभिप्रायः, अपरसंग्रहः ॥१३॥

व्याख्या—द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि रूप अपर-सामान्यों को विषय करने वाला और उन अपर-सामान्यों के आधारभूत व्यक्तियों में उदासीनभाव रखने वाला नय अपर-संग्रहनय है। धर्मास्तिकायादिक जो द्रव्य के भेद हैं उनमें इस नय का ऐसा अभिप्राय रहता है कि द्रव्यत्व-सामान्य की अपेक्षा ये धर्मास्तिकायादिक द्रव्य एक हैं। इस तरह पर-संग्रहनय का क्षेत्र विस्तृत है और अपर-संग्रहनय का क्षेत्र संकुचित है, पर-संग्रहनय एक रूप ही होता है और अपर-संग्रहनय भिन्न-भिन्न जातियों की अपेक्षा अनेक भेद वाला होता है ॥१३॥

अपर-संग्रहाभास :—

सूत्र—विशेषापलापी द्रव्यत्वादि सामान्यमात्रमन्वानोऽभिप्रायस्तदाभासः ॥१४॥

व्याख्या—अपर-संग्रहनय का जैसा स्वरूप प्रकट किया गया है ठीक उस से विपरीत स्वरूप-वाला अभिप्राय अपर-संग्रहनयाभास है। अपर-संग्रहनय के द्वारा उसके विशेषों का संग्रह किया जाता है, उनका निराकरण नहीं किया जाता तब कि अपर-संग्रहाभास के द्वारा अपर-सामान्य के आधारभूत व्यक्तियों का निराकरण किया जाता है ॥१४॥

व्यवहारनय :—

सूत्र—संग्रहेण संकलित सामान्यभेद-प्रभेदविधाय व्यवहार-प्रथमावतारकोऽभिप्रायविशेषो व्यवहारः ॥१५॥

व्याख्या—पर-संग्रहनय और अपर-संग्रहनय के द्वारा विषय किये गये परसामान्य एवं अपर-सामान्य के भेद-प्रभेद करके जो उसे व्यवहार के योग्य बनाता है ऐसा अभिप्रायविशेष ही संग्रहनय है। यह व्यवहारनय संग्रह के विषयभूत सामान्य को व्यवहार मार्ग में इस अभिप्राय से उतरता है—कि सामान्य से लोक व्यवहार नहीं चलता है। लोक व्यवहार तो विशेष से ही चलता है। नीली-पीली आदि जो व्यक्ति विशेष ही दोहन क्रिया में उपयुक्त होता है गोत्व नहीं। अतः संग्रहनय का जो विषय जो सामान्य है वह द्रव्य रूप है या पर्यायरूप है। यदि द्रव्यरूप है तो वह जीव द्रव्यरूप है या अजीव द्रव्यरूप है। यदि जीवद्रव्य रूप है तो वह संसारी जीव रूप है या मुक्तजीव द्रव्यरूप है इत्यादि रूप से यह नय वहाँ तक भेद-प्रभेद करता है कि फिर जिसके आगे और भेद कल्पना नहीं होती है ॥१५॥

व्यवहाराभास :—

सूत्र—काल्पनिक द्रव्य-पर्याय विभागाभिप्रायस्तदाभासः ॥१६॥

व्याख्या—द्रव्य और पर्याय का विभाग सत्य है, काल्पनिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यवहार नय का है। इसके विपरीत जो अभिप्राय है वह व्यवहाराभास है। इस व्यवहाराभास में चार्वाक दर्शन परिगणित हुआ है क्योंकि वह ऐसा मानता है कि द्विचन्द्रदर्शन की तरह यह सब सुवर्णादि द्रव्य और उसकी कुण्डलादि रूप पर्यायें पारमार्थिक नहीं है। केवल काल्पनिक ही है ॥१६॥

पर्यायार्थिकनय के भेद :—

सूत्र—पर्यायार्थिकनयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूत भेदात् ॥१७॥

व्याख्या—पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय पर्यायार्थिकनय केवल पर्याय को ही विषय करता है। पर्याय जिसके आश्रित रहती है ऐसे द्रव्य को वह विषय नहीं करता किन्तु उसे गौण कर देता है। जो उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है उसका नाम पर्याय है। इस पर्याय को लेकर चलने वाली विचारधारा का नाम पर्यायार्थिकनय है ॥१७॥

ऋजुसूत्रनय :—

सूत्र—वर्तमान समयमात्र पर्यायग्राही नय ऋजुसूत्रः ॥१८॥

व्याख्या—पदार्थ की वर्तमान समय की ही पर्याय को जो अभिप्रायविशेष ग्रहण करता है, उसका नाम ऋजुसूत्रनय है। ऋजुसूत्रनय को पर्यायार्थिकनय का भेद इसीलिये कहा गया है कि वह पर्याय को—वर्तमान काल में हो रही पर्याय को—ही विषय करता है, न वह भूत पर्याय को विषय करता है और न भविष्यत में होने वाली पर्याय को विषय करता है। इसकी दृष्टि में विनष्ट हो जाने से भूत पर्याय और आगे होने वाली होने से भविष्यत पर्याय का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। इसी कारण वह उन्हें अपना विषय नहीं बनाता है ॥१८॥

ऋजुसूत्र नयाभास—

सूत्र—द्रव्यापलापी तु तदाभासः ॥१९॥

व्याख्या—एकान्त से द्रव्य का निषेधक जो अभिप्राय है वह ऋजुसूत्रनयाभास है। इस ऋजुसूत्रनयाभास में बौद्धों की विचारधारा परिगणित हुई है। क्योंकि वे एकसमयमात्रभावी पर्याय को ही स्वीकार करते हैं। उस पर्याय का आधारभूत जो द्रव्य है उसका वे अपलाप करते हैं। ऋजुसूत्रनय द्रव्य को गौण करके पर्याय को प्रधान करता है। वह द्रव्य का अपलाप नहीं करता है। परन्तु ऋजुसूत्रनयाभास इससे सर्वथा विपरीत वृत्ति वाला है ॥१९॥

शब्दनय :—

सूत्र—कालादिभेदेन वाच्यार्थ भेदज्ञोऽभिप्रायः शब्दनयः ॥२०॥

व्याख्या—काल आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानने वाला जो अभिप्राय है वह शब्दनय है। यह शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये तीन नय शब्दों के अनुसार उनके वाच्य अर्थ में भेद मानते हैं—इसलिये इन्हें शब्दनय कहा गया है। शब्दनय क्रिया के भेद से, लिंग के भेद से, कारक के

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भेद से, संख्या के भेद से, पुरुष के भेद से एवं उपसर्ग आदि के भेद से शब्द के अर्थ में अपना अभिप्राय इस प्रकार से प्रकट करता है कि जब कोई ऐसा कहता है कि—"स भवति, स अभूत्, स भविष्यति" तो यहाँ पर क्रिया की भिन्नता से "सः—वह" इस अर्थ में भी भिन्नता है। इसी प्रकार "स घटंकरोति, तेन घटः क्रियते" तो यहां द्वितीयान्त घट और प्रथमान्त घट में भिन्नता कारक की भिन्नता को लेकर मानता है। इसी प्रकार जब कोई "तटः तटी, तटम्" इन शब्दों का प्रयोग करता है तो शब्दनय इनके अर्थ में एकता इसलिये नहीं मानता है कि इनमें पुल्लिग आदि की ही भिन्नता है। इसी तरह स्त्रीवाचक "कलत्रं दाराः" इत्यादि पदों में भी एकवचन बहुवचन की अपेक्षा भिन्नता समझ लेनी चाहिये। बात-चीत के प्रसङ्ग में जब हम किसी को आप और तुम कहते हैं तो शब्दनय यहाँ पर पुरुष प्रथमादि पुरुषों के भेद से आप और तुम शब्द का अर्थ अलग-अलग मानता है। इसी प्रकार "प्रतिष्ठते उपतिष्ठते" आदि क्रियापदों के अर्थ में शब्दनय उपसर्ग की भिन्नता से अर्थ में भिन्नता मानता है ॥२०॥

शब्द नयाभास :—

सूत्र—कालादिभेदेन शब्दस्यभिन्नार्थत्वमेव मत्वानोऽभिप्राय विशेषस्तदाभासः ॥२१॥

व्याख्या—काल आदि के भेद से शब्द के अर्थ में एकान्ततः सर्वथा भिन्नता ही है इस प्रकार की मान्यता वाला जो अभिप्रायविशेष है, वह इस शब्दनय का आभास है। शब्दनय यद्यपि काल आदि के भेद से उनके शब्द के अर्थ में भिन्नता का समर्थन करता है परन्तु वह किसी अपेक्षा इसके अर्थ में रही हुई अभिन्नता का तिरस्कार नहीं करता है। प्रत्युत उस ओर अपनी दृष्टि को मध्यस्थ रखता है। पर शब्दनयाभास एकान्ततः पर की मान्यता का खण्डन करता हुआ अपनी मान्यता का मण्डन करता है ॥२१॥

समभिरूढनय :—

सूत्र—पर्यायवाचिशब्दानां भिन्नार्थत्वमभिमन्यमानोऽभिप्रायः समभिरूढः ॥२२॥

व्याख्या—पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति के भेद से भिन्नार्थता मानने वाला अभिप्रायविशेष समभिरूढनय है। शब्दनय यद्यपि काल आदि के भेद से शब्द के अर्थ में भेद स्वीकार करता है तो इसका अभिप्राय यही है कि जहाँ काल आदि का भेद नहीं होता है वहाँ वह उनके अर्थ में एकत्व भी स्वीकार करता है। परन्तु इस समभिरूढ़नय का अभिप्राय शब्दनय से भी आगे बढ़ जाता है। यह तो कहता है कि चाहे समान लिङ्गादि वाले भी पर्यायवाची शब्द क्यों न हों उनका भी अर्थ भिन्न-भिन्न ही है, पर्यायवाची शब्दों में व्युत्पत्तिभेद के बिना अर्थभेद नहीं हो सकता अतः सूत्र में व्युत्पत्तिभेद ऐसा पद गतार्थ होने से सूत्रकार ने उसे नहीं लिखा है। शब्दनय की दृष्टि में पर्यायवाची इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दों में अर्थभेद नहीं है। समभिरूढ़नय की मान्यता के अनुसार इनमें भेद हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि न तो एक शब्द के अनेक अर्थ हैं और न अनेक शब्दों का एक अर्थ है ॥२२॥

समभिरूढनयाभास :—

सूत्र—पर्यायवाचिषु भिन्नार्थत्वमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥२३॥

व्याख्या—पर्यायवाची शब्दों में भिन्नार्थता ही है, इस प्रकार की एकान्त हठग्राहिता वाला जो

अभिप्राय है वह समभिरूढनयाभास है। समभिरूढनयाभास का यही मत है कि जिस प्रकार घट, पट, मठ, कट आदि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं क्योंकि वे भिन्न-भिन्न शब्द हैं, उसी प्रकार इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द भी भिन्न-भिन्न शब्द होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ के ही वाचक हैं। इस तरह यह अभेद का निषेधक होता है। समभिरूढ अपना मन्तव्य पुष्ट करता हुआ भी अभेद का निषेधक नहीं होता है ॥२३॥

एवंभूतनय :—

सूत्र—एवंभूतमर्थं स्ववाच्यत्वेन कक्षीकुर्वाणो विचारो ह्येवंभूतः ॥२४॥

व्याख्या—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से सहित हुआ ऐसा अर्थ "एवंभूत" इस शब्द का है। तथा च—जो वाच्यार्थ उस शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से सहित हो रहा है तो ऐसा वाच्यार्थ—पदार्थ—ही उस शब्द का अर्थ होता है, ऐसी मान्यता वाला एवंभूतनय है। एवंभूतनय वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द क्रियाशब्द ही है। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का अर्थ प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में जिस शब्द से जिस क्रिया का भाव प्रकट होता हो उस क्रिया से युक्त पदार्थ को उसी समय उस शब्द से कहा जा सकता है, अन्य समय में उस क्रिया की अविद्यमानता में नहीं। इन्द्र जब इन्दनरूप—ऐश्वर्यभोगरूप क्रिया का भोक्ता हो रहा है तभी वह इन्द्र शब्द का वाच्य हो सकता है। उस समय वह पुरन्दर पद का वाच्य नहीं हो सकता है। पुरन्दर पद का वाच्य तो वह जब शत्रु नगर के विध्वंस करने रूप क्रिया में निरत हो रहा हो तभी हो सकता है। ऐसी मान्यता इस एवंभूतनय की है। ॥२४॥

एवंभूतनयाभास :—

सूत्र—अनेवंभूतं वस्तुसच्छब्द वाच्यतया निराकुर्वस्तुतदाभासः ॥२५॥

व्याख्या—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से रहित उस पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानने का सर्वथा निषेध करने वाला जो अभिप्राय है, वह एवंभूतनयाभास है। एवंभूतनय अमुक क्रिया से युक्त पदार्थ को ही उस क्रियावाचक शब्द से कहता है किन्तु अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध नहीं करता है। परन्तु यह एवंभूतनयाभास उस क्रिया से अपरिणत पदार्थ को उस शब्द का वाच्य नहीं मानता है। यदि इन्द्र इन्दन क्रिया से अपरिणत है और फिर भी यदि वह इन्द्र शब्द के द्वारा वाच्य होता है तो इन्दन क्रिया से अपरिणत और भी प्राणी इन्द्र शब्द द्वारा वाच्य होना चाहिये। उन्हें भी इन्द्र कहना अनुचित नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने के लिये यही मानना उचित है कि जो अर्थ उस शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से परिणत नहीं हो रहा है उसे उस शब्द का वाच्यर्थ नहीं मानना चाहिये। ॥२५॥

अर्थनय और शब्दनय का विभाग :—

सूत्र—एष्वाद्याश्चत्वारोऽर्थनयाश्चरमेत्रयश्च शब्दनयाः ॥२६॥

व्याख्या—इन नैगमादि सात नयों में जो आदि के नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय हैं वे अर्थनय हैं क्योंकि ये सीधे रूप में अपने-अपने अर्थ का, अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का, प्रतिपादन करते हैं। इनमें शब्द के लिंग आदि के बदल जाने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है इसलिये इन्हें

अर्थनय कहा गया है। तथा शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन नय शब्द के आश्रित होकर अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं, इनमें शब्दों के लिंग आदि बदल जाने पर अर्थ बदल जाता है। इसलिये ये शब्दनय कहे गये हैं ॥२६॥

नयों के विषय में अल्पबहुत्व :—

सूत्र—पश्चानुपूर्व्यंतेबहुविषयाः पूर्वानुपूर्व्या चाल्पविषयाः ॥२७॥

व्याख्या—सात नयों में पहले पहले के नय अधिक विषय वाले हैं और पिछले-पिछले नय कम विषय वाले हैं। एवंभूतनय की अपेक्षा समभिरूढनय अधिक विषय वाला है, समभिरूढनय की अपेक्षा शब्दनय अधिक विषयवाला है, शब्दनय की अपेक्षा ऋजुसूत्रनय अधिक विषयवाला है, ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा व्यवहारनय अधिक विषयवाला है, व्यवहारनय की अपेक्षा संग्रहनय अधिक विषयवाला है और संग्रहनय की अपेक्षा नैगमनय अधिक विषयवाला है। यही पश्चानुपूर्वी शब्द द्वारा यहाँ प्रकट किया गया है तथा जब पूर्वानुपूर्वी द्वारा इनके विषय का विचार किया जाता है तब नैगमनय सब से अधिक विषय-वाला है। नैगमनय की अपेक्षा संग्रहनय कम विषयवाला है। संग्रहनय की अपेक्षा व्यवहारनय कम विषय-वाला है। व्यवहारनय की अपेक्षा ऋजुसूत्रनय कम विषयवाला है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा शब्दनय कम विषयवाला है। शब्दनय की अपेक्षा समभिरूढनय कम विषयवाला है और समभिरूढनय की अपेक्षा एवं-भूतनय कम विषयवाला है। इस तरह से इनके अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में हमें यों समझना चाहिये कि पश्चानुपूर्वी की अपेक्षा सब से कम विषयवाला एवंभूतनय है और सबसे अधिक विषयवाला नैगमनय है। पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा सबसे अधिक विषयवाला नैगमनय है और सबसे कम विषयवाला एवंभूतनय है। नैगमनय भाव और अभाव इन दोनों को विषय करता है। संग्रहनय केवल भाव को ही विषय करता है। व्यवहारनय सत्ताविशिष्ट पदार्थों का विधिपूर्वक भेद-प्रभेद करता हुआ उन्हें विषय करता है। ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान क्षण में जो पर्याय हो रही है उसे विषय करता है। शब्दनय कालादि के भेद को लेकर पदार्थ में भेद मानता है। समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दों में भी भिन्नार्थता मानता है तथा एवंभूतनय क्रियायुक्त पदार्थ को ही अपना वाच्य मानता है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट जानने के लिये न्यायरत्नवली टीका के अनुवाद को देखना चाहिये ॥२७॥

नयसप्तभंगी :—

सूत्र—विधिनिषेधाभ्यां नयवाक्यमपि सप्तभंगात्मकम् ॥ २८ ॥

व्याख्या—नयवाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करता हुआ विधि और निषेध की विवक्षा को लेकर सात भंगोंवाला हो जाता है। सूत्रस्थ अपि शब्द यही प्रकट करता है कि यह नयवाक्य भी अपने विषय में विधि और निषेध को आश्रित करके प्रमाणवाक्य की तरह ही सप्तभंगी को प्राप्त होता है। नय-वाक्य विकलादेश होता है—अर्थात् अनन्तधर्मविशिष्ट वस्तु में से किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण करके उस धर्म द्वारा उस वस्तु का कथक होता है। इस प्रतिपादन में जिस धर्म को वह किसी विवक्षावश प्रधान करता है उसी धर्म को वह किसी दूसरी विवक्षावश अप्रधान भी कर देता है। इसी का नाम उस धर्म का विधि-निषेध करना है। एक धर्म के कथन करने में सात प्रकार के उद्भूत

संशयों की विनिवृत्तिरूप उत्तर सात प्रकार के ही होते हैं—और इन सात प्रकार के उत्तरों का नाम ही सप्तभंग है। "स्यात्" पद का प्रयोग नय सप्तभंगी में भी होता है ॥ २८ ॥

नय का फल :—

सूत्र—नयस्य फलमपितस्मात्कथंचिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ २९ ॥

व्याख्या—नय का फल भी तदनुगत एक धर्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति रूप साक्षात् फल और उस सम्बन्ध में जायमान-हान-उपादान एवं उपेक्षा बुद्धिरूप परम्परा फल भी नय से किसी अपेक्षा भिन्न है और किसी अपेक्षा अभिन्न है, ऐसी व्यवस्था करना चाहिये। इस सम्बन्ध में जैसा कथन प्रमाण फल के प्रकरण में स्पष्ट किया गया है वैसा ही वह कथन नय फल के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये ॥ २९ ॥

प्रमाता का स्वरूप :—

सूत्र—प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धप्रमाता चैतन्यस्वरूपोज्ञानादि परिणामी कर्त्ता भोक्ता गृहीतशरीर-परिमाणः प्रतिशरीरंभिन्नः पौद्गलिकादृष्टवान् कथंचिन्नित्य आत्मा ॥ ३० ॥

व्याख्या—प्रमाण के द्वारा वस्तु को जानने वाला जो आत्मा है उसी का नाम प्रमाता है। यह प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, चैतन्यस्वरूप वाला है, ज्ञानादिरूप परिणाम से युक्त है, द्रव्यकर्म एवं भावकर्मों का कर्त्ता है, उनके फल का भोक्ता है। प्राप्त हुए शरीर के बराबर है। हर एक शरीर में भिन्न-भिन्न है, पौद्गलिक ज्ञानावरणादिरूप अदृष्टवाला है और कथंचित् नित्य है। इन विशेषणों की सार्थकता इसकी बड़ी टीका न्यायरत्नावली से जान लेनी चाहिये ॥ ३० ॥

मुक्ति का स्वरूप :—

सूत्र—गृहीपुरुषस्त्रीनपुंसकशरीरस्यात्मनः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—पुरुष के शरीर या स्त्री के शरीर या नपुंसक के शरीर में वर्तमान उस जीव की जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा समस्त शुभाशुभरूप कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना है वही मुक्ति है। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा न्यायरत्नावली टीका से जान सकते हैं। सम्यग्ज्ञान के कहने से उसके सहचर सम्यग्दर्शन का और सम्यक्क्रिया के कहने से उसके सहचर सम्यक्तप का ग्रहण हो जाता है। यह सूत्र स्त्री मुक्ति को नहीं मानने वाले दिगम्बरों को समझाने के लिये एवं अकेले ज्ञान से या अकेली क्रिया से मुक्ति मानने वालों की हठग्राहिता को दूर करने के लिये कहा गया है ॥ ३१ ॥

वाद-कथा के भेद :—

सूत्र—तत्त्वनिर्णयेच्छुविजिगीषु कथाभेदात् कथा द्विविधा ॥ ३२ ॥

व्याख्या—कथा दो प्रकार की कही गई है—एक तत्त्वनिर्णयेच्छु की कथा और दूसरी विजिगीषु की कथा। इनमें जय-पराजय की भावना से विहीन गुरु-शिष्यों में, सहपाठियों में तथा अन्य तत्त्व जिज्ञासुजनों में जो तत्त्व निर्णयार्थ चर्चा की जाती है, वह वीतराग कथा कहलाती है—इस कथा में जय-पराजय के ऊपर बिलकुल लक्ष्य नहीं दिया जाता है किन्तु तत्त्व निर्णय पर ही लक्ष्य रहता है। कई लोगों ने वीतराग कथा को वाद कहा है और विजिगीषु कथा को जल्प और वितण्डा। विजिगीषु कथा में तत्त्वनिर्णय तो गौण रहता है, केवल जय-पराजय का विचार मुख्य रहता है। यद्यपि जल्प और वितण्डा में

भी यही विचार रहता है[1] परन्तु इन दोनों में परस्पर में कुछ अन्तर भी है। जल्प में तो वादी-प्रतिवादी दोनों का कोई पक्ष रहता है जिसे सिद्ध करने की वे चेष्टा करते हैं किन्तु वितण्डा में सिर्फ वादी का ही पक्ष रहता है। प्रतिवादी अपना कोई पक्ष नहीं रखता वह तो वादी जो कुछ कहता है उसी का खण्डन करता है ॥ ३२ ॥

तत्त्वनिर्णयेच्छुकथा :—

सूत्र—तत्त्वनिर्णयार्थं क्रियमाणोजयपराजयविहीनो विचारस्तत्त्वनिर्णयेच्छुकथा ॥ ३३ ॥

व्याख्या—तत्त्व निर्णय के लिये जय-पराजयविहीन किया गया जो विचार है वह तत्त्वनिर्णयेच्छुकथा है जो सिद्धान्तोक्त तत्त्वों को अच्छी तरह से समझने के लिये तथा पर को समझाने के लिये अभिलाषी होता है उसका नाम तत्त्वनिर्णयेच्छु या तत्त्वबुभुत्सु है। शिष्य को जब किसी विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है तब वह उस सन्देह की निवृत्ति के लिये गुर्वादिजनों से पूछता है, उनके साथ विचार-विनिमय करता है, सो उसमें पक्ष-प्रतिपक्ष का या जय-पराजय का विचार नहीं होता, समझने का या समझाने का ही राग-द्वेषशून्य एक भाव रहता है। इसी कारण इन कथा के करने वालों को वादी प्रतिवादी नहीं कहा गया है किन्तु वीतरागी तत्त्वनिर्णयेच्छु कहा गया है ॥ ३३ ॥

विजिगीषु कथा :—

सूत्र—स्वाभिमत धर्मव्यवस्थापनार्थं स्वपर-पक्षसाधन-दूषणाभ्यां पर-पराजयेच्छुकथा विजिगीषु कथा ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अपने द्वारा स्वीकार किये धर्म की सिद्धि करने के लिये स्वपक्ष के साधन एवं परपक्ष के दूषण द्वारा प्रतिवादी को जीतने की अभिलाषा रखने वाला विजिगीषु होता है। इस विजिगीषु के द्वारा किया गया जो शास्त्रार्थ है उसी का नाम विजिगीषु कथा है। सूत्रस्थ द्विवचन के प्रयोग से यह स्पष्ट किया गया है कि केवल स्वपक्ष की सिद्धि कर लेने मात्र से वादी को विजय का लाभ नहीं होता है किन्तु स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करना—इन दोनों के करने से ही विजयश्री का लाभ होता है अतः वादी को दोनों ही करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सूत्र—तत्त्वनिर्णयेच्छुर्द्विविधः स्वात्मनि-परात्मनि च ॥ ३५ ॥

व्याख्या—तत्त्वनिर्णयाभिलाषी दो प्रकार का होता है—एक स्वात्मतत्त्वनिर्णयेच्छु दूसरा परात्मतत्त्वनिर्णयेच्छु। जो सिद्धान्त-प्रतिपादित तत्त्व को समझने का अभिलाषी होता है वह स्वात्मतत्त्व निर्णयेच्छु है और जो परात्मा में तत्त्व के निर्णय हो जाने का अभिलाषी होता है वह परात्मतत्त्व-निर्णयेच्छु है ॥ ३५ ॥

---

१. हरिभद्रसूरि ने वितण्डा को शुष्कवाद, जल्प को विवाद और वाद को धर्मवाद कहा है। हेमचन्द्रसूरि ने वितण्डा को कथा ही नहीं माना है। उनका कहना है कि जिसका कोई पक्ष नहीं उसकी बात ही नहीं सुननी चाहिये। प्रतिपक्षस्थापनाहीनायाः वितण्डायाः कथात्वायोगात् वैतण्डिको हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किञ्चिद्-वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमवध्येयवचनः ॥ —प्रमाणमीमांसायाम्।

सूत्र—प्रथमः शिष्यादिर्द्वितीयः क्षायोपशमिक क्षायिक ज्ञानवान् गुर्वादिः ॥३६॥

व्याख्या—जो स्वात्म में तत्त्व निर्णय होने का अभिलाषी होता है वह शिष्यादि रूप होता है और जो परात्मा में तत्त्व निर्णय होने का अभिलाषी होता है वह गुरु आदि रूप होता है। यह दो प्रकार का होता है—एक क्षायोपशमिक ज्ञानशाली गुरु और दूसरा क्षायिक ज्ञानशाली गुरु आदि। यह प्रथम आदि शब्द से शिष्य के सहाध्यायी सुहृद्वर्ग का और द्वितीय आदि पद से आचार्य, उपाध्याय, गणी एवं तीर्थंकर आदि का ग्रहण हुआ है। स्वात्मा में तत्त्वनिर्णयेच्छु के भेद नहीं होते हैं ॥३६॥

विजिगीषुकथांग :—

सूत्र—विजिगीषुकथारूपो वादो वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापति चतुरंगोपेतोऽपरः कदाचित्त्रिद्व्यङ्गोपेतश्च ॥३७॥

॥ न्यायरत्नाभिधो ग्रंथश्च समाप्तः ॥

व्याख्या—विजिगीषुकथारूप वाद के वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति ऐसे चार अंग होते हैं। तथा वीतरागकथारूप वाद कदाचित् दो अंगोंवाला और कदाचित् तीन अंगोंवाला होता है। जब जय-पराजय की भावना से प्रेरित हुए दोनों का—वादी प्रतिवादी का परस्पर में शास्त्रार्थ होता है—अपने-अपने स्वीकृत धर्म की स्थापना के निमित्त, तब उसमें चारों ही सभ्य सभापति आदि रूप अंगों की आवश्यकता होती है। एक भी अंग की हीनता में जय-पराजय की व्यवस्था सुघटित नहीं हो सकती है। तथा वीतरागकथारूप जो वाद होता है वह तत्त्वनिर्णय की अभिलाषा से होता है। उसमें जय-पराजय की भावना नहीं होती है अतः मुख्य रूप से उसे वाद नहीं माना जा सकता है। इसमें अंगों की व्यवस्था के निमित्त जो कहा गया है—वह इसकी न्यायरत्नावली टीका से जान लेना चाहिये ॥३७॥

॥ छठवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ न्यायरत्नसार ग्रन्थ समाप्त ॥

प्रथम अध्याय

।। मंगलाचरण ।।

वर्द्धमानं जिनं नत्वा गौतमं गणनायकम् ।
बालानां तत्त्वबोधाय न्यायरत्नं विरच्यते ।।१।।

संस्कृत टीका—निखिल तार्किक शिरोमणि परम कारुणिक गुरुप्रसादप्राप्त न्यायतत्त्वविवेकः मुनिश्री घासीलालः स्वोपज्ञप्रारिप्सित न्यायरत्ननामक ग्रन्थस्य प्रत्यूह व्यूहविध्वंसपूर्वक समाप्त्यर्थं महावीरदेवादेर्नमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्यपरम्पराणां शिक्षार्थं ग्रन्थादौ निबध्नाति—"**वर्द्धमानं जिनं-नत्वा गौतममित्यादि**" वर्द्धमानं—महावीरम्, जिनं—जयतीति जिनः—रागद्वेषादिरूपान्तः शत्रुजयनशीलः, तं जिनं—जिनेन्द्रं तीर्थंकरं नत्वा—नमस्कृत्य, एवं गणनायकं—गणस्य—चतुर्विधमुनिसंघस्य नायकम् —नेतारं गौतमाभिधं गणधरं मुनिं च नत्वा, बालानाम्—अधीत काव्यकोशादि ग्रन्थानाम् अनधीत न्यायशास्त्राणां लघीयसां विनेयानां [न्यायपदार्थज्ञानलाभाय न्यायेरत्नम्—न्यायशास्त्र प्रतिपाद्य प्रमाण प्रमेयादि पदार्थं स्वरूपप्रकाशकं न्यायरत्ननामकं न्यायशास्त्रं विरच्यते-मया घासिलालेन निर्मीयते मुनिनेतिशेषः, न्यायपदार्थस्वरूप प्रकाशकत्वादेवात्र रत्नत्वमभिहितं बोध्यम् ।

अन्वय—वर्द्धमानं जिनं गणनायकं गौतमं नत्वा बालानां तत्त्वबोधाय न्यायरत्नं विरच्यते ।

अर्थः—श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र को एवं गणधरों के नायक मुख्य गणधर गौतमस्वामी को, मन-वचन एवं काय की एकाग्रतापूर्वक नमस्कार करके न्यायशास्त्र से अनभिज्ञ शिष्य जनों को न्यायशास्त्र प्रतिपादित प्रमाण-प्रमेय आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये मुझ मुनि घासीलाल के द्वारा यह न्यायरत्न नाम का ग्रन्थ रचा जाता है ।

हिन्दी व्याख्याः—ग्रन्थकार मुनिराज श्री घासीलालजी ने इस नवीन न्यायरत्न ग्रन्थ के बनाने का क्या प्रयोजन है ? यह अपना विशुद्ध अभिप्राय इस श्लोक के द्वारा प्रकट किया है। इसमें सर्वप्रथम उन्होंने यह कहा है मैंने जो यह नवीन ग्रन्थ बनाया है वह मेरी सर्व स्वाधीन कृति नहीं है क्योंकि मैंने अपने तार्किक शिरोमणि परम दयालु गुरुदेव के मुखारविन्द से तर्कशास्त्र का जो बोध प्राप्त किया है वही उनकी परम असाधारण भक्ति के अनुग्रह से इस रूप में परिणमित हुआ है । यही बात "निखिल तार्किक शिरोमणि" आदि पद द्वारा उन्होंने व्यक्त की है । अतः यह सर्वश्रेय गुरुदेव का ही है ।

आस्तिक जनों की ऐसी ही परम्परा चली आ रही है कि वे जब कभी भी नवीन ग्रन्थ का निर्माण करते हैं तो सबसे पहले वे अपने इष्ट देवता को वाचनिक नमस्कार करते हैं । इस वाचनिक नमस्कार करने का नाम ही मङ्गलाचरण है "**मं-भवसम्बन्धिनं बंधनं, तन्निबन्धनं दुःखं वा गालयति = नाशयतीति,**

यद्वामंग्यते—प्राप्यते स्वर्गो मोक्षोवाऽनेनेति मङ्ग—धर्मः, तं लाति—गृह्णातीति मङ्गलम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रारिप्सित ग्रन्थ के आदि में किया गया इष्ट देवता का नमस्काररूप मङ्गलाचरण ग्रन्थ निर्माण काल में आगत समस्त विघ्नों का निवारक एवं ग्रन्थसमाप्तिजन्य सुख का प्रदाता होता है। यही बात ग्रन्थकार ने "स्वोपज्ञ प्रारिप्सित न्यायरत्न नामक" आदि समासान्त पद द्वारा "समाप्त्यर्थम्" पद तक स्पष्ट की है।

प्रश्न—मङ्गलाचरण मन से और काय से नहीं किया जाता है क्या ?

उत्तर—किया जाता है।

प्रश्न—तो फिर सबसे उत्तम तो यही था कि वे उसे ही यहाँ पर कर लेते। इस वाचनिक मङ्गलाचरण करने के प्रयास से क्या लाभ ?

उत्तर—यद्यपि मंगलाचरण मन, वचन और काय इन तीनों से भी किया जाता है। परन्तु यहाँ पर जो ग्रन्थकार ने ऐसा वाचनिक मंगलाचरण किया है वह शिष्यजनों को शिक्षा देने के लिये ही किया है। शिष्यजन जब भी नवीन ग्रन्थ का निर्माण करें तो वे अवश्य ही इस प्रकार के मंगलाचरणपूर्वक ही उसका निर्माण करें।

प्रश्न—क्या मन से या काय से किये गये मंगलाचरण से प्रारिप्सित ग्रन्थ की समाप्ति और विघ्नों का विघात नहीं होता है ?

उत्तर—होता है।

प्रश्न—तो फिर उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया ?

उत्तर—कौन कहता है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया, अवश्य ही किया है।

प्रश्न—तो फिर यह पिष्टपेषणरूप वाचनिक मङ्गलाचरण क्यों किया गया ?

उत्तर—शिष्य परम्परा को शिक्षा देने के लिये ही किया गया है।

प्रश्न—मनःकृत मङ्गलाचरण से और कायकृत मङ्गलाचरण से क्या शिष्यजनों को ऐसी शिक्षा नहीं मिल सकती है ?

उत्तर—हाँ, नहीं मिल सकती है। क्योंकि ऐसा वह किया गया मंगलाचरण उनके परोक्ष में होता है। अतः प्रत्यक्ष रूप से शिष्य परम्परा को मंगलाचरण करने की शिक्षा मिलती रहे इसके लिए ग्रंथकार ने यहाँ **"वर्द्धमानं जिनं नत्वा"** इत्यादि रूप से वाचनिक मंगलाचरण किया है। यही बात **"महावीर देवादेः नमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्य परम्पराणां शिक्षार्थम्"** आदि पदों द्वारा स्पष्ट की गई है।

[अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर का ही दूसरा नाम वर्द्धमान है। इन्होंने आत्मा की विभाव परिणतिरूप राग-द्वेषादि जैसे प्रबल योद्धाओं की आन्तरिक सेना पर विजय प्राप्त की है। अतः इन्हें जिन कहा गया है। **"जयति रागादीन् शत्रून् असौ जिनः।** ये सामान्य केवली नहीं थे किन्तु विशिष्ट केवली थे। इसी कारण इन्होंने केवलज्ञान जैसे त्रिभुवनभासक ज्ञान को प्राप्त कर युगपत् चराचर समस्त-ज्ञेयों को और उनकी त्रिकालवर्त्ती अनन्त पर्यायों को हस्तामलकवत् साक्षात् अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव में स्थित रहते हुए जानकर और देखकर भव्य जनता को धर्मदेशना दी है। तथा वर्द्धमान प्रभु की इस धर्मदेशना को यथाक्षयोपशम हृदय में धारण कर गौतमादि गणधरों ने उसका प्रसार और प्रचार किया है। अतः चतुर्विधसङ्घरूप तीर्थ के कर्त्ता की अपेक्षा श्री वर्द्धमान स्वामी को और आद्यगुरु की अपेक्षा गौतम गणधर को यहाँ नमस्कार किया गया है।]

इस ग्रन्थ का अध्ययन उनके ही लिये लाभप्रद होगा जो व्याकरणादि ग्रन्थों के अध्ययन से परिकर्मित बुद्धि वाले होते हुए भी न्यायशास्त्र के तात्त्विक ज्ञान से विहीन हैं। ऐसे जन ही यहाँ बाल शब्द से गृहीत हुए हैं। वे इसके अध्ययन से "प्रमाण का क्या स्वरूप है, प्रमेय किसे कहते हैं, यह कितने प्रकार का होता है" इत्यादि न्यायशास्त्र प्रतिपादित तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जान सकेंगे। अतः जो न्यायशास्त्र में परिकर्मित मतिवाले हैं, उनके लिये इस ग्रन्थ की रचना नहीं की गई है। यही बात **"बालानां तत्त्व बोधाय न्यायरत्नं विरच्यते"** इस उत्तरार्ध द्वारा प्रकट की गई है।

प्रश्न—पूर्व आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक न्यायग्रन्थ प्रमाण प्रमेय आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले तो हैं ही, तब फिर आपने इस नवीन न्यायरत्न ग्रन्थ का निर्माण क्यों किया है ? क्योंकि उनसे ही उन्हें प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि के स्वरूप का ज्ञान यथार्थ रूप से हो ही जावेगा।

उत्तर—यद्यपि यह कहना ठीक है परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित न्याय ग्रन्थ कितने ऐसे हैं जो विस्तृत हैं, कितने ऐसे हैं जो बिलकुल संक्षिप्त है। अतः उनमें बालजनों का प्रवेश नहीं हो सकता है। इसलिये सुगमता से बालजनों का प्रवेश न्यायशास्त्र में हो जाय इसके लिये मध्यम मार्ग रूप से इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

प्रश्न—यह बात आपने कैसे जानी ?

उत्तर—"**बालानां तत्त्वबोधाय**" इस तृतीय चरण से जानी है। क्योंकि बालजनों को न्याय शास्त्र का तत्त्वबोध ऐसे ही मार्ग से हुआ करता है। क्योंकि अल्पबुद्धि वाले होने से न उनका प्रवेश विस्तृत न्याय ग्रन्थों में हो सकता है, और न संक्षिप्त न्यायग्रन्थों में ही हो सकता है। क्योंकि संक्षिप्त में गूढ़ार्थ छिपा रहता है।

प्रश्न—इस ग्रन्थ का "न्यायरत्न" ऐसा नाम क्यों हुआ है ?

उत्तर—इस ग्रन्थ द्वारा प्रधान रूप से न्यायशास्त्र में प्रतिपादित प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के स्वरूप पर सुन्दर ढंग से विस्तार के साथ विचार किया गया है। अतः यह विचार मौलिक होने के कारण रत्नरूप माना गया है क्योंकि **"स्व जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिहोच्यते"** इस उक्ति के अनुसार बालजनों को पूर्वोक्त तत्त्व समझाने में यह उन ग्रन्थों के बीच में अपना उपकारक होने के कारण रत्न के जैसा श्रेष्ठमान्य किया जायगा अतः "न्यायरत्न" ऐसा यह इसका नाम सार्थक है।

इस ग्रन्थ के निर्माता मुनि घासीलाल जी हैं। इस ग्रन्थ को जो "न्यायरत्न" इस नाम से अलंकृत किया गया है, उसका कारण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा प्रमेय पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कथन इस ग्रन्थ के माध्यम से शास्त्रकार करेंगे ऐसा है।

संस्कृत टीका—तत्र शास्त्रकाराः खलु ग्रन्थे मङ्गलत्रयं कुर्वन्ति "ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलं कुर्यात्" इति शिष्टवचनात् तत्र प्रारब्धुमिष्टस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्न समाप्त्यर्थं ग्रन्थादौ मङ्गलं क्रियते, तस्यैव ग्रन्थस्य प्रचार प्रसार द्वारा स्थिरत्व सम्पादनार्थं ग्रन्थस्य मध्ये मङ्गलं विधीयते, एवं शिष्य-प्रशिष्य परम्परा प्रचारार्थं ग्रन्थस्यान्ते मङ्गलं क्रियते इत्यवगन्तव्यम्।

तथा चोक्तं कल्पसूत्रे—तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
पढमं तहि णिद्दिट्ठं णिव्विग्घ पारगमणाय ॥ १ ॥
तस्सेव य थेज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमंपि तस्सेव।
अव्वोच्छिन्न निमित्तं सिस्स-पसिस्साइ वंसस्स ॥ २ ॥

छाया— तन्मङ्गलमादौ मध्ये पर्यन्ते च शास्त्रस्य ।
प्रथमं तत्र निर्दिष्टं, निर्विघ्न पारगमनाय ॥ १ ॥
तस्यैव च स्थैर्यार्थं मध्यमकमन्तिममपि तस्यैव ।
अव्युच्छिन्ननिमित्तं, शिष्य प्रशिष्यादि वंशस्य ॥ २ ॥

अत्र ग्रन्थेऽस्य निर्विघ्न समाप्त्यर्थमेवादौ पूर्वार्द्धेन मङ्गलं कृतमित्यवगन्तव्यम् तथा—"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" इति न्यायेन ग्रन्थाध्ययनादौ प्रेक्षावतां प्रवृत्तये "बालानां तत्त्वबोधाय न्यायरत्नं विरच्यते" इत्युत्तरार्द्धेन अनुबन्ध चतुष्टयमभिहितम् तच्चाधिकारि विषय सम्बन्ध प्रयोजनरूपं भवति उक्तञ्च—

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्ध, श्रोतु श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः, सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥"

तथा च बालानां न्यायपदार्थं तत्त्वावबोध एव प्रकृत न्यायरत्न ग्रन्थस्य प्रयोजनमिति फलितम् । अधिकारी चात्र अधीतकाव्यादिः बालः, प्रमाण नयं जीवाजीवादि प्रमेय पदार्थोविषयः, प्रमाणादि पदार्थतत्त्वज्ञानं प्रयोजनं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूपो बोध्यबोधकभावरूपो वा सम्बन्ध इत्येवमनुबन्धचतुष्टयं बोध्यम् ।

प्रश्न—शास्त्रकारों का ऐसा कथन है कि ग्रन्थ की आदि में, ग्रन्थ के मध्य में और ग्रन्थ के अन्त में मंगलाचरण ग्रन्थ निर्माता को करना चाहिये सो यह उनका कथन किस अभिप्राय को लेकर है ?

उत्तर—प्रारम्भ किये गये ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होने के निमित्त उस ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण करना चाहिये । ग्रन्थ में प्रचार और प्रसार द्वारा स्थिरता सम्पादन के निमित्त मध्य में मंगलाचरण करना चाहिये । तथा शिष्य प्रशिष्य परम्परा तक इसका प्रचार होता रहे । इसके लिये ग्रन्थ के अन्त में मंगलाचरण करना चाहिये । ऐसा अभिप्राय शास्त्रकारों का है । यही बात कल्पसूत्र में "तं मंगलमाईए" आदि दो गाथाओं द्वारा प्रकट की गई है ।

प्रश्न—**"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते"** इस कथन के अनुसार मन्दबुद्धि वाले जन तक भी जब बिना प्रयोजन के किसी काम में प्रवृत्त नहीं होते हैं, तो फिर यह अवश्य प्रकट करना चाहिये कि ग्रन्थकार का इस ग्रन्थ को रचने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—"ग्रन्थकार का इस ग्रन्थ को बनाने का क्या प्रयोजन है" यह बात तो ऐसी है जो उन्होंने स्वयम् "बालानां तत्त्वबोधाय न्यायरत्नं विरच्यते" इस श्लोकार्ध से स्पष्ट कर दी है—क्योंकि इस श्लोकार्ध से अनुबन्धचतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है । यह अनुबन्धचतुष्टय अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन रूप होता है । अतः बालजनों को न्यायशास्त्रोदित पदार्थों का यथार्थ बोध कराना ही इस शास्त्र का अभिमत प्रयोजन है । प्रयोजन शक्यानुष्ठान इष्टरूप होता है, अशक्यानुष्ठान अनिष्टरूप नहीं होता है । जैसे किसी ज्वर से पीड़ित व्यक्ति से कहा जाय कि तक्षक सर्प के मस्तक से मणि लाओ और उसे गले में पहन लो—तुम्हारा ज्वर बिलकुल नष्ट हो जावेगा । यहां ज्वर का नष्ट होना रूप प्रयोजन अशक्यानुष्ठान रूप है तथा किसी विवाहार्थीजन से ऐसा कहा जावे कि तुम अपनी माता से विवाह करलो—तो यह विवाह करना रूप प्रयोजन शक्यानुष्ठानरूप तो है, परन्तु वह अनिष्टरूप है—अनभिमतरूप है ।

इस प्रकार के दोनों प्रयोजनों से विहीन होने के कारण यह शास्त्र अभिमत और शक्यानुष्ठान रूप प्रयोजन वाला है। जो शास्त्र ऐसे अभिमतादि प्रयोजन से युक्त होता है, और सम्बन्ध वाला होता है श्रोताजन की प्रवृत्ति उसी शास्त्र में होती है। अनभिमत प्रयोजन वाले या अशक्यानुष्ठान प्रयोजन वाले तथा सम्बन्ध विहीन शास्त्र में श्रोताजन की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है। यही बात "सिद्धार्थं सिद्ध सम्बन्धम्" आदि श्लोकार्ध द्वारा प्रकट की गई है ? व्याकरण, काव्यादि जिसने पढ़ लिये हैं, और न्यायशास्त्र कथित पदार्थों के स्वरूप का जो जिज्ञासु है ऐसा विनेय जन ही इस ग्रन्थ का अध्ययन करने का अधिकारी है। जीव अजीव आदि रूप प्रमेय पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन करना यह इस ग्रन्थ का विषय है। विषय का और इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप सम्बन्ध है। अथवा—बोध्यबोधकभावरूप भी सम्बन्ध है, प्रमाण आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान इससे प्राप्त करना यह विनेयगत प्रयोजन है। इस प्रकार से ये चार अनुबन्ध इस ग्रन्थ में है ऐसा जानना चाहिये।

न्यायरत्नावली टीका समुपेतं न्यायरत्नम्

सूत्र—स्वपरव्यवसायि ज्ञानमबाधितं प्रमाणम् ॥१॥

संस्कृत टीका:—प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरिति वचनात् प्रमाणं विना न कस्याऽपि प्रमेय वस्तुनो यथार्थज्ञानं सम्भवति तस्मात्सर्वप्रथमं प्रमाणस्वरूपं प्रतिपादयितुकामः "स्वपर व्यवसायि" इत्यादि सूत्रं प्रतिपादयति, अत्र प्रमाणमिति लक्ष्यम् अवशिष्टं तल्लक्षणम्, तत्रापि "स्व-पर-व्यवसायि अबाधितम्" इति ज्ञानविशेषणम्, स्वशब्देन ज्ञानस्वरूपं परशब्देन च ज्ञानाद्भिन्नोऽर्थो गृह्यते, स्वपरौ विशेषेण—संशयादिव्यवच्छेदेन अवसातुम्—अवभासयितुं शीलं यस्य तत् स्वपर व्यवसायि—ईदृशं ज्ञानमेव प्रमाणं भवितुमर्हति नाज्ञानरूपं सन्निकर्षादि, वस्तु मात्रस्यैव सामान्य—विशेषात्मकतया यदा ग्राहकं ज्ञानं सामान्यांशं परित्यज्य विशेषांशं प्रधानतया गृह्णाति तदा तज्ज्ञानमित्युच्यते, यदातु विशेषांशं परित्यज्य प्रधानतया सामान्यांशं गृह्णाति तथा तद्दर्शनमित्युच्यते। वस्तुनो विशेषांश ग्राहकतया ज्ञानस्यैव प्रमाणत्वं नतु दर्शनस्येति सूचयितुं ज्ञानं प्रमाणमित्युक्तम्। निर्विकल्पके संशयादो चातिव्याप्तिवारणाय "स्वपर व्यवसायि" इत्युक्तम्। व्यवसायिपदस्य सप्रकारक निश्चयरूपार्थकतया संशयादीनां विरुद्धानेककोटिसंस्पर्शत्वेन पदार्थनिश्चायकत्वाभावात् निर्विकल्पस्यच कल्पनारूप व्यवसायकत्वाभावेन च तन्निश्चायकत्वाभावात् नात्र लक्षणस्याति व्याप्तिः। अबाधितपदेन विपर्यय ज्ञानस्य निरासः, उत्तर काले तद्विषयस्य बाधितत्कत्। स्वपदेन ज्ञानान्तर प्रत्यक्षवादिनां नैयायिकानां, नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानाम् अचेतनान्तः करणादेः ज्ञानवादिनां सांख्यानां च मतं परास्तम्, परपदेन च ज्ञानाद्वैतवादिनां वेदान्तिनां शून्यवादिनां माध्यमिकानां च मतं निरस्तं भवति, सम्पूर्ण प्रमाणलक्षणेन तु परपरिकल्पित प्रमाण लक्षणानि ध्वस्तानि भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥

हिन्दी व्याख्या—स्व और पर को निर्दोष रूप से निश्चय करने वाला अबाधित ज्ञान ही प्रमाण है। इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने सर्वप्रथम जो प्रमाण के स्वरूप का "अपने को एवं पदार्थ को निर्दोष रूप से निश्चय करने वाला अबाधित ज्ञान ही प्रमाण होता है" इस रूप से प्रतिपादन किया है, वह "प्रमाणाद्धि प्रमेयसिद्धिः" प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि, ज्ञप्ति, अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति होती है, इस कथन के अनुसार ही किया है, क्योंकि प्रमाण के बिना किसी भी अभिलषित वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता है, यहाँ ज्ञान पद विशेष्य है, और स्व-पर-व्यवसायि अबाधित ये दो पद इसके विशेषणभूत हैं। प्रमाण लक्ष्य और स्वपर व्यवसायि अबाधित ज्ञान इसका लक्षण हैं। लक्षण दो प्रकार का होता है—एक आत्मभूत लक्षण और दूसरा अनात्मभूत लक्षण। इन्हीं दोनों लक्षणों को क्रमशः शास्त्रान्तर में स्वरूप लक्षण और तटस्थ (उप लक्षण) लक्षण कहा गया है। जो वस्तु के स्वरूप में तन्मय होकर मिला रहता है

वह अग्नि के लक्षण उष्णता ही के समान आत्मभूत लक्षण कहलाता है और जो वस्तु के स्वरूप के साथ मिला हुआ नहीं रहता है, वह अनात्मभूत लक्षण कहलाता है जैसा कि दण्डी देवदत्त का अनात्मभूत लक्षण दण्ड है। यहाँ पर प्रमाण का यह लक्षण आत्मभूत लक्षण है, क्योंकि यह प्रमाण को अप्रमाण से जुदा करता है अतः यह उसका स्वरूपभूत ही है। लक्षणाभास तीन प्रकार के होते हैं—एक अव्याप्ति लक्षणाभास, दूसरा अतिव्याप्ति लक्षणाभास और तीसरा असम्भव लक्षणाभास। जो लक्ष्य के एकदेश में वर्तमान होता है, वह अव्याप्ति नाम का लक्षणाभास है, जैसे किसी ने गाय का लक्षण शावलेपत्व किया तो यह शावलेपत्व सर्वत्र लक्ष्यभूत गायों में नहीं रहता है, किन्तु किसी-किसी गाय में रहता है, अतः लक्ष्य मात्र में न रहकर किसी एक लक्ष्यैकदेशभूत गाय में रहने के कारण यह लक्षण अव्याप्ति लक्षणाभास माना गया है, इसी प्रकार जो लक्षण अपने लक्ष्य में रहता हुआ भी अलक्ष्य में रहता है वह अतिव्याप्ति लक्षणाभास है—जैसे किसी ने गाय का लक्षण पशुत्व किया तो यह पशुत्व लक्षण अपने लक्ष्यभूत गाय में रहते हुए भी अलक्ष्यभूत जो घोड़े आदि जानवर हैं, उनमें भी रहता है, अतः ऐसा लक्षण होता है वह अतिव्याप्ति लक्षणाभास कहा जाता है। जिस लक्षण का रहना लक्ष्य में बिलकुल बाधित होता है, वह असंभव लक्षणाभास है। जैसे किसी ने मनुष्य का लक्षण विषाणी—सींगों वाला ऐसा किया—तो यह लक्षण अपने लक्ष्यभूत मनुष्य में बाधित होने के कारण असंभव लक्षणाभास है क्योंकि मनुष्यों के सींग नहीं होते हैं। प्रकृत में "निर्विकल्पके संशयादौ च अतिव्याप्ति वारणाय" इस कथन से इन दोषों की सूचना की गई है। अतः इनके स्वरूप का प्रतिपादन हमने यहाँ पर उपयोगी समझकर किया है। प्रमाण का यह लक्षण अव्याप्ति दोष से शून्य इसलिये है, कि यह प्रमाण का लक्षण अपने प्रत्यक्ष और परोक्षभूत लक्ष्य में व्याप्त होकर रहता है। ऐसा नही है, कि यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण में ही रहता हो, परोक्ष प्रमाण में नहीं रहता हो। अतः समस्त अपने लक्ष्यभूत प्रमाण में रहने के कारण यह अव्याप्ति लक्षणाभास से शून्य है। इसी प्रकार अप्रमाणभूत जो संशयादिक ज्ञान हैं, उनमें यह रहता नहीं है। अतः अलक्ष्य से व्यावृत्त होने के कारण यह अतिव्याप्ति दोष से भी दूषित नहीं है। तथा यह लक्षण अपने लक्ष्यभूत प्रमाण में सर्वप्रकार से संभावित होने के कारण असंभवी भी नहीं है। इस तरह यह लक्षण त्रिदोषविहीन होने से सर्वथा निर्दोष है। जो ज्ञान अपने आपको और अपने से भिन्न पर-पदार्थ को जानने का स्वभाव वाला है तथा संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय इनसे बिलकुल जुदा है ऐसा वह ज्ञान ही प्रमाण है। ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न— स्व शब्द के तो आत्मा, आत्मीयजनादि, ज्ञाति, एवं धन ये चार वाच्यार्थ हैं, जब स्व शब्द से यहाँ आत्मा—निज स्वरूप— ऐसा ही अर्थ यहाँ क्यों गृहीत हुआ है ?

उत्तर—यहाँ ज्ञान में प्रमाणता का कथन चल रहा है, अतः प्रकरण के अनुसार यहाँ स्वशब्द से ज्ञान का आत्मरूप अर्थ ही अभीष्ट होने के कारण गृहीत हुआ है, अन्य नहीं। इसी तरह पर शब्द के भी श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदि अनेक अर्थ हैं, पर उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है। किन्तु ज्ञान से भिन्न जो प्रमेय है वही पर शब्द से विवक्षित हुआ है। अतः वही यहाँ गृहीत हुआ है, यही बात "स्वशब्देन ज्ञान स्वरूपं, पर शब्देन च ज्ञानादिभिन्नोऽर्थो गृह्यते" इन पदों द्वारा व्यक्त की गई है।

प्रश्न—यदि ज्ञान को प्रमाण माना गया है तो फिर संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय ये सब भी तो ज्ञान रूप ही हैं, फिर इन्हें प्रमाण क्यों नहीं माना गया है और क्यों व्यवसायि पद से एवं अबाधित पद से इन्हें हटाया गया है ?

उत्तर—संशयादि जो ज्ञान हैं वे वास्तविक—यथार्थ ज्ञान नहीं हैं। इसी कारण ये अपने द्वारा

गृहीत हुए विषय के यथार्थ निश्चायक नहीं होते हैं। अतः ज्ञान होने पर भी ये सत्यज्ञान से बहिर्भूत माने गये हैं। इनका लक्षण आगे स्वयं सूत्रकार प्रकट करने वाले हैं। विपर्यय ज्ञान द्वारा जो विषय गृहीत किया जाता है, वह उत्तरकाल में प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा बाधित होता है, इसलिये यह भी यथार्थ ज्ञान स्वरूप से बहिर्भूत माना गया है।

प्रश्न—आपने जो ऐसा कहा है कि—स्व-पर-व्यवसयि अबाधित ज्ञान ही प्रमाण है, सो सूत्र में तो यही पद का वाचक एवकार प्रयुक्त हुआ नहीं है। फिर ज्ञान ही प्रमाण है—ऐसा आप कैसे कहते हैं ?

उत्तर—जितने भी वाक्य होते हैं वे सब अवधारण सहित ही होते हैं। अतः यहाँ पर भी ऐसा ही समझना चाहिये।

प्रश्न—ऐसा अवधारण हो नहीं सकता, क्योंकि अज्ञानरूप सन्निकर्षादि भी प्रमितिजनक होने से प्रमाणभूत माने गये हैं ?

उत्तर—अज्ञानरूप सन्निकर्षादिकों में प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतमता नहीं है। अतः उनमें प्रमाणता नहीं मानी गई है। प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतमता तो चेतन के धर्मरूप ज्ञान में ही मानी गई है। अतः उसी में प्रमाणता कही गई है।

प्रश्न—निर्विकल्पक दर्शन जिसे बौद्धों ने प्रमाणभूत माना है उसे यहाँ पर प्रमाणता से बहिर्भूत क्यों किया गया है ?

उत्तर—बौद्ध मान्यता के अनुसार यह निर्विकल्पक दर्शन कल्पना से रहित होता है, उसमें "यह अमुक पदार्थ है, अमुक जाति का है, अमुक वर्ण वाला है" इत्यादि रूप कल्पना नहीं होती है। अतः कल्पनाविहीन होने से यह पदार्थ का निर्णायक नहीं हो सकता है, पदार्थ का निर्णायक तो सविकल्पक ज्ञान ही होता है। इसलिये सविकल्पक ज्ञान को ही प्रमाणभूत माना गया है। स्व-पर व्यवसायि अबाधित ज्ञान सविकल्पक है, इसी कारण उसमें प्रमाणता का समर्थन किया गया है।

प्रश्न—यहाँ पर "**प्रमाणं स्वपर-व्यवसायि अबाधितं ज्ञानम्**" इतना कथन तो प्रतिज्ञारूप है। क्योंकि धर्म और धर्मी के समुदायरूप कथन का नाम प्रतिज्ञा है। "प्रमाणम्" यह धर्मी-पक्ष है। और "स्व पर व्यवसायि अबाधितं ज्ञानम्" यह विधेयरूप साध्य है। पर इतने कथन मात्र से तो स्वपक्ष की सिद्धि होती नहीं है। इसके लिये तो हेतु का प्रयोग होना चाहिये पर वह हेतु यहाँ सूत्रकार ने सूत्र में प्रकट नहीं किया है। अतः साधनशून्य होने से आप अपने कथन की सिद्धि और समर्थन कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर—शङ्का उचित है। परन्तु यदि इस पर अच्छी तरह से विचार किया जावे तो समाधान इसी सूत्र में निहित है, वह किस प्रकार से है ? तो सुनिये—हम बताते हैं—यहाँ "स्व-पर-व्यवसायि अबाधित ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वात्" इस प्रकार का अनुमानप्रयोग सूचित किया गया है। अतः यह हमारा कथन साधनविहीन नहीं है।

प्रश्न—'प्रमाणम्' यह पद तो प्रथमान्त विभक्ति वाला है और हेतुपरक पद पञ्चमी विभक्ति वाला होता है। फिर इसे आप पञ्चमी विभक्ति वाला कैसे बना सकते हैं ? तथा—"प्रमाणम्" यह धर्मी है और उसी धर्मी को आप जब हेतु बनाते हैं तो यह प्रतिज्ञा का एकदेश होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास रूप हो जाता है, फिर इससे स्वसाध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

उत्तर—प्रथमान्त विभक्ति वाला पद भी हेतु रूप से कहीं-कहीं व्यवहृत होता हुआ देखा जाता है, जैसे "गुरवो राजभाषा न भक्षणीया गुरुत्वात्" स्वपर व्यवसायि अबाधित ज्ञान में ही प्रमाणता होती है इसी कारण वही ज्ञान प्रमाणभूत है। जो ऐसा नहीं होता है, वह प्रमाण भी नहीं होता है, जैसे संशयादि ज्ञान। यहां सूत्र में जो स्वतन्त्र रूप से हेतु का प्रयोग नहीं किया गया है वह सूत्र सूचनिका रूप ही होता है, इस अभिप्राय से नहीं किया गया है। अतः इसे स्वयं समझ लेना चाहिये। दूसरे जो धर्मी को हेतु-परक रखने पर असिद्ध हेत्वाभास का उसमें उद्भावन किया गया है—सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब "प्रमाणत्वात्" इस रूप से प्रमाण को हेतुपरक माना जावेगा तब वह सामान्य रूप माना जावेगा और प्रमाण धर्मी विशेष रूप माना जायगा। सामान्य अपने विशेषों में रहता ही है। धर्मी को प्रतिज्ञा का एकदेश मान कर असिद्ध नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि धर्मी तो प्रसिद्ध ही होता है। और जब उसे हेतुपरक रखा जाता है तो वह भी प्रसिद्ध होता है। फिर इसे असिद्ध कैसे कहा जा सकता है, असिद्ध तो साध्य ही हुआ करता है। साध्य को तो हेतु बनाया नहीं गया है। अतः "प्रमाणं स्वपर व्यवसायि अबाधितं ज्ञानं प्रमाणत्वात्" यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

इस तरह यहाँ पर कंटकों का उद्धार करके अब इस सूत्र की टीका का अर्थ लिखा जाता है—

प्रमाण के अधीन ही प्रमेय की सिद्धि होती है, इस वचन के अनुसार प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती है—अतः इसी बात को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने सर्वप्रथम प्रमाण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। यहाँ पर प्रमाण लक्ष्य है और ज्ञान पद इसका लक्षण है।

इस लक्षण के "स्वपर व्यवसायि अबाधितम्" पद अन्य व्यावर्त्तक हैं। स्वशब्द से ज्ञानस्वरूप का और पर शब्द से ज्ञान से भिन्न पदार्थ का ग्रहण हुआ है। संशय आदि को दूर करते हुए, जिस ज्ञान का स्वभाव इन स्वपर को निश्चय करने का होता है, ऐसा ही वह ज्ञान स्वपर व्यवसायि कहा गया है। ऐसा ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ है—सो जिस समय ग्राहक ज्ञान सामान्य अंश को छोड़कर विशेषांश को प्रधान करके ग्रहण करता है, तब वह ज्ञान कहा जाता है, और जिस समय विशेषांश को छोड़कर सामान्यांश को प्रधानरूप से ग्रहण करता है तब वही ग्राहक ज्ञान दर्शन कहलाता है। दर्शन को प्रमाण इसीलिये नहीं माना गया है, कि उसके द्वारा गृहीत हुआ सामान्य व्यवहारोपयोगी नहीं होता है। ज्ञान को प्रमाण मानने का कारण यही है कि उसके द्वारा गृहीत हुआ विशेषांश व्यवहारोपयोगी होता है। व्यवहारोपयोगी का अभिप्राय अर्थक्रियाकारिता से है। इसी बात को सूचित करने के लिये "ज्ञानं प्रमाणं" ऐसा सूत्रकार ने कहा है। इस ज्ञान का विशेषण जो "स्व-पर-व्यवसायि" पद है, वह संशयादि ज्ञान में और निर्विकल्पक दर्शन में अतिव्याप्ति दोष को वारण करने वाला है। क्योंकि संशयादि ज्ञान पदार्थ के निश्चायक नहीं होते हैं। विरुद्ध अनेक कोटि का स्पर्श करने वाला संशय ज्ञान होता है और निर्विकल्पक में कल्पनारूप व्यवसायात्मकता का अभाव रहता है, अबाधित पद से विपर्यय ज्ञान की निवृत्ति की गई है। यद्यपि विपर्यय ज्ञान पदार्थ को विषय करने वाला होता है और सविकल्पक भी होता है परन्तु उत्तर काल में उसका विषय प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हो जाता है। अतः विपर्ययज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप नहीं माना गया है प्रत्युत मिथ्याज्ञानरूप ही माना गया है। स्वपद जो ज्ञान का विशेषणभूत पद है वह इस बात को प्रकट करता है कि ज्ञान जिस प्रकार से पदार्थ को जानता है, उसी प्रकार से वह अपने आपको भी जानता है, पदार्थ को जानने

के लिये जिस प्रकार से ज्ञान व्यापृत होता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप को जानने के लिये वह अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता है। नैयायिकों की ऐसी मान्यता है कि ज्ञान अपने आपको जानने के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखता है अतः वह स्वप्रकाशी नहीं है। मीमांसकों का ऐसा कहना है कि ज्ञान सर्वदा परोक्ष ही है, वह किसी अन्य ज्ञानान्तर से भी नहीं जाना जाता है। सांख्यों का ऐसा कहना है कि अचेतन इन्द्रियाँ और अन्तःकरणादिक ये सब ज्ञानरूप ही हैं। सो इन सब मान्यताओं को हटाने के लिये यहाँ स्व-पद का प्रयोग किया गया है। पर-पद ने ज्ञानाद्वैतवादी वेदान्तियों की मान्यता को एवं शून्यवादी माध्यमिकों की मान्यता को हटाया है। तथा प्रमाण के इस सम्पूर्ण लक्षण ने "अर्थोपलब्धिः प्रमाणं" इत्यादि रूप से मान्य किये गये अन्य सिद्धान्तकारों के प्रमाण लक्षणों को हटाया है, प्रमाण के बिना कोई भी वस्तु उपादेय नहीं होती है इसलिये प्रस्तुत न्याय पदार्थ उपादेय हो सके इस कारण पहले प्रमाण के लक्षण का कथन करके अब सूत्रकार क्रमशः विवक्षित न्याय विषय का प्रतिपादन आगे यथास्थान करेंगे।

ज्ञान ही प्रमाण क्यों है—इसका समर्थन :—

सूत्र—इष्टानिष्ट वस्तूपादान हानक्षमत्वाज्ज्ञानमेव प्रमाणम् ॥२॥

संस्कृत टीका—ज्ञानमेव प्रमाणं कथं भवतीति युक्त्या समर्थयमानः सूरिरिष्टानिष्टेत्यादि सूत्रं प्रतिपादयति—इष्टं-सुखं तत्साधनं च तद्रूपं वस्तु, ज्ञानमेव उपादत्ते अनिष्टं सर्पादिवस्तु जहाति च। नतु घट पटादि वत्, संयोग सन्निकर्षादिः तस्य जडत्वात्। चेतनस्यात्मनः धर्मत्वात् ज्ञानमेव तत्र समर्थं भवति, लौकिको परीक्षको वा जनः ज्ञानेन हितं हितसाधकं च वस्तु ज्ञात्वा तद् गृह्णाति, अहितम् अहितसाधकं च ज्ञात्वा तत् परित्यजति, ज्ञानस्यैव हेयोपादेय क्रियायां साधकतमत्वात्। सन्निकर्षादिः साधकस्य तत्र छिदि क्रियायां देवदत्तादिवत् साक्षात् समर्थता नास्ति ॥२॥

हिन्दी व्याख्या—ज्ञान ही प्रमाण क्यों है, सन्निकर्षादि प्रमाण क्यों नहीं है ? इस बात का सूत्र द्वारा समर्थन किया गया है—सुख और सुख के साधन, दुःख और दुःख के साधन यहाँ क्रमशः इष्ट और अनिष्ट पद से गृहीत हुए हैं। इष्ट की प्राप्ति कराने में और अनिष्ट के परिहार कराने में ज्ञान ही समर्थ होता है, सन्निकर्षादि नहीं होते हैं, इसलिये ज्ञान में ही प्रमाणता है सन्निकर्षादि में नहीं क्योंकि सन्निकर्षादि में जड़ होने से घट-पट आदि की तरह हित की प्राप्ति कराने में एवं अहित के परिहार कराने में समर्थता नहीं है। ज्ञान में ही ऐसा सामर्थ्य है। क्योंकि वह चेतनरूप आत्मा का एक धर्म है। चाहे लौकिक जन हों चाहे परीक्षक जन हों—वे सब ज्ञान द्वारा ही जानकर हित—इष्ट की प्राप्ति और अहित—अनिष्ट का परित्याग किया करते हैं। इस तरह यह जो हेयोपादेयरूप क्रिया होती है, उस क्रिया के प्रति साधकतमता ज्ञान में ही आती है, अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि में नहीं। यदि साधक मात्र होने से सन्निकर्षादि में प्रमाणता मानी जावे तो छिदिक्रिया में साधक मात्र होने से देवदत्तादि को भी प्रमाणभूत मानना पड़ेगा।

परन्तु ऐसा नहीं माना गया है, क्योंकि वह छिदिक्रिया कुठार के द्वारा ही की जाती है, देवदत्त के द्वारा नहीं। देवदत्त तो उस कुठार को चलाने में ही साधक है। अतः छिदिक्रिया में साक्षात् साधकतमता कुठार में ही आती है देवदत्तादि में नहीं। इसी प्रकार से उपादेय और हेय पदार्थ की प्राप्ति और परिहार करना रूप जो क्रिया होती है उसके प्रति साक्षात् साधकतमता ज्ञान में ही आती है, अचेतन जड़ रूप सन्निकर्षादि में नहीं। यहाँ ज्ञान पक्ष है "प्रमाण यह साध्य है" और "इष्टानिष्टवस्तूपादान हानक्षमत्वात्" यह हेतु है।

अनुमान के पाँच अङ्ग होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। "ज्ञानं प्रमाणम्' यह धर्म धर्मी का समुदायरूप वाक्य प्रतिज्ञा है। एवम्—"इष्टानिष्ट वस्तूपादानहानक्षमत्वात्" यह हेतु है। यहाँ अन्वय दृष्टान्त नहीं है, पर घटपटादिरूप व्यतिरेक दृष्टान्त है। अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का कहा गया है। साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव जहां पर पर प्रकट किया जाता है, वह अन्वय दृष्टान्त है। और साध्य के अभाव में साधन का अभाव जहाँ दिखलाया जाता है, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। जैसे रसोईघर की तरह यह पर्वत अग्निवाला है। धूमवाला होने से यहाँ साधन धूम के सद्भाव से ही साध्य—अग्नि का सद्भाव प्रकट करने में रसोईघर अन्वय दृष्टान्त है, तथा जहाँ अग्नि का अभाव है, वहां साधनभूत धूम का भी अभाव है—जैसे तालाब वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। क्योंकि तालाब में साध्याभाव से साधनाभाव प्रकट किया गया है।

पक्ष में हेतु के पुनः कथन करने को—दुहराने को—उपनय कहते हैं, जैसे रसोईघर की तरह यह पर्वत भी धूमवाला है। यहाँ अग्निरूप साध्य को प्रकट करने के लिये एक बार "धूमात्" इस हेतु का प्रयोग किया गया है, और अन्वय दृष्टान्त के कथन के बाद पुनः यह धूमवाला है, ऐसा कहा गया है, अतः धूमरूप हेतु को पक्ष में इस प्रकार से दुहराने वाला वाक्य उपनय माना गया है। अब यह पर्वत धूमवाला है, तो अग्निवाला है। इस प्रकार से पक्ष में साध्य के दुहराने को निगमन कहते हैं। प्रकृत में यह सूत्र भी पञ्च अवयवों से युक्त अनुमान प्रमाण स्वरूप है। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण यहाँ—इस सूत्र में—प्रकट कर दिये गये हैं, इसलिये ज्ञान ही इष्टानिष्ट वस्तु के उपादान और हान में समर्थ है, यह उपनय वाक्य है अतः वही प्रमाण है, यह निगमन वाक्य है। इस प्रकार से इस सूत्र में पञ्चरूपता समझ लेनी चाहिये ॥२॥

सन्निकर्षादि में प्रमाणता का निरसन :—

सूत्र—स्वार्थनिर्णये साधकतमत्व विरहाद्घटादेरिव जडस्य प्रामाण्याभावः ॥ ३ ॥

संस्कृत टीका—जडस्य संयोग सन्निकर्षादेः प्रामाण्याभावं समर्थयितुं स्वार्थनिर्णये साधकतमत्व विरहादित्यादि सूत्रं प्रतिपादयति—स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगाद् जडस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यं नोपपद्यते यथा घटादिर्जडतया स्वस्य पदार्थस्य च गृहादेर्निश्चायको न भवति एवमेव जडतया सन्निकर्षादिरपि स्वप्रकाशकत्वाभावेन अचेतनत्वेन च स्वार्थयो निर्णायको न भवति। स्वार्थनिर्णये करणस्यैव ज्ञानस्य प्रामाण्यं मन्तव्यम्, अनुमानाकारश्चायं सन्निकर्षादिर्नप्रमाणं स्वार्थनिर्णयेऽसाधकतमत्वात्। यत् स्वार्थनिर्णयेऽसाधकतमं तन्नप्रमाणं यथा घटादिः, स्वार्थनिर्णयेऽसाधकतमश्च सन्निकर्षादिस्तस्मात् न प्रमाणमिति ॥३॥

हिन्दी व्याख्या—जड में प्रमाणता इसलिये नहीं मानी गई है, कि वह स्वनिर्णय करने में और पर के निर्णय करने में साधकतम नहीं होता है। इसलिये जड़रूप सन्निकर्षादिकों में घटादि की तरह प्रमाणता नहीं आ सकती है।

ऐसा नियम है कि जो अपने आपको नहीं जानता या प्रकाशित करता है वह पर पदार्थ को कैसे जान सकता या प्रकाशित कर सकता है। सन्निकर्ष—इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध—चूंकि जड़रूप है, अतः घटपटादि जड़ पदार्थ की तरह वह न अपना निश्चायक होता है, और न पर पदार्थ का निश्चायक

होता है। इसलिये स्वपर के निर्णय करना रूप क्रिया में जो करण होगा वही प्रमाण होगा। इस क्रिया में करण ज्ञान ही है, अतः वही प्रमाण है।

प्रश्न—स्वनिर्णय करने में जो सशक्त होता है वही पर-निर्णायक होता है। ऐसा नियम यदि माना जावे तो फिर इन्द्रियादि द्वारा पदार्थ का जो निर्णय होता देखा जाता है वह कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—इन्द्रियों द्वारा पदार्थ का निर्णय होता है, ऐसी यह मान्यता केवल औपचारिक है—वास्तविक नहीं। क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं, और जड़ से किसी भी पदार्थ का निर्णय होता नहीं है। जिस प्रकार मकान के भीतर बैठा हुआ देवदत्त खिड़की के द्वारा बाहरी पदार्थों को देखता है। इसी प्रकार द्रव्येन्द्रिय द्वारा भावेन्द्रिय रूप ज्ञान पदार्थों को जानता है, उनका निर्णय करता है।

प्रश्न—ज्ञान में स्वप्रकाशकता स्वतः है वा परतः है ?

उत्तर—ज्ञान में स्वप्रकाशकता स्वतः है, परतः नहीं है क्योंकि ज्ञान चेतन आत्मा का एक सहभावी गुण है। अतः यह दीपक की तरह स्व-पर का प्रकाशक माना गया है। इसलिये स्व-पर-निर्णय कराने में करण रूप से साधकतम चेतन धर्म रूप ज्ञान को ही मानना चाहिये जड़ को नहीं।

प्रश्न—यहाँ पर अनुमानप्रयोग किस प्रकार से किया गया है ?

उत्तर—अनुमानप्रयोग इस प्रकार से किया गया है—अपने और पर के निर्णय करने में असाधकतम होने के कारण सन्निकर्ष प्रमाणरूप नहीं है, जो स्व और अर्थ के निर्णय करने में असाधकतम होता है, वह प्रमाण नहीं होता है—जैसे घटादि। स्व और अर्थ के निर्णय करने में असाधकतम सन्निकर्ष है। इसलिये वह प्रमाण नहीं है। इस प्रकार का यह पञ्चावयव सम्पन्न अनुमान का प्रयोग है ॥ ३ ॥

जड़ में साधकतमता का अभाव कथन :—

सूत्र—चेतन धर्म व्यतिरिक्तस्य सन्निकर्षादेः स्व-परनिर्णये स्तम्भादेरिव न साधकत्वम् ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका—यतः सन्निकर्षादिश्चेतन धर्म व्यतिरिक्तस्ततस्तत्र स्तम्भादेरिव स्व-पर-निर्णायकत्वं नास्ति। अतः कथं तत्र साधकतमत्वं संभवेत् ॥ ४ ॥

हिन्दी व्याख्या—स्व और पर के निर्णय करने की प्रति जड में साधकतमता नहीं है। ऐसा जो पहले कहा गया है उसी का समर्थन इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने किया है। इसमें यह समझाया गया है, कि सन्निकर्षादि जड़ इसलिये हैं, कि वे चेतन धर्म से भिन्न हैं। जैसा कि चेतन धर्म से भिन्न स्तम्भ होता है। अतः जिस प्रकार स्तम्भ में चेतन धर्म से भिन्न होने के कारण जड़ता है। उसी प्रकार से सन्निकर्षादि में भी चेतन धर्म से भिन्नता है। जहाँ-जहाँ चेतन धर्म से भिन्नता होती है, वहाँ-वहाँ नियम से जड़ता होती है। सन्निकर्ष भी इसी तरह का है क्योंकि इन्द्रियाँ चेतन धर्म से व्यतिरिक्त हैं, और बाह्य पदार्थ भी चेतन धर्म से व्यतिरिक्त हैं। जब यह बात है तो इनका जो संयोगरूप सन्निकर्ष है, वह भी जड़ ही है। इसलिये वह भी चेतन धर्म से भिन्न है। फिर इसमें स्व-पर-निर्णयरूप क्रिया के प्रति साधकतमता कैसे आ सकती है ? चेतन धर्म रूप ज्ञान में ही स्व-पर-निर्णयरूप क्रिया के प्रति साधकतमता आती है। ऐसा जानना चाहिये ॥ ४ ॥

ज्ञान में स्व-पर-व्यवसायात्मकता का समर्थन :—

सूत्र—तद्व्यवसायस्वभावं समारोप तिरस्कारकत्वात् ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका—ज्ञानस्यैव प्रमाणत्वं न जडरूपस्य सन्निकर्षादेरिति पूर्वमुक्तं तच्च निश्चयात्मकमेव ज्ञानं प्रमाणं भवति नतु निर्विकल्पकं नापि अनिश्चयात्मकं ज्ञानं प्रमाणं संभवति इत्येवं प्ररूपयितुकामः सूत्रकारः तद्व्यवसायस्वभावमित्यादि सूत्रं प्रतिपादयति—प्रमाणभूतं तत्-ज्ञानं व्यवसायात्मकं भवति संशयविपर्ययानध्यवसायरूप समारोप तिरस्कारकत्वात् यत् समारोप तिरस्कारकं न भवति न तद्व्यवसाय स्वभावं भवति यथा निर्विकल्पकम्, समारोपतिरस्कारकं च ज्ञानं तस्मात्तद्व्यवसाय स्वभावम् ।

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने प्रमाणभूत ज्ञान में स्व-पर-व्यवसायात्मकता सिद्ध की है, और यह व्यवसायात्मकता उसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप समारोप का वह विरोधी होता है इस कारण से आती है ।

प्रश्न—जब ज्ञान को आपने प्रमाणभूत माना है तो फिर निर्विकल्पक ज्ञान भी ज्ञान ही है उसे भी प्रमाणभूत आपको मानना चाहिये । तथा च फिर इसका जो आर्हत मत में निरसन प्रमाणता की कोटि से किया गया है सो क्यों किया गया है ?

उत्तर—ठीक है । परन्तु हमने जो ज्ञान को प्रमाण माना है सो निर्विकल्पक ज्ञान को या अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है, किन्तु निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण माना है । क्योंकि जब ज्ञान में प्रमाणता का कथन किया गया है तब वहाँ पर "स्वपर व्यवसायि" इन विशेषणों से उसे विशेषित किया गया है । इसका कारण यह है कि ज्ञान में स्वपर-व्यवसायात्मकता उसके द्वारा समारोप के निराकरण किये जाने के कारण से ही आती है । निर्विकल्पक ज्ञान समारोप का विरोधी होता नहीं है । अतः उसमें व्यवसायात्मकता कैसे आ सकती है ? अर्थात् नहीं आ सकती है । निश्चयात्मक शब्द का अर्थ है सविकल्पक । सविकल्पक ज्ञान में ही नाम-जाति आदि रूप विकल्प उठते हैं, निर्विकल्पक ज्ञान में नहीं, अतः वह प्रमाण नहीं माना जा सकता है । क्योंकि उसके द्वारा संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप समारोप का निराकरण नहीं होता है । अतः ऐसा मानना चाहिये—कि जो संशयादि रूप समारोप का निराकरण करने वाला होता है, वही निश्चयात्मक होता है । ऐसा वह निश्चयात्मक सम्यग्ज्ञानरूप सविकल्पक ज्ञान ही है ? मिथ्याज्ञानरूप निर्विकल्पक ज्ञान या सन्निकर्ष आदि नहीं । तात्पर्य इस सूत्र का यही है कि सम्यग्ज्ञान में व्यवसायात्मकता समारोप का विरोधी होने के कारण से है । अतः जो समारोप का विरोधी होगा, वही व्यवसायात्मक—स्व-पर का निश्चायक होगा । निर्विकल्पक या सन्निकर्ष ऐसे नहीं हैं । अतः वे व्यवसायात्मक भी नहीं हैं, और व्यवसायात्मक न होने से वे प्रमाण भी नहीं हैं ॥ ५ ॥

सूत्र—संशय विपर्ययानध्यवसायभेदात् त्रिविधः समारोपः ॥ ६ ॥ (उत्तानार्थमिदं सूत्र)

सूत्रार्थ—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के भेद से समारोप तीन प्रकार का है ।

सूत्र—विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः ॥ ७ ॥

संस्कृत टीका—एकस्मिन् धर्मिणि अनिश्चितानां विरुद्धानां च अनेककोटीनामवगाहनशीलं यज्ज्ञानं स संशय इत्युच्यते । यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा, स्थाणु पुरुष साधारणोर्ध्वतादि दर्शनात् तद्विशेषस्य च वक्र कोटरशिरः पाण्यादेः साधक प्रमाणस्याभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य, एवं च उभय कोटि साधारण धर्मदर्शनं विशेषधर्मादर्शनं च संशयजनकं भवति, विशेषधर्मदर्शनं तु संशय निवर्त्तकं भवति इति बोध्यम् ।

हिन्दी व्याख्या—एक वस्तु में अनिश्चित विरुद्ध अनेक कोटियों को विषय करने वाला ज्ञान संशय है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष है ? इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह संशय कहलाता है। इस सूत्र द्वारा यही संशय का लक्षण समझाया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है, कि संशयज्ञान वहीं पर होता है, कि जहाँ एकधर्मी में सामान्य धर्म का तो प्रत्यक्ष होता है, और तद्गत विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे किसी मनुष्य ने बहुत दूर से स्थाणु जैसी वस्तु को देखा। अब वह विचार करता है, कि यह स्थाणु है, या पुरुष है। ऐसा संशय ज्ञान उसे इसलिये हुआ है, कि दूरत्व आदि दोष के वश से उसे स्थाणुगत और मनुष्यगत जो ऊँचाई आदि सामान्य धर्म हैं, उनका तो उसे प्रत्यक्ष हो रहा है, और वक्रकोटर शिर-पाणि आदि जो विशेष धर्म हैं, उनका उसे प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो रहा है। अतः उभयगत साधारण धर्मों की प्रत्यक्षता से और विशेष धर्मों की अप्रत्यक्षता से साधक प्रमाणों के अभाव के कारण उसे ऐसा विचार आता है, कि क्या यह पुरुष है वा स्थाणु है। यहाँ स्थाणु से विरुद्ध पुरुष और पुरुष से विरुद्ध स्थाणु है। इन विरुद्ध अनिश्चित अनेक कोटियों को उसका यह ज्ञान कि यह पुरुष है या स्थाणु है, स्पर्श कर रहा है। इसीलिये यह संशय रूप ज्ञान हुआ है। इस तरह उभयकोटिगत साधारण धर्म का दर्शन और विशेष धर्म का अदर्शन संशय को जन्म देता है, उत्पन्न करता है तथा विशेष धर्म का दर्शन संशय का निवर्त्तक होता है ॥७॥

सूत्र—अतस्मिंस्तदवगाहि ज्ञानं विपर्ययः ॥८॥

संस्कृत टीका—तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्यय इत्युच्यते यथा—शुक्तिकायामिदं रजतमिति ..ानम्। सादृश्यादि निमित्तवशाच्छुक्ति विपरीत रजत निश्चयो विपर्यय ज्ञानस्वरूप एव।

हिन्दी व्याख्या—जो पदार्थ जैसा नहीं है उसे उस प्रकार का जानने वाला ज्ञान विपर्यय ज्ञान कहा गया है। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान। है तो सीप पर उसे सीप न समझकर यह चाँदी है—ऐसा होने वाला ज्ञान ही विपर्यय ज्ञान कहलाता है। संशय में और इस ज्ञान में यही अन्तर है कि संशयज्ञान में किसी का भी निश्चित ज्ञान नहीं होता है, वह बेपेंदी के (बिना पेंदी के) लोटे की तरह (लोटे के समान) विरुद्ध अनेक कोटियों की ओर अवगाहित होता रहता है, जबकि यह ज्ञान ऐसा नहीं होता है। यह एक कोटि का निश्चय करने वाला होता है। परन्तु जिस कोटि को यह निश्चित करता है वह कोटि उसकी उल्टी होती है। जो है उसे यह निश्चित नहीं कर पाता और जो नहीं है, उसे वह वहाँ निश्चित कर लेता है। यही उसमें "अतस्मिंस्तदवगाहिता" है। इस ज्ञान में यह अतस्मिन् तदवगाहिता रूप विपरीतता किस कारण से होती है ? तो इसका उत्तर यही है कि यह सादृश्य आदि निमित्त के वश से होती है। शुक्तिका भी सफेद होती है, और चाँदी भी सफेद होती है। अतः देखने वाला उस निमित्त को लेकर शुक्तिका को चाँदी समझ लेता है, और उसी का उसमें निश्चय कर लेता है। इसी प्रकार से रस्सी में जायमान सर्पज्ञान और मरुमरीचिका (मृगतृष्णिका) में जायमान जलज्ञान भी विपरीत ज्ञान ही हैं। ऐसा जानना चाहिये ॥८॥

सूत्र—विशेषाध्यवसायविहीनं ज्ञानमनध्यवसायः ॥९॥

संस्कृत टीका—विशेषाग्राहि किमित्यालोचनात्मकं ज्ञानम् अनध्यवसायरूपं भवति, तथा च विशेषाग्राहि—वस्तुनो विशेषांशाग्राहकं किमित्यालोचनात्मकम् "अस्ति किं स्विद्" इत्येवं रूपं सामान्यत आकलनात्मकं ज्ञानं सामान्यमात्रग्राहकतयाऽनध्यवसायरूपं दर्शनमुच्यते। एतदेव निर्विकल्पक ज्ञानम-

प्युच्यते। तथा वस्तुमात्रस्यैव सामान्यविशेषात्मकत्वेन यदा दूरत्वादि दोषवशात् यस्मिन् ज्ञाने वस्तुनो विशेषांशस्य स्फुटरूपेण भानं न भवति अपितु सामान्यांशस्यैव भानं भवति एवंविधं विशेषाग्राहकम् "अस्ति किं स्विद्" इत्येवं सामान्यतो ज्ञानम् अनध्यवसायरूपं दर्शनमवगन्तव्यमिति भावः। तस्य ज्ञानस्य पुरुषत्वादि विशेषांशाग्राहित्वात् किंस्विदित्वा लोचनात्मकत्वाच्च दर्शनत्वं बोध्यम्, यथा पथि गच्छतस्तृण-स्पर्शाद्यवस्थायाम् एवं जातीयकम् एवं नामकमिदमित्यादि विशेषरूपेणावधारणं न भवति अपितु "किमपि वस्तु मया स्पृष्टम्" इत्याकारकमालोचनात्मकं ज्ञानं भवति--इदमेव च अनध्यवसाय स्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥९॥

सूत्रार्थ—विशेषांश को ग्रहण नहीं करके जो केवल "यह कुछ है" इस प्रकार से सामान्यांश को ग्रहण करने वाला बोध होता है, वही अनध्यवसाय है। यह अनध्यवसाय ज्ञान निर्विकल्पक दर्शनरूप होता है ॥९॥

हिन्दी व्याख्या—वस्तु सामान्य और विशेष धर्मों वाली मानी गई है। सामान्य ज्ञान से अर्थक्रिया नहीं होती है, विशेषज्ञान से ही अर्थक्रिया हो ती है। अतः वस्तु के विशेषांश को नहीं जा ाने वाला और केवल सामान्यांश को ही ग्रहण करने वाला जो ज्ञान होता है जैसे रास्ते में चलते हुए पुरुष को तृण-स्पर्श के होने पर "कुछ स्पर्श हुआ" ऐसा जो ज्ञान होता है, वही अनध्यवसाय ज्ञान है। यह अनध्यव-साय ज्ञान दर्शनरूप कहा गया है।

बौद्ध सिद्धान्त की मान्यता जैसी दर्शन—निर्विकल्पकदर्शन के सम्बन्ध में है, ऐसी ही मान्यता इस अनध्यवसाय के विषय में आर्हत दर्शन की है। निर्विकल्पकदर्शन में केवल सत्ता मात्र का आलोचन होता है, विशेष का नहीं। यह ज्ञान उस समय होता है, जब दूरी आदि कारणों को को लेकर वस्तु के विशेषांश का स्फुट रूप से भान नहीं होता है किन्तु सामान्यांश का ही भान होता है। तब वह कुछ है ऐसा ही बोध होता है। यह गाय है, यह घोड़ा है ऐसा विशेषग्राही ज्ञान नहीं होता है। अतः सामान्य मात्र अंश को ग्रहण करने के कारण ही अनध्यवसायरूप ज्ञान होता है। रास्ते में—मार्ग में—चलने वाले अन्यमनस्क व्यक्ति को तृणादि के स्पर्श हो जाने पर "कुछ स्पर्श हुआ है" ऐसा ज्ञान जो होता है वह अनध्यवसाय इसलिये कहा गया है कि उस समय उसे—मुझे अमुक पदार्थ का स्पर्श हुआ है, यह अमुक जाति का है, इसका यह नाम है, इत्यादि रूप से विशेषांश का बोध नहीं होता है, उस समय तो केवल मुझे किसी वस्तु का स्पर्श हुआ है, ऐसा ही सामान्यविचारात्मक बोध होता है। बस, इसका नाम अनध्यवसाय ज्ञान है ॥९॥

सूत्र—ज्ञानस्वरूप भिन्न ज्ञेयार्थः परः ॥१०॥

संस्कृत टीका—प्रमाण लक्षणे ज्ञानविशेषणभूत पर शब्दार्थं प्रतिपादनार्थं सूत्रकार इदं सूत्रं प्रतिपादयति—तत्र स्वशब्देन ज्ञानस्वरूपस्य गृहीतत्वात् पर शब्दस्यान्यार्थकतया कस्मादन्य इत्याकांक्षायां ज्ञानस्वरूपाद् भिन्नः पदार्थः परशब्द वाच्यो भवतीति बोध्यम्।

एतेन ज्ञानातिरिक्त घटपटादि बाह्य पदार्थोऽसत्स्वरूप एव, ज्ञानमेव तत्त्वमिति प्रतिपादयन् ज्ञानाद्वैतवादी निरस्यते, स्वप्न प्रतिभासवत् प्रतिभासमानं घटपटादिकं सर्वं शून्यरूपमिति प्रतिपादयन् शून्यवादी प्रक्षिप्यते। यतः ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थं सत्तामन्तरेण अयं घटः अयं पटः इत्येव परस्पर विल-क्षणाकारेण ज्ञानस्य प्रतिभासः कथं भवेत्, तथा बाह्य पदार्थ सत्ताया ऋते स्वप्न प्रतिभासोऽपि न स्यात्। अनुभूत पदार्थस्यैव तत्र प्रतिभासनात् नाननुभूतस्य। तस्मात् बाह्य पदार्थसत्ता स्वीकर्त्तव्या भवति ॥१०॥

सूत्रार्थ—ज्ञान के स्वरूप से भिन्न जो बाह्य पदार्थ है वह पर है। क्योंकि ज्ञान इसे जान कर ही प्रमाणभूत माना जाता है। स्वरूप को जानकर ज्ञान में प्रमाणता नहीं मानी गई है ॥१०॥

हिन्दी व्याख्या— प्रमाण का लक्षण करते समय जो ज्ञान का विशेषणभूत पर शब्द है, उसका वाच्यार्थ सत्य रूप से प्रकट करने के लिये ही सूत्रकार ने इस सूत्र का कथन किया है। स्व शब्द से ज्ञान का स्वरूप और पर शब्द से ज्ञान स्वरूप से भिन्न घट-पटादि पदार्थ कहे गये हैं, और ये पर शब्द से इस लिये गृहीत किये गये हैं, कि कितने अन्य सिद्धान्तकार जैसे कि ज्ञानाद्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि जो भी प्रतिभासित होता है—ज्ञान के द्वारा जाना जाता है —वह सब ज्ञान के स्वरूप की तरह ज्ञान रूप ही हैं ज्ञान से अतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ कोई नहीं है, अतः घट-पटादि रूप से उनकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है। माध्यमिक संप्रदाय वाले योगाचार ऐसा कहते हैं, कि ये घट-पटादि रूप से प्रतिभासित होने वाले सब पदार्थ स्वप्न प्रतिभास की तरह असत्स्वरूप ही हैं। जिसप्रकार स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थों का प्रतिभास होता है, पर जगने पर एक भी स्वप्न-दृष्ट पदार्थ का अस्तित्व प्रतीति में नहीं आता है। किन्तु ख (गगन) पुष्प की तरह वे सब शून्यरूप से ही ज्ञात होते हैं। सो ऐसी मान्यताओं को हटाने के लिये ही सूत्रकार ने इस सत्र का स्वतन्त्र रूप से निर्माण किया है। इस सूत्र द्वारा सबल युक्तियों से यह समझाया गया है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय पदार्थ हैं और वे सत्स्वरूप ही हैं, असत्स्वरूप नहीं और न ज्ञानस्वरूप ही हैं। इस तरह ज्ञान और ज्ञान से अतिरिक्त घट-पट आदि पदार्थों की सत्ता मौजूद होने से ज्ञान और ज्ञेयरूप दो तत्त्व हैं। ऐसा मानना चाहिये। अतः ज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है। ज्ञान से अतिरिक्त प्रतिभासित होता हुआ जो घट पटादि रूप बाह्य पदार्थ हैं वह ज्ञान का ही आकार विशेष है। इस तरह से अनित्य ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार का जो मत है वह इस पद के रखने से निरस्त हो जाता है। क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त घट-पट आदि बाह्य पदार्थ की सत्ता के बिना "यह घट है, यह पट है" इस तरह परस्पर भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान का प्रतिभास बन नहीं सकता है और प्रतिभास तो ज्ञान में होता है इसलिये वास्तविक रूप से घट-पट आदि विभिन्न पदार्थों की सत्ता माननी चाहिये और इस तरह के प्रतिभास होने में परस्पर भिन्न-भिन्न सत्ता वाले पदार्थों को हेतु मानना चाहिये। यदि इस पर यह कहा जाय कि अनादि काल से ऐसी ही वासना चली आ रही है कि जिसकी वजह से "यह घट है, यह पट है" इत्यादि रूप से ज्ञान हो जाता है तो इस पर यह पूछा जा सकता है कि वह वासना ज्ञान से अभिन्न है या भिन्न है ? यदि वासना को ज्ञान से अभिन्न माना जाय तो ज्ञान और वासना ऐसी दो चीजें सिद्ध नहीं हो सकतीं ; क्योंकि अभिन्नता में एक तात्त्विक ज्ञान की ही सिद्ध होगी। वासना की स्वतन्त्र सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः अकिञ्चित्कर उस वासना के वश से ज्ञान के द्वारा घट-पट आदि रूप से भिन्न-भिन्न आकार का प्रतिभास होता है, ऐसा कथन शोभास्पद नहीं हो सकता। यदि ज्ञान से वासना को भिन्न माना जाय तो इस पक्ष में एक ज्ञानाद्वैत ही है ऐसा पक्ष भङ्ग हो जाता है क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त एक वासना की भी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है। अतः इन सब दोषों से बचने के लिये बाह्य घट-पट आदि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना चाहिये। इस सूत्र का तात्पर्य इतना ही है कि अन्य कितने ही सिद्धान्तकारों की बाह्य घट-पट आदि पदार्थों की मान्यता में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ हैं। अतः उन सब कल्पनाओं को हटाने के लिये बाह्य घट-पट आदि पदार्थ वास्तविक हैं, स्वप्नोपम पदार्थ जैसे नहीं हैं और न वे ज्ञानस्वरूप हैं। इस बात को साबित करने के लिये इस सूत्र की सूत्रकार ने रचना की है ॥१०॥

ज्ञान में स्व-पर-व्यवसायत्व का समर्थन—

सूत्र—ज्ञानस्य स्वपरावभासकत्वमेव स्वपर-व्यवसायः ॥११॥

संस्कृत टीका—ज्ञाने का स्वपर-व्यवसायताऽस्तीति शङ्कां निरसितुं सूत्रकारस्तां स्पष्टयति—स्वं ज्ञानं परः ज्ञेयार्थः तयोरवभासकत्वम्—प्रकाशनम्—अनुभवविषयीकरणमेव स्वपरव्यवसायः, यथा रविकिरणः स्वतः प्रकाशशीलत्वात् स्वं प्रकाशयति बाह्य घट-पटादि पदार्थानपि प्रकाशयति। एवमेव ज्ञानमपि "घटमहमात्मना वेद्मि" इत्याकारक बोधे घटवत् ज्ञानमपि भासते।

सूत्रार्थ—ज्ञान में स्वपर की अवभासकता ही स्वपर व्यवसाय है।

हिन्दी व्याख्या—ज्ञान जब अपनी ओर उन्मुख होता है तब वह अपने को जानता है। यही ज्ञान में स्वव्यवसाय है और जब वह पदार्थ की ओर उन्मुख होता है तब वह पदार्थ को जानता है यही पर-व्यवसाय है। इस तरह से रविकिरण की तरह ज्ञान में स्वपर-प्रकाशकता है। ज्ञान आत्मा का एक प्रकाश-रूप गुण है अतः वह सूर्यकिरण की तरह स्वयं को भी प्रकाशित करता है, और घट-पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। सूर्यकिरणों को जानने के लिये लोक में दूसरे प्रकाशशील पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती है; क्योंकि वे स्वयं प्रकाशशील हैं। इसी तरह अब "घटमहमात्मना वेद्मि" में आत्मा से घट को जानता हूँ, ऐसी प्रतीति होती है—तब घट की तरह इस प्रतीति में ज्ञान की भी प्रतीति होती है। इस तरह से सूत्रकार ने ज्ञान में स्व-पर व्यवसायता का समर्थन किया है। ऐसा जानना चाहिये ॥११॥

ज्ञान में प्रमाणता का कथन—

सूत्र—प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—प्रमेय पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप से जानना यही प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्व है, यही ज्ञान में प्रमाणता है।

संस्कृत टीका—ज्ञानं प्रमाणमिति यदुक्तं तत्र प्रामाण्यं किमिति जिज्ञासायां प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यमाह—एवं च—अन्यूनमनतिरिक्तम् अविपर्ययं निस्संदेहं पदार्थस्य वेदनमेव प्रामाण्यम् इदमेव च प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वमस्ति। एवञ्च यज्ज्ञानं कदाचिदपि प्रमेयं न व्यभिचरति तदेव ज्ञानं प्रमाणरूपं भवति। अर्थात् येन प्रत्यक्षादिना ज्ञानेन यद्वस्तु येन स्वरूपेणोपगतं ज्ञातं भवति तद्वस्तु यदि तेनैव स्वरूपेण उपगतम्—उपलब्धं भवति, तदा तज्ज्ञानं प्रमाणं भवति यथा सत्यरजतादि ज्ञानम्। एतद्भिन्नस्वरूपमप्रामाण्यम् ॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—ज्ञान के द्वारा विषय किया गया प्रमेय जैसा ज्ञान ने जाना है—यदि उसी रूप से उपलब्ध होता है, न कमती होता है, न बढ़ती होता है, न विपरीतता से युक्त होता है। किसी भी प्रकार का जिसमें सन्देह नहीं रहता है। तो ऐसा ही ज्ञान प्रमाण माना गया है। परन्तु यहाँ पर जो "प्रतिभात विषयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्" ऐसा कहा गया है वह व्यावहारिक दृष्टि को लेकर कहा गया है। यदि ज्ञान ने जिस पदार्थ को जिस रूप से अपना विषय बनाया है वह पदार्थ उत्तरकाल में यदि उसी तरह से उपलब्ध होता है, तो वह ज्ञान प्रमाण माना जाता है। ज्ञान ने जिस पड़ी हुई काली पतली रस्सी को दूर से देखकर सर्प जाना है और उत्तरकाल में यदि सर्परूप से उपलब्ध नहीं होती है तो वह ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता है क्योंकि ऐसा वह ज्ञान प्रतिभात विषय के द्वारा अव्यभिचारी नहीं हुआ है प्रत्युत व्यभिचारी

ही हो गया है। इसी तरह से पदार्थ का न्यूनवेदन, पदार्थ का अतिरिक्तवेदन, और सन्देहयुक्तवेदन ये सब वेदन प्रतिभातविषय के अव्यभिचारी नहीं होते हैं। इसीलिये पदार्थ का जो स्वरूप है, पदार्थ जिस स्वरूप से युक्त है उस पदार्थ को उसी रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण माना गया है। जैसा सत्यरजत का ज्ञान। पदार्थ ज्ञान में प्रमाणता का कथन स्व को जानने की अपेक्षा से ही नहीं किया गया है, क्योंकि समस्त ही ज्ञान अपने स्वरूप के ज्ञाता होते हैं। पर जो पदार्थ जैसा है यदि ज्ञान ने उस पदार्थ को वैसा ही जाना है और जाना हुआ वह पदार्थ व्यवहार काल में वैसा ही प्राप्त होता है तो यही ज्ञान में प्रमाणता का व्यापक है। इसी कारण प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्व प्रामाण्य कहा गया है, इस लक्षण से हीन अप्रामाण्य होता है ॥१२॥

प्रमाण की उत्पत्ति और ज्ञप्ति का कथन—

सूत्र—तदुत्पत्तौ परत एव स्व निश्चये तु अभ्यासानभ्यासापेक्षया स्वतः परतश्चः ॥१३॥

सूत्रार्थ—यह अभी-अभी प्रकट कर दिया गया है कि ज्ञान में प्रमाणता एवं अप्रमाणता क्या है। इसकी उत्पत्ति और ज्ञप्ति के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति स्वतः होती है तथा अप्रमाणता की उत्पत्ति परतः ही होती है—ऐसी मान्यता मीमांसकों की है। सांख्य सिद्धान्त की मान्यता दोनों की उत्पत्ति स्वतः ही होती है, ऐसी है। जैन परम्परा प्रमाण और अप्रमाण की उत्पत्ति परतः ही होती है, ऐसी है और ऐसी ही मान्यता बौद्धों की भी है, तथा दोनों की ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है। इसी सम्बन्ध में यह सूत्र कहा गया है।

संस्कृत टीका—ज्ञानगत प्रामाण्याप्रामाण्यं उत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु अभ्यासानभ्यासदशापेक्षया स्वतः परतः, ज्ञान जनक सामग्रितो भिन्नसामग्र्या जन्यत्वं परतस्त्वं, ज्ञानजनकसामग्री मात्र जन्यत्वं स्वतस्त्वं। यदि ज्ञानगत प्रामाण्यं स्वतएव उत्पद्यमानं स्यात् तर्हि ज्ञानोत्पादक हेत्वनतिरिक्त जन्यत्वेन संशयादावपि प्रामाण्यं स्यात् यदि प्रमाणभूतं ज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं भवति चेत्तर्हि अस्योत्पत्तौ ज्ञान सामान्य सामग्र्यापेक्षया काचिद् विशिष्टा सामग्री एव जनिका मन्तव्या। यथा संशयादि ज्ञानानां जनिका सामग्री विशिष्टा मन्यते। अन्यथा प्रमाणाप्रमाण विभागाभावः स्यात्, ज्ञानगत प्रामाण्यस्य निश्चयस्तु अभ्यास दशायां स्वतः अनभ्यासदशायाम्-अपरिचितस्थानापेक्षायां परतः ॥१३॥

हिन्दी व्याख्या—जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हीं कारणों से ज्ञान में प्रमाणता का उत्पन होना इसी का नाम स्वतस्त्व है। यदि ऐसी बात मानी जावे तो फिर सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। परन्तु अन्तर तो स्पष्ट है। अतः इससे यही मानना चाहिये कि ज्ञान में प्रमाणता या अप्रमाणता की उत्पत्ति परतः ही होती है। अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामग्री है, केवल वही सामग्री ज्ञान में प्रमाणता की जनक नहीं है। इससे विशिष्ट सामग्री ही प्रमाणता की जनक है। क्योंकि प्रमाणभूत ज्ञान और अप्रमाणभूत ज्ञान ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं। अतः रक्त वस्त्र और शुभ्र वस्त्र की जनक सामग्री जैसी भिन्न-भिन्न होती है वैसी ही इनकी जनक सामग्री भी भिन्न-भिन्न ही होती है। जिस सामग्री ने—चक्षुरादि कारणों ने—ज्ञान को उत्पन्न किया है—उसी सामग्री ने उस ज्ञान में प्रमाणता को उत्पन्न कर दिया है ऐसी बात नहीं है। किन्तु चक्षु आदि इन्द्रियों की निर्मलतारूप जो भिन्न सामग्री है उसके द्वारा ही ज्ञान में प्रमाणता उत्पन्न हुई है। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों की अनिर्मलतारूप काच कामलादि दोष ज्ञान में अप्रमाणता के जनक होते माने गये हैं उसी प्रकार से चक्षुरादिगत निर्मलता आदि गुण ज्ञान में प्रमाणता

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

के जनक माने गये हैं। अतः उत्पत्ति की अपेक्षा प्रमाणता और अप्रमाणता ज्ञान में पर से ही—इन्द्रियों की निर्मलता आदि रूप और अनिर्मलता आदि रूप अन्य कारणों से ही—होती है। ऐसा मानना चाहिये। यही बात "ज्ञानजनक सामग्री तो "भिन्न सामग्र्या जन्यत्वं परतस्त्वम्" इस वाक्य द्वारा समझाई गई है।

जिन कारणों से ज्ञान का निश्चय होता है उन्ही कारणों से ज्ञानगत प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी हो जाती है। जैसे कि जो जलज्ञान मुझे उत्पन्न हुआ है, वह बिलकुल प्रमाणभूत ही उत्पन्न हुआ है सो ऐसी यह ज्ञानगत प्रामाण्य की स्वतः ज्ञप्ति अभ्यास दशा की अपेक्षा से होती कही गयी है, अनभ्यास दशा की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि अनभ्यास दशा में उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रमाणता की ज्ञप्ति ज्ञान के ज्ञापक से भिन्न ज्ञापक द्वारा होती है। यदि अनभ्यास दशा में जायमान ज्ञान में प्रमाणता की ज्ञप्ति स्वतः होने लगे तो फिर उत्तरकाल में जो ऐसा संशय होता है, कि जो जलज्ञान मुझे उत्पन्न हुआ है, वह सत्यरूप में जल है या मरुमरीचिका है ? फिर वह आगे जलादि की उपलब्धि से उसका निश्चय करता है। अतः यह प्रामाण्य की ज्ञप्ति अनभ्यास दशा की अपेक्षा परतः हुई ही मानी गई है ॥१३॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीय अध्याय

प्रमाण के दो भेद :—

सूत्र—प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्तत्प्रमाणं द्विविधम् ॥१॥

संस्कृत टीका—प्रथमाध्याये तावत्प्रमाणस्वरूपं निरूपितम्। सम्प्रति--अस्मिन् द्वितीयेऽध्याये प्रमाणविशेषरूपं प्रत्यक्ष प्रमाणं प्ररूपयितुं प्रथमं प्रमाणभेदं निरूपयति—प्रत्यक्ष-परोक्ष भेदादित्यादि, तथा च पूर्वोक्त ज्ञानात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विविधं वर्त्तते । विशद प्रतिभासत्वं प्रत्यक्षत्वम्—यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो भवति तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिति, नतु इन्द्रियाधीनतया जायमानं ज्ञानं प्रत्यक्षं तस्य परोक्षत्वात्। अक्षशब्दस्यात्मवाचकतया अक्षम् आत्मानं प्रतिगतं—सहायीकृत्य जायमानं—ज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः । नैर्मल्यमेव ज्ञाने प्रत्यक्षत्व प्रयोजकम् । इन्द्रियजन्यं तु ज्ञानम् औपचारिकं प्रत्यक्षम् ॥१॥

सूत्रार्थ—प्रथम अध्याय में जिसका वर्णन किया जा चुका है ऐसा वह ज्ञानात्मक प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—प्रथम अध्याय में प्रमाण के स्वरूप का वर्णन अच्छी तरह से किया जा चुका है। इस द्वितीय अध्याय में अब सूत्रकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण का क्या स्वरूप है, इसकी प्ररूपणा करने के लिये सर्वप्रथम उन्होंने प्रमाण के भेदों का निरूपण किया है। प्रमाण दो प्रकार का है—एक प्रत्यक्ष प्रमाण और दूसरा परोक्ष प्रमाण। जिस ज्ञान का प्रतिभास विशद होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि ऐसा ज्ञान परोक्ष माना गया है। जो केवल अक्ष—आत्मा—की सहायता लेकर ही उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष माना गया है। ज्ञान में प्रत्यक्षता का प्रयोजक विशद प्रतिभास है, न कि इन्द्रियों से उसका उत्पन्न होना। हाँ, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान है उसे उपचार से प्रत्यक्ष कह दिया जावे तो इसमें कोई विवाद नहीं है।

प्रश्न—प्रमाणों की संख्या तो अनेक प्रकार की मानी गई है—जैसे कोई एक प्रमाण मानता है, कोई दो प्रमाण मानता है। कोई तीन प्रमाण मानता है। कोई चार प्रमाण मानता है। कोई पाँच प्रमाण मानता है। और कोई छः प्रमाण मानता है। तो ऐसी स्थिति में "द्विविधम्" ऐसा कहना आपका कैसे उपादेय माना जा सकता है ?

उत्तर—प्रमाण तो प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो ही प्रकार के हैं। इनसे अतिरिक्त और प्रमाण के भेद नहीं हैं। हाँ, अन्य सिद्धान्तकारों ने जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये प्रमाण माने हैं, उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रमाणों में हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण

आगे के प्रकरण में किया जावेगा। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण हैं, न इनसे अधिक हैं न इनसे कम हैं।

प्रश्न—चार्वाक ने तो एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है। परोक्ष को प्रमाण नहीं माना है। फिर आपका कथन कैसे युक्त माना जा सकता है ?

उत्तर—चार्वाक ने तो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, पर तर्क के बल से उसे अनुमान प्रमाण मानना पड़ेगा। अन्यथा वह प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अन्य प्रमाण नहीं है यह अपना कथन कैसे प्रमाणित कर सकता है ? इस सम्बन्ध में और भी विस्तार के साथ अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में विवेचन किया गया है तथा हम भी आगे विवेचन करने वाले हैं। अतः वहीं से यह विषय विशेष रूप से स्पष्ट हो जावेगा।

प्रश्न—अनुमान को प्रमाण मान लेने पर परोक्षप्रमाण मान लेने की बात इससे कैसे घटित होती है ?

उत्तर—अनुमान यह परोक्षप्रमाण का ही एक भेद है। अतः इसकी स्वीकृति से परोक्षप्रमाण मानने की बात सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न—किन-किन दार्शनिकों ने कितने-कितने प्रमाण माने हैं, यह हमें समझावेंगे क्या ?

उत्तर—क्यों नहीं, सुनिये—चार्वाक एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण बौद्ध और वैशेषिक मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) ये तीन ही प्रमाण हैं, ऐसा सांख्य मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार ही प्रमाण हैं ऐसा नैयायिक मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच ही प्रमाण हैं ऐसा मीमांसक मानते हैं। पूर्वोक्त पाँच और अभाव (अनुपलब्धि) ये छः ही प्रमाण हैं, ऐसा भट्ट वेदान्ती मानते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाण जैन-दार्शनिक मानते हैं।

चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशब्दं
तद्द्वैतं पारमार्षः सहितमुपमया तत्त्रयं चाक्षपादः ॥
अर्थापत्त्या प्रभाकृद् वदति स निखिलं मन्यते भट्ट एतत्
साभावं, द्वे प्रमाणे जिनपति समये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥१॥

प्रश्न—जब भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने पूर्वोक्तरूप से प्रमाण सख्या बतलाई है तो फिर उसे आपने प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में से किस प्रमाण में अन्तर्भूत किया है ?

उत्तर—सूत्रकार जब परोक्ष प्रमाण का स्वरूप कथन करेंगे तब वहाँ इसका वे कथन करेंगे कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के ५ भेद हैं। इनमें पूर्वोक्त अर्थापत्ति का समावेश अनुमान प्रमाण में, और उपमान प्रमाण का समावेश प्रत्यभिज्ञान में हो जाता है, अभाव में स्वतन्त्ररूप से प्रमाणता बनती नहीं है। अतः प्रमाणता में इसे स्थान प्राप्त नहीं होता है। रही चार्वाक के प्रत्यक्ष की बात सो उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही हो जाता है।

प्रश्न—आपने जो ऐसा कहा है कि केवल आत्ममात्र की सहायता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष है—तो इससे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्रियों से जायमान ज्ञान परोक्ष है।

उत्तर—हाँ, इन्द्रियों से जायमान ज्ञान परोक्ष ही है।

प्रश्न—तो फिर इसे जो कहीं-कहीं प्रत्यक्ष कहा गया है वह क्यों कहा गया है ?

उत्तर—इन्द्रियजन्य ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा गया है—वह उपचार से ही कहा गया है, वास्तविक रूप से नहीं। उपचार का कारण उसमें एकदेश से विशदता का होना है। यही बात "इन्द्रियजन्यं तु ज्ञानमौपचारिकं प्रत्यक्षम्" इस पद द्वारा प्रकट की गई है ॥१॥

सूत्र—विशदात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥२॥

संस्कृत टीका—ज्ञानावरणस्य क्षयात् विशिष्ट क्षयोपशमाद्वा यस्य ज्ञानस्य आत्मस्वरूपम्—आत्मप्रकाशः विशदं निर्मलं भवति—तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षं नान्यत्। ज्ञानपदेन सांख्यपरिकल्पित श्रोत्रादि वृत्तिः प्रत्यक्षमिति निरस्तम्। प्रत्यक्षं लक्ष्यं विशदात्मस्वरूपं ज्ञानं लक्षणम्। प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः स्वयं मूढ्यः कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति लक्षणं तीर्थान्तरीयाभिमतम् एतेन निरस्यते ॥२॥

सूत्रार्थ—विशद आत्मस्वरूप वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अथवा विशिष्ट क्षयोपशम से ज्ञान में जो निर्मलता आती है, उसी का नाम विशदता है, और इस विशदता से—निर्मलता रूप आत्मस्वरूप से—युक्त जो ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है। यहाँ ज्ञान पद से सांख्यकारों ने जो श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष माना है उसका निरास किया गया है।

प्रत्यक्ष यह लक्ष्य है—क्योंकि जिसका लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य कहलाता है। यहाँ "विशदात्मक स्वरूपम्" ऐसा लक्षण प्रत्यक्ष का किया गया है। तथा जो अपने लक्ष्य को दूसरों से भिन्न करता है, वह लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण जब उष्ण स्पर्श किया जाता है तो यह लक्षण अग्नि को पानी आदि से भिन्न करा देता है। इसी प्रकार यहाँ जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है, वह भी इस लक्षण से शून्य जो भी ज्ञान होंगे वे सब प्रत्यक्ष नहीं हैं, ऐसा प्रकट कर उनसे अपने लक्ष्य को भिन्न करता है। सांख्यसम्मत प्रत्यक्ष का लक्षण सदोष इसलिए है कि जब श्रोत्रादि इन्द्रियाँ स्वयं प्रकृति के विकार रूप हैं तो उनकी जो वृत्ति है वह भी जड़रूप ही होगी। अतः वह प्रत्यक्षस्वरूप नहीं हो सकती। यहाँ पर अनुमान प्रयोग "विशदात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्" इस प्रकार से किया गया है।

प्रश्न—यहाँ पर "प्रत्यक्षत्वात्" ऐसा जो आप सूत्र में नहीं कहे गये हेतु का प्रयोग कर रहे हो सो यह प्रतिज्ञात अर्थ का एकदेश होने से असिद्ध है—अतः असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है ?

उत्तर—यह तो हम मानते हैं कि असिद्ध हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने में सर्वथा अक्षम होता है। पर यहाँ जो 'प्रत्यक्षत्वात्' हेतु कहा गया है वह असिद्ध नहीं है प्रत्युत सिद्ध ही है। प्रतिज्ञातार्थैकदेश होने से कोई भी हेतु असिद्ध नहीं होता है। यदि ऐसा नियम माना जावे तो प्रतिज्ञा का एकदेश धर्मी भी होता है पर वह तो सिद्ध ही होता है। असिद्ध नहीं होता है। रही साध्य की बात सो वह प्रतिज्ञा का एकदेश होने से असिद्ध नहीं कहा जाता है। प्रत्युत वह स्वभावतः ही असिद्ध होता है। तभी तो जाकर उसकी अपने पक्ष में हेतु द्वारा सिद्धि की जाती है। यहाँ "प्रत्यक्षम्" वह धर्मी है "विशदात्मस्वरूपं ज्ञानम्" यह साध्य है, और "प्रत्यक्षत्वात्" यह हेतु है। धर्मीरूप में जो प्रत्यक्ष है वह विवक्षित होने से विशेष रूप है, और "प्रत्यक्षत्वात्" यह सामान्यरूप से हेतु है। सामान्य अपने सकल विशेषों में रहता है। इसमें तो किसी को विवाद ही नहीं है। अतः हेतु असिद्ध नहीं है।

प्रश्न—हेतु जब अपने अन्वय दृष्टान्त से रहित होता है तो वह अनन्वय दोष माना जाता है यहाँ पर "प्रत्यक्षत्वात्" यह हेतु भी ऐसा ही है।

उत्तर—ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि हेतु अन्वय दृष्टान्त से युक्त होने पर ही स्वसाध्य का गमक होता है, जहाँ पर हेतु सपक्षवृत्ति वाला नहीं होता है, वहाँ पर अन्तर्व्याप्ति के बल से ही अपने साध्य का गमक हो जाया करता है। यहाँ पर भी यह हेतु अन्तर्व्याप्ति वाला है। क्योंकि पक्ष में ही साध्य साधन की जो व्याप्ति ग्रहण की जाती है वही अन्तर्व्याप्ति है पक्ष में ही साध्य साधन की व्याप्ति इसलिये गृहीत हो जाती है कि सपक्ष में हेतु का सद्भाव नहीं पाया जाता है। यहाँ विपक्ष परोक्ष है, उसमें विशदात्मस्वरूप ज्ञान का अभाव है, अतः वहाँ प्रत्यक्षता नहीं है। अतः यह प्रत्यक्षता विशदात्मस्वरूप ज्ञान में ही सिद्ध होती है।

प्रश्न—"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" इस प्रत्यक्ष के लक्षण को जैन-दार्शनिकों ने स्वीकार क्यों नहीं किया ?

उत्तर—यह तो पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि जो ज्ञान स्व-पर निश्चयात्मक होता है वही प्रमाण होता है। बौद्धसम्मत यह प्रत्यक्ष का लक्षण ऐसा नहीं है, अतः उसे जैन-दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष लक्षण रूप से स्वीकृत नहीं किया है। इसी तरह और भी जितने अन्य दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के लक्षण कहे हैं, वे यदि इस लक्षण से आलिंगित हैं, तो निर्दोष हैं, नहीं तो सदोष हैं—ऐसा समझना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष का यह लक्षण सर्वथा निर्दोष है क्योंकि इसमें न लक्षणगत दोष हैं और न हेतुगत दोष हैं ॥२॥

सूत्र—अनुमानाद्यसंभवि नैर्मल्यं वैशद्यम् ॥३॥

संस्कृत टीका—यन्नैर्मल्यम् अनुमानादि ज्ञानेषु संभवति अर्थात् परोक्ष-प्रमाणैर्येषां नियतरूप-संस्थानाद्याकाराणां स्पष्टतया प्रतिभासनं न भवति तेषामपि विशेषाणां नियतसंस्थानादीनां येन प्रतिभासनेन यत् प्रकाशनं भवति तदेव वैशद्यम् स्वरूपापेक्षया सर्वं ज्ञानं विशदमेव परिस्फुटरूपतया स्वरूपस्य सर्वज्ञानानां स्वसंवेदने प्रतिभासनात् बहिरर्थस्तु केषांचित् ज्ञानानां परिस्फुटरूपतया प्रतिभाति, केषाञ्चित्तु तद्विपरीतया, अतस्तदपेक्षया तेषां वैशद्यावैशद्ये प्रतिपतये।

सूत्रार्थ—अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों में नहीं संभवित होने वाली जो निर्मलता है उसी का नाम वैशद्य है।

हिन्दी व्याख्या—सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में कही गई विशदता का स्वरूप समझाया है। यह तो स्पष्ट है कि अनुमान, आगम आदि परोक्ष प्रमाणों द्वारा समझी हुई वस्तु में स्पष्टतारूप प्रतिभास की प्रतीति नहीं होती है। जब गुरुजन अपने शिष्य को ऐसी बात समझाते हैं कि—धूम होने से पर्वत में अग्नि है। शिष्य गुरु की इस बात को बार-बार सुनकर अग्नि और धूम का अविनाभाव सम्बन्ध जान लेता है। वह जब कभी पर्वतादि प्रदेश में धूम को देखता है तो उस सम्बन्ध का स्मरण कर वह यह जान लेता है कि यहां पर अग्नि अवश्य है—क्योंकि धूम निकल रहा है। अब यहां पर जो शिष्य को परोक्षभूत अग्नि का ज्ञान हुआ है वह अस्पष्ट है, निर्मलता से रहित है। क्योंकि उसे यह ज्ञान अग्नि के सम्बन्ध में नहीं हो पाया है कि यह अग्नि पत्तों की है, या काष्ठ या कंडों की है। सामान्य रूप से ही उसे धूमलिङ्ग द्वारा अग्नि का ज्ञान हुआ है। परन्तु जब वही शिष्य पर्वत पर पहुँच कर उस पर अग्नि को देखता है, तो वह पहले अनुमानादि द्वारा बतलाई गई उस अग्नि के सम्बन्ध में अब

विशेष ज्ञानवाला बन जाता है। वह जान लेता है कि यह अग्नि पत्तों की है अथवा लकड़ी व कंडों की है। यही बात "तेषामपि विशेषाणां नियत संस्थानादीनां येन प्रतिभासनेन यत् प्रकाशनं भवति" इस पाठ द्वारा स्पष्ट की गई है। इस प्रकार से परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण में जो वह स्पष्टता प्रकट की गई है, वह केवल समझाने के लिये की गई है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो सब ही परोक्ष माने गये हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं माने गये हैं। हां, लोक व्यवहार को लक्ष्य में रखकर उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। इसी कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान में अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार स्पष्टता का कथन किया गया है। स्वरूप की अपेक्षा विचार करने पर तो जितने भी ज्ञान हैं, वे सब ही विशदात्मक हैं क्योंकि स्वसंवेदन में समस्त ज्ञानों का स्वरूप परिस्फुट रूप से प्रतिभासिक होता है। परन्तु कितने ही ज्ञान ऐसे हैं कि जिनमें बहिरर्थ परिस्फुट रूप से प्रतिभासित होता है और कितने ही ज्ञान ऐसे हैं कि जिनमें बहिरर्थ परिस्फुट रूप से प्रतिभासित नहीं होता। अतः ज्ञान में वैशद्य और अवैशद्य का विचार बाह्यार्थ की अपेक्षा से किया गया जानना चाहिये। बहिरर्थ ग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षेतर व्यपदेशः तत्र प्रमाणान्तर व्यवधानाव्यवधान सद्भावेन वैशद्येतर सम्भवात् नतु स्वरूपग्रहणापेक्षया तत्र तदभावात्—प्रमेय कमल मार्तण्डः ॥३॥

सूत्र—सांव्यवहारिक पारमार्थिकाभ्यां प्रत्यक्षं द्विविधम् ॥४॥

संस्कृत टीका—संव्यवहारे नियुक्तं सांव्यवहारिकं गौणं प्रत्यक्षमित्यर्थः तच्चेन्द्रियानिन्द्रियजं प्रत्यक्षम् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् अनिन्द्रियस्य च मनसः कार्यम् अंशतो विशदं विज्ञानं तत् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् बाह्येन्द्रिय सामग्री सापेक्षत्वात् एतत् प्रत्यक्षम् अपारमार्थिकं निगदितम् अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यं प्रत्यक्षं पारमार्थिकं प्रत्यक्षं बाह्येन्द्रियादि सामग्री निरपेक्षात्ममात्रजन्यत्वात् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमपि एतद् निगद्यते स्वसंवेदनं प्रत्यक्षं स्वस्वप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात्स्वतन्त्रता नाऽसि अतस्तन्नोक्तम् ॥४॥

सूत्रार्थ—जिसका लक्षण वैशद्य कहा गया है ऐसा वह प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

हिन्दी व्याख्या—जो ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता से उत्पन्न होता है, वह एकदेश से विशद होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। बाधारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार का नाम ही संव्यवहार है। इस संव्यवहाररूप प्रयोजन में जो नियुक्त होता है, अर्थात् यह संव्यवहार जिसके बल पर चलता है, ऐसे संव्यवहाररूप प्रयोजन वाला जो प्रत्यक्ष है, वही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इसे मुख्य प्रत्यक्ष नहीं माना गया है किन्तु गौण प्रत्यक्ष माना गया है। इसका कारण यही है, कि यह इन्द्रियों से एवं मन से उत्पन्न होता है अतः इसमें अंशतः विशदता रहती है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब पारमार्थिक मुख्य प्रत्यक्ष है क्योंकि वे इन्द्रियादि सामग्री से निरपेक्ष आत्ममात्र से ही उत्पन्न होते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष का दूसरा नाम अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भी है। इस अतीन्द्रियप्रत्यक्ष से ही सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का यदि वह इन्द्रियजज्ञान का स्वसंवदेन है तो उसका अन्तर्भाव इन्द्रियजज्ञानप्रत्यक्ष में, अनिन्द्रियजसुखादि संवेदनरूप है, तो अनिन्द्रिज-प्रत्यक्ष में और यदि वह योगिप्रत्यक्ष का स्वसंवेदन है, तो योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वह स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष नहीं माना गया है। इसलिये उसे यहाँ नहीं कहा है ॥४॥

सूत्र—इन्द्रियानिन्द्रियजं देशतो विशदं सांव्यवहारिकम् ॥५॥

संस्कृत टीका—सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं द्विविधमिन्द्रियजानिन्द्रिय भेदात्, न चाव सांव्यवहारि-

कस्य प्रत्यक्षस्य सामग्री निरूपणमयुक्तमसाधारणस्यैव तत् कारणस्यात्र वक्तुमिष्टत्वात् । एतेनात्मनः तत्प्रत्यसाधारण कारणता प्रत्युक्ता प्रत्यान्तरेऽपि अस्य सद्भावात् । अर्थालोकयोस्तु तत्कारणत्वमेव नास्ति व्यभिचारात् । तत्रेन्द्रियप्राधान्यात् मनोनिमित्तात् जायमानं देशतो विशदं ज्ञानम् इन्द्रियजं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । कर्मणः क्षयोपशमाज्जायमानयाविशुद्ध्योपलक्षितेन केवलं मनसा जायमानं देशतो विशदं ज्ञान-मनिन्द्रियजं सांव्यवहारिकम् ॥५॥

सूत्रार्थ—चक्षुरादिक इन्द्रियों से और अनिन्द्रिय—मन से पदार्थ का जो एकदेश निर्मलता लिये हुए ज्ञान होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियज और अनिन्द्रियज के भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥५॥

हिन्दी व्याख्या—इन्द्रियजन्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की प्रधानता—असाधारण कारणता रहती है, एवं मन की सहायता रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय जो अपने-अपने विषय का मन की सहायता से एकदेश विशद ज्ञान करती है, वह इन्द्रियज प्रत्यक्ष है। तथा अनिन्द्रियज प्रत्यक्ष में केवल कर्म के क्षयोपशम से जायमान विशुद्धि से उपलक्षित मन की प्रधानता रहती है।

प्रश्न—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का कारण जैसा आपने इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को बतलाया है, उसी प्रकार से आत्मा को भी बतलाना चाहिये था ? सो इसे आपने इसके कारण के प्रसङ्ग में क्यों नहीं बतलाया ?

उत्तर—यहाँ पर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रति जो असाधारण कारण हैं, उनको ही बतलाना इष्ट है—साधारण कारण को नहीं। आत्मा साधारण कारण है; क्योंकि वह अन्य प्रत्ययों के साथ भी रहती है।

प्रश्न—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में जिस तरह इन्द्रियादि कारण हैं। उसी प्रकार से अर्थ—पदार्थ एवं आलोक—प्रकाश आदि भी कारण हैं। तो फिर इनका उल्लेख आपने क्यों नहीं किया ?

उत्तर—जैन दार्शनिकों ने यह प्रबल युक्तियों द्वारा समर्थित किया है, कि ज्ञान के प्रति अर्थ एवं आलोक कारण नहीं होते हैं। क्योंकि इन्हें कारण मानने पर अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोनों प्रकार के व्यभिचार आते हैं। ऐसा नियम नहीं बनता है, कि अर्थ और आलोक के होने पर ही ज्ञान हो और इनके अभाव में ज्ञान न हो। रात्रि में चलने वाले उल्लू आदि पक्षियों को आलोक के अभाव में भी पदार्थ का ज्ञान होता है, एवं आलोक के सद्भाव में उसे ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार केशों में मच्छर का ज्ञान हो जाया करता है। यही बात "अर्थालोकयोस्तत्कारणत्वमेव नास्ति" इस पाठ द्वारा प्रकट की गई है।

सूत्र—श्रोत्रादिभेदाज्ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च ॥६॥

संस्कृत टीका—श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनास्पर्शनानीन्द्रियाणि ज्ञानजनकत्वात् ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चैव तानि भवन्ति। तेनात्र कर्मेन्द्रियाणां निरासो जायते। इन्द्रस्य जीवस्यात्मनो लिङ्गम् अविनाभाविसत्ता सूचनात् इन्द्रियमुच्यते, अतएव श्रोत्रादिना कार्यजनने चेतनस्यात्मनः सत्ताऽनुमितेति ॥६॥

सूत्रार्थ—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

हिन्दी व्याख्या—श्रोत्रादि ये पाँच इन्द्रियां ज्ञानजनक होने से ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं। ये इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं। इन्द्र नाम आत्मा का है। आत्मा की सत्ता इन इन्द्रियों से ही सूचित होती है। इसलिये

इन्हें आत्मा का चिह्न माना गया है। यदि ये इन्द्रियाँ न हों तो संसारी आत्मा शब्दादि विषयों के ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकती है। अतः इनके द्वारा अपने-अपने विषय को ग्रहण करने से आत्मा की सत्ता अनुमिता होती है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ तो १० मानी गई हैं, फिर यहाँ ५ ही इन्द्रियाँ हैं। ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—यहाँ ज्ञानेन्द्रियों का प्रकरण चल रहा है। अतः ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। ऐसा कहा गया है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये कर्मसाधक इन्द्रियाँ हैं। अतः उनका यहाँ प्रकरण नहीं है।

प्रश्न—इन श्रोत्रादि को इन्द्रिय क्यों कहा गया है ?

उत्तर—स्पर्शन आदि को इन्द्रिय रूप से कहने के अनेक कारण हैं। जिनका संकेत "इन्द्रस्य जीवस्यात्मनो लिङ्गम् इन्द्रियम्" इस उपलक्षणरूप पद से कर दिया गया है। संसारी आत्मा कर्मों से युक्त रहता है। अतः वह स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ रहता है, सो वह इन इन्द्रियों द्वारा ही उन्हें जानता है। इस तरह से ये लीन—सूक्ष्म आत्मा रूप—अर्थ को बताती है इसलिये इन्हें इन्द्रिय कहा गया है।

प्रश्न—फिर मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा ? क्योंकि इन्द्रियों की तरह वह भी आत्मा के अस्तित्व का गमक है ?

उत्तर—ठीक है। फिर भी मन को जो अनिन्द्रिय कहा गया है, वह सर्वथा इन्द्रिय के प्रतिषेध होने से नहीं कहा गया है। किन्तु इन्द्रियों के जैसा वह नहीं है। इसलिये मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। तात्पर्य कहने का यह है, कि प्रत्येक श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जिस प्रकार अपने-अपने वर्तमानकालिक प्रतिनियत देशस्थित विषय को ही ग्रहण करती हैं उसी तरह से यह मन वर्तमानकालिक प्रतिनियत देशस्थित विषय को ही ग्रहण नहीं करता है। किन्तु भूतकालिकादि अप्रतिनियत देशस्थित पदार्थ को भी ग्रहण करता है। इन्द्रियों में अमूर्त्त पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है पर यह उसे भी ग्रहण कर लेता है। मन का काम तो विचार करने का है। चाहे वह पदार्थ इन्द्रियों का विषय हुआ हो या न हुआ हो फिर भी यह मन इस सम्बन्ध में विचार तो करता ही है। इसी कारण इसे अनिन्द्रिय—ईषदिन्द्रिय कहा गया है। इस पर और भी विशेष विचार सिद्धान्तकारों ने किया है, पर बालकोपयोगी न होने से इस ग्रन्थ में उसे इसके विस्तृत हो जाने के भय से नहीं लिखा है ॥६॥

सूत्र—द्रव्यभावभेदात्प्रत्येकमिन्द्रियं द्विविधम् ॥७॥

संस्कृत टीका—इन्द्रियस्य लक्षणं प्रतिपाद्याधुना तस्यभेदौ प्रतिपाद्येते—द्रव्येन्द्रियं च भावेन्द्रियं चेति। तथा च श्रोत्रादिषु प्रत्येकमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूपेण द्विप्रकारकं भवति। ये आत्मप्रदेशाः पुद्गलाश्च तत्तदिन्द्रियाकारेण व्यवस्थिताः तदेव द्रव्येन्द्रियम्। क्षयोपशम विशेषाज्जायमानो ज्ञानदर्शनरूप आत्मपरिणामो भावेन्द्रियम्। एवं च कर्ण शष्कुलि—चक्षुगोलक—नासापुट—जिह्वात्वचारूपं द्रव्येन्द्रियमवसेयम्। एतद् द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्युपकरण भेदाद् द्विविधम्। निर्वृत्तिःरचना इन्द्रियाकारा या रचना तदेव निर्वृत्तिरूपं द्रव्येन्द्रियम्। बाह्याभ्यन्तर निवृत्तिभेदात् निर्वृत्तिरूपं द्रव्येन्द्रियं द्विविधम्। इन्द्रियाकारेण ये पुद्गला रचिताः सन्ति तद्बाह्य निर्वृत्तिरूपं द्रव्येन्द्रियम्। इन्द्रियाकारेण च ये आत्मप्रदेशाः परिणताः सन्ति तदाभ्यन्तर निर्वृत्तिरूपं द्रव्येन्द्रियम्। यद्यपि प्रतिनियतेन्द्रिय सम्बन्धि ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोः कर्मणोः क्षयोपशमः सर्वाङ्गभूतो भवति—तथाप्यङ्गोपाङ्गनामकर्मण उदयाद् यत्र पुद्गल प्रचयात्मकस्य तस्य द्रव्येन्द्रियस्य रचना भवितुमर्हा तत्रत्येष्वेव आत्मप्रदेशेषु तत्तदिन्द्रिय सम्पाद्यकार्यकरणस्य सामर्थ्यं

जायतेनान्यत्र । उपकार-प्रयोजकसाधनमत्रोपकरणशब्देनाभिहितम् । उपकरणंरूपं द्रव्येन्द्रियमपि बाह्याभ्यन्तरोपकरणभेदाद् द्विविधम् । यथा नयने कृष्णशुक्लमण्डलमाभ्यन्तरोपकरणम् अक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादिरूप पंच बाह्यमुपकरणम् । एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु ज्ञातव्यम् ।

लब्ध्युपयोगभेदाद् भावेन्द्रियमपि द्विविधम् । मतिज्ञानावरण चक्षुदर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरण-कर्मक्षयोपशमाज्जायमानमात्मनि ज्ञानदर्शनरूपसामर्थ्यं—लब्धिरूपं भावेन्द्रियम्, एतच्च सर्वात्मप्रदेशेषु वर्तमानमुक्तम् । क्षयोपशमस्य सर्वाङ्गरूपेण सद्भावात् । लब्ध्युपकरणनिर्वृत्तीनां सद्भावे सति विषयेषु जायमाना प्रवृत्तिरूप योगरूपं भावेन्द्रियम् । द्रव्येन्द्रियस्य पुद्गलात्मकत्व कथनेन भिन्न जातीयेभ्यः पृथिव्यादिभ्यश्चक्षुरादीनामाविर्भाव प्रतिपादनं निरस्तं ज्ञातव्यम् ॥७॥

सूत्रार्थ– द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से प्रत्येक इन्द्रिय दो-दो प्रकार की कही गई है ।

हिन्दी व्याख्या—इन्द्रिय का लक्षण कहकर सूत्रकार ने उनके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो-दो भेद इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किये हैं । इस तरह श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय आदि पाँचों ही इन्द्रियाँ द्रव्य और भावेन्द्रिय रूप से दो-दो प्रकार की हैं, यह बात समर्थित हो जाती है । इनमें द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का स्वरूप प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं, कि जो पुद्गल और आत्मप्रदेश भिन्न-भिन्न इन्द्रियाकाररूप से रचना वाले हो रहे हैं, वह द्रव्येन्द्रिय है । तथा क्षयोपशमविशेषरूप से होने वाला जो आत्मा का ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम है, वह भावेन्द्रिय है । कर्णशष्कुलीरूप श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुर्गोलक रूप नेत्रेन्द्रिय, नासापुटरूप घ्राणेन्द्रिय, जिह्वारूप रसनेन्द्रिय और त्वचारूप स्पर्शनेन्द्रिय ये सब द्रव्येन्द्रिय हैं । यह द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की होती है । निर्वृत्ति नाम रचना का है । इन्द्रियाकार जो रचना है, वह निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय है, और यह कर्णशष्कुली आदि रूप होती है । यह निर्वृत्ति बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति इस तरह से दो प्रकार की कही गई है । पुद्गलों की जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियरूप से रचना हो रही है, वह बाह्यनिर्वृत्ति है एवं आत्मा के प्रदेशों की जो इन्द्रियाकाररूप से रचना हो रही है, वह आभ्यन्तर निर्वृत्ति है यद्यपि प्रतिनियत इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है, तथापि अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदयानुसार हो जहाँ पुद्गल प्रचयरूप जिस द्रव्येन्द्रिय की रचना होनी होती है वहीं के आत्मप्रदेशों में उस-उस इन्द्रिय के कार्य करने की क्षमता होती है, अन्यत्र नहीं । उपकार का प्रयोजक साधन उपकरण शब्द से लिया गया है, अतः उपकरणरूप जो द्रव्येन्द्रिय है, वह भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है । आँख में जैसे कृष्ण शुक्ल मण्डल यह आभ्यन्तर उपकरण है और बाहर में जो अक्षिपत्र पक्ष्म आदि रूप है, वह बाह्य उपकरण है । इसी तरह का कथन शेष इन्द्रियों में भी कर लेना चाहिये । लब्धि और उपयोग के भेद से भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की होती है । मतिज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम को लेकर जो आत्मा में ज्ञानदर्शनरूप शक्ति उत्पन्न होती है, वह लब्धिरूप भावेन्द्रिय है । यह लब्धिरूप भावेन्द्रिय आत्मा के समस्त प्रदेशों में विद्यमान रहती है; क्योंकि क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है तथा—लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों के होने पर जो विषयों का जानना होता है, वह उपयोगरूप भावेन्द्रिय है, बाह्यनिवृतिरूप द्रव्येन्द्रिय को जो पुद्गलस्वरूप रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणयुक्त पुद्गलात्मक कहा गया है । उससे "भिन्न जातीय पृथिव्यादिकों से इनका आविर्भाव होता है" ऐसा मानने वाले नैयायिक के सिद्धान्त का निरसन हो जाता है तथा सांख्य का यह कथन कि इन्द्रियों का आविर्भाव अहङ्कार से होता है, इसका निरसन हो जाता है । इस सम्बन्ध में चर्चा मध्यमा परीक्षा वाले न्यायरत्न के अनुवाद में की जावेगी । यह प्रथमा परीक्षोपयोगी

है। अतः इसमें यह विस्तृत चर्चा नहीं की है; केवल टीका की अन्तिम पंक्ति से इसकी सूचना ही दी गयी है।

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः—न्यायसूत्र १/१/१२ ॥
पृथिव्यप्तेजोवायूनां घ्राणरसनचक्षुः स्पर्शनेन्द्रियभावः ॥

घ्राणेंद्रिय की उत्पत्ति पृथिवी से होती है, रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति जल से होती है, चक्षुरिन्द्रिय की उत्पत्ति तेज से होती है, स्पर्शेन्द्रिय की उत्पत्ति वायु से होती है, श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति आकाश से होती है ऐसी इनकी मान्यता है।

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः, तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि। अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधिः प्रवर्त्तते सर्गः, ऐन्द्रिय एकादशकः तन्मात्रा पञ्चकश्चैव ॥ —इति सांख्यकारिका ॥

अहङ्कार रूप अभिमान से सोलह गण का आविर्भाव होता है। सोलह गण इस प्रकार से हैं, ५ भूत, ५ इन्द्रिय, ५ तन्मात्रा और १ मन। इस कथन के अनुसार सांख्य के यहाँ पर इन्द्रियों का आविर्भाव अहङ्कार से हुआ माना गया है ॥७॥

सूत्र—द्विविधमपि सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावायधारणा भेदात् चतुःप्रकारकम् ॥८॥

संस्कृत टीका—इन्द्रियजानिन्द्रियजभेदात्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं द्विविधमिति प्रतिपादितम्। तदेव प्रत्येकम् अवग्रहेहावायधारणाभेदात् चतुर्विधमस्तीति प्रतिपाद्यतेऽनेन सूत्रेण। तथाचेन्द्रियनिबन्धनं सांव्यवहारिकम् अनिन्द्रियनिबन्धनं च सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। अवग्रहादिभेदात् चतुर्भेदविशिष्टं ज्ञातव्यम्। एतेऽवग्रहादयो बह्वादि पदार्थविषयका भवन्ति ॥८॥

सूत्रार्थ—दोनों प्रकार का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार-चार प्रकार का है।

हिन्दी व्याख्या—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के एक इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इस प्रकार से दो भेद प्रकट किये गये हैं। उनमें इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार प्रकार का है, और अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी चार प्रकार का है। जैसे किसी पदार्थ का—व्यक्त पदार्थ का हर एक इन्द्रिय एवं मन से अवग्रहरूप भी ज्ञान होता है, ईहारूप भी ज्ञान होता है, अवायरूप भी ज्ञान होता है, और धारणारूप भी ज्ञान होता है। इसी तरह से केवल मन के विषयभूत बने हुए पदार्थ में भी अवग्रहादि रूप ज्ञान होता है। अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव के भेद से १२ प्रकार के होते हैं। ऐसा नियम है कि अवग्रह के विषयभूत बने हुए पदार्थ में ही ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान होते हैं और ये अवग्रहादि रूप चारों प्रकार के ज्ञान उन बह्वादि[1] पदार्थों में पाँच इन्द्रिय और मन से होते हैं। इस तरह से मतिज्ञान के २८८ भेद हो जाते हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद सम्मिलित नहीं हैं।

प्रश्न—व्यञ्जनावग्रह का क्या मतलब है ?

उत्तर—इन बहु आदि पदार्थों में जब अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ज्ञान प्रवृत्त होते हैं—तब ये बहु आदि पदार्थ "अर्थ" कहलाते हैं, और जिनमें केवल अवग्रह ही ज्ञान होता है वह

---

१. इन भेदों का अर्थ जानने के लिये अन्यत्र देखो।

व्यञ्जन कहलाता है। क्योंकि जब तक स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र का विषय इन इन्द्रियों के साथ स्पृष्ट होता हुआ भी अव्यक्त रहता है तब तक वह व्यञ्जन कहलाता है, और इस व्यञ्जन पदार्थ का केवल अवग्रह रूप ही ज्ञान होता है ईहादिरूप ज्ञान नहीं होता और यह व्यञ्जन का अवग्रहरूप ज्ञान अप्राप्यकारी होने के कारण चक्षु और मन से नहीं होता है। अतः यह बहु आदि १२ प्रकार के पदार्थों का व्यञ्जनावग्रह ४ ही इन्द्रियों से जन्य होने के कारण ४८ भेद वाला होता है। इस तरह अर्थावग्रह के २८८ और व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद मिलाने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ३३६ भेद हो जाते हैं।

प्रश्न—३३६ भेद तो सूत्र में कहे नहीं गये हैं फिर आपने इन्हें कैसे प्रकट किया है ?

उत्तर—बात तो ठीक है। यहाँ तो मूल रूप से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रहादि ४ भेद ही प्रकट किये गये हैं। परन्तु इन्हीं चार भेदों पर से ये ३३६ भेद फलित हुए हैं, सो यह सब विषय ऊपर में स्पष्ट ही कर दिया गया है। अतः आपको सन्तोष कर लेना चाहिये।

प्रश्न—जिस प्रकार आपने अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह ऐसे दो भेद अवग्रह के किये हैं तो क्या इसी प्रकार से 'अर्थेहा एव व्यञ्जनेहा' आदि रूप से भेद ईहा आदि ज्ञानों के भी होते हैं ?

उत्तर—ईहा आदि ज्ञानों के इस प्रकार से भेद नहीं होते हैं। अवग्रह के ही ये भेद होते हैं। क्योंकि व्यञ्जन पदार्थ में अवग्रह के सिवाय ईहा आदि ज्ञान उद्भूत नहीं होते हैं।

सूत्र—विषय-विषयिसम्बन्धोद्भूत दर्शनानन्तरावान्तरसत्ताविशिष्टवस्तु ग्रहणमवग्रहः ॥९॥

संस्कृत टीका—पूर्वसूत्रनिर्दिष्टेषु अवग्रहादि चतुर्षु प्रथमोक्तम् अवग्रहं लक्षयितुं विषयविषयीत्यादि सूत्रमाह—तथा च विषयः सामान्य विशेषात्मको ज्ञेय पदार्थः, विषयी चक्षुरादीन्द्रियादि समूहः तयोः यः सम्बन्धः—योग्यता लक्षणः, नतु संयोगादि रूपः, तस्मिन् सति प्रथमम् उत्पन्नं यत् सन्मात्रदर्शनम्-सत्तामात्र विषयं दर्शनम्—अस्ति किं स्विद् इत्येवं सन्मात्र विषयकं निराकारं ज्ञानम्—तदनन्तरभावि यद् अवान्तर सत्तया मनुष्यत्वादि जात्या विशिष्टस्य मनुष्यादेर्वस्तुनो ग्रहणं तद् अवग्रहः। सत्ता मात्र विषयकं दर्शनमेव अव ग्रहरूपतया परिणमति ॥९॥

सूत्रार्थ—विषय और विषयी के योग्यता लक्षणरूप सम्बन्ध होने पर उत्पन्न हुए दर्शन के बाद जो अवान्तर सत्ताविशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है उसी का नाम अवग्रह है ॥९॥

हिन्दी व्याख्या—पूर्वसूत्र में जो अवग्रहादि चार ज्ञान प्रकट किये गये हैं, उनमें सर्वप्रथम जो अवग्रह का पाठ आया है, उसके लक्षण के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं, कि—चक्षुरादि इन्द्रियों का अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जो अपने विषयभूत ज्ञेय पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है, उस समय सर्वप्रथम केवल उस पदार्थ की सत्ता मात्र की ही प्रतीति होती है, इसी का नाम दर्शन है। इस दर्शन के बाद ही—यह कुछ है—इस प्रकार के निराकार ज्ञान के बाद ही—अवान्तर सत्ताविशिष्ट मनुष्य आदि वस्तु का ग्रहण होता है—अर्थात् यह मनुष्य है—ऐसा जो साकार ज्ञान होता है, उसी का नाम अवग्रह है।[1] इस तरह दर्शन ही अवग्रह ज्ञान रूप से परिणम जाता है।

प्रश्न—अवान्तर सत्ता का अर्थ क्या है ?

उत्तर—भिन्न-भिन्न पदार्थों की जो सत्ता है वही अवान्तर सत्ता है। जैसे—द्रव्यत्व को यदि हम

---

१. तदनन्तर भूतं सन्मात्र दर्शनं स्व विषय व्यवस्थापन विकल्पम् उत्तर परिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः।
—न्याय कुमुदचन्द्रे ११६ पृष्ठे।

महासत्ता मानें तो जीवत्व अवान्तर सत्ता रूप होगा। और जब जीवत्व को महासत्ता मानेंगे, तो मनुष्यत्व अवान्तर सत्ता रूप होगा, इत्यादि। इस तरह दर्शन के बाद होने वाला अवान्तर सत्ताविशिष्ट वस्तु ग्रहण अवग्रह का लक्षण निर्दोष है।

सूत्र—अवग्रह गृहीतार्थोद्भूत संशय निरासाय यत्न ईहा ॥१०॥

संस्कृत टीका—अवग्रहेण योऽर्थो गृहीतो यथाऽयं पुरुष इति तत्र किमय "गुर्जरदेशीयः, उताहो महाराष्ट्रियः" इत्येवं विशेष धर्मद्वय कोटिक संशयानन्तरम् अनेन गुर्जरदेशीयेन भवितव्यमित्येवम् ईहारूपं ज्ञानं जायते। तस्माद् ईहया संशये सति जायमानया संशयो निरस्यते—निर्णयाभिमुखी प्रवृत्तिश्च जन्यते। ईहा यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति कृत्वा ज्ञानरूपैवेत्ति युक्तं प्रत्यक्ष भेदत्वमस्याः।

न च वाच्यं पूर्णनिर्णयो नानया जन्यते कथमस्याः प्रमाणत्वमिति। स्व विषय निर्णय रूपत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—अवग्रह से गृहीत अर्थ में उद्भूत संशय को दूर करने के लिए जो निर्णयाभिमुखी प्रवृत्ति होती है, उसका नाम ईहा है।

हिन्दी व्याख्या—जैसे यह पुरुष है। इस प्रकार का जो अवग्रह ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनन्तर क्या यह गुजरात का है, या महाराष्ट्र का है, इस प्रकार का उभयकोटि को स्पर्श करने वाला संशय होता है। इस संशय को दूर करने के लिये फिर ऐसी गवेषणा होती है कि यह गुजरात का होना चाहिए। यद्यपि इस ज्ञान में पूर्णरूप से निर्णय नहीं होता है। परन्तु फिर भी निर्णय की ओर ही इसका झुकाव है। यह ईहारूप चेष्टा चेतन की होती है, इसीलिए इसे ज्ञानरूप कहा गया है और इसे अपने विषय का इसी रूप में निर्णय करने वाला होने से प्रमाणरूप माना गया है ॥१०॥

सूत्र—ईहा भावित विशेषार्थावधारणमवायः ॥११॥

संस्कृत टीका—अनेन गुर्जरदेशीयेन भवितव्यमित्येवं रूपेण जायमानया ईहया भावितो—विषयीकृतो योऽर्थस्तस्य विशेषरूपेण अवधारणात्मकोऽवायो भवति यथाऽयं गुर्जरदेशीय एव।

हिन्दी व्याख्या—ईहा के द्वारा विषयभूत हुए, अर्थ का विशेष रूप से निर्णय करने वाला जो ज्ञान है उसी का नाम अवाय है। जैसे—जब ईहा ने यह जाना कि यह मनुष्य गुजराती होना चाहिए। तब उसकी भाषा आदि सुनकर जो ऐसा निश्चय हो जाता है कि यह गुजराती है। इसी ज्ञान का नाम अवाय है।

सूत्र—कालान्तराविस्मरण हेतु र्धारणा ॥१२॥

संस्कृत टीका—पूर्वोक्त स्वरूपोऽवाय एव यदा दृढ़तरावस्था युक्तो भवति तदा स आत्मनि एतादृशं संस्कारं जनयति येन कालान्तरेऽपि "सः" एवं रूपं स्मरणज्ञानं जन्यते। स संस्कार एव धारणा, तदुक्तम-न्यत्रापि धारणा स्मृतिहेतु रिति। एतेषां ज्ञानानामयमेवोत्पत्तिक्रमः, अभ्यस्त विषये यदेषामुत्पत्तिक्रमानुप लक्षणं तत् तत्र तेषामाशूत्पाद एव कारणम् "दर्शनस्योत्तरपरिणामोऽवग्रहः, अस्योत्तरपरिणाम ईहा, अस्या उत्तरपरिणामोऽवायः, अस्योत्तर परिणामश्च धारणा" एवं रूपेणात्र कथञ्चिदेकत्वं व्यपदेशभेदेन च कथञ्चिद्भिन्नत्वमवधार्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—कालान्तर में जो स्मरण ज्ञान का हेतु होता है वही धारणा का स्वरूप है। धारणा के बिना जाने गये पदार्थ का स्मरण कथमपि नहीं हो सकता है ॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—जिसका स्वरूप प्रकट कर दिया गया है, ऐसा अवायरूपज्ञान ही जब दृढ़तर अवस्था वाला हो जाता है, तब वह आत्मा में एक ऐसा संस्कार उत्पन्न कर देता है कि जिसकी वजह से आत्मा पूर्वदृष्ट पदार्थ को कालान्तर में भी स्मरण करता है। स्मरण का आकार "वह" ऐसा कहा गया है। यही बात अन्यत्र भी कही गई है।[1] इन ज्ञानों का उत्पत्ति-क्रम ऐसा ही है। पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रहरूप ज्ञान होता है, अवग्रह से जाने गये पदार्थ में उत्पन्न हुए संशय को दूर करने के लिए ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है, ईहा के विषयभूत पदार्थ को निश्चय करने वाला अवायज्ञान होता है। और अवाय द्वारा जाने गये पदार्थ का कालान्तर में स्मरण होता रहे, इसके लिए धारणा ज्ञान होता है। अभ्यस्त विषय में—परिचित स्थान आदि में—जो इस प्रकार से इसका उत्पत्ति-क्रम जानने में नहीं आता है, उसका कारण इनका वहाँ पर शीघ्रता से उत्पाद हो जाना ही है। इस तरह से अवग्रहादि ज्ञान एक ही वस्तु में होते हैं। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु का अवग्रहरूप ज्ञान हो और किसी का ईहादि रूप ज्ञान हो। चेतनरूप आत्मा का ही यह योग्यता के वश से उत्तरोत्तर में अवग्रहादि रूप उपयोगविशेष होता है। दर्शन का उत्तर-परिणाम अवग्रह, इसका उत्तरपरिणाम ईहा, ईहा का उत्तरपरिणाम अवाय, और अवाय का ही उत्तर-परिणाम धारणा है। इस तरह से विचार करने पर यद्यपि इनमें कथंचिद् अभिन्नता आती है, परन्तु फिर भी इनमें संज्ञा भेद से ही भिन्नता है, ऐसा मानना चाहिए ॥१२॥

सूत्र—क्रमिकाविर्भूतदर्शनावरणादि कर्मक्षयोपशमजन्यत्वेनैषामुक्त क्रमवत्त्वं नोचेद्विषय व्यवस्थाऽभावः ॥१३॥

संस्कृत टीका—"दर्शनावग्रहादिषूक्तक्रमवत्त्वं कथं जायते" इत्यादिरेका निवृत्त्यर्थ मिदं प्रणीतं सूत्रकृता। तथा च दर्शनावग्रहादिषु पूर्वोक्त क्रमवत्त्वं क्रमिकाविर्भूत दर्शनावरणादि कर्मक्षयोपशम जन्यत्वात्। विषय-विषयि-सम्बन्धानन्तरं यदेव वस्तु दर्शनेन सत्वसामान्यरूपतया ज्ञायते तदनन्तरं तदेव अवग्रहेण मनुष्यत्वादि रूपावन्तर सत्ताविशिष्टं ज्ञायते, तदनन्तरं जायमानेन संशयेनानिश्चितरूपतया संदिह्यते, ततो निश्चयाभिमुखी प्रवृत्तिरूपया ईहया ईह्यते। ततो निश्चयाकारेणावायेनावेयते पश्चात् कालान्तरे अविस्मृतिरूपतया धारणया धार्यते। एवंविधो योऽनुभूयते क्रम एतेषु, स कारण क्रमपूर्वक एव, कार्यक्रमस्य कारण क्रमपूर्वकत्व दर्शनात्, कारणक्रमश्च दर्शनावरणाद्यावरण क्षयोपशमरूपोऽत्र, अतो येन क्रमेण दर्शनावरणाद्यावरण क्षयोपशमः संभवति तेनैव क्रमेण एते दर्शनावग्रहादय उत्पद्यन्ते, अतोऽत्र क्रम-वत्त्वं नासिद्धम्, एवमेवैतेषु परस्पर भिन्नत्वमपि असाकल्पेनापि उत्पद्यमानत्वात्, विषयसाङ्कर्यमपि नास्ति अपूर्वापूर्व स्व-स्वविषय ग्राहकत्वात्। क्रमालापे विषय व्यवस्थाभावप्रसङ्गः स्यात्।

सूत्रार्थ—अपने-अपने आवारक कर्मों का क्षयोपशम क्रमशः होता है, और उसी क्षयोपशम के क्रमानुसार इन दर्शनादिकों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इनमें क्रमिकता सिद्ध मानी गई है।

हिन्दी व्याख्या—यह बात सङ्केत रूप से ऊपर प्रकट कर दी गई है कि इन दर्शन अवग्रहादि-रूप ज्ञानों की उत्पत्ति क्रमशः होती है। अब सूत्रकार इसी क्रम का युक्तिपुरस्सर विचार कर रहे हैं—इसमें उन्होंने यह समझाया है, कि दर्शन, अवग्रह, संशय, ईहा, अवाय और धारणा इस क्रम से जो ये उत्पन्न होते है सो इस क्रमिक उत्पत्ति का कारण अपने-अपने आवारक कर्मों का क्षयोपशम क्रम है। विषय

---

१. इसके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १७३ तथा प्रमाण मीमांसा पृ० २२

और विषयी का योग्यदेशावस्थानादिरूप योग्यता को लेकर जो सम्बन्ध होता है, उस समय वस्तु केवल सत्त्वसामान्य विशिष्ट ही दर्शन के द्वारा जानी जाती है। इसके बाद अवग्रह ज्ञान के द्वारा वही वस्तु अवान्तर सत्ता से विशिष्ट जानी जाती है। इसके बाद निश्चयतः उद्भूत हुए संशय को हटाने के लिये निश्चय की ओर झुकाव वाला ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है, और वह अपने पद के अनुसार उसकी गवेषणा करता है। इसके बाद ईहा के द्वारा की गई गवेषणा को यथार्थता का रूप देने के लिये अवायज्ञान प्रवृत्त होता है। बाद में कालान्तर में भी उस वस्तु की स्मृति आती रहे, वह वस्तु ज्ञाता के चित्त से उतर न जावे इसके लिये धारणा उस वस्तु को ज्ञाता के चित्त में दृढ़ रूप से जमा देती है। इस प्रकार का क्रम इनकी उत्पत्ति का जो स्वानुभव के गोचर प्रत्येक प्राणी को होता है—वह कारण-क्रम को लेकर ही होता है। इनका कारण ऐसे ही क्रम वाला है। अतः कार्य में क्रमता कारणक्रम के ही अनुसार आती है। दर्शनावरणादि जो इनके आवरण करने वाले कर्म हैं, उनका क्षयोपशम इनका उत्पादक होता है। सो इनका क्षयोपशम इसी क्रम से होता है, अतः ये इसी क्रम से होते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से दर्शन और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवग्रहादि रूप ज्ञान होते हैं।

प्रश्न—क्या ये अवग्रहादि एक वस्तु में समस्त रूप में होते हैं या कुछ कम भी होते हैं ?

उत्तर—यह तो ज्ञाता के क्षयोपशम के ऊपर आधारित है। यदि ज्ञाता की इच्छा पदार्थ को सामान्य रूप से ही जानने की है, तो वहाँ केवल क्षयोपशमानुसार उसे दर्शन मात्र होकर रह जावेगा, और यदि अवान्तरसत्ता से विशिष्ट जानने की है, तो वहाँ उसे दर्शन, अवग्रह ये दो ज्ञान क्षयोपशम के अनुसार हो जावेंगे। इसी प्रकार से वह यदि अपने जानने की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाता है, तो उस समय उसे ऐसा नियमतः संशय होगा कि यह मनुष्य कहाँ का है, क्या मरुदेश का है, या गुर्जर देश का है ? उसी समय गवेषणा करने में वह आजावेगा, और विचारमग्न होकर सोचने लगेगा, कि इसे गुर्जर देश का निवासी होना चाहिये। बात-चीत के प्रसङ्ग में वह जब उसकी भाषा पर ध्यान देता है तो गुर्जर देश की भाषा का प्रयोक्ता उसे देखकर ही वह इस बात का निश्चय कर बैठता है कि अवश्य ही वह गुर्जर देश की भाषा का प्रयोक्ता होने से अहमदाबाद का निवासी ही है। अब जब-जब वह उसे देखता है तो यही निश्चय कर लेता है कि यह अहमदाबाद का ही निवासी है या वह उसे अपने स्थान पर रहते हुए भी जो याद आता रहता है, इसका कारण वही धारणा है, कि जिसने उसकी आत्मा पर ऐसे संस्कार की छाप जमा दी है, कि जिसके कारण वह कालान्तर में भी उसे याद आता रहता है। इस तरह से इन ज्ञानों का उदय एक आत्मा में समस्त रूप से भी होता है, और व्यस्तरूप से भी होता है। इसी से दर्शन अवग्रहादिकों में परस्पर भिन्नता भी सिद्ध होती है।

तथा ये अवग्रहादिरूप एक ही वस्तु को जानने के सम्बन्ध में प्रवृत्त होते हैं। फिर भी इनमें विषयसांकर्य नही होता है, क्योंकि इनका विषय अपूर्व-अपूर्व होता है। जो दर्शन का विषय है, वह अवग्रह का नहीं है, जो अवग्रह का विषय है वह ईहा का नहीं है, जो ईहा का विषय है वह अवाय का नहीं है, और जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है। किन्तु दर्शन ने जिस विषय को केवल सत्त्व सामान्य रूप से दृष्टिपथ किया है। उसी विषय को अवग्रह ने विशेष रूप से विषय किया है क्योंकि इन सब ज्ञानों के विषय ही ऐसे हैं जो एक दूसरे के विषय से मिलान नहीं खाते हैं। इस तरह अपूर्व-अपूर्व विषय की व्यवस्था करने वाले होने के कारण इनके द्वारा गृहीत विषय में कथमपि संकरता नहीं आती है। ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—जैसा क्रम इनकी उत्पत्ति का आपने प्रकट किया है यदि इनकी उत्पत्ति का वह क्रम न माना जावे तो क्या हानि है ? हमें ऐसा अनुभव में तो नहीं आता है कि पहले दर्शन हुआ, उसके बाद अवग्रह हुआ, फिर ईहा ज्ञान हुआ, फिर अवाय हुआ और फिर धारणा हुई। क्योंकि पदार्थ को देखते ही उसका स्पष्ट बोध हो जाता है।

उत्तर—यह पहले प्रकट किया जा चुका है कि जो विषय अभ्यस्त होता है उसके जानने में इनका उत्पाद क्रम अनुभव में नहीं आता है, जिस प्रकार शाटिका को फाड़ने पर हमें उसके डोरों के फटने का क्रम अनुभव में नहीं आता है, क्योंकि हमारा ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और उसमें इतनी सूक्ष्म बात को जानने की शक्ति नहीं है। परन्तु यह तो मानना ही चाहिए कि शाटिका के सभी डोरे एक साथ नहीं फटे हैं, एक के बाद एक रूप में ही फटे हैं। इसी प्रकार अभ्यस्त विषय में इनका उत्पाद इतनी शीघ्रता से होता है, कि वह हमें अनुभव में नहीं आता है। अनुभव में नहीं आने से किसी भी सद्भावरूप वस्तु का अपलाप तो किया नहीं जा सकता है, नहीं तो फिर सूक्ष्मादि पदार्थों के भी अपलाप करने का प्रसंग प्राप्त होगा। हाँ जो विषय अनभ्यस्त हैं उनमें इनकी उत्पत्ति का काल क्रम तो अनुभव में आता ही है। तभी तो ज्ञान में प्रमाणता की ज्ञप्ति अनभ्यस्त विषय में परतः कही गई है। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि जब तक पदार्थ का सत्तावलोकनरूप दर्शन नहीं होता है तब तक अवग्रह का जन्म नहीं हो सकता है, और अवग्रह के जन्म के अभाव में संशय की उत्पत्ति न हो सकने से गवेषणा-मार्गणा करने रूप ईहा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है। और जब ईहा का ही उत्पाद न होगा तब फिर निश्चयात्मक अवाय की उत्पत्ति का भी अभाव हो जायगा, और स्मृति की कारणभूत धारणा के अभाव में विषय व्यवस्था न हो सकने के कारण सांसारिक समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जायगा। अतः इन समस्त दोषों की आपत्ति से सांसारिक व्यवहार व्याकुलित न बन जावे इसके लिए इनकी उत्पत्ति का क्रम जैसा कहा गया है वैसा ही मानना चाहिए ॥१३॥

सूत्र—द्विविधमतीन्द्रियज्ञानं पारमार्थिकं प्रत्यक्षम् ॥१४॥

संस्कृत टीका—यज्ज्ञानमिन्द्रियादि निमित्तं न भवति केवलमात्मनिमित्तं भवति तदेव ज्ञानमतीन्द्रिय कथ्यते, इदमेव पारमार्थिकं प्रत्यक्षं—मुख्यं प्रत्यक्षमित्यादि शब्दैर्व्यवह्रियते—तथा च जीवद्रव्य मात्रमाश्रित्य जायमानं ज्ञानं पारमार्थिकं प्रत्यक्षमिति, सकलविकलभेदात्तद्द्विविधम् तत्र कतिपय विषयं विकल तदपि द्विविधम् अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। तत्र वीर्यान्तराय क्षयोपशम सहकृतादवधिज्ञानावरण क्षयोपशमाज्जातं रूपिद्रव्य विषयं भवगुणप्रत्ययमवधिज्ञानम्। वीर्यान्तराय क्षयोपशम सहकृतान्मनःपर्यय ज्ञानावरण क्षयोपशमाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायविषयकं मनःपर्ययज्ञानम्। निखिलावरणविमुक्तं सर्वद्रव्य पर्याय विषयकं केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम्। सकलताविकलता चात्र विषयकृता। नतु वैशद्यकृता, स्वस्वविषयेऽशेषतः सर्वेषां नैर्मल्यात्।

हिन्दी व्याख्या—जो ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता से नहीं होता है, किन्तु केवल आत्मा की सहायता से ही होता है, वही पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्ष और विकलप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इसी पारमार्थिक प्रत्यक्ष का कहीं-कहीं मुख्यप्रत्यक्ष ऐसा दूसरा नाम भी व्यवहृत हुआ है। जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लेकर केवल रूपी द्रव्य को ही स्पष्ट रूप से जानता है, वह विकलप्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो विकलप्रत्यक्ष हैं। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम सहकृत अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न

होकर जो रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण वाले पुद्गल द्रव्य को स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक इस रूप से दो प्रकार का होता है। भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देव और नारक पर्याय के जीवों को अपने-अपने भव में उत्पन्न होते ही हो जाता है। यहाँ पर इस अवधिज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्यादि पर्याय की तरह तपस्या करके अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम नहीं किया जाता है, प्रत्युत जीव का उस भव में जन्म विशिष्ट हुआ, कि पक्षी को आकाश में उड़ने की तरह अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से यह ज्ञान वहाँ उसे प्राप्त हो जाता है। इसी कारण इसे भवप्रत्ययिक कहा है। उस गति में जन्म लेना इसी का नाम भव है, और यह भव ही जिस अवधिज्ञान की उत्पत्ति में कारण पड़ता है वह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहलाता है।

प्रश्न—शास्त्र—आगम ग्रन्थों में तो ऐसा कहा गया है कि अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है फिर यहाँ अवधिज्ञान की उत्पत्ति भवप्रत्ययिक क्यों कही गई है ?

उत्तर—भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही होता है; परन्तु इस क्षयोपशम का कारण यहाँ भव ही होता है, व्रत नियम आदि नहीं। जिस प्रकार पक्षियों को आकाश में उड़ने की शिक्षा नहीं लेनी पड़ती है, वे तो स्वभाव से ही उड़ने लगते हैं, क्योंकि यह उनका पर्यायगत धर्म है। इसी प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी होता है। इस तरह इस अवधिज्ञान की उत्पत्ति में भव ही प्रधान कारण पड़ता है। अतः यह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा गया है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान का नाम ही क्षायोपशमिक अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचगति के जीवों को होता है और व्रत-नियमादि की आराधना से जायमान, अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है। मनःपर्ययज्ञान वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से सहकृत मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है, और यह चिन्तन व्यापृत संज्ञिपञ्चेन्द्रिय के मनोद्रव्य की पर्यायों को जानता है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। यह ज्ञान समस्त घातियरूप आवरण कर्म के क्षय होते ही उत्पन्न होता है। यह रूपी द्रव्य और अरूपी द्रव्य को युगपत् उनकी अनन्त पर्यायों सहित जानता है। केवलज्ञान में सकलप्रत्यक्षता और अवधि-मनःपर्ययज्ञान में विकलप्रत्यक्षता यह अपने-अपने विषय को ही लेकर है, वैशद्य को लेकर नहीं है। जितनी विशदता से केवलज्ञान अपने विषय को जानता है, उतनी ही विशदता से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी अपने-अपने विषय को—मूर्त्त (रूपी) पदार्थ को द्रव्य-क्षेत्रादि की मर्यादा लेकर जानते हैं॥ १४॥

सूत्र—सर्वज्ञत्वात् केवलज्ञानवानर्हन्नेव निर्दोषत्वात् स एव सर्वज्ञः॥ १५॥

संस्कृत टीका—प्ररूपितस्वरूपं सकलप्रत्यक्षरूपं केवलज्ञानम् अन्यत्रासंभवदर्हत्येव संभवति सर्वज्ञत्वात्। न च सर्वज्ञत्वं तत्रासिद्धं निर्दोषत्वहेतुना तस्य तत्र सिद्धत्वात्। रागद्वेषाज्ञानलक्षणा दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वं केवल व्यतिरेक्ययं हेतुः स्वसाध्य साधनायालं किं नश्चिन्तया—यन्नैवं तन्नैवं, यथा रथ्यापुरुषः, सर्वज्ञश्चार्हन् तस्मात्तत्र केवलज्ञानवत्वं सिद्ध्यति तदपि तत्र सर्वज्ञत्वं निर्दोषत्वात् इति विभावनीयम्।

सूत्रार्थ—केवलज्ञान अर्हन्त परमात्मा में ही है क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं तथा वे ही सर्वज्ञ हैं क्योंकि वे निर्दोष हैं।

हिन्दी व्याख्या—जिसका स्वरूप पहले प्रकट किया जा चुका है, ऐसा वह सकलप्रत्यक्षरूप केवलज्ञान अन्यत्र—कपिल सुगतादि में नहीं संभवित होता हुआ केवल अर्हन्त परमात्मा में ही उनके सर्वज्ञ

होने के कारण संभवित होता है। परमात्मा अर्हन्त में सर्वज्ञत्वरूप हेतु असिद्ध इसलिए नहीं है कि वे रागद्वेष एवं अज्ञानरूप दोषों से रहित हैं। ये दोनों ही हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु हैं और अपने-अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हैं। अतः हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ पर सर्वज्ञता है वहीं पर केवलज्ञानयुक्तता है, और जहाँ पर केवलज्ञानयुक्तता नहीं है वहाँ पर सर्वज्ञता भी नहीं है। जैसे—रथ्या पुरुष—गली में फिरने वाला पुरुष। अर्हन्त सर्वज्ञ हैं इसलिए वे केवलज्ञानी हैं। अर्हन्त में सर्वज्ञता की सिद्धि निर्दोषता से होती है। ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न—यहाँ अर्हन्त परमात्मा को पक्ष, केवलज्ञान को साध्य और सर्वज्ञत्व को हेतु बनाया गया है। क्योंकि साध्य की सिद्धि हेतु द्वारा ही की जाती है। परन्तु हेतु प्रसिद्ध होने के कारण ही तो अपने साध्य की सिद्धि करता है। यहाँ सर्वज्ञत्व जो हेतु दिया गया है वह अभी तक तो प्रसिद्ध ही नहीं है, फिर इस अप्रसिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर—शङ्का उचित है। परन्तु जब इस पर विचार किया जाता है तो समाधान भी इसका अच्छी तरह से मिल जाता है। मानाकि सर्वज्ञत्व अभी तक अप्रसिद्ध है परन्तु युक्ति के बल पर इसकी भी सिद्धि हो जाती है, और वह[1] युक्ति ऐसी है कि संसार में जितने भी सूक्ष्म-परमाणु आदि, अन्तरित राम-रावणादि और दूरार्थ सुमेरुपर्वत आदि पदार्थ हैं, वे सब अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं। जैसे अग्नि अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष होती है, इस अनुमेयत्व हेतु की व्याप्ति प्रत्यक्ष के साथ अग्न्यादि में देखी जाती है। "यत्र-यत्र अनुमेयत्वं तत्र-तत्र कस्यचित्-प्रत्यक्षत्वं यथा अग्न्यादि" इसी तरह से सूक्ष्मादिक पदार्थ भी अनुमेय हैं अतः वे भी किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत हैं। अर्हन्त परमात्मा में सर्वज्ञता की सिद्धि उनके निर्दोष होने के कारण होती है। इस सम्बन्ध में "अर्हन् सर्वज्ञः निर्दोषत्वात्" अनुमान प्रकार ऐसा है ॥१५॥

सूत्र—प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात्तत्रैव निर्दोषत्वम् ॥१६॥

संस्कृत टीका—भगवतोऽर्हतो दोषरहितत्वरूपहेतुना केवलज्ञानाश्रयत्वं सर्वज्ञत्वं साधितं, परन्तु यदि कश्चित्स्वदर्शनानुरागवशात्त, एवं ब्रूयात् अयं हेतुः स्वरूपासिद्धि दोषग्रस्तत्वात्कथं तत्र तत्साधयितुमीशः, अत आह—प्रमाणाविरोधिवाक्त्वादित्यादि, तथा च तीर्थंकृदर्हन् रागद्वेषाज्ञानदोषनिर्मुक्तः प्रमाणाविरोधिवचनत्वात्, इत्यनुमानेन अर्हतो दोषरहितत्वसिद्धेः हेतौ स्वरूपासिद्धिदोषोद्भावनं प्रलापमात्रमेव, तस्य सद्धेतुत्वात्।

सूत्रार्थ—प्रमाण से विरोधरहित वचन वाले होने से अर्हन्त परमात्मा निर्दोष हैं ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—यह पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि दोषरहित होने से अर्हन्त परमात्मा केवलज्ञान के आश्रयभूत सर्वज्ञता से युक्त हैं। परन्तु यदि कोई स्वदर्शन के अनुराग के वश से यदि इस निर्दोषरूप हेतु को स्वरूपतः असिद्ध वहाँ प्रकट करें—तो इसके वारण निमित्त सूत्रकार ने ऐसा कहा है कि उनके जो वचन हैं—आगमरूप उपदेश हैं—उनमें किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है। दोषविशिष्ट व्यक्ति के ही वचनों में पूर्वापर विरोध रूप बाधा आती है। अतः निर्दोषत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है किन्तु सद्धेतु ही है।

---

१. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः पदार्थाः कस्यचिद् यथा अनुमेयत्वोदग्न्यादिरित सर्वज्ञ संस्थितिः।

सूत्र—तत्संमततत्त्वस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमाबाधितत्वेन स एव प्रमाणाविरोधिवचनः ॥१७॥

संस्कृत टीका—पूर्वं प्रमाणाविरोधिवचनत्वेन हेतुनाऽर्हंतो निर्दोषत्वं साधितं निर्दोषत्वेन च सर्वज्ञत्वं किन्तु तस्मिन् भगवति प्रमाणाविरोधिवचनत्वस्यैवासिद्धेर्न तेन तत्र निर्दोषत्व सिद्धिः अतस्तत्साधनाय "तत्संमत तत्त्वस्य" इत्यादि सूत्रमुक्तम्—तथा च "अर्हन् प्रमाणाविरोधवचनः तत्संमत तत्त्वस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमाबाधितत्वात्" यस्य यत्र संमतं तत्त्वं न केनापि प्रमाणेन बाध्यते स तत्र प्रमाणाविरोधिवचनो भवति यथा ज्वरादि रोगादौ भिषग्वरः, न बाध्यते च केनापि प्रसिद्धेन प्रमाणेन प्रत्यक्षपरोक्षादिना भगवतोऽर्हंतोऽनेकान्तादितत्त्वं तस्मात् स प्रमाणाविरोधिवचनः ।

सूत्रार्थ—अर्हन्त परमात्मा प्रमाण से अविरोधिवचन वाले हैं क्योंकि उनका जो अभिमत तत्व है, वह किसी भी प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं होता है ।

हिन्दी व्याख्या—प्रमाणाविरोधी वचन वाले होने रूप हेतु के द्वारा अर्हन्त परमात्मा में निर्दोषता की सिद्धि करके अब सूत्रकार उसकी सिद्धि में प्रयुक्त हुए प्रमाणाविरोधिवचनत्वरूप हेतु की वहाँ पर सिद्धि करते हैं । इस सिद्धि करने का कारण यह है कि कोई स्वमतव्यामोही यहाँ ऐसी कुतर्कणा न कर बैठे कि यह हेतु तो स्वरूपासिद्धि दोष से दूषित है फिर यह अपने साध्य की सिद्धि कैसे कर सकेगा, तथा च जिसका संमत—अभीष्ट तत्त्व—सिद्धान्त प्रत्यक्ष या परोक्षरूप प्रसिद्ध प्रमाणों द्वारा बाधित—खण्डित नहीं किया जाता है, वह वहाँ प्रमाणाविरोधि वचन वाला होता है—जैसे ज्वरादि रोग में वैद्यराज । अर्हन्त परमात्मा का अभीष्ट तत्व अनेकान्त सिद्धान्त आदि है । यह तत्त्व एकान्त आदि के द्वारा बाधित इसलिये नहीं होता है कि उस एकान्त तत्व के साधक कोई भी प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध प्रमाण नहीं है अतः हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रसित नहीं है । किन्तु सद्धेतु ही है अतः उसके द्वारा साध्य की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है[1] ॥१७॥

सूत्र—कवलाहारवत्त्वेन नार्हंतोऽसर्वज्ञत्वं तयोरविरोधात् ॥ १८ ॥

संस्कृत टीका—दिगम्बराः केवलिनस्तीर्थकृतः सर्वज्ञत्वस्य बाधकं कवलाहारं कथयन्ति—तथाहि—केवली कवलाहारी न भवति छद्मस्थेभ्यो विजातीयत्वात्, केवली यदि कवलाहारी स्यात् तर्हि स छद्मस्थेभ्यो विजातीयो न स्यात् केवली वा न स्यात् इत्याद्यनुमानेन तीर्थकृतः केवलिनः कवलाहाराभावं साधयन्ति । तन्मतं निरसितुमाह "कवलाहारवत्त्वेन" इत्यादि । यदि कवलाहार वत्त्वस्य केवलज्ञानेन सह विरोधः स्यात् तदाऽस्मदादि ज्ञानेनापि तस्य विरोध आपद्येत उभयोर्ज्ञानत्वाविशेषात् । यमेवान्धकारं सूर्यप्रभा निरस्यति तमेव दीपप्रभाऽपि निरसितुं पारयति तस्मात्पयः पावकयोरिव कवलाहार केवलज्ञानयोर्न कश्चिद्विरोधोऽस्ति अन्यथाऽस्मदादि ज्ञानेनापि कवलाहारस्य विरोधापत्त्या अस्माकमपि ज्ञानवत्त्वात् कवलाहारापेक्षा न स्यात् तस्मात् भगवतस्तीर्थकृतः कवलाहारवत्त्वेऽपि केवलज्ञानवत्त्वेन सर्वज्ञत्वमुपपद्यते ॥ १८ ॥

---

१. आप्तमीमांसायामिदमेव प्रतिपादितम्—त्वमेवासि निर्दोषोयुक्तिशास्त्राविरोधिवाक्, अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
त्वन्मतामृत बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥

सूत्रार्थ—कवलाहारी होने से अर्हन्त परमात्मा में असर्वज्ञता नहीं आती है क्योंकि कवलाहार और सर्वज्ञता इन दोनों का परस्पर में कोई विरोध नहीं है।

हिन्दी व्याख्या—दिगम्बर सम्प्रदाय वाले अर्हन्त परमात्मा को कवलाहारी नहीं मानते हैं। उनका इस सम्बन्ध में ऐसा कहना है कि केवली छद्मस्थजनों की अपेक्षा विजातीय हैं अतः वे केवलज्ञानी होने पर भोजन नहीं करते है। यदि ये कवलज्ञानी होने पर भोजन करते हैं तो फिर उनमें छद्मस्थजनों की अपेक्षा विजातीयता नहीं आती है, अथवा वे केवली नहीं रहते हैं। इस तरह के उनके कथन का निरसन करने के लिये सूत्रकार ने यह सूत्र कहा है। इसके द्वारा यह समझाया गया है, कि केवलज्ञानी अर्हन्त परमात्मा में कवलाहार करने पर भी सर्वज्ञता का अभाव नहीं आता है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर में कोई विरोध नहीं है। सर्वज्ञता भी रह सकती है और भोजन करना भी रह सकता है। यदि कवलाहार का सर्वज्ञता के साथ विरोध माना जावे तो फिर हमारे ज्ञान के साथ भी कवलाहार का विरोध होना चाहिये। अन्धकार का और प्रकाश का जब आपस में विरोध है तो जिस प्रकार उसे सूर्यप्रभा विनष्ट कर देती है तो इसी तरह उसे प्रदीपप्रभा भी नष्ट कर देती है। अतः पय—पानी और पावक का जैसा परस्पर में विरोध है वैसा विरोध कवलाहार और केवलज्ञान का नहीं है। यदि आपस में इनका विरोध अपनी हठ से स्वीकार किया जावे तो फिर ज्ञानवान् होने से हम लोगों को भी कवलाहार की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। अतः तर्क के बल पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अर्हन्त परमात्मा में केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर भी भोजन करने का अभाव प्रमाणित नहीं होता है ॥ १८ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीय अध्याय

सूत्र—जैनमुनिरदर्हदादि गुणोत्कीर्त्तनादि स्थानसेवित्वात् स्थानकवासी ॥१॥

संस्कृत टीका—इतः पूर्वं प्रथमाध्याये प्रमाणस्य द्वितीयाध्याये च तद्भेदान्तर्गत प्रत्यक्षस्य च प्ररूपणा कृता, सम्प्रति तृतीयाध्यायेऽस्मिन् परोक्षप्रमाणविशेषमनुमानं निरूपयितुं तत्सूचकमेव सूत्रमारभते—"जैनमुनिरित्यादि," जैनमुनौ स्थानकवासित्वम् अर्हदादिगुणोत्कीर्तनादीनां विंशतिस्थानानां सेवित्वात् सिद्ध्यति। तानि विंशतिस्थानकानीमानि—अर्हद्गुणोत्कीर्तनम् (१) सिद्धगुणोत्कीर्तनम् (२) प्रवचनगुणोत्कीर्तनम् (३) गुणवद्गुरुगुणोत्कीर्तनम् (४) स्थविरगुणोत्कीर्तनम् (५) बहुश्रुतगुणोत्कीर्तनम् (६) तपस्विगुणोत्कीर्तनम् (७) अर्हदादिसप्तानां ज्ञानेषु निरन्तरं पौनःपुन्येन उपयोगकरणम् (८) दर्शनविशुद्धिः (९) गुरुदेवादि विषयकविनयः (१०) आवश्यकम्—उभयकालमावश्यक करणम् (११), निरतिचारं व्रतप्रत्याख्यान निर्मल पालनम् (१२), क्षणलवादिकालेषु प्रमादं विहाय शुभध्यानकरणम् (१३), द्वादशविधतपोऽनुष्ठानम् (१४), त्यागः—दानम् (१५) वैयावृत्यकरणम् (१६), समाधिः—सर्वजीवानां सुखोत्पादनम् (१७), अपूर्वज्ञानग्रहणं पठनञ्च (१८), श्रुतभक्तिः—जिनोक्तागमेषु परमानुरागः (१९), प्रवचने प्रभावना—प्रभूतभव्येभ्यः प्रव्रज्यादानम्, जिनशासन महिमोपबृंहणम् जीवानां जिनशासनरसिककरणम्, मिथ्यात्व तिमिरापहरणम् चरण-करण-सत्तरी शरणीकरणं च (२०)।

सूत्रार्थ—जैन मुनि अर्हन्त, सिद्ध आदि के गुणों के उत्कीर्तन करने आदि रूप २० स्थानों के सेवन करने के स्वभाव वाला होता है, इस कारण वह स्थानकवासी इस रूप से सिद्ध होता है।

हिन्दी व्याख्या—इससे पहले प्रथम अध्याय में प्रमाण की प्ररूपणा और द्वितीय अध्याय में उसके भेद के अन्तर्गत हुए प्रत्यक्ष प्रमाण की प्ररूपणा करने में आई है। अब इस तृतीय अध्याय में परोक्ष प्रमाण के भेदरूप अनुमान का निरूपण करने के लिये उसका सूचक ही यह "जैनमुनिरर्हदादि" सूत्र कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ पर सूत्रकार को सर्वप्रथम परोक्ष प्रमाण का लक्षण कहना चाहिये था फिर उसके भेदों की परिगणना के अवसर में अनुमान प्रमाण का लक्षण कहते समय इस सूत्र का कथन करना चाहिये था, सो ऐसा न करके जो ऐसा कथन किया गया है उसका क्या कारण है ?

उत्तर—परोक्ष प्रमाण का लक्षण प्रथम प्रतिपादित न करके जो अनुमानविशेषसूचक यह सूत्र कहा गया है उसका कारण यही है कि सूत्रकार को किसी विशेष स्थल में इस स्थानकवासित्व को सिद्ध नहीं करना है क्योंकि अर्हदादिगुणोत्कीर्तनादि रूप जो २० स्थान हैं वे अनादि प्रवाह वाले हैं—तीर्थङ्कर

भगवन्तों द्वारा अर्थतः उपदिष्ट हुए हैं अतः इनकी अनादिता से इनका सेवन करने वाले—इन्हें ग्रहण करने वाले—इनमें वसने वाले—जो भी मुनिजन हैं वे सब ही स्थानकवासी हैं। इस तरह यह स्थानकवासित्व अनादिकालिक होने से प्रमाणभूत ही है क्योंकि अर्थरूप आगम तीर्थङ्करोपदिष्ट हैं। अतः इसकी आराधना-करने वाले जो इसके कर्त्ता हैं वे भी स्थानकवासी होने से प्रमाणभूत हैं और उनकी प्रमाणता से उनके वचनों में प्रमाणता है[1]। अतः इस प्रकार के कथन से इसके निर्माता ने अपने वचनों में अप्रमाणता की शङ्का को निवारण कर दिया है।

प्रश्न—अपने वचनों में प्रमाणता की यह बात तो पहले ही कहनी थी यहाँ पर कहने की आवश्यकता क्यों हुई ?

उत्तर—कोई भी बात प्रकरण के अनुसार यदि कही जाती है तो वह ठीक जचती है और ग्राह्य होती है, अप्रकरण के अनुसार नहीं। यहाँ पर परोक्ष प्रमाण का प्रकरण अवसर प्राप्त है और उसी के अन्तर्गत अनुमान का प्रकरण है। अतः इस अनुमानसूचक बात को यहीं पर कहना श्रेयस्कर है इसीलिये इसकी आवश्यकता हुई है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष के प्रकरण के अवसर में यदि इस बात को कहा जाता तो क्या हानि थी ?

उत्तर—प्रत्यक्ष के प्रकरण में तो सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्षों का वर्णन अभीष्ट था। उनसे स्थानकवासित्व साध्य की सिद्धि तो हो नहीं सकती थी क्योंकि साध्य तो परोक्ष ही होता है और परोक्ष साध्य को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रयुक्त होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्थानकवासित्व को ग्रहण कर नहीं सकता क्योंकि वह उसका अविषय है। रही पारमार्थिक प्रत्यक्ष की बात सो उन्हीं पारमार्थिक प्रत्यक्ष वालों ने इस साध्य को अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयभूत बनाकर हम संसारी जीवों को इसमें वसन आदि का उपदेश एवं आदेश दिया है।

इस तरह स्थानकवासित्व में अनादिता का प्रतिपादन करके अब सूत्रकार उन्हीं २० अनादिकालीन स्थानों को नामोल्लेखपूर्वक प्रकट करते हैं—अर्हद्गुणोत्कीर्त्तन (१), सिद्धगुणोत्कीर्त्तन (२), प्रवचनगुणोत्कीर्त्तन (३), गुणवद्गुरुगुणोत्कीर्त्तन (४), स्थविरगुणोत्कीर्तन (५), बहुश्रुत-गुणोत्कीर्त्तन (६), तपस्विगुणोत्कीर्तन (७), तथा—अर्हन्तादि ७ के ज्ञान में बारम्बार निरन्तर उपयोग रखना (८), दर्शनविशुद्धि (९), गुरुदेवादि विषयक विनय (१०), उभयकाल आवश्यक करना (११), निरतिचार शीलव्रतों का पालना व्रत-प्रत्याख्यान का निर्मल पालना (१२), क्षण लव आदि कालों में प्रमाद को छोड़कर शुभ ध्यान करना (१३), बारह प्रकार के तप का पालन करना (१४), अभयदान देना—सुपात्रदान देना (१५), आचार्यादि की सेवा-शुश्रूषा करना (१६), समाधि—सर्व-जीवों को सुखी करने का भाव रखना (१७), अपूर्व ज्ञान का ग्रहण और उसके साधकों—शास्त्रों का अध्ययन करना (१८), श्रुतभक्ति—जिनोक्त आगम में परम अनुराग रखना (१९), प्रवचन प्रभावना—अनेक भव्यों को दीक्षा देना, जिनशासन की महिमा वृद्धिगत करना, जीवों को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्वरूपी तिमिर का निवारण करना, एवं चरण सत्तरी और करण सत्तरी की शरण में रहना (२०)। इस प्रकार से ये २० स्थान हैं। साधुजन इन २० स्थानकों में ही अनादिकाल से बसते चले आ रहे हैं। अतः इनमें स्थानकवासिता अनादिकाल से है। यह बात सिद्ध होती है ॥ १ ॥

---

१. वक्तुः प्रामाण्यात् वचसि प्रामाण्यम्।

सूत्र—प्रशस्तः खलु स्थानकवासी मुनिस्तथाविध विंशतिस्थान समाराधकत्वेन तीर्थकृद्गोत्रोपार्जकत्वात् ॥ २ ॥

संस्कृत टीका—जैनमुनीनां स्थानकवासित्वेनैव श्रेष्ठत्व साधनाय सूत्रमिदमुक्तम्—तथा च तथाविध विंशति स्थानक समाराधकत्वेन स्थानकवासिनां मुनीनां श्रेष्ठत्वम् आयाति। तत्सेवनेनैव ते तीर्थकृद्गोत्रोपार्जका भवन्ति। ये एवं भूता न ते एवं भूता न, यथा शास्त्रनिषिद्ध द्रव्यपूजाविधायिका मुक्तिकारणत्वेन तां भजमान जैनाभासाः।

सूत्रार्थ—स्थानकवासी मुनि श्रेष्ठ है क्योंकि वह पूर्वोक्त २० स्थानकों का समाराधक होने से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्धक होता है।

हिन्दी व्याख्या—यह सूत्र, जैन मुनियों में स्थानकवासित्व के कारणभूत २० स्थानों के समाराधन के कारण से ही तीर्थंकर प्रकृति की बन्धकता आती है, अतः वह श्रेष्ठ है—इस बात को समझाने के लिये कहा गया है। जो इस प्रकार के नहीं हैं वे श्रेष्ठ नहीं हैं, जैसे जैनाभास। ये जैनाभास शास्त्रनिषिद्ध द्रव्यपूजा को मुक्ति का कारणभूत मानते हैं। अतः वे २० स्थानक के सेवन द्वारा तीर्थंकर प्रकृति के बंधक नहीं होने से प्रशस्त नहीं कहे गये हैं ॥ २ ॥

सूत्र—जैनमुनिर्मुखे सदोरक मुखवस्त्रिकां बध्नीयादागमे तदबन्धनापेक्षया तद्बन्धनस्य श्रेष्ठत्वेन ज्ञापितत्वात् ॥ ३ ॥

संस्कृत टीका—विंशतिस्थानक समाराधकत्वेन जैन मुनिषु श्रेष्ठत्वं प्रसाध्य सम्प्रति मुखे मुखवस्त्रिका बन्धनत्वसमर्थनाय उच्यते "जैन मुनिर्मुखे" इत्यादि। यदि मुनिमुखं मुख-वस्त्रिका बन्धनरहितं भवति तदा जिनाज्ञा विराधकत्वेन न तत्र जैन मुनित्वमायाति। समुत्थानादि सूत्रेषु तद्बन्धनस्य प्रतिपादितत्वात्। अतो हस्तादिषु मुखवस्त्रिका धारणम्, भाषणकाले तया मुखावगुण्ठनकरणं शास्त्रनिषिद्धं प्रतिपादितम्। शास्त्रनिषिद्ध कर्मणि प्रवर्त्तकाः कथं जैन मुनयो भवितुमर्हाः, अतः सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनमेव श्रेष्ठम्। समुत्थान सूत्रे इदमेव प्रतिपादितम्—"णो कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा मुहे मुहपत्तिं अबंधित्तए एयाइं कज्जाइं करित्तए पण्णत्ता" इत्यादि।

सूत्रार्थ—जैन मुनि मुख के ऊपर सदोरक मुखवस्त्रिका को अवश्य-अवश्य बांधे, क्योंकि आगम में उसके नहीं बांधने की अपेक्षा उसका मुख पर बांधना ही श्रेष्ठ रूप से कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—पूर्व में २० स्थानकों का समाराधक होने से जैन मुनियों में श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। अब इस सूत्र द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा है कि यदि मुनि मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका नहीं बांधता है तो वह जिनाज्ञा का विराधक होने के कारण सच्चा जैन मुनि नहीं है। क्योंकि समुत्थान आदि सूत्रों में मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका का बांधना कहा गया है। इसलिये इस कथन के अनुसार जो जैन मुनि सदोरक मुखवस्त्रिका को हाथ में रखते हैं तथा उसे कमर में वस्त्र के साथ खोंस लेते हैं और भाषण के समय पर उसे मुख पर रखते जाते हैं यह सब शास्त्रनिषिद्ध मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले मुनिजन शास्त्रनिषिद्ध कर्म में प्रवृत्तक होने के कारण जैन मुनि कैसे हो सकते हैं। इसलिये जैन मुनि होने के लिये सदोरक मुखवस्त्रिका का मुख पर बांधना ही श्रेयस्कर है। समुत्थान सूत्र में "णो कप्पइ" आदि सूत्र पाठ द्वारा यही बात कही गई है ॥ ३ ॥

सूत्र—मुखे सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनं श्रेष्ठं सावद्यकर्मपरिवर्जकत्वात् ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका—जैनमुनीनां सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनं मुखे आवश्यकमित्युक्त्वाऽधुना तस्य श्रेष्ठत्व साधनाय 'मुखे सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनमित्यादि सूत्रमाह—

प्राणिप्राणविघातादि सावद्य कर्म परिवर्जकत्व हेतुना सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनं स्वत एव श्रेष्ठं ज्ञायते। परन्तु व्यामोहवशतः कश्चिद्यदि श्रेष्ठत्वमस्य नाङ्गीकरोति तदा कथं स सचेतनः स्यात्, कथमस्य सावद्य कर्म परिवर्जकतेति चेदुच्यते—सदोरक मुखवस्त्रिका धारणं विना भाषणे क्रियमाणे वायुकायिकादेर्जीवस्य विराधनाऽशक्य परिहारा भवति, तदा भाषायां सावद्यताऽऽगच्छति, सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धन द्वारा तु वायुकायादि जीव संरक्षणे भाषा निरवद्या भवति। उक्तञ्च भगवती सूत्रे १६ शतके २ उद्देशे—"गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिजूहित्ताणं भासं भासइ ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिजूहित्ताणं भासं भासइ ताहे णं सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ" इत्यादि। अतः सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनमागमोक्तत्वात् श्रेष्ठमिति भावनीयम्।

सूत्रार्थ—मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका का बांधना श्रेष्ठ है क्योंकि यह सावद्य कर्म का परिवर्जन कराने वाली है।

हिन्दी व्याख्या—जैन मुनियों को मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका का बांधना आवश्यक है—ऐसा कहकर अब सूत्रकार इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन इस सूत्र द्वारा कर रहे हैं। इसमें यह समझाया गया है कि—सदोरक मुखवस्त्रिका का मुख पर बांधना श्रेष्ठ इसलिये है कि इसके बांधने से प्राणियों के प्राणविघात आदि होने रूप जो सावद्य कर्म हैं वे नहीं हो पाते हैं, उसके द्वारा होने से बच जाते हैं। यद्यपि देखा जाय तो सदोरक मुखवस्त्रिका का मुख पर बांधना स्वतः ही श्रेष्ठ है ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु फिर भी कोई अपनी हठ से इस बात को स्वीकार नहीं करता है तो हम उसे समझदार प्राणी कैसे मान सकते हैं ? इस मुखवस्त्रिका के बन्धन द्वारा सावद्य कर्म की परिवर्जना कैसे हो जाती है ? यदि कोई हमसे ऐसा पूछता है तो हम उसे बताते हैं—सदोरक मुखवस्त्रिका को मुँह पर बांधे विना भाषण करने पर वायुकायिक आदि जीवों की विराधना दुर्निवार हो जाती है, उसे वह भाषणकर्त्ता रोक नहीं सकता है, इस स्थिति में भाषा में सावद्यता आती है। तथा मुखवस्त्रिका के बन्धन से विहीन मुख में मशक मक्षिकादि जीवों का, संपातिम जीवों का एवं सचेतन उदकबिन्दुओं का प्रवेश होना कैसे रोका जा सकता है। तथा जिस समय देशना आदि देना होता है, या खांसी आदि आती है, उस समय मुख की निकली हुई उष्णवायु से हो जाने वाली बाह्य वायुकायिकादि जीव विराधना कैसे बचायी जा सकती है। तथा सचित्त रजोरेणु को मुख में जाने से कैसे रोका जा सकता है, तथा बोलते समय दूसरों के ऊपर पड़ते हुए थूक के लवों के स्पर्श से कैसे बचाया जा सकता है, इत्यादि यह सब कथन यहाँ उपलक्षण से जान लेना चाहिये। इसलिये निरवद्य भाषा के लिये, वचनगुप्ति के लिये, साधुवेश लिङ्ग के लिये, संपातिम जीवों की रक्षा के लिये, भाषा समिति के लिये, सचित्त रजोरेणु के प्रवेश को रोकने के लिये, एवं प्रमार्जना के लिये, मुखवस्त्रिका का मुख पर निरन्तर बांधना आवश्यक कर्म है, इसीलिये इसे श्रेष्ठ कहा गया है। भगवती सूत्र में १६वें शतक में द्वितीय उद्देशक में ऐसा ही कहा गया है। इस तरह मुहपत्ति के बन्धन द्वारा वायुकायिकादि जीवों की रक्षा होती रहती है इसलिये इसे मुँह पर दोरे से निरन्तर बांधे रहना यह आगमोक्त मार्ग है। इसी से यह श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

सूत्र—बन्धनरहित मुखवस्त्रिकया मुखपिधानम् अप्रशस्तं जीवरक्षाऽभावात् ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं मुखे सदा सदोरक मुखवस्त्रिका बन्धनं जीव संरक्षणे हेतुत्वात् श्रेष्ठं साधितम् । अधुना तु दोरकरहित मुखवस्त्रिकया मुखपिधानं (आच्छादनं) जीव संरक्षणेऽहेतुत्वात् न श्रेष्ठमिति साध्यते । न तया मुखे सूक्ष्म सचित्तरजःकण प्रवेशेन जायमाना पृथिवीकायस्य, वृष्ट्यादिवशात् आकस्मिक जलकणानां प्रवेशेन जायमाना जलकायस्य (अप्कायस्य), अग्निस्फुलिङ्गानामुत्पाते न आकस्मिक सूक्ष्माग्नि स्फुलिंग निपातेन वा जायमाना तेजस्कायस्य, तथा मुखोष्णश्वास निःश्वासाभ्यां जायमाना बाह्यवायुकायस्य, यत्र जलं तत्र वनमिति व्याप्तिन्यायेन जलनान्तरीयकतया मुखे सचित्त जल बिन्दु पातेनैव जायमाना वनस्पतिकायस्य च विराधना वार्यते । अधिकं स्याद्वाद मार्तण्डेऽवलोकनीयम् ।

सूत्रार्थ—बन्धनरहित मुखवस्त्रिका से मुख ढांकना यह श्रेष्ठ मार्ग नहीं है । क्योंकि इस प्रकार के करने से जीवों की रक्षा नहीं होती है ।

हिन्दी व्याख्या—यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट कर दी गई है कि दोरा सहित मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधने से जीवों की रक्षा होती है अतः इसका मुख पर बांधना प्रशस्त है । परन्तु जो इस प्रकार नहीं करते हैं किन्तु दोरारहित मुखवस्त्रिका से भाषण करते समय मुख ढँक लेते हैं सो यह मार्ग प्रशस्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में उसके द्वारा षट्काय के जीवों की होती हुई विराधना रोकी नहीं जा सकती है । जब मुनिजन भाषण करते हैं तब मुखवस्त्रिका से ढँके हुए भी मुख में प्रवेश करते हुए सूक्ष्म सचित्तरजःकण का कौन वारण कर सकता है ? उनके वहाँ प्रवेश होने पर उसकी विराधना होती है इसी तरह से अप्काय आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये । विशेष जानने के लिये स्याद्वाद मार्तण्ड को देखना चाहिये ॥ ५ ॥

सूत्र—वैशद्यविहीनं ज्ञानं परोक्षम् ॥ ६ ॥

संस्कृत टीका—उक्तलक्षणं वैशद्यम्—तेन विहीनं ज्ञानं परोक्षम् ।

सूत्रार्थ—वैशद्य का स्वरूप कह दिया गया है । इस विशदता से रहित जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है ।

सूत्र—स्मृति प्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागमभेदात् तत्पञ्चविधम् ॥ ७ ॥

संस्कृत टीका—तत्परोक्षं प्रमाणं स्मृत्यादिभेदेन पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । एतेषां विशेषलक्षणानि यथायथमग्रेऽभिधास्यन्ते ।

सूत्रार्थ—वह परोक्ष प्रमाण स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पांच प्रकार का कहा गया है ।

सूत्र—पूर्वानुभूतविषयकं तत्तोल्लेखि ज्ञानं स्मृतिः ॥ ८ ॥

संस्कृत टीका—पूर्वम् अनुभूतप्रत्यक्षादिना अनुभवविषयीकृतः योऽर्थस्तद्विषयकं यत् तत्तोल्लेखिज्ञानं भवति तत्स्मृतेर्लक्षणम् । "तत्तोल्लेखि" पदेन उद्भूत संस्कारजन्यत्वमत्रावेदितं ज्ञातव्यम् । उद्भूत संस्कारमन्तरेण तत्तोल्लेखिप्रत्ययस्याभावात् । अत्रेदं बोध्यम्—कस्यापि वस्तुनः प्रत्यक्षादिना अनुभवानन्तरं तद्वस्तुविषयको भावनाख्यो धारणा परपर्यायः संस्कारो भवति स च यदा केनापि साधनेन उद्बुद्धो

जायते न तु प्रसुप्तस्तिष्ठति तदा तथाविधोद्भूत संस्कारादनुभूतस्य वस्तुनः स्मृतिर्भवति। एतेनाप्रबुद्ध संस्कारस्येयं स्मृतिर्न भवति तथा—इयमनुभूतविषयिण्येव नाननुभूतविषयिणी। संस्कार प्रबोधोऽस्याः कारणम्, पूर्वानुभूत पदार्थोऽस्याः विषयः, तद् इति अस्या आकारः एषां त्रयाणामत्र लक्षण उल्लेखः कृतो ज्ञातव्यः। ननु अनुभूयमान विषयस्य अभावान्निरालम्बा स्मृतिः कथं प्रमाण प्रतिष्ठिता स्यात् ? नैवम् अनुभूतार्थेनास्याः सालम्बनत्वोपपत्तेः अन्यथाऽनुमानोत्थान वार्ताऽपि दुर्लभा स्यात्। अतीतो विषयः कथमस्या उत्पादक इति नाशङ्कनीयम् ज्ञानं प्रति अर्थस्य कारणता प्रतिषेधात्। दत्तग्रहादि विलोपापत्त्या स्मृतेः प्रमाणता स्वयं सिद्ध्यति। न चरनुभूते विषये प्रवृत्तमित्येतावताऽस्या अप्रामाण्यम् अनुमितेऽग्न्यादौ प्रवृत्तस्य प्रत्यक्षस्यापि अप्रमाणता प्रसंगात्।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षादि प्रमाण से जाने गये पदार्थ को जानने वाला तथा "वह" इस प्रकार के आकार वाला जो ज्ञान है, उसी का नाम स्मृति है।

हिन्दी व्याख्या—स्मरण ज्ञान पहले जाने गये पदार्थ का ही होता है। इस स्मरण को उत्पन्न कराने वाला भावना नाम का संस्कार होता है। इस संस्कार की जब तक जागृति नहीं होती तब तक पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं होता। इस संस्कार का दूसरा नाम धारणा है। अप्रबुद्ध संस्कार वाले व्यक्ति को यह स्मरणरूप ज्ञान नहीं होता है। यह अनुभूत विषय में ही होता है, अननुभूत विषय नहीं। संस्कार का प्रबोध इसका कारण है, अनुभूत पदार्थ इसका विषय है एवं "वह" इसका आकार है। ये तीन बातें इस स्मृति के लक्षण में प्रकट की गई हैं। यहाँ शङ्का ऐसी हो सकती है, कि स्मृति का जो विषय है वह वर्तमानकालिक नहीं होता है किन्तु भूतकालिक होता है इसलिए 'अनुभूयमान' विषय का अभाव होने से यह स्मरणज्ञान निर्विषय माना जावेगा अतः इसे प्रमाण प्रतिष्ठित कैसे माना जा सकता है ? सो ऐसी आशंका ठीक नहीं है। इसका अपना विषय ही अनुभूत पदार्थ है। अनुभूयमान पदार्थ स्मृति का विषय नहीं, वह तो प्रत्यक्ष का विषय होता है। इसलिए इसकी अपेक्षा स्मृति निर्विषय नहीं है, विषयवाली ही है। यदि अनुभूत विषय वाली होने से स्मृति को प्रमाणकोटि से बाहर कर दिया जावे तो फिर अनुमान का उत्थान ही नहीं हो सकेगा; क्योंकि लिंगग्रहण के बाद ही अविनाभावरूप सम्बन्ध की स्मृति होने पर ही तो अनुमान का उदय होता है। यदि यहाँ पर बौद्धों की तरफ से ऐसी आशङ्का उपस्थित की जावे कि स्मृति अतीत विषय में होती है, अतः वह अतीत विषय इसका उत्पादक कैसे हो सकता है, सो यह शङ्का इसलिए उचित नहीं है कि जैन दार्शनिकों ने ज्ञान की उत्पत्ति में विषय को कारण नहीं माना है। विषय ज्ञान का कारण इसलिए नहीं माना गया है, कि उसका ज्ञान के साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं बनता है। यह सम्बन्ध तो अन्वय व्यतिरेक के घटित होने पर ही होता है। इस पर सङ्केतरूप में कथन पीछे किया जा चुका है। यदि स्मृति को प्रमाणभूत न माना जावे तो संसार में लेने-देने का व्यवहार ही समाप्त हो जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा अर्थात् लोक जो दूसरों की अपनी यहाँ पर रखी हुई धरोहर को याद करके उठाते हैं, वह स्मृति की अप्रमाणता में कैसे अब उठाई जा सकेगी ? स्मृति में अप्रमाणता प्रकट करने के लिए यदि ऐसा कहा जावे कि स्मृति गृहीत हुए विषय को ही ग्रहण करती है—अतः गृहीतग्राही ज्ञान की तरह वह अप्रमाण क्यों नहीं मानी जावेगी ? गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानने का यही कारण है कि वह जाने हुए विषय को ही जानता है। यही बात स्मृति में है। सो इस शंका का उत्तर ऐसा है कि यदि इस प्रकार से स्मृति को प्रमाण कोटि से बाहर रखा जाता है तो फिर अनुमित अग्न्यादि में पश्चात् प्रवृत्त हुए प्रत्यक्ष में भी अप्रमाणता आ सकती है। यदि इस पर यों कहा जावे कि अनुमान से जाने गये पदार्थ में प्रवृत्त हुए प्रत्यक्ष में उस विषय को स्पष्ट रूप से जनाने की क्षमता है। अतः जो

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुमान के द्वारा नहीं जनाया जा सका है उसे प्रत्यक्ष ने जनाया है। इसलिए प्रत्यक्ष अनुभूत पदार्थ में प्रवृत्त नहीं होता है किन्तु अननुभूत विषय में ही प्रवृत्त होता है। अतः वह प्रमाण कोटि से बाहर नहीं हो सकता है। तो फिर स्मृति में भी यही बात है। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय वर्तमानकालिक है, और स्मृति का विषय भूतकालिक है। भूतकालिक अनुभूत विषय को स्मृति जानती है और वर्तमानकालिक अनुभूयमान विषय को प्रत्यक्ष जानता है। इस तरह विषयकृत विशेषता को जानने की अपेक्षा स्मृति में प्रमाणता कही गई है।

सूत्र—प्रत्यक्ष स्मृतिजैकत्वादि सङ्कलनात्मिका संवित् प्रत्यभिज्ञा ॥ ९ ॥

संस्कृत टीका—प्रत्यक्षं स्मृतिञ्च एतज्ज्ञान द्वयं मिलित्वा प्रत्यभिज्ञा ज्ञानं जनयति, अतः प्रत्यभिज्ञानस्यैतद् द्वय ज्ञान जन्यत्वं निगदितम्। पूर्वोत्तर दशा द्वय व्याप्येकत्वादिकमस्य विषयः यथा स एवायं श्रावकः, यमहं पूर्वं मरुदेशेदृष्टवान् आदि यदेन सादृश्यादि प्रत्यभिज्ञानभेदा गृहीताः। इदमपि स्मृतिवदविसंवादित्वात् स्वतन्त्रमस्ति क्वचिदपि अस्यानन्तर्भावात्-प्रत्यक्षं वर्त्तमानदशावगाहि, स्मरणं भूतदशावगाहि। एतद् द्वयम् एकत्वादि विषयक संकलनं कर्त्तुं न प्रभवति। तस्य तदविषयत्वात्। न च स्मरण सहकृतमपि इन्द्रियम् एकत्वादि विषये ज्ञानं जनयितुं क्षमं सहकारिशतसमवधानेऽप्यविषये प्रवृत्त्यभावात्। अविषयश्चेन्द्रियाणां पूर्वोत्तर दशाद्वय व्याप्येकत्वम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—जो अनुभव और स्मृति से जन्य होता है तथा एकत्वादि को जो विषय करता है ऐसा जो मानसविकल्परूप ज्ञान है, उसका नाम प्रत्यभिज्ञा है।

हिन्दी व्याख्या—प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को उत्पन्न करने वाले वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष और भूतकालिक पदार्थ को जानने वाला स्मरण ये दो ज्ञान हैं। ये दोनों ज्ञान ही मिलकर इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का विषय पूर्व और उत्तर अवस्था व्यापी जो एकत्व आदि हैं वे हैं। जैसे यह वही श्रावक है जिसे मैंने पहले मरुदेश में देखा था। यह ज्ञान न प्रत्यक्ष रूप है और न स्मरण रूप है। किन्तु इन दोनों से भिन्न ही है, जिसे इन दोनों ज्ञानों ने उत्पन्न किया है। कल श्रावक को मरुदेश में देखा था। "स एवाय श्रावकः" आज जब वही गुजरात में देखने में आता है, तो ऐसा ही बोध होता है। इस ज्ञान को यदि प्रत्यक्ष माना जावे तो "यह है" इस रूप से ही ज्ञान का उल्लेख होना चाहिए। इसके साथ जो "वही है" ऐसा उल्लेख होता है, वह नहीं होना चाहिए। तथा यदि इसे स्मरणरूप माना जावे तो "वही है" ऐसा उल्लेख होना चाहिए "यह वही है" ऐसा उल्लेख नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो पूर्वदृष्ट पदार्थ के समक्ष आने पर उसमें होता ही है। इसका अपलाप हो नहीं सकता। अतः यह मानना ही पड़ता है कि जो ऐसा उल्लेख हुआ है, वह इन दोनों ज्ञान के जुड़ने से हुआ है। यहाँ महेश में एकत्व का विचार किया गया है। यदि 'मालथौन' दृष्ट महेश की अपेक्षा 'श्री महावीर जी' दृष्ट महेश में अन्तर होता तो 'यह वही महेश है', ऐसा बोध नहीं होता है। परन्तु ऐसा बोध हो रहा है। यही पूर्व दशा और उत्तर दशावर्ती एकत्व प्रत्यभिज्ञा का विषय है। इस प्रत्यभिज्ञा से एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य आदि अनेक भेद माने गये हैं। गो के जैसा गवय होता है, गाय से भिन्न भैंस होती है इत्यादि रूप से होने वाला सादृश्य विषयक बोध एवं वैसादृश्य विषयक बोध प्रत्यभिज्ञा रूप से ही कहा गया है। क्योंकि ऐसे ये सब बोध प्रत्यक्ष और स्मृति के जुड़ने से होते हैं तो जिस प्रकार अपने विषय में अविसंवादिनी होने से स्मृति में प्रमाणता है उसी प्रकार से अपने विषयभूत एकत्वादि धर्मों के विषय में अविसंवादी होने से इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में प्रमाणता है। इसलिए इसका प्रत्यक्ष या स्मरण किसी भी ज्ञान में अन्तर्भाव न

हो सकने के कारण यह स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है। क्योंकि इस ज्ञान का जो एकत्वादि रूप विषय है उसका सङ्कलन न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न स्मरण से ही, इसका कारण यही है कि वह उसका अविषय है। यदि इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जावे कि स्मरण से सहकृत इन्द्रियाँ एकत्वादिरूप विषय को जानने वाली हो जावेंगी तो यह कहना इसलिए प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता है कि वह एकत्वादि रूप विषय इन्द्रियों द्वारा गम्य ही नहीं है—तब स्मरण से सहकृत होने पर भी वे अविषय में प्रवृत्ति कैसे कर सकेंगी। अतः पूर्वोत्तर दशा द्वय व्यापी एकत्वादि को विषय करने वाला यह प्रत्यभिज्ञा ही है, और इसी कारण इसे परोक्ष प्रमाण के भीतर रखा गया है ॥९॥

सूत्र—त्रिकालवर्त्ति साध्य-साधन-विषयक व्याप्ति ज्ञानं तर्कः ॥१०॥

संस्कृत टीका—साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभाव प्रदर्शकः सम्बन्ध विशेषो व्याप्तिः, समव्याप्ति विषम व्याप्ति भेदादियं द्विविधा—यत्र-यत्र ज्ञान तत्र-तत्र आत्मा, यत्र-यत्र आत्मा तत्र-तत्र ज्ञानमन्तर्व्याप्तिः, यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र अग्निरेखा विषम व्याप्तिः, अस्या नामान्तरम् अविनाभाव इति। व्याप्ति सामर्थ्यादेव साधनं साध्यं गमयति, त्रिकालवर्त्ती सर्वोऽपि धूमोऽग्नि जन्मा नानग्निजन्मैवं रूपेण येनावधार्यतेविनाभाव सम्बन्धः, स एव तर्कः मुहुर्मुहुः साध्यसाधनयोः साहचर्यं समुपलभ्य साध्याभावे च साधनाभावं वीक्ष्य अनुमाता अनयोस्त्रिकालवर्त्यविनाभावं निश्चिनोति। व्याप्ति प्रमितौ साधकतमस्तर्क एव नान्यत्।

सूत्रार्थ—त्रिकालवर्ती साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को बताने वाला जो ज्ञान है उसी का नाम तर्क है।

संस्कृत टीका—साध्य सदा गम्य होता है, और साधन उसका गमक—जनाने वाला होता है। इस तरह से साध्य—अग्नि और साधन—धूम आदि में गम्य गमक भाव का प्रदर्शक जो सम्बन्ध विशेष है, उसी का नाम व्याप्ति है। यह व्याप्ति समव्याप्ति और विषम समव्याप्ति के भेद से दो प्रकार की होती है। जहां साध्य साधन की समानरूप से व्याप्ति बन जाती है, जहाँ पर समव्याप्ति होती है। जैसे—जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ पर ज्ञान है, और जहाँ-जहाँ पर ज्ञान है वहाँ-वहाँ वहाँ पर आत्मा है। इस तरह की यह व्याप्ति जिनका परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध होता है, उन पदार्थों में घटित होती है। आत्मा का और ज्ञान का, पुद्गल का और रूपरसादि गुणों का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। इसी कारण इनमें समव्याप्ति बन जाती है। धूम का और अग्नि का संयोग सम्बन्ध माना गया है। अतः इनमें विषम व्याप्ति बनती है, समव्याप्ति नहीं। इसी व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव सम्बन्ध भी है। साध्य के बिना हेतु का नहीं होना इसी का नाम अविनाभाव है। अग्नि के बिना हेतु—धूम— त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है। यदि वह अग्नि के बिना भी हो जाता है, तो वह सच्चा धूम नहीं है, धूमाभास है। इसी बात को जैन दार्शनिकों ने "अन्यथानुपपत्ति" इस पद से भी कथित किया है। जो शब्दार्थ अविनाभाव का है, वही शब्दार्थ इस अन्यथानुपपत्ति का पद का भी है। अविनाभाव के बल से ही साधन अपने साध्य का गमक होता है। जब कोई व्यक्ति अग्नि और धूम को किसी विशेष स्थल पर एक साथ बार-बार देखता है और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव देखता है तो वह यह निश्चय कर लेता है कि जितना भी जहाँ-जहाँ जिस-जिस काल में धूम होता है वह सब अग्नि के सद्भाव में ही होता है, उसके अभाव में नहीं होता है। इस तरह से जो त्रिकालवर्ती साध्य साधन का—अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान उसे हो जाता है, वही तर्क है। द्रष्टा ने अग्नि और धूम का सम्बन्ध तो केवल किसी विशेष स्थल

पर ही बार-बार देखा है सर्वत्र त्रिकाल में नहीं देखा है। परन्तु इस तरह से जो वह व्याप्ति ज्ञान संपादित कर लेता है, वही तर्क है। तर्क ही व्याप्ति ज्ञान में साधकतम होता है, अन्य प्रत्यक्षादि नहीं।

प्रश्न—भले ही सामान्य प्रत्यक्ष व्याप्ति को विषय करने वाला न हो परन्तु विशिष्ट प्रत्यक्ष तो व्याप्ति को विषय करने में समर्थ हो सकता है। जैसे—सर्वप्रथम द्रष्टा ने धूम और अग्नि को एक साथ महानस आदि में देखा, फिर इसी तरह से उसने बार-बार धूम और अग्नि को साथ-साथ रहते देखा। इनमें ये सब प्रत्यक्ष धूम और अग्नि की सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक व्याप्ति को ग्रहण करने वाले भले ही न हों—परन्तु जो अन्तिम प्रत्यक्ष पूर्व पूर्वानुभूत अग्नि के स्मरण से और पूर्वापर के अनुसन्धान रूप प्रत्यभिज्ञान से सहकृत है वह तो व्याप्ति को ग्रहण कर लेगा। फिर इसके लिये तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—शङ्का तो ठीक है। पर जब यह बात पहले प्रकट की जा चुकी है कि जो जिसका अविषय है उसमें उसकी सहकारिता मिल जाने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती है। तब यहाँ प्रत्यक्ष ही जब सार्वत्रिक और सार्वकालिक व्याप्ति को ग्रहण करने में स्वभावतः अशक्त है। तब वह स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से सहकृत होने पर भी उसे कैसे ग्रहण कर सकेगा अर्थात् नहीं ग्रहण कर सकेगा। अतः व्याप्ति के जानने में साधकतम तर्क ही है, ऐसा मानना चाहिये। यही बात "नान्यत्" पद से सूचित की गई है ॥ १० ॥

सूत्र—साध्याविनाभावि लिङ्गजं ज्ञानमनुमानम् ॥ ११ ॥

संस्कृत टीका—साध्याविनाभाविनो ज्ञायमानाद्धूमादेर्लिङ्गाज्ज्ञायमानं ज्ञानमनुमानम्। अत्रानुमानमिति लक्ष्य निर्देशस्तस्य प्रसिद्धतयाऽनूद्यत्वात् साध्याविनाभाविलिङ्गजमिति लक्षण निर्देशः तस्या प्रसिद्धतया विधेयत्वात्, तथा च-अनु-लिङ्ग-ग्रहण साध्यसाधन व्याप्ति स्मरणात्—पश्चात्, मीयतेऽर्थोऽनुमेयपावकादि येन ज्ञानेन तदनुमानमिति। साधनमर्हतीति साधयितुमिष्टः शक्यो वा साध्योऽनुमेयः पावकादिः परोक्षभूतार्थः, विना भवतीति विनाभु न विनाभु इति अविनाभु लिङ्गयते-गम्यतेऽर्थोऽनेनेति लिङ्गम्—साधनम् हेतुरिति यावत् साध्यं त्यक्त्वा यत्र भवति साध्ये सत्येव भवति इति साध्याविनाभावि एतादृशं पल्लिङ्गं तत् साध्याविनाभावि लिङ्गं तेन जायते इति साध्याविनाभावि लिङ्गजम्, ईदृशं ज्ञानमनुमानमिति।

सूत्रार्थ—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले लिंग से जो साध्य का ज्ञान होता है उसका नाम अनुमान है।

हिन्दी व्याख्या—साध्य के बिना नहीं होने वाले—किन्तु साध्य के सद्भाव में ही होने वाले ऐसे लिंग-साधन से जो कि ज्ञायमान होता है साध्य का जो कि परोक्षभूत होता है, ज्ञान ही अनुमान है। यहाँ अनुमान यह लक्ष्य है। क्योंकि वह प्रसिद्ध है, तथा "साध्य के बिना न होने वाले लिंग से उत्पन्न होने वाला" यह लक्षण है। क्योंकि अप्रसिद्ध होने से यह विधेय है। लिंग ग्रहण और साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण इन दोनों के अनन्तर हुए जिस ज्ञान के द्वारा अनुमेयरूप अग्नि आदि पदार्थ जाना जाता है, वह अनुमान है। साध्य वही होता है जो सिद्ध करने योग्य होता है या 'साधयितुम्' इष्ट या शक्य होता है। साध्य का ही दूसरा नाम अनुमेय है। यह साध्य अनुमाता के परोक्ष होता है, जो साध्य के बिना नहीं होता है, किन्तु साध्य के सद्भाव में ही होता है। उसका नाम साध्याविनाभावी है। ऐसा साध्याविनाभावी साधन—हेतु ही अपने साध्य का गमक होता है। इसी का नाम अनुमान है ॥ ११ ॥

सूत्र—स्वार्थ-परार्थभेदात्तद्द्विविधम् ॥१२॥

संस्कृत टीका—तत्र स्वस्मै इदं स्वार्थम् । स्वयमेव निश्चितात् प्राक्तर्कानुभूत व्याप्ति स्मरण सहकृतात् साध्याविनाभाव्येक लक्षणात् दृष्टात् साधनात् साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानमिति । अस्मिन्ननुमाने प्रमाता पूर्वोक्त पद्धत्या परोपदेशमनपेक्ष्यैव साधनात् साध्य सद्भावं निश्चिनोति । यथा पर्वतोऽयं धूमवत्वा-दग्निमानिति, अत्र स्वमेव कस्यचित्प्रबुद्धस्य पुरुषस्य महानसादौ भूयो भूयो वह्नि धूमयोः सहचार दर्शनेन धूमे वह्नि व्याप्त्यवधारणानन्तरं पर्वतादौ गतस्य धूमदर्शनतः धूमो वह्निव्याप्य इत्येवं महानसादौ अनुभूत व्याप्तिस्मरणानन्तरं "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्' इत्याकारिकाया अनुमितिर्जायते तस्याः कारणी-भूतं स्वयमेव साध्याविनाभावित्वेन निश्चितं लिंग ज्ञानमेव । इदमेव स्वार्थानुमानमितिपरस्मै[1]—कुशाग्र बुद्धिशालिने शिष्याय इदम् स्वार्थानुमानाभिधानं परार्थानुमानमिति[2], वाद कालापेक्षयैतच्चानुमानं द्व्यंगमेव प्रतिपाद्यानुरोधतोऽधिकांवमपि वीतराग कथा काले स्वार्थानुमानमपि द्व्यङ्गमेव । प्रतिज्ञादि भेदादनुमानस्यांगसंपत्तिः पञ्चविधा प्रोक्ता सा बालव्युत्पत्त्यर्थमेव ।

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद से अनुमान दो प्रकार का है ॥ १२ ॥

हिन्दी व्याख्या—जिस ने पहिले तर्क प्रमाण से साध्य और साधन का साहचर्य सम्बन्ध निश्चित कर लिया है, ऐसा वह व्यक्ति जब पर्वतादि में धूम को देखता है, तब उसे तर्कानुभूत व्याप्ति का स्मरण आता है, और उससे सहकृत उस साध्याविनाभावी एक लक्षण वाले दृष्ट धूमादि रूप लिंग से साधन से वह अग्न्यादि रूप साध्य के वहाँ होने का अनुमान करता है। बस, इसी का नाम स्वार्थानुमान है। इस अनुमान में अनुमाता पूर्वोक्त पद्धति के द्वारा ही गुर्वादिक के साध्य-साधन की व्याप्ति प्रदर्शक उपदेश की अपेक्षा बिना साध्याविनाभावी लिंग की सहायता से साध्य के सद्भाव का निश्चय कर लेता है। जैसे—धूम होने से यह पर्वत अग्निवाला है। ऐसा यह स्वार्थानुमान किसी-किसी प्रबुद्ध पुरुष को ही होता है। क्योंकि जब वह महानस—रसोईघर आदि में अग्नि और धूम को साथ-साथ रहा हुआ देखता है, तो वह धूम के साथ वह्नि—अग्नि—की व्याप्ति का अवधारण कर लेता है फिर जब वह कहीं पर्वतादि की तरफ जाता है तो वहाँ ऊपर की ओर उठते हुए धूम को देखते ही वह महानसादि में पूर्व में अनुभूत व्याप्ति का स्मरण करता है और उसी समय वह्नि व्याप्य धूम यहाँ पर है, इस प्रकार की अनुमिति उसे हो जाती है। अब विचार तो यह करना है कि इस प्रकार की जो उसे अनुमिति हुई है उसका कारणभूत उसके द्वारा स्वयं साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रूप से निश्चित किया गया लिंग ज्ञान ही है। यही स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान का अभिधान करने वाला जो वचन है वह परार्थानुमान है। तात्पर्य इसका यह है—मान लो देवदत्त को धूम देखने से अग्नि का स्वार्थानुमान हुआ। अब वह अपने इस स्वार्थानुमान को यज्ञदत्त को समझाने के लिये उससे ऐसा कहता है—यज्ञदत्त ! देखो, जहाँ-जहाँ अनवच्छिन्न धारा वाला धूम होता है, वहाँ-वहाँ नियम से अग्नि होती है। इस पर्वत में धूम है अतः यहाँ पर अग्नि है। इस तरह के स्वार्थानुमान के प्रतिपादक ये वाक्य यज्ञदत्त को होने वाले परार्थानुमान के प्रति कारण होते हैं। अतः

---

१. परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम् ।
यद्द्रष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥ १ ॥—न्यायदीपिका

२. स्व निश्चय वदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥ १० ॥—न्यायावतार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ये वाक्य ही परार्थ हैं; क्योंकि वे दूसरों को बोध कराने के लिये कहे गये हैं। यही बात "स्वार्थानुमानाभिधानं परार्थानुमानमिति" इस पाठ द्वारा प्रकट की गई है।

प्रश्न—जैन दर्शन तो ज्ञान को ही प्रमाण मानता है। फिर यहाँ पर जड़ अचेतन रूप वचनों को जो स्वार्थानुमान के अभिधायक होते हैं कैसे परार्थानुमान रूप से स्वीकार कर रहा है ?

उत्तर—शङ्का ठीक है। पर इस तरह के कथन का विचार करने पर शङ्का निरस्त हो जाती है। देखो देवदत्त के कहने से तो यज्ञदत्त को साध्य साधन का ज्ञान हुआ है। अतः देवदत्त के जो वचन हैं, वे यज्ञदत्त के ज्ञान होने में कारण हुए हैं। इसलिए यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके स्वार्थानुमान प्रतिपादक वचनों को परार्थानुमान रूप कह दिया गया है। जो जिसका रूप नहीं है, उसको उसका कारण होने से उस रूप से मान लेना इसी का नाम उपचार है। प्रतिपाद्य में जो ज्ञान भरा जा रहा है, उसका अव्यवहित कारण वचन हैं। सो उन वचनों को ही अनुमान रूप कह दिया गया है।

कथा दो प्रकार[1] की होती है— एक विजिगीषु कथा और दूसरी वीतराग कथा। इनमें वादी और प्रतिवादी का अपने-अपने पक्ष की सिद्धि के लिये जो जय-पराजय पर्यन्त निर्वाचित सभ्य सभापति समक्ष शास्त्रार्थ रूप से वाद विवाद छिड़ता है, वह विजिगीषु कथा है। जिसमें गुरु शिष्य का आपस में तत्त्व निर्णय करने के लिए विचार विनिमय होता है, उसका नाम वीतराग कथा है। परार्थानुमान रूप विजिगीषु कथा के प्रतिज्ञा एवं हेतु ये दो ही अंग होते हैं। तथा शिष्यादि को अनुमान का बोध कराने के लिये या तत्त्व निर्णय करने के लिए उनकी बुद्धि के अनुसार दो से भी अधिक अंग होते हैं। स्वार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये ही दो अंग होते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन ये जो अनुमान के पाँच अंग बताये गये हैं, वे बाल-जीवों को अनुमान का ज्ञान कराने के लिये ही कहे गये हैं ॥ १२ ॥

सूत्र—तथोपपत्त्येकलक्षणो हेतुः; नतु त्रिपञ्चलक्षणस्तस्य तदाभासेऽपि सत्त्वात्, अग्नि मत्त्वे सत्येव धूमवत्त्वोपपत्तिस्तथोपपत्तिः ॥ १३ ॥

संस्कृत टीका—तथोपपत्तिशब्देन साध्याविनाभावित्वमेव हेतोर्लक्षणं निगदितमवगन्तव्यम्। यथाऽन्यथानुपपत्तिशब्देन। आर्हतमतोक्तमिदं हेतुलक्षणमनादृत्यान्येऽन्यथापि हेतु लक्षणमाहुः, तत्र तावत्तदन्यथागताः पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृत्तिलक्षणाल्लिगादनुमानोत्थानं वर्णयन्ति। साध्यधर्म विशिष्टधर्म्यात्मके पक्षे हेतोर्वर्तमान त्वं पक्षधर्मत्वम्, अन्वयोदाहरणे वर्तमानत्वं सपक्षसत्वं, व्यतिरेक दृष्टान्ते चावर्तमानत्वं विपक्ष व्यावृत्तत्वम्। एतानि त्रीणि यस्मिन् हेतौ वर्तमानानि भवन्तित देव सद्धेतुरिति।

नैयायिकास्तु पक्षधर्मत्वादीनि इमानि त्रीणि तथाऽबाधितविषयत्वा सत्प्रतिपक्षत्वं चेति रूपद्वयं हेतोर्लक्षणं कथयन्ति। परन्तु एतत्कथनं समीचीनं नास्ति हेत्वाभासेऽपि त्रिलक्षणस्य पञ्चलक्षणस्य सद्भावात्। तथाहि—"पर्वतो धूमवान् वह्नेः" इत्यादावपि धूम व्यभिचारिणि वह्नौ पर्वतरूप पक्षवृत्तित्वस्य महानसरूप सपक्षसत्त्वस्य ह्रदरूप विपक्षाद् व्यावृत्त्वस्य सद्भावेन तस्यापि सद्धेतुत्वापत्तेः एवमपि हेतोः पञ्चलक्षणमपि नैयायिकोक्तं न युक्तम्—"पर्वतो धूमवान् वह्नेः" अस्मिन्नेव अनुमाने धूम व्यभिचारिणि वह्नौ पर्वतात्मक पक्षवृत्तित्वस्य, महानसादि रूप सपक्षसत्त्वस्य, जलह्रदादि विपक्षावृत्तित्वस्य प्रति-

---

१. इसके लिए न्यायदीपिका देखो।

पक्ष हेतोरभावेन असत्प्रतिपक्षत्वस्य प्रत्यक्षादिना बाधारहितत्वात् अबाधितविषयत्वस्य सद्भावेन सद्धेतुत्वापत्तिः स्यात्। तस्मात् त्रिलक्षणत्वं पञ्चलक्षणत्वं हेतौ न सम्भवति। अपितु तथोपपत्तिरूपैक निर्दुष्ट लक्षणत्वमेव संभवति। तथोपपत्तेः अन्यथानुपपत्तेर्वा हेतुलक्षणत्वे न कश्चिदर्थभेदोऽस्त्युक्ति वैचित्र्यात्।

सूत्रार्थ—तथा-साध्य के होने पर ही उपपत्ति—हेतु का होना यही है एक लक्षण जिसका, ऐसा हेतु होता है।

हिन्दी व्याख्या—अग्निमत्त्व रूप साध्य के सद्भाव में ही धूमवत्त्व रूप हेतु का सद्भाव पाया जाता है। इसी कारण हेतु का लक्षण साध्याविनाभावी ही कहा गया है, जैसा अन्यथानुपपत्ति हेतु का लक्षण कहा गया है। अन्यथानुपपत्ति शब्द से तथा तथोपपत्ति शब्द से इसी साध्याविनाभावी हेतु लक्षण का शब्दान्तर से कथन हुआ है।

प्रश्न—जैसा आपने तथोपपत्ति शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझाया है, इसी प्रकार से अन्यथानुपपत्ति शब्द का अर्थ भी समझाइए तथा इन दोनों में अन्तर क्या है—यह भी बतलाइए ?

उत्तर—तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दोनों के वाच्यार्थ में कोई भी अन्तर नहीं है। सिर्फ शब्दों के प्रयोग में ही अन्तर है। अन्यथा शब्द का अर्थ साध्य का अभाव है, और अनुपपत्ति शब्द का अर्थ हेतु का नहीं होना है। इस तरह साध्य के अभाव में हेतु का नहीं होना यही अन्यथाऽनुपपत्ति शब्द का अर्थ है।

इस तरह का ही लक्षण हेतु का जैन दार्शनिकों ने निर्धारित किया है। क्योंकि इस एक लक्षण के बिना शेष अन्यतीर्थिक जनों द्वारा मान्य लक्षण सदोष हो जाते हैं—हेत्वाभास रूप बन जाते हैं। जहाँ यही एक लक्षण वाला हेतु हो और अन्य पक्षधर्मत्वादि लक्षणों वाला हेतु न हो तब भी वह हेतु अपने साध्य का गमक होता है। इतना इस हेतु का बल है। फिर भी अन्यतीर्थिक जनों ने इस हेतु लक्षण के प्रति अपना आदर नहीं प्रकट किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने साध्याविनाभावी हेतु का लक्षण न मानकर ऐसा लक्षण माना है, कि जो हेतु पक्षधर्म वाला होता है, सपक्ष में सत्त्व वाला होता है और विपक्ष से व्यावृत्ति वाला होता है—वही हेतु अपने साध्य का गमक होता है। जिस हेतु में ये तीन रूप नहीं होते हैं, वह हेतु अपने साध्य का गमक नहीं होता है। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि धूमवाला है इसलिए, यहाँ धूम रूप जो हेतु है वह साध्याविनाभावी होने के कारण अपने साध्य का गमक नहीं है। प्रत्युत पक्ष—पर्वतादि में उसकी वृत्ति है। सपक्ष—रसोई-घर आदि रूप में उसका अपने साध्य के साथ साहचर्य पाया जाता है और साध्याभाव वाले जल ह्रदादि से उसकी सदा व्यावृत्ति रहती है। इस कारण यह धूमरूप हेतु समीचीन हेतु अपने साध्यरूप अग्नि का गमक बताने वाला होता है। ऐसा कथन बौद्धों का है।

नैयायिकों का ऐसा कथन है—जिस हेतु में इन तीन रूपों के साथ असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितविषयत्व ये दो रूप रहते हैं—इस तरह जो हेतु पांच रूपों वाला होता है—वही अपने साध्य का अनुमापक होता हैं। इस पर जैन दार्शनिकों का ऐसा कहना है, कि यदि ऐसी ही बात अंगीकार कर साध्याविनाभावित्व हेतु का लक्षण अनादृत किया जाता है तो फिर जब कोई ऐसा अनुमान प्रयुक्त करता है कि "इस पर्वत में धूम है" क्योंकि इसमें अग्नि है। तब वह अग्निरूप हेतु जो कि अपने साध्यरूप धूम के बिना भी रह जाता है। क्योंकि अंगारावस्था वाली अग्नि के साथ धूम रहता नहीं है—पक्ष में रहता है, सपक्ष में भी रहता है और विपक्ष से भी यह व्यावृत्ति वाला है। अतः इन तीनों रूपों से या पांच रूपों

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

से युक्त होता हुआ भी यह हेतु हेत्वाभास में परिगणित क्यों किया गया है। "अग्निमत्त्व" हेतु की अपने धूमवत्त्व रूप के साध्य के साथ ऐसी व्याप्ति नहीं बनती है कि जहाँ-जहां अग्नि होती है, वहाँ-वहाँ धूम होता है। अग्नि तो अयोगोलक या अंगारों में भी रहती है पर वहाँ धूम नहीं रहता है। अतः यह सद्धेतु नहीं माना गया है। यदि ऐसा कहा जावे तो फिर हेतु का लक्षण त्रिरूपता या पञ्चरूपता कैसे बन सकती है। यह तो समझने जैसी बात है, कि यह अग्निमत्व रूप हेतु जब त्रिरूपता आदि वाला है। तो फिर अपने साध्य का गमक क्यों नहीं ? तथा जब ऐसा कहा जाता है कि एक मुहूर्त्त के बाद शकट का उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है—तो यहाँ पर जो यह कृत्तिकोदय रूप हेतु है वह पक्ष में—शकटोदय में मौजूद तो है नहीं। फिर भी अपने साध्य का—शकटोदय का—गमक क्यों होता है ? अतः त्रिरूपता या पंचरूपता हेतु का लक्षण है—ऐसा व्यामोह छोड़कर यही मानना चाहिये कि हेतु का एक तथोपपत्ति ही लक्षण है। इसके अतिरिक्त और सब लक्षण हेत्वाभासरूप ही हैं।

प्रश्न—क्या अनुमान करते समय अन्यथानुपपत्ति रूप और तथोपपत्ति रूप हेतु का एक साथ प्रयोग किया जा सकता है ?

उत्तर—इन दोनों का अनुमान करते समय एक साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

प्रश्न—एक साथ इनका प्रयोग करने में क्या बाधा है ?

उत्तर—दोनों का एक साथ प्रयोग करने में पुनरुक्ति दोष आता है।

प्रश्न—यह दोष कैसे आता है ? इसे स्पष्ट कर समझाइए ?

उत्तर—सुनो—यह अभी-अभी प्रकट किया जा चुका है कि इन दोनों का वाच्यार्थ एक ही है ; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति रूप जो हेतु होता है उसका अर्थ यही होता है कि साध्य के अभाव में हेतु कभी नहीं होता है। तथा तथोपपत्ति का अर्थ यह है कि साध्य के सद्भाव में ही हेतु होता है। अतः इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हेतु स्वसाध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाला होता है। अतः जब दोनों का निष्कर्षार्थ एक है तो एक साथ दोनों का प्रयोग करने में पुनरुक्ति दोष का आना कैसे रोका जा सकता है ? अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु में हेतु का कथन निषेध मुख से हुआ है और तथोपपत्ति में विधिमुख से हुआ है। इसी (हृदयोस्थित) हृद्यार्थ को लेकर "तथोपपत्तेरन्यथानुपपत्तेर्वा हेतु लक्षणत्वेन कश्चिदर्थ भेदोऽस्त्युक्ति वैचित्र्यात्" ऐसा कहा[1] गया है ॥१३॥

सूत्र—अनिश्चिताभिमतमबाधितं साध्यम् ॥१४॥

सं कृत टीका—येन केनापि प्रमाणेन न निश्चितं—न प्रतीतं तदनिश्चितम्, वादिनां साध्यत्वेन यद् अभिमतम्—अभीप्सितम्, इष्टम्, तत् अभिमतम्। प्रत्यक्षादिना केनापि प्रमाणेन यद् बाधितं न भवति तत् अबाधितम्, ईदृशमेव साध्यम् भवति। निश्चितस्यानभिमतस्य बाधितस्य च साध्यत्वायोगात् "वह्निरनुष्णः" इत्यत्र अनुष्णत्वं साध्यम् उष्णत्वग्राहिणा त्वगिन्द्रियेण बाध्यतेऽतोऽनुष्णत्वं साध्यं न भवति। साध्यत्वेनानभिमतस्य साध्यत्वं माभूत् प्रत्युत वादिन इष्टस्यैव साध्यत्वं स्यादिति बोधनाय अभिमतमित्युक्तम्। क्वमपि केनापि प्रमाणेन पक्षे यद्वस्तु प्रथमतो निश्चितं भवति तस्य साध्यत्व वारणाय अनिश्चित-

---

१. हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथाऽपि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धि र्भवेदिति ॥१७॥ —न्यायावतारः

मित्युक्तम् । एवं च संदिग्धस्य अबाधितस्यानिश्चितस्यैव साध्यता संभवति न निश्चितादिकस्येति भावः ।

सूत्रार्थ—जो अनिश्चित हो, वादी को स्वीकृत हो—प्रतिवादी को स्वीकृत न हो और प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से जो बाधित न हो, वही साध्य होता है ।

हिन्दी व्याख्या—जो प्रतीत होता है—जिसमें किसी भी प्रकार की शंका नहीं होती है, विपर्यय ज्ञान का जो विषयभूत नहीं होता है, अनध्यवसाय ज्ञान से जो आक्रान्त नहीं होता है, वह साध्य नहीं होता है; प्रत्युत साध्य वही होता है जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञान से अभिभूत होता है । इसी बात को समझाने के लिये सूत्र में अनिश्चित पद रखा गया है । पिष्ट को पीसने की तरह निश्चित को साध्य करने से कोई लाभ नहीं है । प्रतिवादी को जो स्वीकृत न हो किन्तु वादी को ही जो स्वीकृत हो क्योंकि सिद्ध करने की अभिलाषा वाला वादी ही होता है प्रतिवादी नहीं—वह तो उसे निराकरण करने की ही इच्छा वाला होता है । इसी बात को प्रकट करने के लिये सूत्र में अभिमत पद दिया है । तथा जो किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित न हो सके, वही साध्य होता है, बाधित साध्य नहीं होता है । इस हृद्य को प्रकट करने के लिये सूत्र में अबाधित पद दिया गया है । इस तरह जो अनिश्चित, अभिमत और अबाधित होता है, वही साध्य होता है । इन अपने विशेषणों से रहित साध्य नही होता है । यही इस सूत्र की टीका का भावार्थ सहित अर्थ है ॥१४॥

सूत्र—व्याप्तौ धर्म एव साध्यमनुमाने तु तद्विशिष्टो धर्मी ॥ १५ ॥

संस्कृत टीका—साध्यस्य स्वरूपं प्ररूप्य सम्प्रति धर्मस्य वन्ह्यादेर्धर्मिणश्च वह्निमत्पर्वतादेरापेक्षिकं साध्यत्वं प्ररूप्यते—व्याप्तौ—व्याप्ति ग्रहण काले—धर्मो वह्निरूप एव साध्यम् यथा—यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र वह्निः, न तु यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र पर्वतोऽग्निमान् इति । व्याप्ति ग्रहण काले धूमेन सह-धर्मिणः पर्वतस्य साहचर्यादर्शनात् । अतः तस्मिन् काले वह्निरूप धर्मस्यैव साध्यत्वं कथितं बोद्धव्यम् नतु वह्निमत्पर्वतरूप धर्मिणः अन्यथा व्याप्तेरघटनात् । साध्य धर्म विशिष्टस्य धर्मिणस्तु अनुमान प्रयोग काले एव साध्यत्वं तत्रैवाग्निमत्तायाः साध्यत्वात् । विवक्षिता धाराश्रिताग्नि मत्त्व साधनमेव अनुमान प्रयोजनम् । अतोवह्निमत्त्व धर्मविशिष्टोऽद्रि रूपो धर्मी एव साध्यो भवति न तु केवलं वह्निरूपो धर्मः । पर्वतादौ वह्ने-रनुमिति काले व्याप्ति ग्रहण कालिक धूम प्रतिनियत वह्निरूप साध्य धर्म विशेषण विशिष्टतया पर्वतात्मक धर्मिण एव साधयितुमिष्टत्वात् । तत्रैव साध्यत्व व्यपदेशो भवतीति भावः । एतेन व्यवहारकाले पर्वतो वह्निमान् इत्येवं वह्निरूप धर्म विशिष्टः पर्वतरूपो धर्मी साध्यत्वेन व्यवह्रियते । व्याप्तिग्रहण वेलायां तु केवलं वह्निरूप धर्म एव साध्यत्वेन व्यपदिश्यते इति फलितम्, अन्यथा धूमे वह्नि व्याप्ति ग्रहो न स्यात् । यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र वह्निरित्येवं साहचर्य दर्शनेन धूमे वह्निनिरूपित व्याप्तिग्रहो भवति न तु यत्र-यत्र धूम स्तत्र-स्तत्र पर्वतः इत्येवं साहचर्येण व्याप्तिग्रहो भवति तस्मात् पितृ पुत्रवत् आपेक्षिक साध्यत्वस्य धर्मे धर्मिणि च सत्त्वे न कश्चिद् विरोधः संभवतीति ।

सूत्रार्थ—व्याप्ति में—व्याप्तिग्रहण काल में—धर्म ही साध्य होता है । साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी साध्य नहीं होता है । साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी साध्य तो अनुमान काल में ही होता है ।

हिन्दी व्याख्या—साध्य के स्वरूप की प्ररूपणा करके अब सूत्रकार यह प्रकट कर रहे हैं कि व्याप्ति को ग्रहण करने के समय में और अनुमान प्रयोग करने के समय में साध्य कौन होता है । जब

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

व्याप्ति ग्रहण करने का समय होता है—साध्य साधन का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञान करना होता है, और इसका दूसरों के प्रति प्रतिपादन करना होता है—उस समय यह नियम है, कि धर्म ही साध्य होता है। जिसके आधार से साध्य रहता है वह धर्मी कहलाता है। इस धर्मी की अपेक्षा से ही साध्य को धर्म कह दिया गया है। "यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः" इस व्याप्ति में हम देखते हैं, कि केवल साध्यरूप अग्नि का ही प्रयोग हुआ मिलता है। उसके साथ उसके आधारभूत पर्वतादि का नहीं। यदि ऐसी व्याप्ति मानी जावे कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ पर्वत अग्निवाला होता है तो व्याप्ति बन ही नहीं सकती है। इसका कारण यही है कि धूम का साहचर्य सम्बन्ध तो अग्नि के साथ है, पर्वत के साथ नहीं। इसलिये जैसा साहचर्य सम्बन्ध अग्नि और धूम का है वैसा पर्वत का नहीं है। इसलिए व्याप्ति काल में धर्मविशिष्ट धर्मी के साध्य होने का नियम नहीं कहा गया है। केवल साध्यरूप धर्म के ही साध्य होने का नियम कहा गया है। साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी तो साध्य तभी होता है कि जब अनुमान के प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। क्योंकि पर्वतादि रूप धर्मी में ही उस समय अग्नि के होने का स्थापन किया जाता है। अतः अग्निविशिष्ट पर्वत साध्य कोटि में आ जाता है। यद्यपि पर्वत की सिद्धि तो प्रत्यक्ष से ही हो रही है; परन्तु अग्निविशिष्ट पर्वत की सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं हो रही है। वह तो अनुमान से ही होती है। अतः विवक्षित अग्निमत्त्व रूप से आधारभूत पर्वत की सिद्धि करना यही अनुमान का प्रयोजन होता है। ऐसी अवस्था में अग्निमत्त्व रूप असिद्ध साध्य के आधार वाला होने के कारण "अग्निवाला पर्वत" ही साध्य कोटि में आता है। केवल वह्निरूप धर्म साध्य कोटि में नहीं आता है। क्योंकि वह भी सिद्ध है और पर्वत रूप धर्मी भी सिद्ध है। इसी कारण ऐसा कहा गया है कि व्याप्ति को ग्रहण करने के समय में तो केवल धर्म ही साध्य होता है और अनुमान काल में साध्यधर्म विशिष्ट धर्मी—पक्ष—साध्य होता है। इस तरह पिता पुत्र की तरह यह साध्यत्व व्यवहार प्रतिनियत न होकर आपेक्षिक होता कहा गया है ॥ १५ ॥

सूत्र—क्वचिद्विकल्पात् प्रमाणात्तदुभयतश्च धर्मिसिद्धिः ॥ १६ ॥

संस्कृत टीका—धर्मि इत्यपर नाम्नः पक्षस्य सिद्धिः—प्रसिद्धिः क्वचित् सर्वज्ञादौ खर विषाणादौ वा विकल्पात्—विकल्प बुद्धितः—अनिश्चित प्रामाण्याप्रामाण्य प्रत्ययतो भवति-जायते "यथाऽस्ति सर्वज्ञः, नास्ति खर विषाणम्" इत्यादि, कुत्रचित् प्रमाणात् धर्मिणः सिद्धिर्भवति-यथा पर्वतोऽयमग्निमानित्यादि, क्वचिदुभयतः—प्रमाणविकल्पाभ्यां धर्मिणः सिद्धिर्भवति—यथा शब्दोऽनित्यः, इत्यादि, विकल्पसिद्धे धर्मिणि सत्ताऽसत्ता च साध्या[1] भवति, प्रमाणोभयसिद्धयोः धर्मिणोः साध्यं कामचारः ॥ १६ ॥

हिन्दी व्याख्या—धर्मी प्रसिद्ध होता है ऐसा जो कहा गया है उसी की पुष्टि के निमित्त इस सूत्र का निर्माण हुआ है। इसके द्वारा यह समझाया गया है—धर्मी-पक्ष की सिद्धि कहीं विकल्प से होती है, कहीं प्रमाण से होती है और कहीं प्रमाण विकल्प इन दोनों से होती है। विकल्प नाम उस मानसिक विचार का है, कि जो न प्रमाणभूत होता है और न अप्रमाणभूत होता है। जब हम उस वस्तु को जो हमारे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयभूत न हो धर्मी बनाते हैं तो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहा जाता है—जैसे "अस्ति सर्वज्ञः, नास्ति खर विषाणम्" यहाँ पर सर्वज्ञ और खरविषाण ये दोनों विकल्पसिद्ध अर्थात्

---

१. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये। —परीक्षामुख
बुद्धि सिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते। —प्रमाणमीमांसा पृ० ४७।

कल्पनात्मक प्रतीतिसिद्ध—धर्मी हैं प्रमाणप्रसिद्ध धर्मी नहीं हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि इनमें सत्त्व साध्य की तथा असत्त्व साध्य की सिद्धि तो प्रमाण के बल से ही होती है पर इसके पहले ये दोनों विकल्पसिद्ध धर्मी हैं।

प्रश्न—जब इन धर्मियों की सिद्धि विकल्परूप मानस प्रत्यक्ष से है तो फिर इनमें सत्त्व के साधने वाले अनुमान की और असत्त्व के साधने वाले अनुमान की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये क्योंकि विकल्परूप मानस प्रत्यक्ष से ही इनके सत्त्व और असत्त्व की सिद्धि कर दी गई हो जाती है।

उत्तर—शङ्का तो ठीक है। पर इस पर थोड़ी विचार-बुद्धि से विचार किया जावे तो उत्तर भी प्राप्त हो सकता है। यह ठीक है कि मानसप्रत्यक्षरूप विकल्प से इनमें अस्तित्व और नास्तित्व का ख्यापन कर दिया जाता है अतः उसके लिये, सत्त्व और असत्त्व सिद्ध करने के लिये—अनुमान की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, परन्तु फिर भी जो अनुमान द्वारा उनके सत्त्व और असत्त्व की सिद्धि की जाती है उसका कारण सिर्फ यही है जो प्रतिवादी अपनी हठधर्मिता से उनके सत्त्व और असत्त्व को नहीं मानता है उसे इनके सत्त्व और असत्त्व को प्रमाण से—अनुमान प्रमाण से साधित कर समझाया जाता है। अतः इस स्थिति में अनुमान की आवश्यकता होती है।

प्रश्न—यदि मानसप्रत्यक्षरूप विकल्प से धर्मी की सिद्धि मानी जावे तो फिर आपने जो ऐसा कहा है कि विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता या असत्ता ये दो ही साध्यकोटि में रहते हैं[1] सो ऐसा कहना अब नहीं बन सकता है। क्योंकि मानसप्रत्यक्षरूप विकल्प में खर विषाण का भी अस्तित्व रूप से भान होता है। यदि अस्तित्व रूप से उसका भान न हो तो वह विकल्पसिद्ध ही नहीं कहला सकता है।

उत्तर—ठीक है। परन्तु जो मानस प्रत्यक्ष बाधक रूप प्रमाण से जिसकी सत्ता निराकृत की जाती है—ऐसे पदार्थ को अस्तित्वरूप से अपने में ग्रहण करने वाला होता है तो वह मानसप्रत्यक्षाभास कहा जावेगा, मानसप्रत्यक्ष नहीं।

प्रश्न—यदि इस तरह से बाधक प्रत्यय द्वारा निराकृत सत्ता वाले खर विषाणादि रूप पदार्थ को विषय करने वाला मानसप्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्षाभास कहा जाता है तो फिर सर्वज्ञ रूप धर्मी की सिद्धि करने वाला मानसप्रत्यक्षरूप विकल्प मानसप्रत्यक्षाभास रूप क्यों नहीं माना जावेगा—क्योंकि सर्वज्ञ रूप धर्मी के सद्भाव का प्रख्यापक भी कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व का ख्यापन करने वाला प्रमाण मौजूद[2] हैं। इस तरह विकल्प से धर्मी की प्रसिद्धि होती कही गई है। "पर्वतोऽयमग्निमान्" यहाँ पर पर्वत रूप धर्मी की प्रसिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो रही है। प्रमाण और विकल्प से "शब्दोऽनित्यः" यहाँ पर हुई धर्मी की प्रसिद्धि कही गई है क्योंकि वर्तमानकालिक शब्द की सिद्धि तो श्रावणप्रत्यक्ष से हो रही है और भूतकालीन और भविष्यत्कालीन शब्दों की सिद्धि विकल्प से हुई है। प्रमाण प्रसिद्ध धर्मी में और प्रमाण विकल्प सिद्ध धर्मी में साध्य इच्छानुसार होता है। विकल्पसिद्ध धर्मी की तरह वह प्रतिनियत नहीं होता है।

---

१. तत्रबुद्धिसिद्धे धर्मिणि सत्त्वमसत्त्वं च साध्य धर्मः प्रमाणबलेन साध्यते। —प्रमाणमीमांसा पृ० ४७।

२. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधक प्रमाणत्वात्।

इस समस्त कथन का भावार्थ ऐसा है कि प्रमाण से जिस पक्ष का न नास्तित्व सिद्ध हो और न अस्तित्व सिद्ध हो किन्तु उसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो केवल शाब्दिक रूप में—प्रतीति के रूप में मान लिया गया हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहा गया है। यही बात "अनिश्चित प्रामाण्याप्रामाण्य प्रत्ययतः" इस पद से समझाई गई है। जैसे—"सर्वज्ञः अस्ति" "खर विषाण नास्ति" यहाँ पर सर्वज्ञ और खर विषाण ये दोनों धर्मी हैं। धर्मी—पक्ष—जो होता है वह प्रसिद्ध होता है। साध्य की तरह वह अप्रसिद्ध नहीं होता है। "पर्वतोऽयमग्निमान्" में पर्वतरूप पक्ष—धर्मी प्रत्यक्ष प्रमाण से जानने में आ रहा है अतः वह प्रमाण प्रसिद्ध धर्मी है। ऐसा धर्मी यहाँ यह सर्वज्ञ या खर विषाण नहीं है अतः जब तक अनुमान प्रमाण द्वारा इसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध नहीं हो लेता है तब तक इसके पहले ये दोनों केवल प्रतीतिमात्र से ही गम्य है, प्रमाण से गम्य-सिद्ध नहीं[1] हैं। प्रमाण प्रसिद्ध धर्मी प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध होता है जैसे अग्नि साध्य करते समय पर्वतरूप धर्मी प्रत्यक्ष से प्रतीति में आता है। उभयसिद्ध धर्मी में दृष्टान्त "शब्दोऽनित्यः" है। वर्त्तमानकालीन शब्द श्रावणप्रत्यक्षगम्य है और भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक शब्द विकल्प से गम्य होते हैं। इस तरह धर्मी की सिद्धि विकल्प से, प्रमाण से और उभय से होती हुई कही गई है ॥ १६ ॥

सूत्र—स्वार्थानुमान प्रतिबोधक पक्ष हेतु वचनात्मकं वाक्यं परार्थानुमानमुपचारात् ॥१७॥

उत्तानार्थमदः—अस्य सूत्रस्याशयो भावार्थश्च स्वार्थानुमान-परार्थानुमान-भेद-प्रतिपादके १२ सूत्रे ॥ संस्कृते हिन्दी टीकायाञ्च स्पष्टीकृतः।

सूत्र—साध्याविनाभावो व्याप्तिः ॥ १८ ॥

संस्कृत टीका—साध्यस्य वन्ह्यादेः अविनाभावः—न विना भावः अविनाभावः साध्यं-वह्निं विना धूमस्य हेतोर्न भावः अस्तित्वं वृत्तित्वं संभवतीति। धूमस्य वह्निं विना न भाव एव व्याप्तिरिति भावः एवं च वन्ह्यभाववति जलह्रदादौ धूमस्य अवृत्तित्वमेव व्याप्तिरिति भावः। यथा "पर्वतोऽयं धूमवान्" इत्यत्र पर्वतः पक्षः, वह्निः साध्यः, धूमोहेतुः तत्र साध्यस्य वह्नेरभावः साध्याभावः—वन्ह्यभावः सोऽस्ति यस्मिन् इति वन्ह्यभावरूप साध्याभाववान् जलह्रदादिस्तस्मिन् मीन शैवालादिर्वर्तते धूमस्तु न वर्त्तते अतएव वन्ह्यभावाधिकरण जलह्रदनिरूपित वृत्तित्वं मीनशैवालादौ तादृश वृत्तित्वाभावरूपा व्याप्तिर्धूमे सङ्गता। सैव च व्याप्तिः साध्याविनाभावरूपाऽवगन्तव्या। तत्र धूमो व्याप्यः वह्निस्तु व्यापको भवति। न्यून-देश वृत्तित्वं व्याप्यत्वम् अधिक देश वृत्तित्वं व्यापकत्वम् इति व्याप्य-व्यापकयोः सामान्य लक्षणम्, धूमो वन्ह्यपेक्षया न्यून देश वृत्तितया व्याप्यो भवति अयोगोलकादौ वह्नेः सत्वेऽपि धूमस्यासत्वात्। वह्निस्तु धूमस्य व्यापको वर्त्तते अयोगोलकादावेव धूमस्यासत्त्वेऽपि वह्नेर्वृत्तित्वादित्यवधेयम्।

सूत्रार्थ—साध्य के साथ साधन का जो अविनाभाव है उसी का नाम व्याप्ति है।

हिन्दी व्याख्या—साध्य—वह्नि-आदि के बिना धूम का नहीं होना इसी का नाम साध्याविना-

---

१. न खलु हेतुप्रयोगात्पूर्वं सर्वज्ञस्य विकल्पं विहायान्यतः कुतश्चित् सिद्धिरस्ति।—स्याद्वादरत्नाकार पृ० ५४१। सर्वज्ञोहि अस्तित्वसिद्धेः प्राग् न प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धः अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्ध इति विकल्प सिद्धोऽयं धर्मी तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धेः प्राग् विकल्पसिद्धम् उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, सहिवर्त्तमान प्रत्यक्षप्रमाणगम्यः भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः। —न्यायदी० पृ० २१।

भाव है। ऐसी साध्याविनाभावरूप व्याप्ति होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती ऐसे जलह्रद आदि प्रदेश में धूम का अभाव होता है। ऐसे बाधक प्रमाण के बल से इस व्याप्ति का निश्चय होता है। "पर्वत अग्निवाला है धूम वाला होने से" जब ऐसा कहा जाता है तो यहाँ पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है और धूम हेतु है। तथा वह्नि का अभाव यह साध्याभाव है। यह साध्याभाव जिसमें होता है ऐसा जलह्रदादि प्रदेश साध्याभाव वाला प्रदेश है। इस प्रदेश में मीन शैवालादि रहते हैं धूम नहीं रहता है। इसलिए वह्न्यभावाधिकरण रूप जलह्रद में वृत्तिता मीन शैवाल आदि में आती है, धूम में नहीं आती है—क्योंकि धूम ऐसे प्रदेश में नहीं पाया जाता है। ऐसी यह व्याप्ति साध्याविनाभावरूप होती है। धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है। न्यून देश में जिसका रहना होता है वह व्याप्य और अधिक देश में जिसका रहना होता है वह व्यापक होता है। अग्नि के बिना धूम नहीं पाया जाता, पर धूम के बिना अग्नि अयोगोलक आदि में पायी जाती है। इसीलिए धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक कही गई है। व्याप्य व्यापक का यही सामान्य लक्षण है। इस तरह व्याप्य के साथ व्यापक का और साध्य के साथ साधन का जो अविनाभाव सम्बन्ध है इसी का नाम व्याप्ति है॥ १८॥

सूत्र—अन्तर्व्याप्ति बहिर्व्याप्ति भेदाद्विधा द्विविधा॥ १९॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संस्कृत टीका—पूर्वोक्त स्वरूपा साध्याविनाभावरूपा व्याप्तिर्द्विविधा निगदिता अन्तर्व्याप्तिः, बहिर्व्याप्तिश्च। तत्र पक्षान्तर्भविणैव यत्र साधने साध्यनिरूपिता व्याप्तिर्निश्चिता भवति सा अन्तर्व्याप्तिरुच्यते। यथा—"मत्पुत्रोऽयं गृहे वक्ति एवंविध स्वरान्यथानुपपत्तेः" इत्यादौ मत्पुत्र रूप पक्षान्तर्भविणैव एवंविध स्वरात्मक साधने गृहभाषणरूप साध्य निरूपिता व्याप्तिर्गृह्यते। तत्र एवंविध स्वरात्मक साधनस्य मत्पुत्ररूपपक्षातिरिक्ते व्याप्तेरभावेन दृष्टान्तासंभवात् बहिर्व्याप्तिर्न संभवति अपितु अन्तर्व्याप्तिरेव। यत्र पुनः पक्षातिरिक्त स्थले साध्यसाधनयोरविनाभावरूपा व्याप्तिर्गृह्यते तत्र बहिर्व्याप्तिः भवति यथा—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् महानसादिवत्। अत्र पर्वत रूप पक्षातिरिक्त स्थल महानसादौ साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्गृहीता भवति। इयमविनाभावरूप व्याप्तिः सहभाव नियमरूपा क्रमभाव नियमरूपा भवति। सहचारिणोः व्याप्य व्यापकयोश्च सहभाव नियमरूपा पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभाव नियम रूपा व्याप्तिर्भवति।

सूत्रार्थ—यह व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के भेद से दो प्रकार की होती है।

हिन्दी व्याख्या—यह अभी-अभी प्रकट किया जा चुका है कि साध्याविनाभाव रूप व्याप्ति होती है। अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के भेद से यह व्याप्ति दो प्रकार की कही गई है। पक्ष में ही जो साध्य साधन का साहचर्य रूप सम्बन्ध गृहीत कर लिया जाता है वह अन्तर्व्याप्ति है। जैसे—यह मेरा पुत्र घर में बोल रहा है क्योंकि यदि यह मेरा पुत्र न होता तो उसका ऐसा स्वर भी नहीं होता। यहाँ पर पक्ष मेरा पुत्र है, गृह में बोल रहा है यह साध्य है और "एवंविध स्वरान्यथानुपपत्तिः" हेतु है। यहाँ पर साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मत्पुत्ररूप पक्ष में ही गृहीत हुई है, बाहर में नहीं; क्योंकि यहाँ पर दृष्टान्त का अभाव है। तथा जहाँ पर साध्य साधन की व्याप्ति पक्ष से अतिरिक्त दूसरे स्थल में गृहीत की जाती है वह बहिर्व्याप्ति है। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है धूमवाला होने से, जो-जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है—जैसे रसोईघर। यहाँ पर धूम और अग्नि की व्याप्ति रसोईघर में प्रकट की गई है यह अविना-

भावरूप व्याप्ति सहभाव नियमरूप और क्रमभावनियमरूप होती है—सहभाव नियम[1] रूप व्याप्ति सहचारी रूप रूपरसादिकों में और व्याप्य व्यापकों में होती है। यह नियम है कि जहाँ पर रूप होगा वहाँ पर रस, गन्ध, स्पर्श ये अवश्य ही होंगे क्योंकि ये सब सहभावी हैं अतः एक के सद्भाव से अपर का सद्भाव अनुमित हो जाता है। पूर्वचर एवं उत्तरचर में तथा कार्य-कारण में क्रमभाव नियम होता है ॥१९॥

सूत्र—पक्षीकृते धर्मिणि तदन्यत्र च साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहोऽन्तर्बहिर्व्याप्तिः ॥ २० ॥

संस्कृत टीका—उक्तनार्थमदः—पक्षीकृते विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरव्यभिचारोऽन्त र्व्याप्तिरुक्ता पूर्वम्। बहिः पक्षीकृता द्विषयादन्यत्र तु दृष्टान्तर्धर्मिणि तस्य तेन व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिरिति उक्तम्।

सूत्रार्थ—पक्ष में साध्य साधन की व्याप्ति का ग्रह और पक्ष से बाहर सपक्ष में व्याप्ति का ग्रह क्रमशः अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप है।

हिन्दी व्याख्या—१९वें सूत्र द्वारा इस सम्बन्ध में विवेचन किया जा चुका है तात्पर्य केवल इतना ही है कि पक्ष में ही जो साध्य साधन की व्याप्ति है वह अन्तर्व्याप्ति है और पक्ष से बाहर—सपक्ष —दृष्टान्त में जो साध्य साधन की व्याप्ति है वह बहिर्व्याप्ति है ॥ २० ॥

सूत्र—पक्षे हेतोरुपसंहार वचनवत् साध्ये विवक्षिताधारता प्रदर्शनार्थं स प्रयोक्तव्यः ॥ २१ ॥

संस्कृत टीका—इदं साध्यं प्रतिनियतस्थाने वर्त्तते इत्येवं प्रतिनियत साध्याधारं प्रदर्शयितुं गम्यमानस्यापि पक्षस्य प्रयोगः करणीयः अन्यथा साध्य सन्देहापनोदो न स्यात् यथा—"पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात् यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र अग्निर्यथा महानसम् तथा चायम्" अमुना प्रकारेण हेतोः प्रतिनियत धर्मिणि सद्भावख्यापनार्थं प्रयोगः क्रियते तथैव साध्य व्याप्त साधन प्रदर्शनेन पर्वतादिरूप—पक्षो गम्यो जायते तथापि साध्यस्य वन्ह्यादेर्विवक्षिताधाराधिगमार्थं गम्यस्यापि पक्षस्य प्रयोगोऽपि आश्रयितव्यः कथितः।

हिन्दी व्याख्या—बौद्ध सिद्धान्त पक्ष का प्रयोग नहीं मानता है। अतः पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिये इस बात को प्रकट करने के लिये यह सूत्र कहा गया है। इसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जब वक्ता ऐसा कहता है कि धूमवाला होने से यह पर्वत अग्निवाला है तो इस प्रकार के प्रतिपादन से धूम और अग्नि निराधार तो रहते नहीं हैं किसी न किसी आधार पर ही रहते हैं अतः इतने कथन से यद्यपि साध्य का आधार सामान्यतः जान लिया जाता है। अतः जान लिये गये को जानने के लिये पुनः उसका प्रयोग करना निरर्थक है ऐसी बौद्ध की आशङ्का का परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो पक्ष का प्रयोग किया जाता है वह निरर्थक इसलिये नहीं है कि उससे साध्य का प्रतिनियत आधार प्रकट किया जाता है जैसे—"जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोईघर, उसी प्रकार से यहाँ पर भी धूम है" इस प्रकार से हेतु की विवक्षित आधारता प्रकाशित करने के लिये पुनः पक्ष में हेतु का प्रयोग किया गया निर्दोष माना गया है। यदि पक्ष का प्रयोग न किया जाय तो साध्य कहाँ पर है पर्वत

---

१. सहक्रमभाविनोः सहक्रम भावनियमोऽविनाभावः। —प्रमाण मीमांसा ४१
सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः १५, सहचारिणोर्व्याप्य व्यापकयोश्च सहभावः १२
पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥ १३ ॥ —परीक्षामुख ३२. ३

में है या कोई और दूसरी जगह है इस प्रकार का सन्देह हो जाता है, अतः साध्य के आधार विषयक सन्देह को दूर करने के लिये गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग करना दोषावह नहीं है किन्तु आवश्यक है ॥२१॥

सूत्र--साधन समर्थनमिव पक्षप्रयोगोऽपर्यनुयोगार्हः ॥ २२ ॥

संस्कृत टीका—कार्यस्वभावानुपलब्धिभेदेन त्रिविधं साधनमुक्त्वैव तस्य असिद्धयादि दोष परिहारपूर्वकं स्वसाध्य - साधन - सामर्थ्य प्ररूपणरूपं समर्थनं विदधानो बौद्धः परं प्रति कथं पक्ष प्रयोगं प्रश्नार्हं कुर्यात् । तत्समर्थनस्यापि समान प्रश्नार्हत्वात् असमर्थितो हेतु र्न स्वसाध्य साधने पटुरिति हेतु-मभिधायैव तत्समर्थनं भवितुमर्हतीति चेत्पक्षप्रयोगमन्तरेण साधनमपि कुत्र स्वसाध्यं साधयेदिति पक्षस्यापि प्रयोगः करणीयः ।

हिन्दी व्याख्या—बौद्धों ने कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु इस तरह से तीन प्रकार के हेतु माने हैं । और वे यह भी मानते हैं कि जब तक हेतु का समर्थन नहीं किया जाता है तब तक वह अपने साध्य की सिद्धि कराने में असमर्थ रहता है । यह हेतु असिद्ध नहीं है विरुद्ध नहीं है इत्यादि रूप से हेतुगत कण्टकों का उद्धार करना और वह अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है ऐसा प्रकट करना इसी का नाम समर्थन है । इस पर जैन दार्शनिकों का ऐसा कहना है कि जिस प्रकार हेतु का कथन करके ही उसका समर्थन किया जाता है इसी प्रकार से पक्ष का प्रयोग करके ही वहाँ पर साध्य की सिद्धि हेतु द्वारा की जा सकती है, बिना इसके नहीं । हेतु के प्रयोग बिना जैसा समर्थन उसका नहीं हो सकता है इसी प्रकार पक्ष के प्रयोग किये बिना हेतु अपने साध्य की सिद्धि निश्चित आधार में नहीं कर सकता है—अतः पक्ष का प्रयोग अवश्य ही करना चाहिए ॥ २२ ॥

सूत्र—हेतुप्रयोगो द्विविधस्तथोपपत्तिरूपोऽन्यथानुपपत्तिरूपश्च[1] ॥ २३ ॥

संस्कृत टीका—तथा—सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिः—सद्भावः तथोपपत्तिः, अन्वय स्वभावः असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिः—असद्भावः अन्यथानुपपत्तिः व्यतिरेकस्वभावः अनयोस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्यो-र्मध्यादन्यतरस्याः प्रयोगेणैव साध्यसिद्धौ सत्यां द्वितीयस्याः प्रयोगस्यैकत्र साध्ये नैरर्थक्यम् । पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वोपपत्तेरयं तथोपपत्तिरूपो हेतुप्रयोगः तथा पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते-रयम् अन्यथानुपपत्तिरूपो हेतुप्रयोगः । तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम् अन्वय व्यतिरेकावेव शब्दान्तरेण प्रतिपादितौ बोद्धव्यौ ।

सूत्रार्थ—तथोपपत्तिरूप एवं अन्यथानुपपत्तिरूप के भेद से हेतुप्रयोग दो प्रकार का है । हेतु दो प्रकार का नहीं है । तथोपपत्तिरूप जो हेतुप्रयोग होता है वह अन्वय रूप होता है तथा अन्यथा-नुपपत्तिरूप जो हेतुप्रयोग होता है वह व्यतिरेकरूप होता है ।

हिन्दी व्याख्या—साध्य के सद्भाव का नाम तथा है और उपपत्ति नाम हेतु का होना है । हेतु का सद्भाव साध्य के सद्भाव में ही होता है अतः जब ऐसा कहा जाता है कि "पर्वतोऽयम् अग्निमान् धूमवत्त्वोप-पत्तेः" तो यहाँ पर धूमवत्त्वोपपत्तिरूप जो हेतु है वह तथोपपत्तिरूप हेतु है । क्योंकि यहाँ पर साध्य के सद्भाव में साधन का सद्भाव प्रकट किया गया है । इसी तरह जब कोई ऐसा कहता है—कि "पर्वतोऽयम् अग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः" तो यहाँ पर "धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः" रूप जो यह हेतु है वह अन्यथानुपपत्ति

१. यहाँ "च" शब्द से उपलब्धिरूप आदि और भी हेतु के भेदों का सूचन किया गया है ।

रूप हेतु है। क्योंकि अन्यथा शब्द का अर्थ है साध्य का अभाव, और अनुपपत्ति शब्द का अर्थ है धूम का नहीं होना। इस तरह साध्य के अभाव में हेतु का नहीं होना यही अन्यथानुपपत्ति है। इन दोनों का प्रयोग "पर्वतोऽयम् अग्निमान् तथोपपत्तेः अन्यथाऽनुपपत्तेः" इस तरह से एक साथ नहीं करना चाहिए। क्योंकि किसी एक ही तथोपपत्तिरूप या अन्यथाऽनुपपत्तिरूप हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। अतः द्वितीय हेतु का प्रयोग[1] एक साध्य की सिद्धि में अकिञ्चित्कर हो जाता है। जहाँ हेतु पद में "तथोपपत्ति" इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जावे जैसे "पर्वतोऽयं वह्निमान् तथोपपत्तेः" यह तथोपपत्ति रूप हेतु का प्रयोग है और जहाँ पर हेतु के स्थान में "अन्यथानुपपत्तेः" ऐसे शब्द का प्रयोग किया जावे वह अन्यथाऽनुपपत्तिरूप हेतु का प्रयोग है। तथोपपत्तिरूप हेतु अन्वयरूप और अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु व्यतिरेकरूप होता है। इस तरह तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन हेतुप्रयोगों द्वारा अन्वय और व्यतिरेक का ही शब्दान्तर से प्रतिपादन हुआ जानना चाहिये ॥ २३ ॥

सूत्र—पक्षसाधन एवानुमानाङ्गे ॥ २४ ॥

संस्कृत टीका—अवधारणपरेण एवकारेणोदाहरणादिकमनुमानांगनेति सूचितं भवति। पक्ष शब्देनात्र धर्मधर्मि समुदायरूपा प्रतिज्ञोक्ता। साध्याविनाभावि हेतुः साधनम्। व्युत्पन्नश्रोतुस्तावन्मात्रेणैवानुमित्युदयात् पक्ष साधने द्वे एवानुमानांगे, एतेन परार्थानुमाने यदन्यैस्त्र्यंगता पञ्चांगता वा प्रोक्ता तन्निरस्ता प्रतिज्ञा हेतुप्रयोग मात्रेणैवोदाहरणादि प्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात् न चैवं प्रस्तावादिना व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात् प्रतिज्ञान्तर्भावी पक्षोऽपि न प्रयोक्तव्य इतिवाच्यम् हेतु मात्र प्रयोगे व्युत्पन्नस्यापि साध्याधार सन्देहा निवृत्तेः, तस्मान्नियमतः प्रतिज्ञान्तर्गतः पक्षः प्रयोक्तव्य इति।

सूत्रार्थ—पक्ष—प्रतिज्ञा और हेतु—साधन ये दो ही अनुमान के अंग हैं।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ सूत्र में जो "एव" पद दिया गया हैं, उससे यह बात प्रकट की गई है कि पक्ष—प्रतिज्ञा और हेतु—साधन ये दो ही अनुमान के अङ्ग—अवयव हैं। इससे यह सूचित होता है कि उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के अंग नहीं हैं। पक्ष शब्द से यद्यपि साध्य का आधारभूत पर्वतादि रूप स्थान कहा जाता है। परन्तु यहाँ पर अनुमानांग के विचार में धर्म साध्य और धर्मी पक्ष—दोनों का समुदाय ही पक्ष शब्द से गृहीत हुआ है। इस तरह धर्म धर्मी की समुदाय रूप प्रतिज्ञा होती है। जैसे "पर्वतोऽयं वह्निमान्" यह प्रतिज्ञा है। साध्य के साथ जो अविनाभावी होता है वह साधन है। जैसे "धूमात्" यह साधन है। अनुमान के ये दो ही अंग—अवयव—परार्थानुमान की अपेक्षा इसलिये माने गये हैं कि व्युत्पन्न श्रोता को इन दोनों अवयवों के सुनने मात्र से अनुमिति का उदय हो जाता है। इस प्रकार से परार्थानुमान में अंगद्वय का कथन से जो किन्हीं-किन्हीं अन्य दार्शनिकों[2] ने इसके तीन अंग, चार अंग या पाँच अंग माने हैं वह मान्यता निरस्त हो जाती है। क्योंकि उदाहरणादि द्वारा—उदाहरण, उपनय

---

१. अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीय प्रयोगस्यैकत्रानुपयोग इति।—स्याद्वादरत्नाकर सूत्र ३३ पृ० ५६०।
अनयो हेतु प्रयोगयोरुक्तिर्वैचित्र्यमात्रम्—न्यायदीपिका पृ० २२
नानयोस्तात्पर्ये भेदः।—प्रमाणमीमांसा सूत्र ५ पृ० ५०।

२. प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण ये तीन अंग अनुमान के सांख्यों ने माने हैं, इनमें उपनय को मिलाकर चार अंग मीमांसकों ने माने हैं, इनमें निगमन को मिलाकर पाँच अंग नैयायिकों ने माने हैं।

और निगमन इन तीन अवयवों द्वारा—जो विषय प्रतिपादन करने के योग्य है वह सब व्युत्पन्न श्रोता गम्यमान होने से इन दो अवयवों द्वारा ही जान लेता है। अतः उनके प्रयोग की वहाँ आवश्यकता नहीं पड़ती है अन्यथा पुनरुक्ति दोष आता है।

प्रश्न—यदि ऐसा माना जावे कि उदाहरणादिकों द्वारा प्रतिपाद्य जो विषय है वह गम्यमान होता है अतः व्युत्पन्न श्रोता इन दो प्रतिज्ञा और हेतु द्वारा उसे जान लेता है। इसलिये उनके प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है तो इसी प्रकार से अनुमान प्रयोग करते समय जो प्रतिज्ञा और हेतु के प्रयोग की आवश्यकता आपने प्रकट की है—सो उसकी भी क्या आवश्यकता है ? साध्य और हेतु का ही प्रयोग होना चाहिये क्योंकि प्रतिज्ञा के अन्तर्गत पक्ष का ज्ञान प्रकरण आदि को लेकर व्युत्पन्न श्रोता को हो ही जावेगा। फिर "पर्वतोऽयम् अग्निमान्" इस प्रतिज्ञा वाक्य में गम्यमान पर्वतरूप पक्ष के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—चाहे कितना भी व्युत्पन्न श्रोता क्यों न हो वह केवल हेतु के प्रयोग से साध्य के विवक्षित—प्रतिनियत—आधार का ज्ञान नहीं कर सकता है अतः केवल धूम हेतु के सुनने से "अग्नि कहाँ पर है" ऐसा उसे संदेह होगा ही, इसलिये उस आधार विषयक सन्देह की निवृत्ति के लिये गम्यमान भी पक्ष के प्रयोग करने की आवश्यकता है ॥२४॥

सूत्र—मन्दमति प्रतिपाद्यापेक्षयोदाहरणादीन्यपि पञ्च यथायथं प्रयोज्यानि ॥२५॥

संस्कृत टीका—व्युत्पन्न तीव्र बुद्धि शिष्यापेक्षया प्रतिज्ञा हेतुरूप वाक्यद्वयस्यैव परार्थानुमानावयवत्वं प्रोक्तम्, सम्प्रति अव्युत्पन्न मन्दमति शिष्यापेक्षया प्रतिज्ञा—हेतू—दाहरणोपनय—निगमनानामेतेषां पञ्चानां शुद्धीनां च परार्थानुमानावयवत्वं प्रतिपाद्यते। अतो यो मन्दमतिः शिष्यादिः प्रतिबोध्यो भवति तदपेक्षयैव परार्थानुमानस्य दशांगता यथायथं ज्ञातव्या। इदमिह रहस्यम्—मन्द-तीव्र-तीव्रतम बुद्धिभेदात् प्रतिपाद्यास्त्रिविधा जायन्ते। तदपेक्षया परार्थानुमानरूपाः कथा अपि त्रिविधाः प्रतिपादिताः यस्यां कथायां[1] केवलं लिंग प्रतिपाद्यते सा कथा जघन्या, द्वयादीन् अवयवान् यत्र प्रयोक्ता निवेदयति सा कथा मध्यमा, दशभिरवयवैः परिपूर्णा कथा उत्कृष्टा, अनेन सूत्रेण एतास्तिस्रः कथा यथायथं पदेन सूचिताः ॥२५॥

सूत्रार्थ—मन्द मति वाले प्रतिपाद्य—शिष्यजनों की अपेक्षा से उदाहरण आदिकों का यथायोग्य रीति से प्रयोग करना कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने यह समझाया है कि परार्थानुमान का एक ही[2] प्रकार नहीं है। दूसरे को जिस किसी भी तरह सरलता से प्रमेय की प्रतीति हो जाय उसी तरह से यत्न करके समझाना चाहिये। दूसरों को शब्दादि द्वारा साधन से साध्य को समझाना यह सब परार्थानुमान है।

---

१. लिङ्ग केवलमेव यत्र कथयत्येषा जघन्या कथा।
द्वयादीन्यत्र निवेदयत्यवयवानेषा भवेन्मध्यमा ॥
उत्कृष्टा दशभिर्भवेदवयवैः सा जल्पितैरित्यमी।
जैनैरेव विलोकिताः कृतधियां वादे त्रयः सत्पथाः ॥ —स्याद्वाद २० पृष्ठ ५६

२. नैकः परार्थानुमानस्य प्रकारः। —स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५८४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह शब्दादि द्वारा दूसरों को समझाने का उपाय दश अवयव वाला साधन कहा गया है। पक्ष आदि पाँच अवयव और पक्ष शुद्धि, हेतु शुद्धि आदि पाँच उनकी शुद्धियाँ। इनमें व्युत्पन्न तीव्र बुद्धि शिष्य की अपेक्षा प्रतिज्ञा और हेतु का ही प्रयोग करना पर्याप्त कहा गया है क्योंकि इतने मात्र कहने से ही वह व्युत्पन्न शिष्य शेष उदाहरणादिकों को सोच लेता है। तथा जो व्युत्पन्न शिष्य इसकी अपेक्षा भी परिकर्मित मतिवाला है तो वह केवल हेतु के श्रवण मात्र से ही शेष अवयवों को समझ लेता है। पक्ष का ज्ञान उसे हो जाता है। दृष्टान्त की याद उसे आ जाती है। साध्य साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला तर्क उसके स्मृति पथ में आजाता है। उपनय और निगमन को यह जान लेता है। ऐसे परिकर्मित मति वाले शिष्य की अपेक्षा केवल एक हेतु का ही प्रयोग करना बतलाया गया है,[1] परन्तु जो प्रतिपाद्य पक्ष आदि के निर्णय से अभी तक अनभिज्ञ बना हुआ है तब वह केवल हेतु के प्रयोग मात्र से तो पक्षादि का निर्णायक या ज्ञाता हो नहीं सकता है उसे समझाने के लिये यथायोग्य रूप से इन प्रतिज्ञादि पांचों अवयवों का प्रयोग करके उसे इनका ज्ञान कराया जाता है। साध्याविनाभावी लिंग होता है यह भी उसे समझाया जाता है। इनके अविनाभाव का निश्चय कराने के लिये उसे दृष्टान्त का प्रदर्शन कराया जाता है। फिर धीरे-धीरे उसे व्याप्तिग्राहक तर्क का ज्ञान कराया जाता है। इससे वह उपनय और निगमन के प्रयोग करने में त्रुटि नहीं कर पाता है। नहीं तो वह उपनय के स्थान में निगमन और निगमन के स्थान में उपनय का प्रयोग कर उनके सम्बन्ध में अज्ञानी बना रहता है। इसी लिये मन्द मति वाले शिष्य की अपेक्षा इन प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि पाँचों अवयवों का प्रयोग भी संगत माना गया है। इसी हार्द अभिप्राय को हृदय में रखकर इस सूत्र की रचना की गई है। इस हार्द से यह फलित होता है कि मन्द बुद्धि वाले, तीव्र बुद्धि वाले और तीव्रतम बुद्धि वाले ऐसे तीन प्रकार के प्रतिपाद्य होते हैं, और इन्हीं की अपेक्षा परार्थानुमान रूप कथाएँ भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की होती हैं। जो कथा केवल तीव्रतम बुद्धि वाले प्रतिपाद्य के साथ की जाती है उसमें केवल एक हेतु का ही प्रयोग किया जाता है। ऐसी यह कथा जघन्य कथा है। जो कथा तीव्र बुद्धि वाले शिष्यादि के साथ की जाती है उसमें प्रतिज्ञादि दो अवयवों का कथन किया जाता है वह मध्यमा कथा है और जिसमें मन्द बुद्धि वाले शिष्यों को समझाने के लिये पाँच अवयवों का एवं उनकी शुद्धियों का कथन किया जाता है वह कथा उत्कृष्ट कथा है ॥२५॥

सूत्र—साध्यधर्माधारः पक्षः ॥ २६ ॥

संस्कृत टीका—साधयितुमिष्टं साध्यम्। साध्यरूपो धर्मः—साध्यधर्मः—अग्न्यादिः, तस्याधारः—स्थानं पक्षः धर्मीति नामान्तरम्।

सूत्रार्थ—साध्य-धर्म का जो आधार होता है उसी का नाम है पक्ष। जैसे—"पर्वतोऽयं वह्निमान्" इस प्रतिज्ञा वाक्य में वह्निरूप साध्य धर्म का आधार पर्वत है। इसलिए वही पक्ष कहलाता है।

सूत्र—धर्मधर्मिसमुदायरूप पक्षस्य प्रतिपादनं प्रतिज्ञा यथा–पर्वतोऽयमग्निमानिति प्रतिज्ञा ॥२७॥

सूत्रार्थ—धर्म—अग्नि, और धर्मी—पक्ष—इन दोनों का एक साथ कहना इसका नाम प्रतिज्ञा है।

---

१. अन्यथाऽनुपपत्त्येक लक्षणं लिङ्गमिष्यते।
प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥१॥ —स्या० र० पृ० ५६५

जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है। यहां धर्म—अग्नि और धर्मी—पर्वत है। इन दोनों का एक साथ कहना कि—"यह पर्वत अग्निवाला है" इस प्रकार के वचनोच्चारण को प्रतिज्ञा कहते हैं।

सूत्र—साध्याविनाभावी हेतुः ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका—साध्येन विना यो न भवति स हेतुः।

सूत्रार्थ—साध्य के विना जो नहीं होता है वही हेतु है ॥२८॥

सूत्र—अविनाभाव प्रतिपत्ते रास्पदं दृष्टान्तः ॥ २९ ॥

संस्कृत टीका—साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावापन्नयो र्योऽविनाभावसम्बन्धस्तस्य प्रतिपत्तेः स्मृतिरूपायाः आस्पदं—स्थानम् दृष्टान्तो भवति।

हिन्दी व्याख्या—साध्य और साधन आपस में गम्य गमक होते हैं। साध्य गम्य होता है और साधन गमक होता है। इन दोनों का जो अविनाभाव सम्बन्ध है—अग्नि के विना धूम नहीं हो सकता है ऐसा जो साध्य के विना साधन का नहीं होना है। इस सम्बन्ध को समझने का—जानने का जो स्थान है उसका नाम दृष्टान्त है। साधन द्वारा साध्य की सिद्धि करने में दिया गया दृष्टान्त उन दोनों की व्याप्ति का स्मरण कराने से वादी प्रतिवादी दोनों को मान्य होता है ॥ २९ ॥

सूत्र—साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां स द्विविधः ॥ ३० ॥

संस्कृत टीका—दृष्टयोरवलोकितयोः साध्य साधनयोः अन्तः अन्वयाद् व्यतिरेकाद्वा साध्य साधनभाव व्यवस्थिति निबन्धनो व्याप्तिनिर्णयो यस्मिन्निति स दृष्टान्तः। साधर्म्येण वैधर्म्येण च स द्विविधो भवति। तत्र समानो धर्मोऽस्येति सधर्मा तस्य भावः साधर्म्यम्। विसदृशो धर्मोऽस्येति विधर्मा, विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्। यत्र जिज्ञासितार्थात्मकस्य साध्यस्य तद्गमकस्य च साधनस्यच व्याप्तिरविनाभाव सम्बन्ध रूपा "यथाऽस्मिन् सत्येवेदं भवति" निश्चीयते स साधर्म्य दृष्टान्तः यथा महानसम्, अस्यापर नामान्वय दृष्टान्तोऽप्यस्ति। यत्र च साध्याभावे साधनस्याभावो निश्चीयते स वैधर्म्य दृष्टान्तः। अस्याप्यपर नाम व्यतिरेक दृष्टान्तः, यथा वह्नेरभावे धूमाभावो भवति जलह्रदादौ।

सूत्रार्थ—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—दृष्ट प्रत्यक्ष से अवलोकित साध्य और साधन की अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जिसमें साध्य साधन भाव की व्यवस्थिति निमित्तक व्याप्ति का निर्णय अन्त ज्ञात हो गया होता है वह दृष्टान्त है। साधर्म्य दृष्टान्त जब पर्वतादि प्रदेश में धूमरूप साधन द्वारा अग्निरूप साध्य सिद्ध किया जाता है तब महानसादिरूप होता है। क्योंकि साध्य साधन का दृष्टान्त में रहना या तो अन्वय के द्वारा जाना जा सकता है या व्यतिरेक के द्वारा। कारण इसका यही है कि किसी में साध्य साधन भाव अन्वय व्यतिरेक के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। जिसका समान धर्म होता है वह सधर्मा कहा जाता है। सधर्मा के भाव को साधर्म्य कहते हैं। विसदृश धर्म जिसका होता है वह विधर्मा कहा जाता है। विधर्मा का जो भाव है वह वैधर्म्य है। जहाँ पर जिज्ञासित अर्थरूप साध्य—अग्नि आदि की और उसके गमक साधन—धूमादि की अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति निश्चित हो जाती है—जैसे धूम के होने पर अवश्य ही अग्नि होती है यथा—महानस आदि प्रदेश में, वह साधर्म्य दृष्टान्त है। महानसादि प्रदेशों को साधर्म्य दृष्टान्त की कोटि में आने का कारण यही है कि महानस आदि प्रदेश और जहाँ पर अभी अग्नि

सिद्ध की जा रही है वह एक ही पद्धति से साधन के द्वारा साध्य के सिद्ध किये जाने के समान स्थल हैं। यही इनकी सधर्मता या साधर्म्य है कि इनमें धूम के सद्भाव से अग्नि का अवश्य सद्भाव पाया जाता है। इस साधर्म्य दृष्टान्त का दूसरा नाम अन्वय दृष्टान्त भी है। जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव निश्चित किया जाता है वह वैधर्म्य दृष्टान्त है। इसका भी दूसरा नाम व्यतिरेक दृष्टान्त है। साध्य के अभाव में साधन का अभाव जलह्रद आदि में पाया जाता है। अतः वह वैधर्म्य दृष्टान्त[1] है ॥ ३० ॥

सूत्र—अन्वय व्याप्ति प्रदर्शनस्थलं साधर्म्यं दृष्टान्तः ॥ ३१ ॥
व्यतिरेक व्याप्ति प्रदर्शनस्थलं व्यतिरेक दृष्टान्तः ॥ ३२ ॥

संस्कृत टीका—यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र अग्निरेषाऽन्वय व्याप्तिः, अस्याः प्रदर्शन स्थलं महानसादिकम् तदेव साधर्म्यं दृष्टान्तः साध्याभावे साधनाभावो व्यतिरेकः—एवं च यत्र-यत्र वन्ह्यभावस्तत्र-तत्र धूमाभावः एषा व्यतिरेक व्याप्तिः अस्याः प्रदर्शनस्थलं—प्रतीतिस्थानं—जलह्रदादिकम्—तदेव वैधर्म्यं दृष्टान्तः।

हिन्दी व्याख्या—जहाँ पर साध्य और साधन की अन्वयरूप व्याप्ति दिखाई जाती है अर्थात्—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—ऐसा धूम और अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध प्रतिपाद्य को दिखाया जाता है कि जिससे वह यह जानकर दृढ़ धारणा वाला बन जाता है कि "जहाँ पर धूम होता है वहाँ नियमतः अग्नि होती है" ऐसी ही इन दोनों में व्याप्ति बन सकती है—ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती है कि "जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ नियमतः धूम होता है" क्योंकि ऐसा नियम है कि व्याप्य के सद्भाव में तो नियम से व्यापक का सद्भाव रहेगा ही, पर ऐसा यह नियम नहीं है कि व्यापक के सद्भाव में नियमतः व्याप्य रहे ही। व्याप्य व्यापक के विचार में जैन दार्शनिकों ने "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" ऐसा कथन किया है। इसका रहस्य ऐसा है कि व्याप्य के सद्भाव में भी और व्याप्य के असद्भाव में भी जिसका सद्भाव पाया जाता है वह उसका व्यापक होता है तथा व्यापक के सद्भाव में ही जिसका सद्भाव पाया जाता है वह उसका व्याप्य होता है। अतः ऐसी ही व्याप्ति बन सकती है कि "यत्र-यत्र धूमस्तत्र-स्तत्र अग्निः यथा महानसम्" यहाँ "महानसम्" यह अन्वय व्याप्ति को दिखाने का स्थान है। प्रतिपाद्य इस स्थान में धूम और अग्नि की व्याप्ति को देखकर दृढ़ धारणा से उसे चित्त में स्थापित कर लेता है और जब कहीं पर जाते समय पर्वतादि स्थान में उड़ते हुए धूम को देखता है तो वह उस स्थान पर—महानसरूप साधर्म्य स्थान पर—गृहीत की गई इन दोनों की व्याप्ति का स्मरण कर लेता है और फिर अग्नि की अनुमिति उस पर्वत पर करता है। इस तरह से यह साधर्म्य दृष्टान्त अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शन स्थान कहा गया है। जहाँ अग्नि नहीं होती है—साध्य नहीं होता है—वहाँ साधन भी—धूम भी नहीं होता है, यही व्यतिरेक व्याप्ति है। और इस व्याप्ति को उसने जलह्रदादि प्रदेश में गृहीत किया है, अतः वह व्यतिरेक दृष्टान्त कहा गया है। जिस तरह अन्वय व्याप्ति प्रदर्शन करते समय साध्य व्यापक होता है और साधन व्याप्य होता है उसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य

---

१. साध्य साधनयो र्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्।
साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्ध स्मरणान्मतः ॥ १८ ॥ —न्यायावतारः
साध्येनिवर्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः।
व्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥ १९ ॥ —न्यायावतारः

और साधनाभाव व्यापक होता है क्योंकि साध्य के अभाव में और उसके—साध्य के सद्भाव में भी धूमाभाव रहता है। इस कारण धूमाभाव व्यापक और वन्ह्यभावरूप साध्याभाव व्याप्य माना[1] गया है ॥ ३१-३२ ॥

सूत्र—साध्याधारे पुनर्हेतु सद्भावख्यापनमुपनयः ॥ ३३ ॥

संस्कृत टीका—साध्यस्य—वन्ह्यादेराधारः—पर्वतादि रूपपक्षस्तस्मिन् "तथा—चायम्" इत्यादि रूपेण हेतोः—साधनस्य धूमादेः पुनः सद्भावख्यापनमुल्लेखकरणम् उपनय उच्यते। उपनीयते साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्श्यते येन स उपनय इति व्युत्पत्तेः।

सूत्रार्थ-- साध्य के आधारभूत पक्ष में हेतु का दुहराना—पुनः हेतु के सद्भाव का कथन करना इस का नाम उपनय है।

हिन्दी व्याख्या—जब प्रतिपाद्य को ऐसा समझाया जाता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है जैसे महानस, उसी प्रकार से यहाँ पर भी—पर्वतादि प्रदेश में भी—धूम है अतः यहाँ पर भी अग्नि है। सो इस प्रकार से एक बार तो धूमरूप साधन का प्रयोग "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस प्रकार की प्रतिज्ञा को बोलते समय किया गया और फिर अन्वय दृष्टान्त को दिखाते हुए पुनः ऐसा कहा गया कि "धूमश्चात्र" यहाँ पर भी धूम है। अर्थात् "तथा चायम्" जैसा महानस धूमवाला है ऐसा ही यह भी धूमवाला है। "धूमश्चात्र" और "तथा चायम्" इन दोनों पदों का एक ही अर्थ है। इस तरह से हेतु का पक्ष में जो दुहराना है वही उपनय है ॥ ३३ ॥

सूत्र—प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३४ ॥

संस्कृत टीका—"पर्वतोऽयं वह्निमान्" इत्येवं रूपा या प्रतिज्ञा—धर्मधर्मिसमुदायरूपा पूर्वं कथिता तस्याः पुनर्वचनं—कथनं यथा "तस्मादग्निरत्र" इदमेव निगमनस्य लक्षणम्।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा का दुहराना, इसका नाम निगमन है।

हिन्दी व्याख्या—"यह पर्वत अग्निवाला है" इस प्रकार की धर्म एवं धर्मी के समुदाय कथन रूप प्रतिज्ञा होती है, यह पहले प्रकट किया जा चुका है। सो इसी प्रतिज्ञा का पुनः उपनय के बाद इस प्रकार से दुहराना कि जब यहाँ धूम है (उपनय वाक्य) तो यहाँ अग्नि है बस इसी का नाम निगमन है ॥ ३४ ॥

सम्प्रति दृष्टान्तादि वचनं वाद काले न परप्रतिपत्तेरङ्गमिति यदुक्तं तदेव विस्पष्टीकर्त्तुमाह—

सूत्र—दृष्टान्त वचनं न साध्य प्रतिपत्त्यर्थं प्रभवति तत्र हेतोरेव व्यापारात् ॥ ३५ ॥

संस्कृत टीका—दृष्टान्तवचनं परैः यदनुमानांगरूपतया स्वीकृतं तत् किं तैस्तत्साध्य प्रत्तिपत्तेरङ्गमितिकृत्वा, यद्वाऽविनाभावस्मृतेरङ्गमिति कृत्वा, आहोस्विदन्यथानुपपत्ति निर्णीतिरङ्गमिति कृत्वा। एतेषु विकल्पेषु तावत्प्रथमां विकल्पो न समीचीनः साध्यप्रतिपत्तेर्यथोक्तहेतोरेव जायमानत्वात् अतः साध्य-साधनयोरविस्मृताविनाभाव सम्बन्धस्य प्रमातुः साध्याविनाभाव्येकलक्षण हेतोः प्रयोगादेव साध्यप्रतिपत्ते-र्जायमानत्वात् तत् साध्यप्रतिपत्तेरङ्ग न भवतीति ज्ञातव्यम्।

---

१. साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते। प्रयोगेऽन्वयवयेत्व व्यतिरेके विपर्ययः ॥

हिन्दी व्याख्या—अन्य दार्शनिकों ने अनुमान का अङ्ग दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन इन सबको माना है। पर जैन दार्शनिकों ने चूंकि वाद-विवाद करने का अधिकार व्युत्पन्नमतिवाले वादी-प्रतिवादी को ही होता है, इस कारण प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के—परार्थानुमान के अङ्ग स्वीकार किये हैं। अतः अब इसी बात पर विचार किया जा रहा है कि ये जो अनुमान के अंग माने गये हैं सो क्यों माने गये हैं? क्या इनमें जो दृष्टान्त हैं वह साध्य की प्रतिपत्ति में कारण पड़ता है इसलिये या वह अविनाभाव की स्मृति में कारण पड़ता है इसलिए या वह अन्यथानुपपत्ति की निर्णीति में कारण पड़ता है इसलिये अनुमान का अंग माना गया है। तो इसी बात पर सूत्र कहा गया है। इनमें—इन विकल्पों में से प्रथम जो विकल्प है उसका विचार कर उत्तर दिया गया है। इसमें यह समझाया गया है—कि वह दृष्टान्त साध्य का ज्ञान नहीं करता है। पक्ष में साध्य का ज्ञान तो उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाले हेतु के प्रयोग से ही हो जाता है। जब ऐसा कहा जाता है कि "यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि इसमें धूम है" इस प्रकार के साध्याविनाभावी साधन के कहने पर ही अविस्मृत साध्य साधन प्रतिबन्ध वाले श्रोता को साध्य का ज्ञान हो जाता है तो फिर उसका ज्ञान कराने के लिए "यथा महानसम्" ऐसे दृष्टान्त का कथन अनावश्यक ही है ॥ ३५ ॥

सूत्र—नापि तदविनाभाव स्मृतयेऽन्यथानुपपत्तिबलादेव तत्सिद्धेः ॥ ३६ ॥

संस्कृत टीका—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् महानसवत्" इत्यत्र प्रयोगे महानसं दृष्टान्तोऽस्मादेव कारणात् न्यस्तोभवति यत्तत् साध्य साधनयोरविनाभाव स्मृतिं कारयति अतः प्रमाता महानसे गृहीतम् अनयोरविनाभावं तत्प्रभावतः संस्मृत्य पक्षेऽपि पर्वतेभूते धूमदर्शनतो निःशङ्कमग्निमनुमिनोति। इत्यपि प्रतिपादनं परेषां न परम् अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु प्रयोगादेव तयोरविनाभाव सम्बन्ध स्मृतेः। व्युत्पन्न श्रोतृजनस्तावत् पूर्वत एव विपक्षे बाधकबलादेव तयोरविनाभावं गृहीत्वा पश्चात् अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु दर्शनेनैव तयोरविनाभावं स्मरति। न च दृष्टान्त बलादन्यथाऽन्तर्व्याप्तेरभाव प्रसङ्गात् ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—वह दृष्टान्त अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति करा देता है अतः वह अनुमान का अंग माना गया है सो यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि अन्यथानुपपत्ति रूप जो हेतु का लक्षण है उसके बल से ही साध्य और साधन के अविनाभाव की स्मृति प्रमाता को हो जाती है।

हिन्दी व्याख्या—'पर्वतोऽयं वन्हिमान् धूमाद् महानसवत्" महानस की तरह यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि वह धूमवाला है। इस अनुमान प्रयोग में महानस दृष्टान्त इसी कारण से दिया गया है कि वह साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध की याद दिला देता है और इसी से प्रमाता धूम को देख कर वह्नि का अनुमान कर लेता है, क्योंकि उसने साध्य और साधन का साहचर्य सम्बन्ध पहले महानस में कई बार देखा है। अतः धूम को ज्यों ही वह देखता है तो वह कहता है कि पहले देखे गये महानस की तरह यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि यहाँ पर भी धूम है। धूम अग्नि के बिना होता नहीं है। इस तरह दृष्टान्त साध्य साधन के अविनाभाव की स्मृति कराने वाला होता है। अतः उसे अनुमान का अंग माना गया है। क्योंकि वह अनुमाता इसी के बल पर अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण करके धूम से वह्नि की वहाँ अनुमिति करता है। सो इस प्रकार का प्रतिपादन करके दृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं बन सकता है। कारण कि साध्य साधन के अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति अन्यथानुपपत्ति के बल से ही हो जाती है। जब प्रमाता यह जानता है कि धूम बिना साध्य—अग्नि के नहीं हो सकता है तो वह धूम को

देखते ही अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति स्वतः ही कर लेता है। वह व्युत्पन्न श्रोता पहले यह जान चुका होता है कि जलह्रदादि प्रदेश में अग्नि नहीं होती है तो वहाँ धूम भी नहीं होता है। यदि यही बात मान ली जावे कि दृष्टान्त अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति कराता है तो फिर जहाँ पक्ष में ही साध्य-साधन की व्याप्ति गृहीत कर साधन से साध्य की अनुमिति की जाती है वह कैसे की जावेगी ? वहाँ तो दृष्टान्त का अभाव ही रहता है। अतः अन्तर्व्याप्ति होती है। इस कारण दृष्टान्त अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति कराने में कारणभूत न होकर व्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा उसका अंग नहीं बनता है ॥ ३६ ॥

सूत्र—नापि दृष्टान्तेनान्यथाऽनुपपत्तेर्निर्णयोऽनवस्था प्रसङ्गात् ॥ ३७ ॥

संस्कृत टीका—अन्यथानुपपत्तिनिर्णयो हेतौ दृष्टान्तेन क्रियते यद्येवं धारणाकृता भवेत्तदा व्यक्तिरूपे दृष्टान्ते तन्निर्णयस्य विप्रतिपत्तौ सत्यामपरस्य दृष्टान्तस्यान्वेषणे दुर्निवारोऽनवस्था समवतारः स्यात्।

सूत्रार्थ—दृष्टान्त हेतु के स्वरूपभूत अन्यथानुपपत्ति का निर्णय कराने वाला भी नहीं है। नहीं तो उस दृष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति के निर्णय में विवाद उपस्थित होने पर अन्य दृष्टान्त का अनुसरण करने से अनवस्था दूषण का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

हिन्दी व्याख्या—यदि ऐसा ही एकान्त से कथन किया जावे कि दृष्टान्त हेतु के अन्यथानुपपत्ति स्वरूप का निर्णय करता है तो फिर इस प्रकार की मान्यता में विवक्षित प्रतिनियत दृष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति में विवाद हो जाने पर उसके निर्णय निमित्त दूसरे दृष्टान्त की, दूसरे दृष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति के निर्णय निमित्त तीसरे दृष्टान्त की इस तरह दृष्टान्तान्तरों की अपेक्षा होते-होते कहीं भी अन्यथानुपपत्ति के विषय की व्यवस्थिति नहीं हो सकेगी। इसलिए यह भी नहीं माना जा सकता है कि दृष्टान्त हेतु के स्वरूपभूत अन्यथाऽनुपपत्ति का निर्णायक होता है ॥ ३७ ॥*

सूत्र—विरुद्धाविरुद्धोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्साध्यसत्ताऽसत्तासाधको ह्युपलब्ध्यनुपलब्धिरूपो हेतुरनेकविधः ॥ ३९ ॥

संस्कृत टीका—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुर्द्विविधः विधिरूपः, प्रतिषेधरूपश्च। विधिरूप हेतोर्नामान्तरम् उपलब्धिः, प्रतिषेधहेतोर्नामान्तरमनुपलब्धिरिति। विधिरूपो हेतुसाध्य सद्भावसाधकएव, प्रतिषेधरूपो हेतुः साध्यासद्भावसाधक एवेति येषां मान्यताऽस्ति तान् निराचिकीर्षुः सूत्रकारो विरुद्धाविरुद्धोपलब्ध्यादिकमिदं सूत्रमाह—तत्रोपलब्धिरूपो हेतुर्द्विविधोऽविरुद्धोपलब्धि-विरुद्धोपलब्धिभेदात्। एवमेव प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधोऽविरुद्धानुपलब्धि-विरुद्धानुपलब्धि भेदात्। तत्र साध्येन सहाविरुद्धस्य हेतो रूपलब्धिरविरुद्धोपलब्धिः, साध्येन सह विरुद्धस्य हेतोरूपलब्धिः विरुद्धोपलब्धिः, अविरुद्धोपलब्धिः साध्यस्य अस्तित्व साधिका, विरुद्धोपलब्धिस्तु तस्य प्रतिषेध साधिका, साध्य विधि साधिकाऽविरुद्धोपलब्धिर्व्याप्य-कार्य-कारण पूर्वोत्तर-सहचरा विरुद्धोपलब्धि भेदात् षोढावर्त्तते। विषेधसाधिका विरुद्धोपलब्धिः स्वभाव-व्याप्य-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर सहचर विरुद्धोपलब्धि भेदात्सप्तविधा वर्त्तते। एवमपि अनुपलब्धेरपि अविरुद्धानुपलब्धि-विरुद्धानुपलब्धि भेदाद् द्वैविध्यम्। तत्र साध्येन सह अविरुद्धस्य हेतोरनुपलब्धिरविरुद्धानुपलब्धिरियं प्रतिषेधसाधिका। साध्येन सह विरुद्धस्यानुपलब्धिविरुद्धानुपब्धिरियं विधिसाधिका, अविरुद्धानुपलब्धिः स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर सहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तविधा, विधिसाधिका

---

* सूत्र ३८ की संस्कृत टीका आदि नहीं दी गई है। —सम्पादक

विरुद्धानुपलब्धिः विरुद्ध कार्य-कारण-स्वभाव-व्यापक-सहचरानुपलब्धिभेदात् पञ्चविधा भवति। एतासां सर्वासामुदाहरणानि यथास्थानमग्रे स्वयं सूत्रकारः प्रतिपादयिष्यति ॥ ३९ ॥

हिन्दी व्याख्या—हेतु दो प्रकार का कहा गया है। एक उपलब्धिरूप हेतु और दूसरा अनुपलब्धि रूपहेतु। इनसे उपलब्धि रूप हेतु अपने साध्य की सत्ता का ही साधक होता है और अनुपब्धि रूप हेतु अपने साध्य की सत्ता का साधक नहीं होता है अर्थात् उसके प्रतिषेध का ही साधक होता है। ऐसी जो एकान्तवादियों की मान्यता है। उस मान्यता को ही इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने हटाया है और अनेकान्त रूप मान्यता का मण्डन किया है। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि हेतु का अन्यथानुपपत्ति यही एक निर्दोष लक्षण है। इस लक्षण वाला हेतु विधिरूप और प्रतिषेध रूप होता है जैसे "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" यहाँ धूमरूप हेतु विधिरूप है, क्योंकि वह अग्निरूप साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है। "नास्त्यत्र प्राणिनि मिथ्यात्वम् आस्तिक्योपलब्धेः" इस प्राणी में मिथ्यात्व नहीं है; क्योंकि इसमें आस्तिक भाव की उपलब्धि हो रही है। यहाँ पर हेतु प्रतिषेध रूप है क्योंकि यह मिथ्यात्व का प्रतिषेध सिद्ध करता है। इतना चित्त में अवधारण करके इस सूत्र को समझना चाहिये। विधिरूप हेतु का नाम ही उपलब्धिरूप हेतु है। यह उपलब्धि अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि के भेद से दो प्रकार की होती है। साध्य के साथ जो हेतु विरुद्ध नहीं होता है वह अविरुद्धोपलब्धि रूप हेतु होता है। ऐसा हेतु अपने साध्य के अस्तित्व का साधक होता है और जो हेतु अपने साध्य से विरुद्ध होता है। वह उसका साधक नहीं होता है किन्तु उसका प्रतिषेधक होता है। ऐसा हेतु विरुद्धोपलब्धि रूप होता है। इस प्रकार के कथन से यह हम भली-भाँति समझ जाते हैं, कि उपलब्धिरूप होता हुआ भी हेतु विधि और प्रतिषेध इन दोनों का साधक होता है। इसी प्रकार से अनुपलब्धिरूप जो हेतु होता है वह भी अपने साध्य के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों का साधक होता है। यदि वह साध्य से अविरुद्धानुपलब्धि रूप है, तो वह उसके नास्तित्व का और यदि वह विरुद्धानुपलब्धि है तो वह उसके अस्तित्व का साधक होता है।

साध्य के अस्तित्व का साधक जो अविरुद्धोपलब्धिरूप हेतु है वह छह प्रकार का होता है—साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धिरूप हेतु (१) साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि रूप हेतु (२) साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि रूप हेतु (३) साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि रूप हेतु (४) साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि रूप हेतु (५) और साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धि रूप हेतु (६)।

साध्य के नास्तित्व का साधक जो विरुद्धोपलब्धिरूप हेतु है वह सात प्रकार का है—स्वभाव विरुद्धोपलब्धि रूप हेतु (१) विरुद्ध कार्योपलब्धि रूप हेतु (२) विरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप हेतु (३) विरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु (४) विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धिरूप हेतु (५) विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धिरूप हेतु (६) और विरुद्ध सहचरोपलब्धिरूप हेतु (७)।

साध्य के नास्तित्व का साधक जो अविरुद्धानुपलब्धिरूप हेतु है वह ७ सात प्रकार का है और विरुद्धानुपलब्धिरूप जो हेतु है वह ५ पाँच प्रकार का है। वे ७ प्रकार ये हैं—अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि (१) अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (२) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि (३) अविरुद्धकारणानुपलब्धि (४) अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि (५) अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि (६) और अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि (७)।

विरुद्धानुपलब्धि के ५ पाँच भेद हैं—विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (१) विरुद्धकारणानुपलब्धि (२) विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि (३) विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (४) और विरुद्ध सहचरानुपलब्धि (५)।

इनका स्पष्टीकरण सूत्रकार आगे करने वाले हैं—अतः वहीं से इन सब का बोध सुगम रीति से

हो जावेगा। इस तरह हम देखते हैं, कि उपलब्धि और अनुपलब्धि—विधिरूप और प्रतिषेध रूप हेतु मूल रूप से द्विविधता वाला होता हुआ भी अपने उत्तरभेदों के अनुसार अनेक प्रकार का हो जाता है, तथा विधिरूप उपलब्धि हेतु और प्रतिषेधरूप अनुपलब्धि हेतु विधिसाधक और निषेधसाधक होते हैं। इसी बात का स्पष्टीकरण अब किया जाता है ॥ ३९ ॥

सूत्र—ध्वनिः परिणतिमान् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रथमा ॥ ४० ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं साध्याविरुद्धोपलब्धेर्विध्यनुमितौ षड्विधत्वमुक्तं तत्र तस्याः प्रत्येकं भेदं सोदाहरणं लक्षयितुं प्रथमोपात्तायाः साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धेः स्वरूपं प्रकाश्यते—ध्वनिः परिणतिमानित्यादिना. ध्वनिरत्र पक्षः परिणतिमत्त्वं साध्यम् प्रयत्नानन्तरीयकत्वं साधनम्। इदं साधनमत्र स्वसाध्येन परिणतिमत्त्वेन सा कं कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धेन स्थितं सदेव व्याप्यरूपं जातम् व्याप्यपदेन प्रकृते स्वसाध्य स्वभावस्य ग्रहणात् साध्याविनाभावरूप व्याप्यत्व मात्रमत्र न गृहीतं तथा च परिणतिमत्त्वेन साध्येन सह कथंचित्तादात्म्येन स्थितस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य स्वभावस्यैवात्र व्याप्यात्वेन विवक्षणात् अस्याः साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धेर्नामान्तरं स्वभावोपलब्धिरित्यपि उक्तं भवति। तेनात्र व्याप्यपदेन धूमादि हेतोः कार्यात्मकस्य वह्निरूप साध्य व्याप्यत्वेऽपि ग्रहणं न भवति वह्नि-धूमयोः परस्पर भिन्नतया तादात्म्याभावेन धूमस्य वह्नि स्वभावत्वा सभवादिति। एव विधस्य व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्य हेतो रूपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण च भवतीति विभावनीयम्।

हिन्दी व्याख्या—शब्द परिणति वाला है—अनित्य है। क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है। जो प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है—जैसे कलश आदि। अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है। जैसे वन्ध्या पुत्र। शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है। अतः वह अनित्य है। इस प्रकार से यह अन्वय व्यतिरेक द्वारा साध्य से अविरुद्ध व्याप्य की उपलब्धि विधिसाधिका कही गई है। यहाँ ध्वनि-शब्द धर्मी-पक्ष है, परिणतिमत्ता यह साध्य है, और प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु है। यह हेतु परिणतिमत्व साध्य के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त होता हुआ ही व्याप्यरूप बना है। क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में परिणतिमत्व तो है पर वहाँ प्रयत्नानन्तरीयकता नहीं है। इसी कारण यहाँ प्रकृत में साध्याविनाभावरूप व्याप्यत्व गृहीत नहीं हुआ है किन्तु कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित प्रयत्नानन्तरीयकतारूप स्वभाव ही शब्द का यहाँ व्याप्यपद से गृहीत हुआ है। इसी से इसका दूसरा नाम स्वभावोपलब्धि भी कहा गया है। जिस रूप से कार्यात्मक धूमादिरूप हेतु वह्निरूप साध्य के व्याप्य माने जाते हैं उस रूप से अपने साध्य के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध वाला हेतु व्याप्य नहीं माना जाता है। किन्तु वह उसका स्वभाव रूप होता है, इससे वह उसका व्याप्य माना जाता है। इसी कारण कार्यात्मक हेतु का यहाँ व्याप्य पद से ग्रहण नहीं हुआ है क्योंकि वह उसका स्वभाव नहीं होता है। वह्नि-और धूम ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। अतः इनमें तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है इसलिए धूमरूप व्याप्य हेतु में वह्नि स्वभावता नहीं आती है। अतः शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न से जन्य होता है। यहाँ यह हेतु साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि रूप हेतु है। यहाँ शब्द में इस हेतु की उपलब्धि साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों प्रकार से है।

तात्पर्य कहने का यही है कि यहाँ साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि में वही धर्म व्याप्य रूप से गृहीत हुआ है जो अपने साध्य के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त है। इसी कारण इसका दूसरा नाम स्वभावोपलब्धि भी कहीं-कहीं कहा गया है ॥ ४० ॥

सूत्र—पर्वतोऽयमग्निमान् धूमोपलम्भादिति द्वितीया ॥ ४१ ॥

संस्कृत टीका—प्रथमा साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धिः कथिता अधुना द्वितीया साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धिः कथ्यते। पर्वतोऽयमग्निमानित्यादिना। एवं च साध्येन वह्निना सह अविरुद्धस्य धूमरूप कार्यात्मक हेतोरुपलब्धिः साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धिः एवमन्यदपि उदाहरणम् स्वयमुन्नेयम्।

हिन्दी व्याख्या—साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि का कथन करके अब सूत्रकार द्वितीय जो साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि है, उसका कथन करते हैं। इसमें यह समझाया गया है कि जो कार्यरूप हेतु अपने साध्य के साथ विरुद्ध नहीं होता है, ऐसा वह अविरुद्ध कार्य हेतु अपने साध्य की सत्ता का गमक होता है। जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है।' यहाँ पर्वत पक्ष है, अग्निवाला है, यह साध्य है। और धूमवाला हेतु है। यहाँ धूम हेतु अपने साध्यरूप वह्नि का अविरुद्ध कार्य है। अतः अपने सद्भाव से वहाँ अग्नि का वह गमक होता है। इसी तरह से और भी इस द्वितीय उपलब्धि का उदाहरण स्वयं समझ लेना चाहिए ॥ ४१ ॥

सूत्र—अस्त्यत्र छाया छत्रोपलम्भादिति तृतीया ॥ ४२ ॥

संस्कृत टीका—साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धेः स्वरूपं निरूप्य साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धेः स्वरूपं निरूप्यते। "अस्त्यत्रच्छाया छत्रत्वादिति"। यत्र साध्येन सह अविरुद्धस्य कारणस्योपलब्धिर्भवति तत्रैवेयं तृतीयोपलब्धिर्जायते यथा अस्मिन् प्रदेशे छाया अस्ति तदविरुद्धस्य छत्ररूप कारणस्योपलब्धेः, एवमेव "वृष्टिर्भविष्यत्यत्रोन्नत वारिवाहावलोकनात्" इदमपि अस्यास्तृतीयोपलब्धेरुदाहरणं ज्ञातव्यम्। उन्नतवारिवाहावलोकनतो भविष्यवृष्टेरनुमितेर्भवनात्।

हिन्दी व्याख्या—द्वितीय साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि का स्वरूप प्रकट करके अब इस सूत्र द्वारा तृतीय साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि का स्वरूप प्रकट किया जा रहा है। जहाँ पर साध्य से अविरुद्ध उसके कारण की उपलब्धि होती है। जैसे—यहाँ पर विवक्षित स्थान पर छाया है। क्योंकि उसका जो कारण छाता है उसकी उपलब्धि हो रही है। यहाँ पर 'अत्र' यह धर्मी है, छाया यह साध्य है और छाता यह हेतु है। यह हेतु साध्य की छाया का अविरुद्ध कारण है, और उसकी यहाँ उपलब्धि हो रही है। अतः इस हेतु से उस स्थान में छाया की अनुमिति होती है। इसी तरह उन्नत जल से भरे हुए मेघों के देखने से ऐसा अनुमान करना कि यहाँ पर वर्षा होगी यह साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण है ॥ ४२ ॥

सूत्र—भविष्यति रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयोपलम्भादिति चतुर्थी ॥ ४३ ॥

संस्कृत टीका—साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धेः स्वरूपं निरुप्याधुना साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धेः स्वरूपं लक्षयितुमाह—'भविष्यति रोहिण्युदयः' इत्यादि, एवं च साध्येन सहाविरुद्धस्य पूर्वचरस्य हेतोरुपलब्धिः साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि चतुर्थी मुहूर्त्तान्ते रोहिण्युदयो भविष्यति अधुना कृत्तिका नक्षत्रोदयोपलम्भादित्यत्र साध्येन भविष्यत्कालिक रोहिणी नक्षत्रोदयेन सह अविरुद्धस्य कृत्तिकानक्षत्रोदयरूपस्य हेतोरुपलब्ध्या भविष्यत्कालिक रोहिणी नक्षत्रोदयानुमितिर्भवति पूर्वचरस्य कृत्तिकोदयस्य न पूर्वोक्त व्याप्यस्वरूप स्वभावेऽन्तर्भावः, नापि कार्येऽन्तर्भावः, नापि च कारणेऽन्तर्भावः संभवति तस्य पूर्वचरस्य कृत्तिकोदयस्य रोहिण्युदयस्य च परस्परभिन्नत्वात् रोहिण्युदयकार्यत्वाभावात्, तस्य रोहिण्युदयकारणत्वाभावाच्चेतिभावः ॥ ४३ ॥

हिन्दी व्याख्या—इस प्रकार से साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का स्वरूपनिरूपण कर अब सूत्रकार साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का स्वरूप निरूपण करते हैं। साध्य से अविरुद्ध उसके पूर्वचर हेतु की जो उपलब्धि है। एक मुहूर्त्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। यहाँ साध्य आगे उदय होने वाले रोहिणी नक्षत्र के उदय के साथ अविरुद्ध हेतु कृत्तिका नक्षत्र का उदय है और उसकी वर्त्तमान में उपलब्धि हो रही है। ऐसा नियम है, कि कृत्तिका नक्षत्र के उदय के एक मुहूर्त्त बाद नियम से रोहिणी का उदय होता है। अतः इसके उदय से रोहिणी के उदय की अनुमिति होती है। इस पूर्वचर हेतु का अन्तर्भाव न साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि में होता है, न साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि में होता है और न साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि में होता है। क्योंकि जहाँ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध होता है वहीं पर हेतु साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि रूप होता है। इसी तरह जिनमें कार्य कारण भाव सम्बन्ध रहता है वहाँ पर हेतु साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धिरूप या साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धिरूप हेतु होता है। रोहिणी नक्षत्र और कृत्तिका नक्षत्र में आपस में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। इसलिए यह हेतु इन सबसे भिन्न है ॥ ४३ ॥

सूत्र—उदगान्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुनर्वसु पुष्योदयोपलम्भादिति पञ्चमी ॥ ४४ ॥

संस्कृत टीका—साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि स्वरूपं निरूप्याधुना पञ्चम्याः साध्याविरुद्धोत्तरचरोपलब्धेः स्वरूपं निरूपयितुमाह—"उदगान्मुहूर्त्तात् पूर्वम्" इत्यादि, एवं च साध्येन सह अविरुद्धस्य उत्तरचरस्य हेतोरुपलब्धिः साध्याविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः, मुहूर्त्तपूर्वातीतकालिक पुनर्वसूदयेन सहाविरुद्धस्योत्तरचरस्य पुष्योदयस्य हेतोरुपलम्भात् मुहूर्त्तपूर्वातीतकालिक पुनर्वसूदयानुमिति भवतीति भावः। एवमन्यदपि स्वयमुन्नेयम्।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त के पहले पुनर्वसु नक्षत्र का उदय हो चुका है क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय हो रहा है। यह पाँचवीं साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण है।

हिन्दी व्याख्या—साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का स्वरूप कहकर अब साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का स्वरूप—"उदगान्मुहूर्त्तात्पूर्वम्" इत्यादि सूत्र द्वारा प्रकट किया जा रहा है। एक मुहूर्त्त के पहले पुनर्वसु नक्षत्र का उदय हो चुका है क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय हो रहा है। यहाँ साध्य पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है। उसका अविरुद्ध उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का उदय है। उसकी अभी उपलब्धि हो रही है—इससे एक मुहूर्त पहले पुनर्वसु नक्षत्र का उदय हो चुका है ऐसी अनुमिति होती है। इसी प्रकार से और भी उदाहरण इस सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ॥ ४४ ॥

सूत्र—अस्मिन् सहकारफले रूपविशेषोऽस्ति समास्वाद्यमान-रसविशेषादिति साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धिः ॥ ४५ ॥

संस्कृत टीका—पञ्चम्याः साध्याविरुद्धोत्तरचरोपलब्धेः स्वरूपं निरूप्याधुना षष्ट्याः साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धेः स्वरूपं लक्षयितुमाह—"अस्मिन् सहकार फले" इत्यादि। एवञ्च साध्येन सहअविरुद्धस्य सहचरस्य हेतोरुपलब्धिः साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धि यद्यथा—अस्मिन् सहकार फले रूप विशेषोऽस्ति समास्वाद्यमान रस विशेषादित्यत्र साध्येन रूप विशेषण सह अविरुद्धस्य सहचरस्य समास्वाद्यमान रस विशेषस्य हेतोरुपलब्ध्या सहकार फलविशेषे रूप विशेषानुमितिर्भवति एतस्यापि सहचरस्य हेतोः स्वभावे, कार्ये, कारणे पूर्वचरे उत्तरचरे वा हेतो नान्तर्भावः सम्भवति। रूप विशेषपार्थक्येनैव रस विशेषस्य

तत्र सत्त्वात् तयोः परस्परं भिन्नत्वेन तादात्म्या संभवात् स्वभाव हेतौ नान्तर्भावः, एवं सव्येतर विषाणयोरिव रूपविशेष रसविशेषयोर्युगपदेव जायमानत्वेन कार्यकारणयोरपि नान्तर्भावः तदुक्तमन्यत्रापि—कार्यहेतुरयंनेष्टः समान समयत्वतः स्वातन्त्र्येण व्यवस्थानाद्वामदक्षिण गोशृङ्गवत् ।

सूत्रार्थ—इस आम के फल में रूप विशेष है क्योंकि इसका जो यह रस मैं चख रहा हूँ वह विशेष प्रकार का है । यह अविरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

हिन्दी व्याख्या—साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि के स्वरूप का प्रतिपादन करके अब साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धि का स्वरूप कहा जाता है । इस आम में रूपविशेष है; क्योंकि इसका आस्वाद्यमान जो रस है वह विशेष प्रकार का है । यहाँ पर साध्य रूपविशेष है । उस विशेष के साथ अविरुद्ध समास्वाद्यमान रस विशेष है । और यह हेतु है, साध्य के साथ इसका सहचर सम्बन्ध है । गाय के जैसे दाहिने और बायें दोनों शृङ्ग एक साथ होते हैं, उनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं होता है । प्रत्युत सहचर सम्बन्ध ही होता है । इसी प्रकार से रूप रसादि का सम्बन्ध होता है । इस सम्बन्ध में कार्यकारणता नहीं होती है । अतः रात्रि में प्रकाशाभाव में चखे गये रसविशेष के द्वारा उसके सहचारी रूप की अनुमिति हो जाती है । यह सहचर हेतु स्वतन्त्र हेतु है । इसका भी अन्तर्भाव पूर्वोक्त साध्य अविरुद्ध व्याप्य हेतु में, साध्याविरुद्ध कार्य हेतु में और साध्याविरुद्ध कारण हेतु में एवं साध्याविरुद्ध पूर्वचर तथा उत्तरचर हेतु में नहीं होता है । साध्याविरुद्ध व्याप्य हेतु में इसका अन्तर्भाव इस कारण से नहीं होता है कि रूप और रस में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है और परस्पर में ये दोनों स्वतन्त्र हैं । अतः न कोई आपस में किसी का कार्य है, और न कारण है । इसलिए कार्य कारण रूप हेतुओं में इसका अन्तर्भाव नहीं होता है । इस प्रकार से यह स्वतन्त्र ही हेतु है । यही बात अन्यत्र भी कही गई है—समान समय वाले होने से तथा स्वतन्त्र रूप से व्यवस्थित होने से वाम दक्षिण गोशृङ्ग की तरह सहचर हेतु स्वतन्त्र ही हेतु है । यह कार्यादिरूप हेतु नहीं है ॥ ४५ ॥

सूत्र—साध्यविरुद्धोपलब्धिः प्रतिषेधानुमितौ सप्तविधा[1] विरुद्ध स्वभाव-व्याप्याद्युपलब्धि भेदात् ॥ ४६ ॥

संस्कृत टीका—षडविधानामपि साध्याविरुद्धोपलब्धीना स्वरूपं प्रतिपाद्य अधुनोपलब्धे द्वितीय भेदं प्रतिपादयितुं प्रक्रम्यते तत्रसाध्येन सह विरुद्धस्य हेतोरुपलब्धिः स्वसाध्य प्रतिषेधे साध्यविरुद्ध स्वभाव-व्याप्य-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर-सहचरोपलब्धि भेदात् सप्तविधा जायते । एवञ्च साध्य विरुद्ध स्वभावोपलब्धिः १, साध्यविरुद्ध व्याप्योपलब्धिः २, साध्यविरुद्ध कार्योपलब्धिः ३, साध्यविरुद्ध कारणोपलब्धिः ४, साध्यविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धिः ५, साध्यविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः ६, साध्यविरुद्ध सहचरोपलब्धिश्चेति ७, तन्नामानि, तत्र प्रतिषेध्यस्य साध्यस्य स्वभावेन सह साक्षाद् विरुद्धस्य हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्ध स्वभावोपलब्धिः साध्येन प्रतिषेध्येन सह साक्षाद्विरुद्ध व्याप्य रूप हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्ध व्याप्योपलब्धिः, प्रतिषेध्येन साध्येन सह साक्षाद्विरुद्ध कार्य रूप हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्ध कार्योपलब्धिः, प्रतिषेध्येन साध्येन सह साक्षाद्विरुद्धस्य कारणरूप हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्ध कारणोपलब्धिः, प्रतिषेध्येन साध्येन सह साक्षा-

---

१. परीक्षामुखे "विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा" अनेन सूत्रेणास्या उपलब्धेः षड् भेदाः प्रतिपादिताः सन्ति ।

द्विरुद्ध पूर्वचररूप हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः, प्रतिषेध्येन साध्येन सह साक्षाद्विरुद्ध सहचर रूप हेतोरुपलब्धिः साध्यविरुद्ध सहचरोपलब्धिः, एतासां सप्तानामपि साध्यविरुद्धोपलब्धीनामुदाहरणानि यथाक्रममग्रे वक्ष्यन्ते ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—साध्य से विरुद्ध की जो उपलब्धि है वह साध्य के प्रतिषेध की अनुमिति में विरुद्ध स्वभावोपलब्धि, विरुद्ध व्याप्योपलब्धि आदि के भेद से सात प्रकार की है।

हिन्दी व्याख्या—छः प्रकार की साध्याविरुद्धोपलब्धि के भेदों का प्रतिपादन करके अब उपलब्धि के द्वितीय भेद रूप जो साध्य विरुद्धोपलब्धि है। उसका ग्रन्थकार कथन करते हैं—इससे साध्य से विरुद्ध हेतु की जो उपलब्धि है। वही साध्य विरुद्धोपलब्धि है। यह साध्य के प्रतिषेध का साधक होती है। इसके साध्य विरुद्ध स्वभावोपलब्धि, साध्य विरुद्ध व्याप्योपलब्धि, साध्य विरुद्ध कार्योपलब्धि, साध्य विरुद्ध कारणोपलब्धि, साध्यविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि, साध्यविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि और साध्य विरुद्ध सहचरोपलब्धि ऐसे सात भेद हैं इनमें प्रतिषेध्य साध्य के स्वरूप के साथ जो हेतु साक्षात् विरुद्ध हो ऐसे हेतु की जो उपलब्धि है, वह साध्य विरुद्ध स्वभावोपलब्धि है, इसी प्रकार से प्रतिषेध्य साध्य के साथ जो साक्षात् विरुद्ध है उस विरुद्ध पदार्थ के व्याप्य रूप हेतु की जो उपलब्धि है। वह साध्य विरुद्ध व्याप्योपलब्धि है। प्रतिषेध्य साध्य के साथ साक्षाद् विरुद्ध के कारण रूप हेतु की जो उपलब्धि है, वह साध्यविरुद्ध कारणोपलब्धि है। प्रतिषेध्य साध्य के साथ साक्षात् विरुद्ध के पूर्वचर रूप हेतु की जो उपलब्धि है, वह साध्य विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। प्रतिषेध्य साध्य के साथ साक्षात् विरुद्ध के उत्तरचर रूप हेतु की जो उपलब्धि है वह साध्यविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है। तथा प्रतिषेध्य साध्य के साथ साक्षात् विरुद्ध के सहचर रूप हेतु की जो उपलब्धि है। वह साध्य विरुद्ध सहचरोपलब्धि है। इन सातों को स्पष्ट रूप से समझने के लिये उदाहरणों को अब दिखाया जाता है ॥ ४६ ॥

सूत्र—आद्या—सर्वथैकान्तपक्षो न संभवति अनेकान्तपक्षोपलम्भादिति ॥ ४७ ॥

संस्कृत टीका—आद्य पदेनात्र साध्य स्वभाव विरुद्धोपलब्धिर्गृह्यते। तथा च सर्वथैकान्तपक्षोऽत्र प्रतिषेध्यः, अस्य स्वभावेन सहसाक्षाद्विरुद्धस्य अनेकान्तपक्षस्योपलम्भात् सर्वथैकान्त पक्षाभावस्यानुमिति र्भवति।

हिन्दी व्याख्या—साध्य से विरुद्धभूत हेतु की जहाँ उपलब्धि होती है। वह हेतूपलब्धि साध्य की प्रतिषेध साधिका होती है। इसके सात भेद जो ऊपर में प्रकट किये हैं। उनमें से जो प्रथम साध्य विरुद्ध स्वभावोपलब्धि है। उसका स्वरूप उदाहरण द्वारा यहाँ प्रकट किया गया है। इसमें यह समझाया गया है कि यहाँ पर प्रतिषेध्य साध्य सर्वथा एकान्त पक्ष है क्योंकि उसी का निषेध किया जा रहा है। उसका जो स्वभाव-स्वरूप है उस स्वभाव-स्वरूप के साथ अनेकान्त का विरोध है, और उसी की वस्तु में उपलब्धि हो रही है अतः वस्तु सर्वथा एकान्त पक्ष से रहित है, ऐसी अनुमिति होती है ॥ ४७ ॥

सूत्र—द्वितीया—अस्मिं स्तत्त्व निश्चयो नास्ति तत्त्व सन्देहादितिः ॥ ४७ ॥

संस्कृत टीका—"अत्र विवक्षित प्राणिनि-तत्त्वनिश्चयो नास्ति। तत्त्व सन्देहात्" अमुना प्रकारेण प्रतिपादने तत्त्व निश्चयश्चात्र प्रतिषेध्य तस्यैव प्रतिषेधात्। तेन सह साक्षाद्विरुद्धस्तत्त्वानिश्चयस्तेनसह व्याप्यभूतस्य तत्त्व सन्देहस्योपलब्ध्या तत्त्वनिश्चयाभावस्यानुमितिर्भवति।

हिन्दी व्याख्या—साध्य विरुद्ध व्याप्योपलब्धि का स्वरूप क्या है ? इस बात को समझाने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं—"इस प्राणी में तत्त्वों का निश्चय नहीं है। क्योंकि इसे तत्त्वों में सन्देह है यहाँ प्रतिषेध्य साध्य तत्त्वनिश्चय है--क्योंकि उसी का प्रतिषेध किया गया है। जिसका प्रतिषेध किया जाता है वही प्रतिषेध्य होता है। इस प्रतिषेध्य साध्य से विरुद्ध तत्त्वानिश्चय है। इस अनिश्चय का व्याप्य तत्त्व सन्देह है। और उसी की इस प्राणी में उपलब्धि हो रही है। अतः इससे तत्त्व निश्चयाभाव की वहाँ अनुमिति होती है। तत्त्वानिश्चय को व्यापक इसलिए माना गया है कि यह विपर्यय और अनध्यवसाय में सन्देह के बिना भी रहता है। परन्तु सन्देह तत्त्वानिश्चय के बिना कहीं पर भी नहीं रहता है। इसलिये व्याप्य तत्त्व सन्देह से व्यापक तत्त्वानिश्चय की अनुमिति हो जाती है ॥ ४८ ॥

सूत्र—तृतीया—**अस्मिन्नास्ति क्रोधोपशमो वदनविकारोपलम्भादिति ॥ ४९ ॥**

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यः क्रोधोपशमस्तेन सह साक्षाद्विरुद्धः क्रोधः तस्य कार्यं वदनविकारस्तस्योपलब्धिर्वर्तते। तया क्रोधोपशमाभावस्यानुमिति र्भवति।

हिन्दी व्याख्या—यह तीसरी साध्य विरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण है—यहाँ प्रतिषेध्य क्रोधोपशम है। इसके साथ साक्षाद्विरुद्ध क्रोध है। इसका कार्य वदनविकार है। इसकी उपलब्धि विवक्षित प्राणी में हो रही है। इससे क्रोधोपशम का अभाव अनुमित हो जाता है ॥ ४९ ॥

सूत्र—चतुर्थी—**अस्यमुनेरसत्यवचोनास्ति राग-द्वेष कालुष्यादूषित ज्ञानवत्त्वादिति ॥ ५० ॥**

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यम् असत्यं वचः तेन सह साक्षाद्विरुद्धं सत्यं वचः तस्य कारणं राग-द्वेष कालुष्यादूषित ज्ञानम्। तत् स्वसद्भावतः तत्र असत्य प्रतिषेधति।

हिन्दी व्याख्या—चौथी साध्य विरुद्ध कारणोपलब्धि है। इसका यह उदाहरण है—इस मुनि के वचन असत्य नहीं हैं। क्योंकि यह रागद्वेष कालुष्य आदि से अदूषित ज्ञान से युक्त है। यहाँ प्रतिषेध्य असत्य वचन है। उसके साथ साक्षाद् विरुद्ध सत्य वचन है। उसका कारण राग-द्वेष कालुष्य से अदूषित ज्ञान है। ऐसे ज्ञान से युक्त यह मुनि है। अतः इससे उसमें असत्य वचन के अभाव का अनुमान हो जाता है ॥ ५० ॥

सूत्र—पञ्चमी—**नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटरेवत्युद्गमोपलम्भादिति ॥ ५१ ॥**

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यः शकटोदय रोहिण्युदयस्तेने विरुद्धोऽश्विन्युदयस्तत्पूर्वचरो रेवत्युदयस्तत्सद्भावोपलम्भात् शकटोदया भावस्यानुमितिर्भवति।

हिन्दी व्याख्या—पाँचवीं विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। उसी का इस दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। एक मुहूर्त्त के बाद शकट रोहिणी का उदय नहीं होगा। क्योंकि अभी रेवती का उदय हो रहा है। यहाँ पर प्रतिषेध्य शकटोदय है। इसके विरुद्ध अश्विनी का उदय है और इसका पूर्वचर रेवती का उदय है। उसकी इस समय उपलब्धि हो रही है। इससे एक मुहूर्त्त के बाद शकटोदय के अभाव की अनुमति हो जाती है ॥ ५१ ॥

सूत्र—षष्ठी—**नोद्गात् मुहूर्त्तात् पूर्वं रोहिणी उतरफल्गुन्युदयादिति ॥ ५२ ॥**

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यो रोहिण्युदयस्तेन सह साक्षाद्विरुद्धस्योत्तरचरस्योत्तरफल्गुन्युदयस्य हेतोरुपलब्धिः (षष्ठी) साध्य विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः।

हिन्दी व्याख्या—एक मुहूर्त्त के पहले रोहिणी का उदय नहीं हुआ है। क्योंकि अभी उत्तर-फल्गुनी का उदय हो रहा है। यहाँ प्रतिषेध्य रोहिणी का उदय है। इसके साथ साक्षाद्विरुद्ध आर्द्रा नक्षत्र है, उसका उत्तरचारी पूर्वफल्गुनी का उदय है। इससे मुहूर्त्त पूर्व रोहिणी के उदय होने का अभाव अनुमित हो जाता है ॥ ५२ ॥

सूत्र—(सप्तमी)—**साध्यविरुद्ध - सहचरोपलब्धिर्यथाऽस्य मुनेर्मिथ्याज्ञानं नास्ति सम्यग्दर्शनोपलम्भात् ॥ ५३ ॥**

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यं मिथ्याज्ञानरूपं साध्यम्, तेन सह साक्षाद्विरुद्धस्य सम्यग्ज्ञानस्य सहचारि सम्यग्दर्शनम् तत्सद्भावोपलब्ध्या मिथ्याज्ञानाभावस्यानुमितिर्जायते। मिथ्याज्ञानाभाव सम्यग्दर्शनयोः सहचरत्वात्।

हिन्दी व्याख्या—सातवीं साध्यविरुद्ध सहचरोपलब्धि है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—इस मुनि का ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। यहाँ प्रतिषेध्य मिथ्याज्ञान है। इसका साक्षाद्विरोधी सम्यग्ज्ञान है और उस सम्यग्ज्ञान का सहचारी सम्यग्दर्शन है। उसकी उपलब्धि इस मुनि में हो रही है। अतः इसके सद्भाव से उसमें मिथ्याज्ञान के अभाव की अनुमति की गई है क्योंकि मिथ्याज्ञानाभाव और सम्यग्दर्शन ये दोनों साथ-साथ ही रहते हैं ॥ ५३ ॥

सूत्र—प्रतिषेध्याविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधानुमितौ सप्तविधा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभाव-व्यापक कार्य-कारण पूर्वोत्तर सहचरानुपलब्धि भेदात् ॥ ५४ ॥

संस्कृत टीका—निषेधसाधिकानां प्रतिषेध्यविरुद्ध स्वभावोपलब्ध्यादीनां सप्तानां सोदाहरणं स्वरूपं प्रतिपाद्याधुना प्रतिषेध्याविरुद्धानुपलब्धेः सप्तविधत्वं लक्ष्यते तत्र प्रतिषेधात्मक साध्य प्रतियोगिना प्रतिषेध्येन सहाविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक कार्य—कारण पूर्वचरोत्तरचर - सहचराणां हेतूनामनुपलब्धिः प्रतिषेध्याविरुद्धानुपलब्धिः सा च प्रतिषेधानुमितौ सप्तविधा भवति। तद्यथा—प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावानुपलब्धिः १, प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धिः २, प्रतिषेध्याविरुद्ध कार्यानुपलब्धिः ३, प्रतिषेध्याविरुद्ध कारणानुपलब्धिः ४, प्रतिषेध्याविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धिः ५, प्रतिषेध्याविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिः ६, प्रतिषेध्याविरुद्धसहचरानुपलब्धिश्चेति एता सामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते ॥

हिन्दी व्याख्या—यह पूर्व में प्रकट किया जा चुका है कि अनुपलब्धि रूप जो हेतु होता है, वह भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक होता है। अनुपलब्धि मूल में दो प्रकार की होती है—अविरुद्धानुपलब्धि १, और विरुद्धानुपलब्धि २। इनमें प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध हेतु की जहाँ अनुपलब्धि है वह प्रतिषेधसाधक होती है। यह प्रतिषेधसाधिका अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की कही गई है—जैसे प्रतिषेध्य से अविरुद्ध स्वभाव की अनुपलब्धि १, प्रतिषेध्य से अविरुद्ध व्यापक की अनुपलब्धि २, प्रतिषेध्य से अविरुद्ध कार्यरूप हेतु की अनुपलब्धि ३, प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध कारण की अनुपलब्धि ४, प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध पूर्वचर की अनुपलब्धि ५, प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध उत्तरचर की अनुपलब्धि ६, और प्रतिषेध्य साध्य से अविरुद्ध सहचर की अनुपलब्धि ७, इनके उदाहरण आगे कहे जाने वाले हैं ॥ ५४ ॥

सूत्र—इह भूतले घटोनास्ति उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याप्यनुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध स्वभावानुपलब्धेरुदाहरणम् ॥ ५५ ॥

संस्कृत टीका—"भूतले घटो नास्ति" अत्र प्रतिषेध्यो घटः तस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमविरुद्ध स्वभावत्वं—यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि अवश्यमेव स प्राप्येत, परन्तु उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याप्यस्याधुनोपलब्धिश्चाक्षुषप्रत्यक्षं न भवति अतएव सोऽत्र नास्तीति अनुमितिर्जायते । अयमेव प्रतिषेध्याविरुद्ध स्वभावानुपलब्धेरुदाहरणम् ।

हिन्दी व्याख्या—प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का स्वरूप दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—जैसे इस भूतल में घट नहीं है क्योंकि वह उपलब्ध होने योग्य होने पर भी दिखाई नहीं दे रहा है । यहाँ प्रतिषेध्य घट है । उसका अविरुद्ध स्वभाव है, उपलब्ध होने की योग्यता और उस स्वभाव की चाक्षुष प्रत्यक्ष होने के स्वभाव की अनुपलब्धि है । अतः इस रूप अनुपलब्धि से वहाँ पर घट का अभाव अनुमित हो जाता है ॥ ५५ ॥

सूत्र—अस्मिन् प्रदेशे शिंशपा नास्ति वृक्षानुपलब्धेरिति प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धेः ॥५६॥

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्येन शिंशपारूपेण सह अविरुद्धस्य व्यापकस्य वृक्षरूपकस्ये हेतोरनुपलब्ध्या शिंशपाऽभावस्यानुमितिरत्र जायते व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धेः ।

हिन्दी व्याख्या—प्रतिषेध्याविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है । इस प्रदेश में शिंशपा नहीं है क्योंकि वृक्ष की उपलब्धि नहीं है । यहाँ प्रतिषेध्य शिंशपा है, उसका अविरुद्ध व्यापक वृक्ष है । उसकी अनुपलब्धि होने से शिंशपा के अभाव की अनुमिति हुई है । क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव रहता ही है ॥ ५६ ॥

सूत्र—अस्मिन् केदारेऽप्रतिहतशक्तिकं बीजं नास्ति अंकुरानुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध कार्यानुपलब्धेः ॥ ५७ ॥

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यम् अप्रतिहतशक्तिकं बीजं तस्य अविरुद्धं कार्यम् अंकुरोत्पादः तस्य अनुपलम्भेन अप्रतिहतशक्तिकस्य बीजस्य अभावस्य अनुमितिर्भवति ।

हिन्दी व्याख्या—प्रतिषेध्याविरुद्ध कार्यानुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार से है—इस खेत में अप्रतिहत शक्तिवाला बीज नहीं है क्योंकि अंकुरोत्पाद की उपलब्धि नहीं हो रही है । यहाँ प्रतिषेध्य अप्रतिहत शक्तिवाला बीज है । उसका अविरुद्ध कार्य अंकुरोत्पाद है उसकी अनुपलब्धि होने से अप्रतिहत शक्तिक बीज के अभाव की अनुमिति होती है ॥५७॥

सूत्र—अस्य प्रशमादयो भावा न सन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानाभावादिति प्रतिषेध्या विरुद्धकारणानुपलब्धेः ॥ ५८ ॥

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्येन प्रतिषेधात्मक साध्यस्य प्रतियोगिना प्रशमादि भावेन सह अविरुद्धस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपस्य कारणस्य हेतोरभावात् प्रशमादिभावाभावस्य अनुमितिर्भवति ।

हिन्दी व्याख्या—इस प्राणी में प्रशमादिभाव नहीं है क्योंकि इसमें तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव है । यहाँ पर प्रतिषेध्य प्रशमादि भाव है । उनका अविरोधी कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान है । क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के होने पर ही प्रशमादिभाव होते हैं । अतः उनके अविरोधी कारण का अभाव

होने से यहां प्रशमादि रूप कार्य का अभाव अनुमित होता है। जिसका अभाव होता है वह स्वयं प्रतियोगी होता है—जैसे घटाभाव का प्रतियोगी घट होता है। यहाँ पर प्रशमादि भावों का अभाव प्रकट करता है—सो प्रशमादिभावों के अभाव का प्रतियोगी प्रशमादिभाव हैं। और वे ही यहां प्रतिषेध्य कोटि में रखे गये हैं। जो प्रतिषेध करने योग्य होते हैं, वे ही प्रतिषेध्य होते हैं। इनका अविरोधी कारण तत्त्वार्थश्रद्धान है। उसके अभाव में प्रशमादिभाव—कषायादि की मन्दतारूप परिणति—नहीं हो सकते हैं। अतः जब कारण का ही अभाव है, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है? यहाँ प्रतिषेध्याविरुद्ध कारणानुपलब्धि का उदाहरण है। इसी प्रकार से और भी इसके उदाहरण समझ लेने चाहिये ॥ ५८ ॥

सूत्र—उत्तरफल्गुनी मुहूर्त्तान्ते नोद्गमिष्यति पूर्वफल्गुन्युदयाभावादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धेः ॥ ५९ ॥

संस्कृत टीका—अत्र मुहूर्त्तान्ते उत्तरफल्गुन्युदयो निषेध्यः—प्रतिषेध्यः तदविरुद्धः पूर्वचरः पूर्वफल्गुन्युदयः तस्यानुपलब्ध्या मुहूर्त्तान्ते उत्तरफल्गुन्युदया भावस्य अनुमितिर्भवति।

हिन्दी व्याख्या—एक मुहूर्त्त के बाद उत्तरफल्गुनी का उदय नहीं होगा क्योंकि वर्त्तमान में पूर्वफल्गुनी का उदय नहीं हुआ है। यहाँ पर प्रतिषेध्य साध्य उत्तरफल्गुनी का उदय है। इसका अविरोधी पूर्वचर पूर्वफल्गुनी का उदय है। पूर्वफल्गुनी के उदय होने के बाद ही एक मुहूर्त्त में उत्तरफल्गुनी का उदय होता है। अतः जब पूर्वफल्गुनीरूप अविरुद्ध पूर्वचर हेतु की अनुपलब्धि है, तो इससे यह अनुमिति हो जाती है कि एक मुहूर्त्त के बाद अभी उत्तरफल्गुनी का उदय होने वाला नहीं है। यह प्रतिषेध्याविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि का दृष्टान्त है। और भी दूसरे दृष्टान्त इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये ॥ ५९ ॥

सूत्र—नोद्गमन् मुहूर्त्तात्पूर्वं भरणी कृत्तिकोद्गमाभावादिति प्रतिषेध्याविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धेः ॥ ६० ॥

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यो मुहूर्त्तात्पूर्वं भरण्युदयः, तेन सहाविरुद्धोत्तरचरः कृत्तिका नक्षत्रोद्गमः, तस्यानुपलब्धिरधुनावर्त्तेऽतोमुहूर्त्तात् पूर्वं भरण्युदयाभावस्यानुमितिर्भवतीति।

हिन्दी व्याख्या—एक मुहूर्त्त के पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है। क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र का उदय अभी तक नहीं हो रहा है। यहाँ प्रतिषेध्य साध्य एक मुहूर्त्त के पहले भरणी का उदय होता है। उसके साथ अविरुद्ध उत्तरचर कृतिका है। उसके उदय नहीं होने से भरणी का उदयाभाव अनुमित होता है ॥ ६० ॥

सूत्र—अस्य सम्यग्ज्ञानं नास्ति सम्यग्दर्शनानुपलम्भादिति प्रतिषेध्याविरुद्ध सहचरानुपलब्धेः ॥ ६१ ॥

संस्कृत टीका—अत्र प्रतिषेध्यं साध्यं सम्यग्ज्ञानं तस्य अविरुद्ध सहचरं सम्यग्दर्शनम्—तस्यानुपलब्ध्या सम्यग्ज्ञानाभावस्य अनुमितिर्भवति।

हिन्दी व्याख्या—इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन का इसमें अभाव है। यहाँ पर प्रतिषेध्य साध्य सम्यग्ज्ञान है, और उसका अविरुद्ध सहचारी सम्यग्दर्शन है। इसके अभाव से पुरुष में सम्यग्ज्ञान का अभाव अनुमित होता है ॥ ६१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र—साध्यविरुद्धानुपलब्धिविधिसिद्धौ पञ्चविधा साध्यविरुद्ध कार्य कारण स्वभाव व्यापक सहचरानुपलम्भभेदात् ॥ ६२ ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं प्रतिषेध्याविरुद्धानुपलब्धीनां प्रतिषेधासिद्धौसप्तविधत्वं सविशदं निरूप्याधुना साध्यविरुद्धानुपलब्धीनां पञ्चविधत्वं प्रतिपादयितु माह—साध्य विरुद्धानुपलब्धीत्यादि । तथा च साध्येन सहविरुद्धानां कार्य-कारण—स्वभाव—व्यापक-सहचराणामनुपलब्धिः विधिरूप साध्य सिद्धौ पञ्चविधा भवति । तद्यथा—साध्यविरुद्धकार्यानुपलब्धिः, साध्यविरुद्धकारणानुपलब्धिः, साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धिः, साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धिः, साध्यविरुद्ध सहचरानुपलब्धिश्चेति । तत्र विधिरूपेण साध्येन सह साक्षाद्विरुद्ध कार्यात्मक हेतोरनुपलब्धिः साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धिः, एवमेव साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्ध्यादावपि विज्ञातव्यम् । एता सामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते ।

हिन्दी व्याख्या—विधिसाधक विरुद्धानुलब्धि के ५ भेद हैं । जैसे—साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धि १, साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्धि २, साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि ३, साध्य विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि ४, और साध्यविरुद्ध सहचरानुपलब्धि ५। इस अनुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध जो कोई भी पदार्थ हो उसके कार्यादिक की अनुपलब्धि विवक्षित हुई है। अतः जहाँ साध्य से विरुद्ध के कार्यादिक की अनुपलब्धि होती है वहाँ साध्य के सद्भाव की ही सिद्धि होती है । साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध के कारण की अनुपलब्धि विवक्षित हुई है । इसी तरह साध्य विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध के स्वभाव की अनुपलब्धि, साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध के व्यापक की अनुपलब्धि और साध्यविरुद्ध सहचरानुपलब्धि में साध्य से विरुद्ध के सहचर की अनुपलब्धि विवक्षित हुई है। इन अनुपलब्धियों का स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों में किया जायेगा।

सूत्र—साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धिर्यथा—अस्मिन् पुरुषे रोगातिशयो नीरोगचेष्टानुपलम्भात् ॥ ६३ ॥

संस्कृत टीका—साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धेः स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धिरित्यादि । तत्र साध्येन सह साक्षाद्विरुद्धस्य कार्यानुपलब्धिः साध्यविरुद्ध कार्यानुपलब्धिः—यथा अस्मिन् पुरुषे रोगातिशयो वर्तते नीरोगचेष्टानुपलम्भात् । अत्र रोगातिशयः साध्यं—तेन सह साक्षाद् विरुद्धा नीरोगता । नीरोगतायाः कार्यं वदनप्रसन्नतादि व्यापारविशेषस्तदनुपलम्भाद् रोगातिशयस्य विधिरनुमितो भवति ।

हिन्दी व्याख्या—जैसे—इस प्राणी में रोगातिशय है । क्योंकि इसमें नीरोग होने की चेष्टा नहीं देखी जाती है—यहाँ पर साध्य रोगातिशय है, और इस साध्य से साक्षाद् विरुद्ध नीरोगता है । इस नीरोगता का कार्य मुख की प्रसन्नता आदि रूप व्यापार विशेष है । इस व्यापार विशेष की अनुपलब्धि से परोक्षभूत भी रोगातिशय का सद्भाव अनुमित हो जाता है ॥ ६३ ॥

सूत्र —साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्धिर्यथा—अस्मिन् पुरुषे दुःखमस्ति सुखसाधनानुपलब्धेः ॥६४॥

संस्कृत टीका—साध्यमत्र दुःखम्—तेन सह साक्षाद्विरुद्धं सुखम्, तस्य साधनमिष्टसंयोगादि स्तस्यानुपलब्ध्या परोक्षभूतस्यापि दुःखसद्भावस्यानुमिति भवति ।

हिन्दी व्याख्या—इस प्राणी में दुःख है क्योंकि इसके पास सुखसाधन का अभाव है । यहाँ पर विध्यात्मक साध्य दुःख है । इससे साक्षाद्विरुद्ध सुख है । इस सुख का कारण इष्टसयोगादि रूप साधन है ।

वह इसके पास उपलब्ध नहीं है। इससे परोक्षभूत दुःख होने का सद्भाव इस प्राणी में अनुमित हो जाता है। यह साध्यविरुद्ध कारणानुपलब्धि का उदाहरण है ॥ ६१ ॥

सूत्र—साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्यथा—वस्तु मात्रमनेकान्तात्मकम् एकान्तस्वभावानुपलम्भात्।। ६५ ॥

संस्कृत टीका—अत्र वस्तु मात्रं पक्षः अनेकान्तात्मकं साध्यम्। एकान्त स्वभावानुपलम्भः साधनम् वस्तुमात्रस्यानेकान्तात्मकत्वेन एकान्त स्वभावास्यानुपलम्भात् साध्यविरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्भवति। एकान्तस्वभावोऽनेकान्तस्वभावेन साध्येन सह विरुद्धोऽतएव तस्यानुपलब्धितो वस्तुमात्रस्यानेकान्तात्मकता सिद्ध्यति।

हिन्दी व्याख्या—वस्तु मात्र अनेकान्तात्मक है। क्योंकि एकान्तस्वभाव की उपलब्धि उसमें नहीं होती है। यहाँ वस्तु मात्र पक्ष है, अनेकान्तात्मकता साध्य है और एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि यह हेतु है। इसमें अनेकान्तात्मकतारूप साध्य से विरुद्ध एकान्तात्मकता स्वभाव की उपलब्धि नहीं होने से अनेकान्तात्मकता साध्य की अनुमिति होती है। यही साध्य विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि है। ६५।

सूत्र—साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि र्यथा—अस्त्यस्मिन् प्रदेशे छाया उष्णत्वानुपलम्भात् ॥६६॥

संस्कृत टीका—अत्र साध्यं छाया उष्णत्वानुपलम्भादिति हेतुः—एवं च विधिभूतेन साध्येन छायारूपेण सह साक्षाद्विरुद्धस्य तापस्य यद् व्यापकम् उष्णत्वं तस्यानुपलम्भतश्छायाया अनुमितिर्भवति।

हिन्दी व्याख्या—साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि का स्वरूप इस प्रकार से है। जैसे—इस प्रदेश में छाया है क्योंकि यहाँ पर उष्णता का अनुपलम्भ है। यहाँ साध्य छाया है, और उष्णत्व का अनुपलम्भ यह हेतु है। यह हेतु साध्यविरुद्ध व्यापकानुपलब्धिरूप है। क्योंकि छायारूप साध्य से विरुद्ध आतप का व्यापक जो उष्णत्वादिक हैं, उनकी अनुपलब्धि है। अतः उष्णत्वादि की अनुपलब्धि होने से विवक्षित प्रदेश में छाया होने की अनुमिति होती है ॥६६ ॥

सूत्र—साध्यविरुद्ध-सहचरानुपलब्धिर्यथा—अस्मिन् पुरुषे मिथ्याज्ञानमस्ति सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ ६७ ॥

संस्कृत टीका—अत्र साध्यं मिथ्याज्ञानं तेन सह विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तस्य सहचरं सम्यग्दर्शनं तस्य अनुपलब्धिः साध्यविरुद्ध सहचरानुपलब्धिः अनया साध्यस्य मिथ्याज्ञानस्यानुमितिर्जायते।

साध्यं द्विविधं भवति विधिरूपं निषेधरूपं च, एवं हेतुरपि द्विविधो भवति—उपलब्धिरूपोऽनुपलब्धिरूपश्च।

तत्र उपलब्धिरूपो हेतुर्यथा—विधिरूपस्य साध्यस्य साधको भवति तथा निषेधस्यापि साध्यस्य साधको भवति एवमनुपलब्धिरूपोऽपि हेतु यथा निषेधरूपस्य साध्यस्य साधको भवति तथा विधिरूपस्यापि साध्यस्य साधको भवति। सर्वमेतत्पूर्वोक्त प्रतिपादन पद्धत्याऽवगतमेतया।

हिन्दी व्याख्या—साध्य से विरुद्ध के सहचर की जो अनुपलब्धि है। वह साध्य विरुद्ध सहचरानुपलब्धि है। जैसे—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है। यहाँ पर मिथ्याज्ञानरूप साध्य से विरुद्ध सम्यग्ज्ञान के सहचर सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि से मिथ्याज्ञान के होने की अनुमिति की गई है।

साध्य दो प्रकार का होता है—एक विधिरूप और दूसरा निषेधरूप। हेतु भी दो प्रकार का होता है—एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। इनमें उपलब्धिरूप हेतु जिस प्रकार विधि-साध्य का साधक होता है उसी प्रकार से वह निषेध साध्य का साधक भी होता है। इसी तरह से अनुपलब्धि रूप हेतु भी विधिसाध्य और निषेधसाध्य इन दोनों का साधक होता है। यह सब इस पूर्वोक्त पद्धति से प्रतिपादित हुआ ज्ञात हो चुका है ॥ ६७ ॥

परञ्च तत्र विधिपदार्थः कः निषेधपदार्थश्च कः इति जिज्ञासायामुद्भूतायां ग्रन्थकारेण प्रतिपाद्यते—

सूत्र—भावरूपो विधिरभावरूपश्च निषेधः ॥ ६८ ॥

संस्कृत टीका—सर्ववस्तु कथञ्चित् सदसदात्मकमस्ति अनेकान्तात्मकत्वात्तत्र यः सदंशोऽस्ति स भावरूपो विधिर्यस्त्वसदंशः सोऽभावरूपो निषेधः।

सूत्रार्थ—विधि शब्द का वाच्यार्थ और निषेध शब्द का वाच्यार्थ क्या है ? इस प्रकार की जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर ग्रन्थकार कहते हैं—भावरूप विधि अंश होता है और अभावरूप निषेधांश होता है।

हिन्दी व्याख्या—जितने भी पदार्थ हैं, वे सब कथंचित् सत् और असत् स्वरूप है। इनमें जो सदंश है वह तो विधिस्वरूप है और जो असदंश है वह निषेधस्वरूप है। विधिरूप अंश भावरूप और निषेधांश अभावरूप कहा गया है, तात्पर्य इस कथन का यही है कि प्रत्येक पदार्थ में भावांशता और अभावांशता साथ-साथ युगपत् किसी अपेक्षावश ही रहती है। भावांशता को छोड़कर अभावांशता का स्वतन्त्र सद्भाव जैन दार्शनिकों ने नहीं माना है। विवक्षावश ही एक को प्रधान और दूसरे को गौण कर दिया जाता है। यदि ऐसी बात न मानी जावे तो पदार्थ की ही सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि एक को छोड़कर दूसरे का अस्तित्व उस पदार्थ में कथमपि सिद्ध नहीं होता। तथा सर्वथा अस्तित्वविशिष्ट या सर्वथा नास्तित्वविशिष्ट पदार्थ क्रमशः या युगपत् अर्थक्रियाकारी नहीं बन सकता है। जैन दार्शनिकों ने अपने दर्शन ग्रंथों में बहुत ही सुन्दर ढंग से अनेक युक्तियों द्वारा इस बात का समर्थन किया है ॥ ६८ ॥

सूत्र—अभावश्चतुर्विधः प्रागभाव प्रध्वंसाभावान्योन्याभावात्यन्ताभावभेदात् ॥ ६९ ॥

संस्कृत टीका—अभावस्य चातुर्विध्यं सामान्यतः कथितं। विशेषरूपेण निरूपयितुं प्रागभावादिरूपान् तस्यैव भेदान् ग्रन्थकारो निरूपयति। एवं च पूर्वोक्त स्वरूपस्य सदसदात्मकस्य वस्तुनो योऽसदंशरूपोऽभावः स चतुर्विधोवर्तते तद्यथा—प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, अन्योन्याभावः, अत्यन्ताभावश्च। यदभावे नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभावः यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसाभावः, अन्यस्य वस्तुनोऽन्यस्मिन्न भावः सोऽन्योन्याभावः, कालत्रयेऽपि अत्यन्तंयोऽभावः सोऽत्यन्ताभावः।

सूत्रार्थ—अभाव प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के भेद से चार प्रकार का है।

हिन्दी व्याख्या—वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप और कथंचित् असत्स्वरूप है। इनमें जो वस्तु का असदंश है वही अभावरूप है। यह अभाव ही प्रागभाव आदि के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। जिसके नाश होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव है। जिसके होने पर कार्य की नियम से विपत्ति-विनाश होता है, वह प्रध्वंसाभाव है। एक वस्तु का एक वस्तु में जो अभाव है वह

अन्योन्याभाव है। तथा त्रिकालवर्त्ती जो एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ रूप नहीं होना है, वह अत्यन्ताभाव है ॥ ६९ ॥

सूत्र—विवक्षित पर्यायाविर्भावरिक्तोऽनादिसान्तस्तस्योत्पत्तेः प्रागुपादानपरिणामः प्रागभावः ॥ ७० ॥

संस्कृत टीका—प्रागभावादि भेदेनाभावस्य चतुर्विधत्वमुक्त्वा क्रमशस्तद्भेदस्वरूपं प्रतिपादयितुं विवक्षित पर्यायाविर्भावरिक्तोऽनादिसान्त इत्यादिना प्रागभावस्य स्वरूपं लक्ष्यते—तथा च विवक्षित पर्यायः घटादिपर्यायस्तस्याविर्भाव उत्पत्तिस्तेन रिक्तो मृदादिद्रव्य पिण्डरूपोपादान परिणाम एव विवक्षित घटादि पर्यायस्य समुत्पत्तेः प्राग् तस्य प्रागभावः, अयं चानादिः सान्तो भवति। यथा यदा मृत्पिण्डात् घटोत्पत्तिर्भवति तदामृत्पिण्डस्य विनाशो भवति। अयं च मृत्पिण्डः घटोत्पत्तेः प्राक् घटपर्यायोत्पत्तिरिक्तोऽघटपर्यायावस्थायां वर्त्तते यदा च तस्योत्पत्तिर्जायते तदा मृत्पिण्डस्यनाशो भवति। अयंच प्रागभावोऽनादिः सान्तश्च घटोत्पत्त्या तद्विनष्टत्वात्, अतएव नायं प्रागभावः सर्वथा तुच्छाभावरूपः पदार्थान्तर रूपत्वात्।

सूत्रार्थ—विवक्षित पर्याय की उत्पत्ति से रहित जो उपादान परिणाम है, वही पहले उसका प्रागभाव है।

हिन्दी व्याख्या—अभाव प्रागभाव आदि के भेद से चार प्रकार का कहा गया है—सो उसमें जो प्रागभाव है उसका यहाँ पर लक्षण निर्देश किया गया है। विवक्षित पर्याय की उत्पत्ति से रहित जब तक उपादान परिणाम रहता है तब तक वह उस पर्याय की उत्पत्ति के पहले उस पर्याय का प्रागभाव कहा गया है। जैसे—जब तक मृत् पिण्ड से घट की उत्पत्ति नहीं हुई है—मृत्पिण्ड अभी तक अघटपर्याय से युक्त पड़ा हुआ है फिर जब निमित्तादि के मिल जाने पर उस घटपर्याय की उत्पत्ति होने वाली है तब वह मृत्पिण्ड उस घटपर्याय का प्रागभावरूप कहा गया है। इस तरह यह प्रागभाव घटपर्याय का अनादि होता हुआ भी उसकी उत्पत्ति हो जाने पर विनष्ट हो जाता है—मृत्पिण्ड ही घटरूप में बदल जाता है। अतः घट पर्याय का प्रागभाव मृत्पिण्डरूप जो उपादान परिणाम है वह रूप ही पड़ता है सर्वथा तुच्छाभावरूप नहीं; जैसा कि अन्य सिद्धान्तकारों ने माना है। इसी बात को लेकर जैन दार्शनिकों ने इसे भावान्तररूप कहा है ॥ ७० ॥

सूत्र—भूत्वाऽभवनं साद्यनन्तः प्रध्वंसाभावः ॥ ७१ ॥

संस्कृत टीका—प्रध्वंसाभावस्य लक्षण निर्देशं चिकीर्षुः सूत्रकारो भूत्वाऽभवनमित्यादि सूत्रमाह—तथा च यदा मृत्पिण्डतो निमित्तादि बलतो निष्पन्नो घटादि पर्यायो विनष्टो भवति—कपालमालारूपेण परिणतो जायते—तदा घटो विनष्ट इत्येवं रूपो व्यवहारो दृश्यते कपालमाला काले घटस्य दर्शनं नैवोपलभ्यते अतोभूत्वाऽपि मुद्गरादि प्रहारादिना यद्घटस्य ध्वंसः स एव तस्य प्रध्वंसाभावः, अयंच घटस्य प्रध्वंसाभावः सादिः बलवद्विनाशकारणादि जन्यत्वात्, निष्पन्नस्यैव कार्यस्य ध्वंसो जायते नानिष्पन्नस्यातो कालत्रयेऽपि तद्घटस्यपुनत्पत्त्यभावात् प्रध्वंसरूपोऽभावोऽनन्त इति कथितम्।

सूत्रार्थ—होकर के फिर उसका उस रूप में वर्त्तमान नहीं रहना—जैसे निष्पन्न हुए घट का कपाल माला के आकार में बदल जाना—यही घट का प्रध्वंसाभाव है।

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने प्रध्वंसाभाव का लक्षण प्रकट किया है—तथाच—जब मृत्पिण्ड से घट निष्पन्न हो जाता है और कालान्तर में मुद्गरादि के प्रहार रूप बलिष्ठविनाश

कारणों द्वारा उसका विनाश कर दिया जाता है तब उस घट का कपालमाला के रूप में परिणमन हो जाता है। इस तरह जो कपालमाला के रूप में उसका परिणमन हुआ है वह पूर्वाकार का परित्याग रूप—घटाकार का विनाश रूप ही हुआ है। यही घट का प्रध्वंसाभाव है। इस प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति विनाश कारणों द्वारा ही हुई है। अतः वह सादि है और अब त्रिकाल में भी पुनः उस घट की उत्पत्ति होने वाली नहीं है। इसलिये वह प्रध्वंसाभाव अनन्त कहा गया है। क्योंकि प्रध्वंसाभाव उत्पन्न हुए पदार्थ का ही होता है, अनुत्पन्न पदार्थ का नहीं, तथा उत्पन्न हुआ प्रध्वंसाभाव विनष्ट नहीं होता, सदा काल बना रहता है। इसलिए वह अनन्त कहा गया है ॥ ७१ ॥

सूत्र—पर्यायात्पर्यायान्तरव्यावृत्तिरन्योन्याभावः सादिः सान्तश्च ॥ ७२ ॥

संस्कृत टीका—एकस्मात् पर्यायात् अन्यपर्यायाणां व्यावृत्तिः—व्यावर्त्तनम् अन्योन्याभावः—इतरेतराभाव इति यावत्, यथा "घटो न पटः" इत्यत्र घटपर्यायस्य पटात्मक पर्यायान्तरात् व्यावृत्तत्वेन पटात्मक पर्यायान्तरात् यत् तस्य घटपर्यायस्य व्यावर्त्तनं भवति स एव घटे पटान्योन्याभाव उच्यते, "घटः पटाद्भिन्नः, पटो घटाद्भिन्नः" इत्येवमादि शब्दैरन्योन्याभावस्याभिलापो भवति। एवमेव तद् घटस्य घटान्तराद्व्यावृत्तिरपि अन्योन्याभाव एव। अन्योन्याभावो हि पर्यायेष्वेव भवति, न द्रव्येषु। तत्रात्यन्ताभावस्येष्टत्वात्, यथा पुद्गल जीव द्रव्ययोः। इदमत्र हृद्यम्—एकस्मिन् द्रव्ये अनन्ताः पर्यायाः सन्ति, तेषु पारस्परिको योऽभावः सोऽन्योन्याभावः, अन्यस्य अन्यस्मिन्न भावोऽन्योन्याभाव इति तद्व्युत्पत्तेः।

हिन्दी व्याख्या—एक पर्याय से जो दूसरे पर्याय की भिन्नता है, वही अन्योन्याभाव है। अर्थात् एक पर्याय का जो दूसरी पर्याय में नहीं पाया जाना है वही अन्योन्याभाव है। इसका दूसरा नाम इतरेतराभाव भी है। जैसे—घट पटरूप नहीं है। घट की स्वतन्त्रता अलग है, और पट की स्वतन्त्रता अलग है। घट पटरूप नहीं हो पाता है, और पट घटरूप नहीं हो पाता है। सब पर्याय अपनी सत्ता में विराजमान रहता हुआ एक-दूसरे से जुदा रहता है। यही अन्योन्याभाव है। यद्यपि घट और पट दोनों पर्याय सद्भाव रूप हैं। किन्तु घट पट नहीं है, और पट घट नहीं है। इस प्रकार से दोनों में जो परस्पर का अभाव है यही अभाव अन्योन्याभाव है। इसी प्रकार से एक घट की दूसरे घट से जो भिन्नता है वह भी अन्योन्याभाव है। यह अन्योन्याभाव पर्यायों के आश्रित रहता है—द्रव्यों के आश्रित नहीं। द्रव्यों के आश्रित तो अत्यन्ताभाव रहता है। जैसे जीव द्रव्य न कभी पुद्गल द्रव्य रूप होता है और न पुद्गल द्रव्य कभी जीव द्रव्य रूप होता है। त्रिकाल में भी ये द्रव्य एक दूसरे द्रव्य रूप में नहीं परिणमते हैं। इस तरह द्रव्यों में जो परस्पर में एक दूसरे रूप नहीं होना है, वह अत्यन्ताभाव है। तात्पर्य कहने का यही है कि एक द्रव्य में अनन्त पर्याय हैं। इन अनन्त पर्यायों में आपस में जो एक-दूसरे का नहीं रहना रूप अभाव है, वही अन्योन्याभाव है। ऐसी ही इसकी व्युत्पत्ति है। यह अन्योन्याभाव सादि और सान्त है ॥ ७२ ॥

सूत्र—द्रव्याद्द्रव्यान्तरव्यावृत्तिरत्यन्ताभावोऽनादिरनन्तश्च ॥ ७३॥

संस्कृत टीका—एकस्माद् द्रव्यात् अन्यद्रव्यस्य या व्यावृत्तिस्त्रैकालिकी कालत्रयापेक्षिणी—तादात्म्य परिणाम निवृत्तिः सैवात्यन्ताभाव इति कथ्यते। यथा-चैतन्यमात्मतत्त्वं न पुद्गलाद्यात्मकतामगमद्गमिष्यति गच्छति वा चेतनत्वविरोधात्, नाप्यचेतनं पुद्गलादि तत्त्वं। चेतन जीव स्वरूपता मयासीत्यास्यति याति वा अचेतनत्व विरोधात्। तदित्थं चेतना चेतनयोः कालत्रयापेक्षिण्याः द्रव्याद्द्रव्यान्तर

विनिवृत्तेः सम्भवात् सिद्ध्यत्यत्यन्ताभावः। नन्वन्योन्याभावात्यन्ताभावयोरेवं को नु विशेषो घटपटयोरपि तादात्म्य परिणाम निवृत्तेः सद्भावात्, न खुल घटः पटात्मकतां पटोवा घटात्मकतां कदाचिदपि प्राप्नोति स्वस्वरूप विरोधात्, इति न वक्तव्यम् कदाचित्। घटस्यापि पटत्व परिणाम सम्भवात्, कदाचित् पटस्यापि घटत्व परिणाम सम्भवात् पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात्, न चैवं चेतनमचेतन तयाऽचेतनं चेतनतया वा परिणममानं कदाचिदपि दृष्टम् तत्त्वविरोधात्।

सूत्रार्थ—एक द्रव्य का त्रिकाल में भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होना यही अत्यन्ताभाव है। यह अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त है। त्रिकाल में भी एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य रूप में नहीं होता है। जीव द्रव्य न अजीव द्रव्यरूप परिणमता है, और न अजीव द्रव्य जीव द्रव्य रूप परिणमता है। इस तरह एक द्रव्य का जो दूसरे द्रव्यरूप नहीं होना है वही अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न—यह अत्यन्ताभाव का लक्षण अतिव्याप्ति दोष वाला है। क्योंकि अन्योन्याभाव के लक्षण निर्देश में भी यही बात आती है—वहाँ पर भी एक पर्याय दूसरे पर्याय रूप में नहीं परिणत होता प्रकट किया गया है।

उत्तर—यद्यपि अन्योन्याभाव के लक्षण निर्देश में भी यही बात कही गई है। पर यहाँ जो कहा गया है वह उससे सर्वथा भिन्न ही कहा गया है। वहाँ एक द्रव्य के अनन्त पर्याय त्रिकाल में भी एक पर्याय दूसरे पर्याय रूप में नहीं परिणमते हैं, ऐसी बात तो नहीं कही गई है। अतः किसी निमित्त को लेकर आपस में अन्योन्याभाव वाला पर्याय भी एक दूसरे पर्याय रूप में परिणमन कर सकता है, और परिणमन कर भी जाता है। पर यहाँ अत्यन्ताभाव वाले द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य त्रिकाल में भी दूसरे द्रव्यरूप में नहीं परिणमता है। इस प्रकार अन्योन्याभाव में त्रैकालिक तादात्म्य परिणाम की निवृत्ति नहीं कही गई है, यह त्रैकालिक तादात्म्य परिणाम की निवृत्ति तो इसी अत्यन्ताभाव में प्रकट की गयी है।

प्रश्न—सूत्र में तो ऐसा कुछ नहीं कहा गया है फिर आपने यह बात कैसे कही है ?

उत्तर—सूत्र में यह बात नहीं कही गई है, ऐसा आरोप लगाना व्यर्थ है। क्योंकि "द्रव्याद्-द्रव्यान्तर व्यावृत्तिः" यह जो पद दिया गया है, उससे ही इस कथन की पुष्टि हो जाती है। क्योंकि जितने भी द्रव्य हैं, वे सब अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुए हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप में त्रिकाल में भी नहीं बदलता है; नहीं तो द्रव्य व्यवस्था ही विघटित हो जावेगी।

प्रश्न—तो फिर पर्याय कैसे एक पर्याय से दूसरे पर्याय रूप में बदल जाता है ?

उत्तर—एक पर्याय दूसरे पर्याय रूप में कालक्रमादिनिमित्त को लेकर बदल जाता है क्योंकि नहीं बदलने का नियम पर्यायों में नहीं है। यह नियम तो द्रव्य में ही है। मनुष्य पर्याय और नारकादि पर्यायों में यद्यपि अन्योन्याभाव वर्तमानादि काल की अपेक्षा से है, पर कालादि निमित्त को लेकर मनुष्य पर्याय नारकपर्याय रूप में और नारक पर्याय मनुष्य पर्याय रूप में बदल जाता है ॥ ७० ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्तः ॥

चतुर्थ अध्याय

परोक्षप्रमाणस्य स्मरणादि भेदचतुष्टयं प्रतिपाद्येदानीम् आगमाख्यं पञ्चम प्रकारं प्रतिपादयितु माह—

सूत्र—आप्तवाक्यजन्यमर्थज्ञानमागमः ॥ १ ॥

संस्कृत टीका—आप्तस्य वाक्यम्—आप्तवाक्यं तेन जन्यमर्थज्ञानं जीवाजीवादि स्वरूपविषयकं ज्ञानमागमः आगम प्रमाणमिति। अत्र आगम इति लक्ष्यम् अवशिष्टं तल्लक्षणम्। अत्रार्थ ज्ञानपदे केवलमुच्यमाने प्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिस्तस्मादपि अर्थज्ञानप्रसूतेः अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं वाक्यजन्यमिति प्रोक्तं—वाक्यजन्यमर्थज्ञानमागम इत्येतावति उच्यमाने रथ्यापुरुष वाक्यजन्यमपि ज्ञानमागमः स्यात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थम् आप्तेतिपदं प्रोक्तम्। आप्तवाक्यजन्यं ज्ञानमागम इत्येतावति प्रोक्ते श्रूयमाणादाप्तवाक्याज्जायमाने श्रावणप्रत्यक्षे लक्षणस्याति व्याप्तिः स्यादतः तत्परिहारार्थमर्थज्ञानमिति कथितम्। एवं निष्कंटकमिदं लक्षणमागमस्य ज्ञातव्यम्।

सूत्रार्थ—परोक्ष प्रमाण के स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन भेदों का कथन करके अब पाँचवें भेद आगम प्रमाण का कथन सूत्रकार करते हैं—आप्त के वाक्य से उत्पन्न जो ज्ञान होता है उसका नाम आगम है।

हिन्दी व्याख्या—आप्त पुरुष के वाक्य से—वचन से जो जीव अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान-बोध होता है, उस ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ पर आगम यह लक्ष्य है, और शेष जो पद हैं वे उसके लक्षण हैं। लक्षण अन्य व्यावर्त्तक होता है। अतः अब यही स्पष्ट किया जाता है, कि इन विशेषणभूत पदों द्वारा किनका यहाँ पर व्यवच्छेद किया गया है। यदि अर्थज्ञान को आगम कहा जाता तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी अर्थज्ञान होता है। अतः वे भी आगम प्रमाण के ही अन्तर्गत हो जाते और स्वतन्त्र प्रमाणभूत न रहते। इसलिये वे स्वतन्त्र प्रमाणभूत रहें, आगम प्रमाण में इनका अन्तर्भाव न हो इसीलिये इस आगम लक्षण में वाक्य वचन से जन्य जो अर्थज्ञान है वह आगम प्रमाण है, ऐसा कहा गया है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जो अर्थज्ञान होता है वह वाक्यजन्य नहीं होता है। यदि इतना ही कह दिया जावे कि वाक्य से उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान ही आगम है, तो फिर इच्छानुसार बोलने वाले ऐसे वैसे आदमी के वचनों द्वारा जो अर्थज्ञान होता है, वह भी आगम प्रमाण की कोटि में आ जावेगा। अतः वह आगम की कोटि में न आ सके इसके लिये वाक्य का विशेषण आप्तपद रखा गया है। आप्त के वाक्य से

जन्य जो अर्थज्ञान होगा वही आगम प्रमाण होगा, इसके सिवाय और व्यक्तियों के वाक्य से जन्य ज्ञान आगम प्रमाण नहीं होगा। यदि इतने पर कोई निकटस्थ ऐसी आशङ्का करें कि आप्त के वाक्य से जन्य जो ज्ञान होता है, वह आगम है, ऐसा आगम का लक्षण करने पर क्या बाधा आती है ? तो इसके समाधान निमित्त ही अर्थज्ञान आगम है, ऐसा कहा गया है। क्योंकि यदि इस प्रकार का कथन मान्य किया जावे, तो आप्तवचन को सुनने वाले व्यक्ति को उनके सुने गये वचनों से श्रोत्रेन्द्रियजन्य जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान होता है, वह भी आगम ज्ञान की कोटि में आ जावेगा। अतः आप्त के वचन से उत्पन्न हुए अर्थज्ञान को ही आगम कहा गया है। इस प्रकार से यह आगम का लक्षण सर्वथा निर्दोष है, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न—यदि आप्त के वचन से जन्य अर्थज्ञान को ही आगम कहा जावे, तो फिर उनके वचनरूप जो आगम ग्रन्थ हैं, वे आगम नहीं कहे जाने चाहिये। परन्तु उन्हें भी तो आगम कहा गया है""सो किस कारण से ऐसा कहा गया है ?

उत्तर—ऐसा जो कहा गया है वह उपचार से कहा गया है। "मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्त्तते" इस कथन के अनुसार मुख्य के अभाव में किसी प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है। सो आप्त का वचन रूप आगम यदि विचार किया जाय तो ज्ञान की आगमता के समक्ष अचेतन होने के कारण स्वयं प्रमाणरूप नहीं होता है, परन्तु वह प्रतिपाद्य के ज्ञान के प्रति निमित्त कारण है। अतः प्रतिपाद्य के ज्ञान के कारण होने से "अन्नं वै प्राणाः" के अनुसार कारण में कार्य का उपचार कर लिया जाता है। इसलिये आप्त वचन को भी उपचार से आगम प्रमाण माना गया है। यही बात इस निम्नलिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट की गई है ॥१॥

सूत्र—तद्वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमः ॥२॥

संस्कृत टीका—यथा स्वार्थानुमान प्रतिपादकवचनमनुमानरूपं निगद्यते तथैवाप्त वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमरूपं प्रतिपाद्यते ह्युपचारात्। यद्यपि प्रमाणं तु ज्ञानमेव भवति अर्थाज्ञाननिवृत्त्यादि रूप फलस्य तस्मादेव जन्यत्वात्। अज्ञानरूपं वचनादिकं प्रमाणं न भवति प्रमितिरूप क्रियां प्रति तस्यासाधकतमत्वात्, परन्तु "तद्वचनमपि आगमः" इत्यादि व्यवहारकारणमुपचार एव, उपचार प्रवृत्तौ च ज्ञानं प्रति सहकारित्वमेव निबन्धनम् ॥२॥

सूत्रार्थ—आप्त के वचन भी ज्ञान के हेतु होने से आगम रूप कहे गये हैं।

हिन्दी व्याख्या—जिस प्रकार से स्वार्थानुमान के प्रतिपादक वचन अनुमानरूप कहे जाते हैं, उसी प्रकार से आप्त के वचन भी प्रतिपाद्यजन के ज्ञान के कारणभूत होने से आगम रूप कहे जाते हैं। आप्त के वचनों में जो आगमरूपता का इस प्रकार से कथन किया गया है, वह केवल उपचार से ही किया गया है। यद्यपि प्रमाण ज्ञान को ही माना गया है। क्योंकि अर्थ-पदार्थ विषयक अज्ञान की निवृत्ति रूप साक्षात्फल उससे ही उत्पन्न होता है। वचन प्रमाणरूप इसी कारण नहीं माने गये हैं कि वे अज्ञान जड़ रूप हैं और इसी से वे प्रमितिक्रिया के प्रति साधकतम नहीं होते हैं, परन्तु वे आप्त के वचन जो आगम रूप से कहे जाते हैं उसका कारण प्रतिपाद्य के ज्ञान में उनका कारण होना है। अतः इसी निमित्त को लेकर उपचार से उन्हें आगमप्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है ॥२॥

सूत्र—अविसंवादि वचनत्वात्परमार्थतो वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेष्टैवाप्तस्तीर्थंकरादि व्यवहारतस्तु लौकिको जनकादिः ॥३॥

संस्कृत टीका—युक्तिशास्त्राविरोधिवचनत्वेनाविसंवादिवचनत्वात् वीतराग-सर्वज्ञहितोपदेशकस्यैव तीर्थंकरादेः परमार्थतो ह्याप्तत्वं सिद्ध्यति नान्यस्य छद्मस्थस्य, विसंवादिवचनत्वाद् वीतरागत्वस्य सर्वज्ञत्वस्य हितोपदेशकत्वस्य तस्मिन्नभावात् । केवलं वीतरागस्याप्तत्वे पाषाणादावपि केवलं सर्वज्ञस्याप्तत्वे सिद्धात्मन्यपि, केवलं हितोपदेशकस्याप्तत्वे छद्मस्थस्याप्याप्तत्व प्रसक्तिः स्यादतस्त्रिभिरेभिर्गुणैर्विशिष्टस्यैवाप्तस्त्वंपरमार्थतो भवति, इति मन्तव्यम् । तस्यैव यथावस्थित स्वरूपोपदेशकत्वात् । रागद्वेषादयो हि दोषा वचस्य प्रमाणता कारणं भवन्ति न च ते तत्र सन्ति वीतरागत्वात् । वीतरागत्वेनैव तस्मिन् सर्वज्ञता अतो वीतरागत्वे सति सर्वज्ञत्वे सति यत्र हितोपदेशकत्वं तत्रैव परमार्थत आप्तत्वं ज्ञातव्यम् । व्यवहारापेक्षया लौकिक जनकादयोऽपि आप्ताः ॥३॥

सूत्रार्थ—जिनके वचन में पूर्वापर में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं पाया जाता है और इसी कारण जो अविसंवादी वचन वाले होते हैं ऐसे तीर्थंकर अर्हत् परमात्मा आदि परमार्थ से वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने से आप्त कहे गये हैं; व्यवहारदृष्टि से लौकिक जनक आदि सम्बन्धी जन भी आप्त माने गये हैं ।

हिन्दी व्याख्या—जिनके वचन पूर्वापर विरोध से रहित हैं और इसी से जो अविसंवादी वचन वाले हैं । क्योंकि इनके वचनों में युक्ति और आगम से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है, ऐसे तीर्थंकर आदि ही परमार्थतः आप्त हैं । आप्त में वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता ये ३ बातें होती हैं, तीर्थंकरादिकों में भी ये ३ बातें हैं । अतः परमार्थतः वे ही आप्तकोटि में आते हैं । छद्मस्थजन नहीं क्योंकि उनके वचनों में विसंवाद पाया जाता है और इसी से उनमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता का अभाव रहता है ।

प्रश्न—आप्तता प्राप्त करने के लिए इन ३ गुणों की आवश्यकता क्यों कही गई है ?

उत्तर—जब तक आत्मा में रागद्वेष आदि अन्तरङ्ग प्रबल शत्रु काम करते रहते हैं तब तक वह मलिन बना रहता है और उसके वचन में प्रमाणता नहीं आती है । इसी कारण रागद्वेष से युक्त हुआ मानव यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता । अतः आप्तता प्राप्त करने के लिए वीतरागता गुण आवश्यक है । वीतरागता आने पर ही आत्मा में सर्वज्ञता का पूर्ण प्रकाश होता है । इसके प्राप्त किये बिना सूक्ष्म-परमाणु आदिकों का, अन्तरित-काल व्यवहित राम रावण आदिकों का और दूरार्थ-देश विप्रकृष्ट सुमेरु-पर्वतादिकों का यथार्थरूप से विशद-निर्मल बोध नहीं हो सकता । हितोपदेशकता सर्वज्ञता प्राप्त करने पर ही प्रकट होती है । यथार्थ ज्ञान—केवलज्ञान—हुए, बिना द्वादशाङ्गरूप आगम का उपदेश अथवा मुक्ति मार्ग का उपदेश नहीं बन सकता इसलिए आप्तता प्राप्त करने के लिये[1] इन गुणों का होना आवश्यक कहा गया है ।

---

१. आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।
मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

प्रश्न—आत्मा में वीतरागता कैसे प्रकट होती है ?

उत्तर—आत्मा में वीतरागता रागद्वेष आदिकों के सर्वथा प्रलय से प्रकट होती है।

प्रश्न—रागद्वेष आदिकों का सर्वथा प्रलय कहाँ पर होता है ?

उत्तर—रागद्वेष आदिकों का सर्वथा प्रलय १२वें गुणस्थान में होता है। इसका क्रम इस प्रकार से है। सर्वप्रथम मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव होता है, और इसके अभाव से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव एक अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। यह सब काम १२वें गुणस्थान के अन्त तक हो जाता है। वहाँ पर आत्मा छद्मस्थ वीतराग कहलाने लगता है।

प्रश्न—छद्मस्थ वीतराग का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जब तक आत्मा में केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक वह छद्मस्थ वीतराग कहा जाता है।

प्रश्न—केवलज्ञान कहाँ पर उत्पन्न होता है ?

उत्तर—केवलज्ञान १२ के अन्त १३वें गुणस्थान में प्रकट हो जाता है। इसी अवस्था का नाम सर्वज्ञता प्राप्त होना है।

प्रश्न—सर्वज्ञता प्राप्त होते ही क्या मुक्ति प्राप्त हो जाती है ?

उत्तर—नहीं; सर्वज्ञता प्राप्त परमात्मा दो प्रकार के होते हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरे विकल परमात्मा। इनमें जिनके कल—शरीर वर्तमान है ऐसे परमात्मा का नाम सकल परमात्मा है, और जिनके यह शरीर नहीं है ऐसे सिद्ध निकल परमात्मा हैं। सकल परमात्मा को ही अरहन्त, जिन, सर्वज्ञ आदि रूप से कहा गया है। इस सब प्रकरण को हृदयङ्गम करके ही यहाँ पर टीकाकार ने "तीर्थकरादेः परमार्थतो ह्याप्तत्वं सिद्ध्यति" ऐसा कहा है।

प्रश्न—आपके इस कथन से हम यह तो समझ सके हैं कि वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ही आप्त होता है। परन्तु वह आप्त तीर्थंकर ही कहा गया है, अन्य मुक्ति प्राप्त केवली परमात्मा नहीं। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जितने भी जीव परमविशुद्धि को प्राप्त कर सकल परमात्मा बने हैं, वे सब ही यद्यपि आप्त की कोटि में आते हैं परन्तु जो मुख्य रूप से तीर्थङ्कर परमात्मा को ही आप्त कहा गया है उसका कारण तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति के उदय वाले होकर जिन्होंने चतुर्विध तीर्थ की प्रवृत्ति की है ऐसे आप्त ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यन्त २४ ही हुए हैं। अतः शासन प्रवृत्ति के कर्त्ता होने से उन्हें ही मुख्य रूप से आप्त कहा गया है, अन्य केवलियों को नहीं। यही बात "तीर्थकरादेः" पद द्वारा अभिव्यक्त की गई है। यही कारण है कि पञ्चनमस्कार मन्त्र में सर्वप्रथम "णमो अरिहंताणं" ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—वीतराग—निर्दोष ही आप्त होता है ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—तब तो "यत्र-यत्र निर्दोषत्वं—वीतरागत्वं तत्र तत्राप्तत्वम्" जहाँ-जहाँ निर्दोषता—वीतरागता होती है वहाँ-वहाँ पर आप्तता होती है ऐसी व्याप्ति बनेगी, और ऐसी बन जाने पर पाषाण,

आकाश, धर्म, अधर्म आदि सभी द्रव्य आप्त की कोटि में परिगणित होने लगेंगे। क्योंकि इन सबमें वीतरागता है। परन्तु इन्हें वीतराग होने से आप्त तो कहा गया नहीं है। अतः इसके साथ सर्वज्ञता भी होनी चाहिये। सो ये पाषाणादिक वीतराग होने पर भी सर्वज्ञ नहीं है। इसलिये आप्त की कोटि से बहिर्भूत हो जाते हैं।

प्रश्न—तो फिर वीतराग सर्वज्ञ होने पर ही आप्त होता है ऐसी बात मानने पर क्या आपत्ति है ?

उत्तर—आपत्ति है—और वह इस प्रकार से है—सिद्ध परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ पद विशिष्ट हैं। परन्तु हितोपदेशक नही होने से उन्हें आप्त की कोटि में नहीं लिया गया है। अतः वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेष्टा ये ३ विशेषण आप्त के यहाँ सूत्रकार ने कहे हैं।

वचन में अप्रमाणता के कारण रागद्वेष आदि होते हैं। वीतराग में ये दोष होते नहीं हैं। अतः वीतरागता से सर्वज्ञता आती है, अतः वीतराग होने पर एवं सर्वज्ञ होने पर जो हितोपदेशी होता है—तीर्थ प्रवर्त्तक होता है वही आप्त है। लौकिक व्यवहार की अपेक्षा माता-पिता आदि जो लौकिक जन हैं वे भी आप्त हैं। क्योंकि वे अपने-अपने पुत्रों को हित का उपदेश देते हैं, अहित से हटाते हैं, पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। गुरुजन शिक्षा देकर जीवन को उचित ढंग से सञ्चालन करने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं, आदि ॥ ३ ॥

सूत्र—स्वार्थप्रकाशनशक्तिः शब्दानां सहजासंकेत सहकृतया तयाऽर्थ बोधः ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका— आप्त वाक्याज्जातस्यार्थज्ञानस्यागमप्रमाणत्वेन प्रतिपादितत्वात्तत्र शब्दानामर्थबोधकताशक्तेः स्वाभाविकत्वेऽपि सङ्केत सह कृतयैव तयाऽर्थबोधो भवतीति प्रतिपादयति—एवं च घटपटादि शब्दानां स्वस्ववाच्यार्थं विषयक बोधजनन सामर्थ्यं नैसर्गिकं वर्तते न त्वौपाधिकं यथाऽग्नेरौष्ण्यं दाहजननं च जलस्य शैत्यं शैत्यजननं च इत्यादि, एतदेवार्थ बोधन जनन सामर्थ्यं शक्तिरित्युच्यते तथा च यथा चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिग्रहणयोग्यता अनादिकालतः सिद्धत्वात्स्वाभाविकीत्युच्यते एवमेव शब्दानामपि अर्थ प्रतिपादन शक्तिः अनादिकालतः सिद्धत्वात् स्वाभाविकी वर्ततेः किन्तु यथैव रूपादिग्रहणश्चयोग्यताया क्षुरादीनामनादिकालतः सिद्धत्वेऽपि रूपादिग्रहणे आलोकादेः सहकारितया अपेक्षा भवति तथैव शब्दानामपि अर्थबोधन योग्यतायाः अनादिकालतः सिद्धत्वेऽपि अर्थबोधने सहकारितया संकेतगुणस्यापेक्षा भवति अतएव शब्दः सहज योग्यता संकेतवशाद्धि वस्तु प्रतिपत्ति हेतुर्जायते। नह्यसतीशक्तिः केनापि तत्र कर्त्तुं पार्यते। अतः सा तत्र स्वाभाविकी प्रतिपादिता।

सूत्रार्थ—शब्दों में अपने वाच्यार्थ को प्रकाशन करने की शक्ति स्वाभाविक है। परन्तु फिर भी वह संकेत से सहकृत होकर ही अपने वाच्यार्थ का प्रकाशक होता है।

हिन्दी व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि में दाहजनकता एवं उष्णता स्वाभाविक होती है, जल में शीतलता और शीतलताजनकता स्वाभाविक होती है, उसी प्रकार घट पट आदि शब्दों में भी अपने-अपने वाच्यार्थ को प्रकट करने की योग्यता—शक्ति स्वाभाविकी है, औपाधिकी नहीं है। यही अर्थ बोध कराना शक्ति शब्द द्वारा कहा गया है।

प्रश्न—जब शब्द में अपने-अपने वाच्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति स्वभावतः है, तो फिर उसे संकेत के सहारे की क्या आवश्यकता है कि जिससे वह अपने वाच्यार्थ को उसके सहारे पर प्रकाशित करे ?

उत्तर—शङ्का तो ठीक है। परन्तु विचार करने पर इस शङ्का का समाधान मिल जाता है। देखो—चक्षुरादिक इन्द्रियों में रूपादिकों को ग्रहण करने की योग्यता स्वाभाविक है परन्तु इतने मात्र से तो वे रूपादिकों को ग्रहण करती नहीं हैं। उनके ग्रहण करने में वे आलोकादिरूप सहकारी कारणों की अपेक्षा रखती ही हैं। इसी प्रकार शब्दों में अपने-अपने वाच्यार्थ को प्रकट करने की योग्यता स्वाभाविक है, परन्तु जब तक "अमुक शब्द का वाच्यार्थ अमुक होता है, अमुक शब्द का वाच्यार्थ अमुक होता है।" ऐसा संकेत ग्रहण नहीं होता है—ऐसे संकेत से वह शब्द जब तक सहकृत नहीं होता है—तब तक वह अपने वाच्यार्थ को प्रकट नहीं कर सकता है। यही बात "यथैव रूपादिग्रहण योग्यतायाश्चक्षुरादीनामनादिकालतः" इत्यादि पाठ द्वारा समझाई गई है।

प्रश्न—यदि शब्द अपने वाच्यार्थ को प्रकाशित करने के लिये संकेत के सहकार की अपेक्षा रखता है तो इससे यही प्रतीत होता है कि शब्द में अपने अर्थ को प्रकाशित करने की योग्यता स्वाभाविक नहीं है—वह संकेत के वश से ही उसमें आती है ?

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि जो शक्ति जिसमें नहीं होती है वह सहकारिशत मिल जाने पर भी वहाँ उत्पन्न नहीं की जा सकती है। वन्ध्या में बालोत्पादक शक्ति नहीं होती है तो क्या पुरुष संयोग से वह वहाँ उत्पन्न हो सकती है ? नहीं हो सकती।

प्रश्न—हम देखते हैं कि जिस भूमि के भीतर निक्षिप्त हुए द्रव्य को हमारे नेत्र नहीं देख सकते हैं, उस द्रव्य को वे ही नेत्र विशिष्ट अञ्जन से संस्कृत होने पर देख लेते हैं तो इससे यही प्रतीत होता है कि भूमि के भीतर निक्षिप्त हुए द्रव्य को देखने की शक्ति से विकल बने हुए भी वे नेत्र विशिष्ट अंजन से संस्कृत हो जाने पर उस प्रकार की शक्तिवाले बन जाते हैं—तो फिर यह बात कैसे मानी जा सकती है कि सहकारी कारणों से शक्ति उत्पन्न नहीं की जाती है ?

उत्तर—यह बात नहीं है। चक्षुइन्द्रिय में अपने विषय को ही ग्रहण करने की योग्यता है, अविषय को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है। भूमि के भीतर निक्षिप्त हुए द्रव्य का अवलोकन करना यह तो चक्षुइन्द्रिय का विषय ही प्रकट किया गया है, अविषय नहीं। अञ्जन संस्कार ने चक्षुइन्द्रिय को अपने विषय में ही तो प्रवृत्त कराया है; क्योंकि रूप के अवलोकन करने की उसमें क्षमता है। यहाँ अविषय कहाँ हुआ ? यह शक्ति तो उसमें स्वभावतः है ही। हाँ, यदि ऐसा होता कि चक्षुइन्द्रिय रसादिक को सहकारी कारण की सहायता से जानने की शक्तिवाली हो जाती तो यह बात मान ली जाती कि सहकारी कारणों द्वारा चक्षुइन्द्रिय में नवीन शक्ति उत्पन्न की गई है। परन्तु ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होता है। यही बात "नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते" इस अभिप्राय को हृदयङ्गम करके यहाँ पर कही गई है। अतः यही मानना चाहिये कि शब्द स्वाभाविक अर्थबोधन शक्तिसम्पन्न होता हुआ भी "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्योऽस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः" इस प्रकार के सङ्केत से सहकृत होकर ही अपने वाच्यार्थ का बोध करता है और उसी से लौकिक व्यवहार चलता है ॥ ४ ॥

सूत्र —वर्णपदवाक्यात्मकः शब्दः ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका—घटपटादि शब्देषु स्वाभाविकी स्वार्थबोधकता शक्ति प्रतिपाद्याधुना शब्दस्य स्वरूपं जिज्ञासूनां कृते तत्स्वरूपं निगद्यते—"वर्णपद वाक्यात्मकः" इत्यादिना। तथा च शब्दस्त्रिविधो वर्णात्मक-पदात्मक-वाक्यात्मक भेदात्। तत्र पौद्गलिक भाषा वर्गणाभिर्निष्पन्नोऽकारादि वर्ण रूपः शब्दो वर्णात्मकः, स च वासुदेवाभावानुकम्पादेः स्वार्थस्य च प्रतिपादको यथा "अ" शब्देन वासुदेवरूपार्थस्याभाव-रूपार्थस्यानुकम्पारूपार्थस्य च बोधो भवति, "इ" शब्देन कामदेव रूपार्थस्य बोधो भवति। एवमेव घट-पटादि रूपः शब्दः पदात्मकः शब्दः, तेनापि घटरूपार्थस्य वस्त्ररूपार्थस्य क्रमशो बोधो भवति, "जिनदत्त आगच्छति, जिनेन्द्रः समवतरति" इत्यादिरूपः शब्दः वाक्यात्मकः शब्दः, अनेनापि जिनदत्तागमनरूपार्थस्य जिनेन्द्र समवसरणरूपार्थस्य च बोधो भवति अतो वर्णात्मकः पदात्मको वाक्यात्मकश्च शब्दः स्वार्थ बोधकता शक्तिविशिष्ट एव स्वार्थबोधन समर्थो भवति नान्यथेति मन्तव्यम्।

सूत्रार्थ—वर्णात्मक, पदात्मक, और वाक्यात्मक इस प्रकार से शब्द तीन प्रकार के होते हैं।

हिन्दी व्याख्या—घट पट आदि पदात्मक शब्दों में स्वाभाविक स्वार्थबोधकता शक्ति है। इस प्रकार से प्रतिपादन करके अब सूत्रकार शब्द के स्वरूप को जानने की अभिलाषा वालों के लिये इस सूत्र द्वारा शब्द का स्वरूप समझाते हैं—

इसमें उन्होंने यह समझाया है कि शब्द वर्णात्मक पदात्मक और वाक्यात्मक होता है। इनमें पौद्गलिक[1] भाषा वर्गणा से जो अकारादि रूप शब्द निष्पन्न होता है वह वर्णात्मक शब्द है। यह वर्णात्मक शब्द वासुदेव, अभाव और अनुकम्पा आदि रूप अनेक अर्थों का कहने वाला होता है। जैसे—"अ" इस शब्द का अर्थ कोष में कृष्ण कहा गया है, और अभाव भी कहा गया है। "इ" शब्द का अर्थ कामदेव कहा गया है। घट पट आदि रूप जो शब्द है, वे पदात्मक शब्द हैं। ये घटरूप पदार्थ के और वस्त्र रूप पदार्थ के बोधक होते हैं। "जिनदत्त आता है, जिनेन्द्र समवसृत होते हैं" इत्यादि रूप जो शब्द हैं, वे वाक्यात्मक शब्द हैं, और इनसे जिनदत्त के आगमन रूप अर्थ का और जिनेन्द्र के समवसृत होने रूप अर्थ का बोध होता है। इस तरह वर्णात्मक, पदात्मक और वाक्यात्मक जो शब्द हैं, वे अपने-अपने अर्थ को प्रतिपादन करने रूप स्वाभाविक शक्ति से विशिष्ट हुए ही स्वार्थ के प्रकाशन करने में समर्थ होते हैं, उससे रहित हुए वे अपने-अपने अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न—यह किस प्रमाण के बल से आप कहते हैं कि शब्द पौद्गलिक है ?

उत्तर—शब्द पौद्गलिक है, यह हम अनुमान के बल से कहते हैं। वह अनुमान इस प्रकार से है —'वर्णः पौद्गलिको मूर्त्तिमत्त्वात्—यन्मूर्त्तिमत्तत्पौद्गलिकं यथा पृथिव्यादि" वर्ण पौद्गलिक है क्योंकि वह मूर्त्त है जो मूर्त्त —रूप-रस-गंध और स्पर्शवाला होता है वह पृथिवी आदि की तरह पौद्गलिक होता है।

---

१. "सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेदतम छाया।
उज्जोदादव सहिया पुग्गल दव्वस्स पज्जाया" ॥ —द्रव्यसंग्रहे।

प्रश्न--आपने शब्द में पौद्गलिकता सिद्ध करने के लिये जो "मूर्त्तिमत्त्वात्" हेतु दिया है, वह स्वरूपासिद्ध है क्योंकि शब्द में वह हेतु रहता ही नहीं है। कारण कि वह स्पर्श से विहीन माना गया है। तथा अत्यन्त सघन प्रदेश में प्रवेश करते और निकलते हुए वह रुकता नहीं है। इसके पूर्व और पश्चात् उसके अवयव उपलब्ध नहीं होते हैं। सूक्ष्म मूर्त्त द्रव्यों का वह प्रेरक नहीं है। तथा वह आकाश का गुण है।

उत्तर--यहाँ "मूर्त्तिमत्त्वात्" जो ऐसा हेतु दिया गया है वह स्वरूपासिद्ध नहीं है। क्योंकि इसके निषेध के लिये जो उसे स्पर्शविहीन कहा गया है प्रत्युत वही स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि शब्द में स्पर्श वत्ता[1] है, और स्पर्शवत्ता उसमें होने का कारण उसका पौद्गलिक भाषावर्गणाओं से निष्पन्न होना ही है। सजातीय वस्तुओं के समूह का नाम वर्गणा है। जिन पुदगल वर्गणाओं से शब्द निष्पन्न होते हैं उन्हें भाषा वर्गणा कहते हैं। भाषा वर्गणा स्पर्शगुण युक्त होती है। यदि शब्द स्पर्शवाला नहीं होता तो वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं होता। हमें यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार गन्धाश्रित परमाणु वायु के अनुकूल होने पर दूर स्थित मनुष्य के पास पहुँच जाते हैं और प्रतिकूल वायु के होने पर पार्श्वस्थित भी मनुष्य के पास नहीं पहुँच पाते हैं। इसी प्रकार शब्द भी प्रतिकूल वायु के होने पर पार्श्वस्थित भी श्रोता के पास नहीं पहुँचता है, और अनुकूल वायु के होने पर दूर स्थित भी श्रोता के पास पहुँच जाता है। इस कथन से शब्द में गन्ध परमाणुओं की तरह स्पर्शवत्ता सिद्ध होती है, अतः स्पर्श वाले गन्ध परमाणुओं की तरह वह इन्द्रियग्राह्य होने के कारण मूर्त्तिमान् होने से पौद्गलिक है। यह कथन निर्दोष है। तथा सघन प्रदेश में प्रवेश करते और निकलते हुए वह रुकता नहीं है इसलिये वह मूर्त्तिमान् नहीं है। ऐसा जो कहा गया है वह भी निर्दोष नहीं है। क्योंकि गन्ध द्रव्य भी तो सघन प्रदेश में प्रवेश करते हुए और निकलते हुए रुकता नहीं है परन्तु फिर भी वह पौद्गलिक माना गया है। इसी प्रकार से शब्द में भी यदि ऐसी बात होती है तो इससे उसकी मूर्त्तिमत्ता में क्या बाधा आती है ? कोई बाधा नहीं आती। तथा ऐसा जो कहा गया है, कि शब्द को मूर्त्तिमान् मानने पर उसके आदि-अन्त अवयव उपलब्ध होने चाहिये पर वे उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः मूर्त्तिमान् नहीं है और मूर्त्तिमान् नहीं होने से उसमें पौद्गलिकता भी सिद्ध नहीं होती है। सो ऐसा कथन उचित नहीं है--देखो बिजली या उल्कापात आदि ऐसे हैं कि जिनके आदि और अन्त अवयव नहीं उपलब्ध होते हैं फिर भी उन्हें पौद्गलिक माना गया है। इसी प्रकार से शब्द भी आदि अन्तावयव की उपलब्धि से विहीन होने पर भी मूर्त्तिमत्ता से विहीन नहीं माना जा सकता। शब्द को आकाश का गुण मानकर यदि वह मूर्त्तिमान् नहीं कहा जावे, तो यह मान्यता हँसी कराने वाली है। क्योंकि जब आकाश अमूर्त्तिक है, तो फिर उसका गुण यह शब्द भी अमूर्त्तिक ही होना चाहिये। तब फिर यह श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य कैसे होता है ? अतः इन्द्रियग्राह्य होने से यह आकाश का गुण नहीं है, प्रत्युत मूर्त्तिमान् होने से यह पौद्गलिक ही है। ऐसा मानना चाहिये। इसी भाव को हृदयङ्गम करके टीकाकार ने "पौद्गलिक भाषावर्गणाभिनिष्पन्नोऽकारादिवर्ण रूपः" यह पाठ लिखा है ॥ ५ ॥

---

१. जरन्मुरज झर्झर स्फुरित वाक्क्रिया कर्कशैः, प्रतिध्वनित घोरणीरसित रोदसी कन्दरैः भवत्यति समीपगं झंगिति झल्लरीझल्कृतैः, स्तनन्धय शिशोर्वलाद्धरिता ध्रुवं कर्णयोः ।
—स्याद्वाद रत्नाकर पृष्ठ ६३६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र—कथंचिन्नित्यानित्यात्मकः स्वरव्यञ्जनरूपोवर्णः ॥६॥

संस्कृत टीका—अकाराद्याश्चतुर्दश स्वराः, ककारादीनि हकार पर्यन्तानि व्यञ्जनानि । एतानि स्वरव्यञ्जनरूपाण्यक्षराणि वर्णसंज्ञयाऽभिहितानि । सर्वाण्येतानि द्रव्यदृष्ट्या नित्यानि पर्यायदृष्ट्या चानित्यानि । भाषावर्गणारूप पुद्गलैरारभ्यमाणत्वात् शब्दस्य कथंचिदनित्यत्वं भाषावर्गणारूप द्रव्यात्मकत्वाच्च कथंचिन्नित्यत्वमित्यवगन्तव्यमविरोधात् । स्वयमर्थेभ्योरोचितत्त्वाच्च ॥६॥

हिन्दी व्याख्या—अकारादि—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ—१४ स्वर और क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, और ह ये ३३ व्यञ्जन वर्ण कहे गये हैं । इनके सबके अलग-अलग अर्थ आदि एकार्थ नाम माला कोश में लिखे हुए हैं तथा चतुर्विंशति[1] संधान आदि काव्यों द्वारा इन सबका यथास्थान प्रयोग कर अर्थ प्रस्फुटित करते हुए प्रकरणानुसार इनकी उपयोगिता प्रकट की गई है । वर्ण भाषावर्गणारूप पुद्गलों से निष्पन्न होते हैं । अतः ये इस दृष्टि से कथंचित् अनित्य और भाषावर्गणारूप पुद्गलात्मक होने से ये कथंचित् नित्य माने गये हैं । द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्रकट करने वाली दृष्टि का नाम पर्यायदृष्टि है, और द्रव्य को ही विषय करने वाली दृष्टि का नाम द्रव्यदृष्टि है । इसी अभिप्राय को लेकर वर्णरूप शब्द में अपेक्षावश नित्यता और अनित्यता का कथन जैन दर्शनिकों ने किया है ।

प्रश्न— यह बात समझ में नहीं आती है कि जो नित्य है वही अनित्य कह दिया जाता है, और जो कहीं अनित्य कहा जाता है वही नित्य कह दिया गया है ? ऐसी विरोधी बातें तो विचारकों की अकुशलता की ही द्योतक होती हैं ।

उत्तर—विरोधी बातें तो विचारकों की अकुशलता की द्योतक होती हैं, यह तो हम भी मानते हैं । परन्तु जहाँ पर विरोध नहीं है किन्तु विरोध होने जैसा प्रतीत होता है उसे विरोध कल्पित कर उसका विरोध करना यह तो युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है । यदि मैं अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र हूँ तो अपने मातुल की अपेक्षा से भानजा भी हूँ । कहिये जो पुत्र है वह भानजा कैसे बन गया ? पुत्रत्व और भानजात्व इन दोनों धर्मों में तो प्रबल विरोध है । क्योंकि जहाँ पर पुत्रत्व धर्म रहेगा वहाँ पर भागिनेयत्व धर्म नहीं रहेगा और जहाँ पर भागिनेयत्व धर्म रहेगा वहाँ पर पुत्रत्व धर्म नहीं रहेगा । यदि कहा जाय कि पिता की दृष्टि से जो पुत्र है, वह मामा की दृष्टि से भानजा हो सकता है । अपेक्षा से परस्पर विरोधी धर्म भी एक जगह स्थान पा लेते हैं, तो बस यही बात यहाँ पर भी है । शब्द भाषा वर्गणाओं से निष्पन्न होता है इस दृष्टि से वह अनित्य है । क्योंकि भाषावर्गणाओं का परिणमन ही तो शब्द है । और ये भाषावर्गणा पुद्गल रूप हैं, अतः पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से वह नित्य है । इस प्रकार शब्द में कथंचित् नित्यता और कथंचिदनित्यता भी आती है । न एकान्ततः नित्यता आती है, और न एकान्ततः अनित्यता ही आती है ।

---

१. यह ग्रन्थ सुरेन्द्र कीर्ति भट्टारक का बनाया हुआ है । इसमें एक ही सुभद्र छन्द है । प्रत्येक पाद में आठ भगण हैं । चौबीस तीर्थंकरों की इस एक ही छन्द द्वारा स्तुति की गई है । इसकी स्वोपज्ञ टीका है । इसका अनुवाद मूलचन्द जैन शास्त्री श्री महावीर द्वारा किया जा रहा है ।

प्रश्न—जिस प्रकार बेपेंदी का लौटा इधर-उधर ढुलक जाता है। उसी प्रकार का आपका यह कथन क्यों न माना जाय क्योंकि इसमें किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं मिलता है ?

उत्तर—एक पक्ष का समर्थन नहीं मिलता है इसलिये हमारा यह कथन बेपेंदी के लौटे के समान मान लिया जाय, यह तो कोई युक्तियुक्त बात नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि "यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्" पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है, इसमें हमारा क्या वश। पदार्थ एकान्ततः न नित्यरूप है, और न एकान्ततः अनित्य रूप ही हैं। क्योंकि एकान्त नित्य पक्ष में जिस प्रकार कालक्रम और देश क्रम के अभाव के कारण अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है, उसी प्रकार से वह एकान्त अनित्य पक्ष में भी नहीं बनती है। अतः प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त की मुद्रा से मुद्रित है। इसलिए एकान्ततः किसी एक पक्ष का स्याद्वाद सिद्धान्त में समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता है। अनेकान्त पक्ष का ही यहाँ समर्थन[1] प्राप्त है। यही बात टीका के अविरोध पद द्वारा और "स्वयमर्थेभ्यो रोचितत्वात्" इस हेतु परक पद द्वारा स्पष्ट की गई है ॥६॥

सूत्र—परस्परापेक्षवर्णानां निरपेक्ष समुदायः पदं-तथाविधपदसमुदायश्च वाक्यम् ॥७॥

संस्कृत टीका—वर्णात्मक शब्द स्वरूपं निरूप्य सम्प्रति पद वाक्यात्मक शब्द स्वरूपं परस्परापेक्ष वर्णानामित्यादिना निरूपयतिपरस्परापेक्षाणाम् उत्पद्यमान पदार्थ बोधऽन्योन्यसहकारितया स्थितानामकारादिवर्णानां निरपेक्षः पदान्तरवर्त्ति वर्णनिरपेक्षो यः समुदायस्तत्पदमित्युच्यते। यथा—"अः" "कः" "रमा" इत्यादिषु पदेषु क्रमशो वर्णद्वयस्य अकारविसर्गरूपस्य, वर्णत्रयस्य ककार-अकार-विसर्ग रूपस्य, वर्णचतुष्टयस्य च रेफ-अकार-मकार-आकार-रूपस्य क्रमशो वासुदेव-प्रजापति-लक्ष्मी रूपस्य चार्थस्य बोधे परस्पर सहकारितया वर्त्तमानस्य निरपेक्षः-घटपटादि पदान्तरवर्त्तिघकारादि वर्णानामपेक्षारहितो यः समुदायः अः कः रमा इत्येवरूपो वर्णसंघातस्तत्पदमित्युच्यते एव तथाविधपदानां-परस्परा-पेक्षपदानां-निरपेक्षः वाक्यान्तर वर्त्तिपदापेक्षारहितो यः समुदायः संघातः तद्वाक्यमित्युच्यते यथा—"गौरस्ति नीलो घटोऽस्ति" इत्यादि, तथा च वाक्यार्थबोधे जायमाने परस्पर सहकारितया वर्तमानस्य क्रमशः गोपदस्य अस्तिपदस्य च, एवं नील पदस्य, घट पदस्य अस्ति पदस्य च गोरस्तित्व रूप वाक्यार्थ बोधे, नील घटस्यास्तित्वरूप वाक्यार्थ बोधे च परस्परापेक्षतया स्थितस्य पदद्वयात्मकस्य पदत्रयात्मकस्य च "घटोऽस्ति" इत्यादि वाक्यान्तर वर्त्तिपटादि पदनिरपेक्षतया वर्त्तमानस्य यः पदद्वय समुदाय पदत्रय समुदायश्च तद्वाक्यमित्युच्यते ॥७॥

सूत्रार्थ—परस्पर की अपेक्षावाले वर्णों का पदान्तरवर्त्ती वर्णों की अपेक्षा विना का जो समुदाय है वही पद का लक्षण है। तथा परस्पर की अपेक्षावाले पदों का पदान्तरवर्त्ती पदों की अपेक्षा विना का जो समुदाय है वह वाक्य का लक्षण है।

हिन्दी व्याख्या—वर्णात्मक शब्द के स्वरूप का निरूपण करके अब सूत्रकार पदात्मक और वाक्यात्मक शब्द के स्वरूप का इस "परस्परापेक्षवर्णानाम्" आदि सूत्र द्वारा निरूपण कर रहे हैं। इसमें यह समझाया गया है—कि जब 'अः कः रमा" इन पदों का उच्चारण किया जाता है तो श्रोता को इन पदों के सुनने पर जो अः वासुदेव, कः—ब्रह्मा और रमा-लक्ष्मीः इन अर्थों का बोध होता है सो उस बोध

---

१. आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदितित्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥ —स्याद्वादमञ्जर्याम् ॥५॥

के उत्पन्न करने में 'अः' का अ और विसर्ग ये दो वर्ण ही कारण होते हैं। ये दोनों वर्ण ही आपस में एक दूसरे की इस बोध को उत्पन्न करने में सहायता सापेक्ष हैं। ऐसा नहीं है कि विसर्ग की सहायता बिना "अ" और अ की सहायता बिना विसर्ग इस प्रकार के बोध को—वासुदेव रूप अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हों। "अः" यह वर्ण रूप शब्द नहीं है, किन्तु पद रूप शब्द है क्योंकि सुबन्त और तिङन्त शब्द की पद संज्ञा होती कही गई है। "अः" में अ और विसर्ग ऐसे दो वर्ण हैं। और वर्णों के समुदाय का नाम ही पद कहा गया है। पद अपने पदार्थ बोध में जैसा अपने भीतर के वर्णों की सहायता सापेक्ष होता है वैसा यह उसके उत्पन्न करने में अन्य पदान्तरवर्त्ती वर्णों की अपेक्षा नहीं रखता है। "कः" यह पद है और इसमें क् अ और विसर्ग ऐसे ये तीन वर्ण हैं। "रमा" यह पद है। इसमें र् अ म् और आकार ऐसे चार वर्ण हैं, इसलिये ये "कः, रमा" पद हैं।

इसी प्रकार का जो पदों का समूह अपने पदार्थ बोध कराने में अन्य वाक्यान्तरवर्त्ती पदों की अपेक्षा विना का होता है वह वाक्य रूप शब्द है।

जैसे "गौरस्ति"—गाय है "नीलः घटोऽस्ति" नीला घट है। इस तरह के अपने-अपने वाक्यार्थ बोध कराने में अपने-अपने भीतर रहे हुए, पदों की ही अपेक्षा वाले ये वाक्य हैं। अन्य वाक्यान्तरवर्त्ती पदों की अपेक्षा वाले नहीं हैं ॥ ७ ॥

सूत्र—निरावरणप्रदीपवत्स्वार्थप्रकाशनं शब्दे सङ्केताधीनमपि, प्रमाणेतरता वक्तृगुणदोष निष्ठा ॥ ८ ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं सङ्केत सहकारेण शब्दस्य स्वाभाविक शक्तितोऽर्थबोधजनकत्वमुक्तं-सम्प्रति तथाविधशब्दादुत्पद्यमानस्य बोधस्य प्रमाणेतरता पुरुषगत गुणदोषाधीना भवति। इतिताबद्विचार्यते—यथा प्रदीपः प्रज्वलन् संनिहितं सर्वमेवेष्टानिष्टं पदार्थं प्रकाशयति तथैव शब्दोऽपि वक्त्रा प्रयुज्यमानः श्रोतुः श्रवणपथमवतीर्णः सन् स्वार्थं यथार्थमयथार्थं वा बोधयति इति शब्दस्य स्वार्थ प्रकाशकत्वं स्वाभाविकं वर्त्तते। परन्तु प्रकाशमानोऽपि प्रदीपो यथा कुड्यादिना व्यवहितं वस्तुजातं न प्रकाशयितुं पारयति तत्र तस्य सम्बन्ध विच्छेदात् एवमेवास्य शब्दस्यास्मिन्नर्थे सङ्केतो वर्त्तते इत्येवं सङ्केत ज्ञानाभावे शब्दः स्वार्थ बोध जनन शक्तिशालित्वेऽपि स्वार्थं बोधयितुं न पारयति। विद्यमानाया अपि स्वाभाविकशक्तेरनुद्भूतत्वादत एव प्रदीपस्यार्थ प्रकाशने कुड्यादिना व्यवधानाभावः सहकारिकारणम् एवमेव शब्दस्यापि स्वार्थ-बोधने सङ्केतज्ञानं सहकारि कारणं बोध्यम्। एव च सत्यपि शब्दादुत्पद्यमानस्य अर्थबोधस्य क्वचिद् यथार्थत्वं क्वचिच्चायथार्थत्वं यदनुभूयते तत् वक्तुगत गुण दोषाधीनम्। वक्तुः प्रतिपादकस्य पुरुषस्य ये गुणाः सम्यग्दर्शित्वादयः, ये च दोषाः असम्यग्दर्शित्वादयो भवन्ति तदधीनमेव—तदपेक्षमेव भवतीति भावः, अतएव यत्रबोधे यथार्थत्वं तत्र प्रमाणता, यत्रचायथार्थत्वं तत्राप्रमाणता। नार्थबोधे स्वाभाविकं यथार्थत्वमयथार्थत्वं वा। वक्तृ गुण दोषाश्रयत्वात्तस्य, आप्त विप्रतारक पुरुषयोरस्मादेव भेदाच्च। अन्यथा तयोर्व्यवस्थानोपपद्येत।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार भीत आदि के व्यवधान से विहीन अर्थ को-इष्टानिष्ट घटपटादि को प्रदीप प्रकाशित करता है। उसी प्रकार से स्वार्थं प्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति से युक्त हुआ शब्द भी संकेत की सहायता से अर्थ का प्रकाशन करता है—ज्ञान करता है। परन्तु उस अर्थज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता वक्ता के गुण और दोषों को लेकर आती है।

हिन्दी व्याख्या—यह बात पहले प्रकट की जा चुकी है, कि शब्द अपनी अर्थप्रकाशनरूप स्वाभाविक शक्ति से युक्त है। चाहे वह पदार्थ यथार्थ हो या अयथार्थ हो परन्तु जब तक उसे सङ्केत का सहारा नहीं मिलता है—तब तक वह अपने वाच्यार्थ का बोध नहीं कराता है। जिस प्रकार दीपक में घट-पटादि रूप संनिहित इष्टानिष्ट पदार्थ को प्रकाशित करने की शक्ति स्वाभाविक है। परन्तु प्रदीप से प्रकाश्य पदार्थ यदि भीत आदि के व्यवधान से युक्त है, तो वह दीपक उस व्यवहित पदार्थ को प्रकाशित नहीं करता है। अतः दीपक से प्रकाशित होने में जिस प्रकार व्यवधानाभाव उसे सहकारी है उसी प्रकार से अपने वाच्यार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक शक्तिशाली शब्द भी है। परन्तु शब्द अपने वाच्यार्थ का बोध तभी कराता है श्रोता को कि जब वह श्रोता "इस शब्द का यह अर्थ होता है, इस शब्द का यह अर्थ होता है।" इस प्रकार के सङ्केत ज्ञान से सहित हो। यदि वह इस प्रकार के संकेत ज्ञान से विहीन है, तो वह श्रूयमाण शब्द उस श्रोता को अपने वाच्यार्थ का बोध नहीं करा सकता है। अतः पदार्थ को प्रकाशित करने में जैसे प्रदीप आवरण के अभाव रूप सहकारी की अपेक्षावाला होता है उसी प्रकार शब्द भी अपने वाच्यार्थ का श्रोता को बोध कराने में संकेत ज्ञान की सहायता की अपेक्षा वाला होता है। इतना होने पर भी जायमान बोध में जो प्रमाणता और अप्रमाणता आती है उसका कारण वक्ता के भीतर के गुण और दोष हैं। यदि वक्ता में सम्यग्दर्शित्व आदि गुण हैं, तो वक्ता के शब्द से जायमान श्रोता को अर्थ बोध यथार्थ होगा और इसी से उसमें प्रमाणता मानी जावेगी। और यदि वक्ता के अन्दर दोष हैं, तो उस वक्ता के द्वारा कहे गये शब्द से श्रोता को जायमान अर्थ बोध यथार्थ नहीं होगा और इसी से उसमें अप्रमाणता आवेगी। अर्थ बोध में प्रमाणता और अप्रमाणता स्वाभाविक नहीं होती है किन्तु वह वक्ता के भीतर रहे हुए गुण और दोष के आधीन होती है। यही कारण है कि जिससे आप्त और विप्रतारक पुरुष में भिन्नता आ जाती है। नहीं तो आप्त की और विप्रतारक की भिन्नता ही नहीं बन सकती।

प्रश्न—जबकि शब्द में अपने वाच्यार्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति स्वभावतः रही हुई है, ऐसा आप मानते हैं तो फिर संकेत से सहकृत होकर वह अपने वाच्यार्थ को प्रकट करता है—यह आपका कथन उसकी स्वाभाविक शक्ति का हनन करने वाला क्यों नहीं माना जायेगा ?

उत्तर—ऐसा कथन उसकी स्वाभाविक शक्ति का हनन करने वाला इसलिये नहीं माना जावेगा कि इस प्रकार के कथन से उसकी स्वाभाविक शक्ति के ऊपर कोई आँच नहीं आती है। स्वाभाविक शक्ति के रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति तो होनी ही चाहिये। क्योंकि अकेली शक्ति काम नहीं किया करती है सहकारी कारणों से उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब जाकर वह अपना कार्य करती है।

प्रश्न—इसे आप उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें, तो बहुत उत्तम होगा। क्योंकि "दृष्टान्तेन जायते स्फुटा मतिः" इस उक्ति के अनुसार दृष्टान्त द्वारा आपका कथन हृदयस्पर्शी बन जावेगा।

उत्तर—तो इस विषय में दृष्टान्त सुनो—देखो, बालक जब माता के पेट से उत्पन्न होता है, तब कहो उसमें बालक को उत्पन्न करने की शक्ति है या नहीं ? यदि है तो फिर उससे सन्तानोत्पत्ति क्यों नहीं होती ? होनी चाहिये। यदि इस पर ऐसा कहा जावे, कि शक्ति तो है, पर अभी वह सुप्तावस्था में है, समयानुसार जब व्यक्त होगी तो उसके द्वारा संतानोत्पत्ति रूप कार्य होने लगेगा। तो

इसी प्रकार से यह भी मानना चाहिए कि शब्द में स्वार्थ को चाहे, वह यथार्थ हो या अयथार्थ हो प्रकाशित करने की शक्ति तो है, पर बिना किसी सङ्केत-ग्रहण के वह उसकी अभिव्यक्ति हुए बिना अपने कार्य को नहीं करता है। एतावता सहकारी कारण उसके उपग्राहक ही होते हैं, उसकी शक्ति पर प्रहार कारक नहीं होते।

प्रश्न—जब शब्द में अपने वाच्यार्थ को जैसा कहा गया है वैसा ही उसे प्रकट करने की क्षमता है, तो फिर उससे जायमान अर्थबोध में जो कहीं-कहीं अप्रमाणता देखी जाती है। सो क्यों देखी जाती है ?

उत्तर—शब्द में अपने वाच्यार्थ को जैसा वह कहा गया है वैसा ही प्रकट करने की क्षमता होने पर भी उससे जायमान अर्थबोध में जो कहीं-कहीं अप्रमाणता देखी जाती है, वह वक्ता के भीतर रहे हुए दोष के कारण देखी जाती है। यदि वक्ता सदोष है तो उसके शब्दों से जायमान अर्थबोध अप्रमाण होगा और यदि वक्ता निर्दोष है तो उसके शब्द से जायमान अर्थबोध प्रमाण होगा। यह निश्चित है कि शब्द से जायमान अर्थबोध प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों से ही रहित होता है क्योंकि अर्थबोध की प्रमाणता एवं अप्रमाणता अर्थ की यथार्थता और अयथार्थता पर अवलम्बित है ॥ ८ ॥

सूत्र—आदेश[1] भेदाच्छब्दः स्वार्थे विधिनिषेधाभ्यां सप्तभंग्याऽऽलिंग्यते ॥ ९ ॥

संस्कृत टीका—अन्तर्बहिर्वर्त्तिनां सर्वेषामेव जीवाजीवादि पदार्थानां स्वरूपमनन्तधर्मात्मकमेव वर्त्तते नान्यथा सत्त्वाभावेन वस्तुत्वाभावात्। तदात्मकतैव वस्तुता निगदिताऽर्हत प्रवचनेऽतः पदार्थस्वरूपप्रबोधनाय शब्दास्तद्गत प्रत्येक धर्ममाश्रित्य सप्तभङ्गी विशिष्टा जायन्तेऽन्यथा तत्स्वरूप प्रकाशकत्वासंभवात्। नहि किञ्चिदपि जीवादि वस्तु सदात्मकमसदात्मकं वैकान्ततः संभवति परस्पर निरपेक्षोभयात्मके वा तथा ननु भूयमानत्वात् सर्वस्य जीवादि वस्तुनोऽनेक धर्मालिङ्गितत्वाच्च, न च वाच्यं परस्पर विरुद्धानां धर्माणां कथमेकत्र समावेशः संभवति इति आदेश भेदात्विवक्षावशात् विधिनिषेधाभ्याम् एकस्मिन्नपि वस्तुनि अनेकेषां धर्माणां समावेश संभवात्। विवक्षाया वैचित्र्यात् यत्रैव सत्त्वं, तत्रैवासत्त्वमपि, सत्त्वासत्त्वमपि, अवाच्यत्वमपि, सत्त्वम् अवाच्यत्वमपि, असत्त्वम् अवाच्यत्वमपि, सत्त्वमसत्त्वमवाच्यत्वमपि वर्त्तते। वस्तु व्यवस्थाया ईदृशत्वात्, यथा—देवदत्तः स्वपित्रपेक्षया पुत्रः, स्वपत्न्यपेक्षया न पुत्रः, अत्रैकस्मिन्नपि देवदत्ते ऽपेक्षावशात् पुत्रत्व धर्मोऽपि वर्त्तते, तदभावश्चापि वर्त्तते, पुत्रत्वस्य सत्त्वकालेऽपुत्रत्वस्यापि सत्त्वात् परन्तु पुत्रत्वधर्मस्य यथा विवक्षया सत्त्वमस्ति तथैव विवक्षया तस्या सत्त्वं नास्ति विरोधात् पुत्रत्वधर्मसत्त्वे अन्यस्या विवक्षायास्तद सत्त्वे चान्यस्या विवक्षायाः सत्त्वात् देवदत्ते पुत्रत्व धर्म सद्भाव ख्यापनमेव। पुत्रत्वस्य धर्मस्य विधिस्तद सद्भाव ख्यापनं च निषेधः, इत्थं विधिनिषेधावाश्रित्य सप्तभङ्गात्मकः शब्द प्रयोगो भवति—तथाहि—देवदत्तः कथञ्चित्पुत्रः, कथञ्चिदपुत्रः, कथञ्चित् पुत्रश्चापुत्रश्च, कथञ्चिदवक्तव्यश्च, कथञ्चित् पुत्रोऽवक्तव्यश्च, कथञ्चिदपुत्रोऽवक्तव्यश्च, कथञ्चित्पुत्रः कथञ्चिदपुत्रः कथञ्चिदवक्तव्यश्च, अमुना प्रकारेण शब्दो विधिनिषेधाभ्यामादेशभेदात्सप्तभंग्याऽऽलिंग्यते इति यदुक्तं समीचीनमेव तदिति मन्तव्यम् ॥

सूत्रार्थ—विवक्षा के वश से शब्द अपने वाच्यार्थ में विधि और निषेध की कल्पना से सप्तभङ्गी द्वारा आलिङ्गित होता है।

---

१. आदेश भेदोदित सप्तभङ्गमदीदृशत्वं बुधरूपवेद्यम्। —स्याद्वादमंजर्याम्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हिन्दी व्याख्या—अन्तर्वर्त्ती एवं बहिर्वर्त्ती जितने भी जीवात्मक और अजीवात्मक पदार्थ हैं, वे सब अनन्त[1] धर्मात्मक स्वरूप वाले हैं, एकान्ततः एक धर्मात्मक स्वरूप वाले नहीं हैं। क्योंकि एकान्ततः एक धर्मात्मकता ही यदि उनका स्वरूप माना जावेगा तो उनमें सत्त्व के अभाव से वस्तुत्व का ही अभाव हो जायगा।

प्रश्न—एकान्ततः एक धर्मात्मकता मानने पर वस्तु में वस्तुता का अभाव कैसे आ सकता है ? हम देखते हैं कि एकान्ततः एक धर्मात्मकता होने से ही वस्तु के द्वारा लोकव्यवहार सधता है और इसी कारण उसमें वस्तुता आती है। वस्तुता का मतलब है अर्थक्रियाकारित्व। यदि घट को अनेक धर्मात्मक माना जावे, तो उसके द्वारा अनेक धर्म जन्य अर्थक्रिया होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता है। घट से तो घटजन्य ही अर्थक्रिया होती देखी जाती है, पटजन्य अर्थ क्रिया नहीं।

उत्तर—ऐसा नहीं है। हमारी स्थूल ज्ञान दृष्टि से घटगत अनेक धर्म साक्षात् जाने नहीं जाते हैं किन्तु अनुमेय होते हैं। घट जिस प्रकार स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा घटत्व धर्मयुक्त है इसी तरह वह परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा घटत्व धर्मयुक्त नहीं भी है। यदि ऐसा न माना जावे, तो वस्तु व्यवस्था में अस्त-व्यस्तता आ जावेगी। घट पट भी हो जावेगा। फिर अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इस स्थिति में "प्रेरितोदधि खादति किमुष्ट्रं नाभिधावति" दही खाओ ऐसा कहने पर वह ऊँट को खाने के लिये क्यों नहीं लपकेगा ? अवश्य ही लपकेगा। क्योंकि दही और उष्ट्र में परस्पर में कोई अभाव अन्तर तो रहेगा नहीं। तथा एक धर्मात्मक वस्तु में वस्तुता ही नहीं आती है। वह तो अनेक धर्मात्मक वस्तु में ही आती है। और इन अनेक धर्मों की सिद्धि वस्तु में "अर्पिता[2] नर्पित सिद्धेः" के कथनानुसार होती है। इस सम्बन्ध में विशेष कथन सप्तभङ्गी के स्वरूप प्रतिपादन करते समय किया जावेगा। घट में जलधारण ज्ञेयापन, नयापन, पुरानापन, कच्चापन, पक्कापन, मोटापन, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन आदि अनेकधर्मात्मकता होने पर भी जो पटजन्य अर्थक्रियाकारिता उसमें वर्त्तमान में नहीं देखी जाती है उसका कारण उस समय उसमें पटधर्मविशिष्टता की अनभिव्यक्ति है। घट अनेक धर्म विशिष्ट है। इसका मतलब यही है, कि वह घटादि अनेक धर्मविशिष्ट होने की योग्यतावाला है। इस तरह त्रिकालगत अनन्तधर्मविशिष्टता उसमें नयी विवक्षा से साधित होने के कारण प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मों का एक पिण्ड कहा गया है। इसी का नाम वस्तुता है। और वह वस्तुता परिणामिनित्यता के साथ सम्बन्धित है। एकान्ततः किसी भी एक धर्म के साथ सम्बन्धित नहीं है। ऐसा ही आर्हत प्रवचन में वस्तु का स्वरूप कहा गया है। इसी अभिप्राय को हृदयङ्गम करके टीकाकार ने यहाँ "तदात्मकतैव वस्तुता" ऐसा पाठ कहा है।

पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन शब्द द्वारा होता है—और प्रत्येक पदार्थ अनेकधर्मात्मक है। दृष्टान्त के लिये दीपक को ले लीजिये—दीपक एक ही क्षण में प्रकाश करता है, वर्त्तिका का दाह करता है, तैल का शोषण करता है, अन्धकार का विनाश करता है, कज्जल को छोड़ता है। आदि-आदि कार्य करता है। सप्तभंग पदार्थगत एक धर्म को लेकर बनते हैं। ये भङ्ग सात ही होते हैं। कमती-बढ़ती नहीं

---

१. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्। —स्यादादमञ्जार्याम्।
२. तत्त्वार्थसूत्रं पञ्चमोऽध्यायः।

होते हैं। क्योंकि जानने वाले की इच्छा इन्हीं सात प्रकारों वाली होती है। इच्छा सात ही प्रकार वाली इसलिये होती है कि वस्तुगत प्रत्येक धर्म में जानने वाले को सात ही प्रकार से सन्देह होता है। इसी बात को प्रकट करने के लिये यहाँ "तद्गत प्रत्येक धर्ममाश्रित्य" ऐसा पाठ कहा गया है। वक्ता जब प्रत्येक धर्म विषयक सात प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिये शब्द द्वारा उन-उन धर्मों का प्रतिपादन करता है, तो शब्द स्वयं सप्तभङ्गविशिष्ट हो जाते हैं। क्योंकि सप्तभंग विशिष्ट हुए बिना शब्द द्वारा उस वस्तु के एक धर्म का सात प्रकार से कथन करना अशक्य हो जाता है।

कोई भी जीवादिक पदार्थ न एकान्ततः सदात्मक ही है और न एकान्ततः असदात्मक ही है और न क्रमशः परस्पर निरपेक्ष सद्असदात्मक ही है क्योंकि ऐसा पदार्थ स्वरूप अनुभव में नहीं आता है। प्रत्युत यही अनुभव में आता है कि पदार्थ अनेकधर्मालिङ्गित होने के कारण कथञ्चित् सदात्मक भी है, और कथञ्चित् असदात्मक भी है और कथञ्चित् परस्पर सापेक्ष सद् असदात्मक भी है। यहाँ ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि परस्पर विरोधी धर्मों का एक वस्तु में समावेश कैसे हो सकता है? क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मों का भी विवक्षा के वश से एक ही वस्तु में समावेश हो जाता है। अतः विवक्षा की विचित्रता को लेकर जो वस्तु किसी अपेक्षा सत्स्वरूप कही जाती है, वही असत् स्वरूप भी हो जाती है। वही क्रमशः सत्-असत् स्वरूपवाली भी हो जाती है। वही अवक्तव्यस्वरूपवाली भी हो जाती है। वही क्रमशः और युगपत् धर्मों का कथन करने की अपेक्षा सत्स्वरूप भी हो जाती है, और अवक्तव्य कोटि में भी आ जाती है, असत्स्वरूप भी हो जाती है, और अवक्तव्यकोटि में भी आ जाती है तथा सत्स्वरूप असत्स्वरूप भी होती हुई वह अवक्तव्य कोटि में भी आ जाती है। क्योंकि वस्तुव्यवस्था ही ऐसी है। इसमें हम क्या करें।

देखो—देवदत्त अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, परन्तु अपनी धर्मपत्नी की अपेक्षा तो वह पुत्र नहीं है—पति है। यहाँ एक ही देवदत्त में अपेक्षा के वश से पुत्रत्व धर्म भी है, और नहीं भी है। जिस काल में उसमें पुत्रत्व धर्म का सद्भाव रहता है उसी काल में उसमें अपुत्रत्व धर्म का भी सद्भाव रहता है। परन्तु इसका तात्पर्य ऐसा नहीं है कि जिस अपेक्षा से उसमें पुत्रत्व धर्म का कथन किया गया है उसी अपेक्षा से उसमें अपुत्रत्व धर्म का सद्भाव प्रकट किया गया है। क्योंकि एक ही विवक्षा से दो धर्मों के सद्भाव का कथन होने का विरोध है। पुत्रत्व धर्म के सद्भाव को ख्यापन करने वाली विवक्षा अन्य है, और उसके अभाव को प्रतिपादन करने वाली विवक्षा अन्य है। इस तरह देवदत्त में पुत्रत्व धर्म के सद्भाव का ख्यापन करना यही उसमें पुत्रत्व धर्म की विधि है, और उसके असत्व का ख्यापन करना यही उस धर्म का निषेध है। इस प्रकार से एक ही धर्म की विधि और उसके निषेध को लेकर शब्द प्रयोग सात प्रकार के भङ्गों वाला बन जाता है। जैसे—(१) देवदत्त पुत्र भी है, (२) देवदत्त पुत्र नहीं भी है, (३) क्रमशः विचारने पर देवदत्त पुत्र और अपुत्र दोनों रूपवाला है, (४) युगपत् इन दोनों के कथन न कर सकने की अपेक्षा वह अवक्तव्य है, (५) पुत्रत्व के कथन की अपेक्षा और युगपत् दोनों के कथन न हो सकने की अपेक्षा वह पुत्र भी है और अवक्तव्य भी है, (६) अपुत्रत्व के कथन की अपेक्षा और युगपत् इन दोनों के कथन न हो सकने की अपेक्षा वह अपुत्र भी है और अवक्तव्य भी है, (७) क्रमशः दोनों धर्मों का उसमें सद्भाव है इस कारण वह पुत्र भी है, अपुत्र भी है, और इन दोनों धर्मों का उसमें एक साथ प्रतिपादन हो सकता नहीं है इसलिए वह अवक्तव्य भी है। इस प्रकार एक ही देवदत्त रूप अपने अर्थ का सप्तभङ्गी रूप से देवदत्त शब्द विधि और निषेध को आश्रित करके प्रतिपादन करता है। अतः शब्द स्वार्थ में आदेश के भेद से विधि-निषेध को लेकर सप्तभंगी से युक्त होता है। यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

प्रश्न—प्रथम भङ्ग द्वारा एवं द्वितीय भङ्गद्वारा जो बात कही गई है—वही बात तृतीय भङ्गद्वारा कही गई है। सो ऐसा कहने से तो पुनरुक्ति दोष आता है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। प्रथम भङ्ग में विधि प्रधान की गई है, निषेध धर्म गौण किया गया है द्वितीय भङ्ग में निषेध प्रधान किया गया है और विधि गौण की गई है। तृतीय भङ्ग में क्रमशः इन दोनों को ही प्रधान किया गया है। अतः प्रथम भङ्ग, द्वितीय भङ्ग और तृतीय भङ्ग ये सब स्वतन्त्र भङ्ग हैं किसी का किसी से मेल नहीं बैठता है।

प्रश्न—जब सूत्र में ऐसा कहा गया है कि वस्तु के किसी एक धर्म की विधि और निषेध को लेकर पूर्वोक्त सात भङ्ग बनते हैं तो यह बात स्वतः ही प्रतीति में आ जाती है कि विवक्षा की विचित्रता से ही ऐसा हो सकता है। जो वस्तु किसी अपेक्षा अस्तिरूप है, वही किसी दूसरी विवक्षावश अस्तिरूप नहीं भी है। फिर इस बात को जो कि स्वतःसिद्ध भी प्रकट करने के लिये सूत्रकार ने सूत्र में "आदेश भेदात्" ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—ऐसा इसीलिए कहा गया है कि वस्तु में ये सात भङ्ग इसी विवक्षा की विचित्रता से होते हैं। यह बात यद्यपि विचार करने पर स्वतः प्रतीति कोटि में आ सकती है परन्तु फिर भी अन्य तीर्थिकों ने इस सप्तभङ्गी पर जो "नैकस्मिन्न संभवात्"[1] ऐसा कहकर असंभवता का दोष थोपा है वह "आदेश भेदात्" इस पद के द्वारा यह इस बात को प्रकट कर देता है कि इस सप्तभङ्गी पर यह असंभवता का दोष किसी भी प्रकार से थोपा नहीं जा सकता है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश एक ही वस्तु में विवक्षा की अपेक्षा से ही होता है एक ही अपेक्षा से नहीं, अतः इसमें असंभवता की कोई बात ही नहीं है।

प्रश्न—क्या जो वस्तु अस्तिरूप है वही नास्तिरूप भी हो जाती है ? यदि हो जाती है तो फिर इससे तो वस्तुगत धर्मों की कोई निश्चित स्थिति नहीं सध सकती है। और धर्मों की निश्चित स्थिति न सध सकने के कारण वस्तु व्यवस्था भी बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जाती है।

उत्तर—ऐसा कहना शोभास्पद नहीं है क्योंकि यह पहले समझाया जा चुका है कि वस्तु को जो अनन्त धर्मों का पिण्ड कहा गया है वह त्रैकालिक सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायों की अपेक्षा लेकर ही कहा गया है। अतः वे वस्तुगत धर्म उस वस्तु में अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा ही अवगाहित होकर रहते हैं। एक स्वरूप दूसरे स्वरूप में परिणत नहीं होता है। वस्तु-व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने की बात तो तब आती जब कि वस्तुगत धर्मों में परस्पर में एक-दूसरे के रूप में बदलना होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं। सब ही धर्म अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार हर एक वस्तु में रहते हैं और उन्हीं का पिण्ड वह वस्तु है।

इस तरह के इस विचार से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हर एक पदार्थ अपने-अपने एक धर्म के सम्बन्ध में सात भंगों वाला होता हुआ अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभङ्गी से आलिङ्गित हो रहा है। इसी बात की सूचनार्थ सूत्र में "सप्तभंग्या" पद निवेशित किया गया है ॥ ६ ॥

---

१. शाङ्कर भाष्ये।

सूत्र—एकत्रैकधर्मं प्रश्न विवक्षातोऽविरोधेन व्यस्त समस्त विधिनिषेधयोः प्रतिपादकः स्याच्चिह्नितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १० ॥

संस्कृत टीका—एकत्र—जीवाजीवादि वस्तुनि-तद्गतानन्तधर्मेभ्यः कमप्येकं धर्ममाश्रित्य कृत-प्रश्नानुरोधात् प्रत्यक्षादि प्रमाणेन विरोधरहितं यथास्यात्तथा व्यस्त समस्तयोः प्रधान भावेन क्रमशो यौगपद्येन च मुख्य भावेन कृत्वा विधि-निषेधयोः प्रतिपादकः स्यात्पदचिह्नितः सप्तप्रकारकः वाक्यप्रयोगो—वचन रचना सप्तभङ्गीति निगद्यते। नानावस्त्वाश्रय विधि-निषेध कल्पनयाऽपि सप्तभङ्गी प्रसङ्ग प्रतिषेधार्थमेकत्रेति कथितम्। एकत्र जीवादि वस्तुनि विधीयमान निषिध्यमानानन्तधर्म पर्यालोचनयाऽनन्तभङ्गी प्रसङ्ग निवर्त्तनार्थम् "एक धर्म प्रश्न विवक्षातः" इत्युक्तम्। प्रत्यक्षादि विरुद्ध सदाद्येकान्त विधि प्रतिषेध कल्पनयाऽपि प्रवृतस्य वचनप्रयोगस्य सप्तभङ्गीत्वानुषङ्ग प्रसङ्ग परिहारार्थमविरोधेनेति पदं निक्षिप्तम्। कथञ्चिदर्थबोधकं स्यात्पदम्।

हिन्दी व्याख्या—यह कहा जा चुका है कि जीव और अजीवादि वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक हैं। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में इसी प्रकार का वस्तु स्वरूप कहा गया है, अतः वस्तुगत उन अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण करके वक्ता उस एक धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासाशील हुए पृच्छक को सात प्रकार से जो उत्तर देता है, उसी शैली का नाम सप्तभङ्गी है। एक धर्म को मुख्य करने का अभिप्राय है—कहीं विधि को मुख्य करके उत्तर देना, और कहीं निषेध को मुख्य करके उत्तर देना, तथा कहीं दोनों को क्रमशः मुख्य करके उत्तर देना, कहीं दोनों को युगपत् मुख्य करके उत्तर देना, कहीं एक विधि को और युगपत् दोनों को मुख्य करके उत्तर देना, कहीं निषेध को और युगपत् दोनों को मुख्य करके उत्तर देना, एव कहीं क्रमशः दोनों को एवं युगपत् दोनों को मुख्य करके उत्तर देना। जो उत्तर दिया जाता है वहाँ स्यात्पद से चिह्नित होता है। स्यात्पद से चिह्नित होकर जो उत्तर दिया जाता है उसका तात्पर्य यही है कि वक्ता जो किसी एक धर्म के विषय में अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा है वह एकान्त रूप से उसी धर्म की स्थापना नहीं कर रहा है किन्तु किसी अपेक्षावश से ही वह उस धर्म की वहाँ स्थापना कर रहा है। अतः अपने अभिप्राय की—अभिप्रेत धर्म की पुष्टि करता हुआ भी वह दूसरे धर्म जो उस वस्तु में उसी विवक्षित धर्म के साथ रहते हैं, उनका वह निषेध नहीं करता है परन्तु उसका उनकी ओर उनके गौण हो जाने से उदासीन भाव रहता है। इस तरह पदार्थ में जिस अपेक्षा को लेकर जिस धर्म की विधि—मौजूदगी प्रकट की गई है किसी दूसरी अपेक्षा से उसी धर्म की वहाँ गैर-मौजूदगी—निषेध प्रकट की जाती है। अतः इससे यह समझ में आ जाता है कि वस्तु में स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा जिस प्रकार अस्तित्व धर्म है, उसी प्रकार पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी है।

प्रश्न—स्वचतुष्टय की अपेक्षा जो आपने वस्तु में सत्त्वधर्म की और पर-चतुष्टय की अपेक्षा उसी में असत्त्वधर्म की व्यवस्था प्रतिपादित की है सो इसके लिये ऐसा ही क्यों न मान लिया जावे कि जो वस्तु में स्वसत्त्व है वही उसमें परासत्त्व है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा घट में सत्त्व ही पट के चतुष्टय की अपेक्षा घट का असत्त्व रूप है। इस तरह जैसा घट में यह सत्त्व पर—पटादि की अपेक्षा असत्त्वरूप होता है उसी तरह पटादि की अपेक्षा घट में जो असत्त्व है वही घट का सत्त्वरूप है। इस प्रकार की मान्यता में या तो एक प्रथम भङ्ग ही बन सकता है या द्वितीय भङ्ग ही, किन्तु सात भङ्ग नहीं बनते। फिर आपने यह सप्तभङ्गी की कल्पना किस आधार पर खड़ी की है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए—क्योंकि ऐसे कथन में बहुत बड़ा बखेडा खड़ा हो जाता है। यदि स्वसत्त्व—घटादि का सत्त्व पर—पटादि के असत्त्वरूप मान लिया जाय तो फिर घट में जिस प्रकार स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत्त्व कहा गया है उसी प्रकार पर-चतुष्टय की अपेक्षा भी उसमें सत्त्व के आने का प्रसंग प्राप्त होगा। अथवा पट की अपेक्षा जो घट में असत्त्व धर्म है वही घट का स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत्त्व है यदि ऐसा माना जावे तो घट में स्वचतुष्टय की अपेक्षा से भी असत्त्वधर्म के मानने का प्रसङ्ग दुर्निवार हो जावेगा। अतः घट में सत्त्वधर्म स्वतन्त्र है और असत्त्व धर्म भी स्वतन्त्र है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता में शेष भंगों के वस्तु में सद्भाव सिद्ध होने में फिर कोई बाधा नहीं आती है। इस तरह से इस सूत्र की अच्छी तरह सङ्गति स्थापित कर अब यह प्रकट किया जाता है कि इस सूत्र में जो पद रखे गये हैं उनकी सार्थकता किस प्रकार से हुई है।

सूत्र में जो "एकत्र" पद रक्खा गया है वह "एक वस्तु में" इस अर्थ को प्रकट करता है। इससे यह बात बोधित की गई है कि एक वस्तु के ही आश्रित एक धर्म के विधि-प्रतिषेध को लेकर यह सप्त भंगी बनती है। नाना वस्तु के आश्रित विधि प्रतिषेध को लेकर ऐसी सप्तभङ्गी नहीं बनती है। अतः नाना वस्तु के विधि-प्रतिषेध से जायमान उस सप्तभङ्गी की व्यवच्छित्ति के लिये यहाँ "एकत्र" पद रक्खा गया है। "अविरोधेन" ऐसा जो पद सूत्र में रक्खा गया है वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध जो सत्-असत् आदि की विधि-प्रतिषेध रूप अन्यतीर्थिक जनों की एकान्त मान्यताएँ हैं उन्हें हटाने के लिये रक्खा गया है। सूत्र में कथञ्चित्पद का बोधक स्यात्पद है। सप्तभंगी पद से यह समझाया गया है कि एक वस्त्वाश्रित प्रत्येक धर्म के विधि-निषेध की अपेक्षा से सात ही भङ्ग होते हैं, ६ या ८ भंग नहीं होते हैं।

सूत्र—स्यात्सदेव सर्वमिति प्राधान्येन विधिविवक्षया प्रथमो भङ्गः ॥११॥

संस्कृत टीका—पूर्वोक्तानामेव सप्तभङ्गानां स्वरूपाणि निरूपयितुं स्यात्सदेव सर्वमित्यादि सूत्रमाह—

स्यात्पदमत्रानेकान्तबोधकं विभक्ति प्रतिरूपकमव्ययम्। स्यात्पद निरपेक्षं यदि कश्चिदेवं ब्रूयात् सन्नेव घटस्तदा स्वरूपेण यथा घटे सत्त्वं वर्तते तथैव पररूपेणापि तत्र सत्त्वमापतितं स्यात् अतः पररूपेण तत्र सत्त्वं न स्यादित्यवबोधनार्थं स्यात्पदमुक्तं। तथा च स्यात्कथञ्चित्स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भावैरेव घटोऽस्ति न तु पटादि द्रव्य-क्षेत्रादिभिरिति। घटस्य द्रव्यं मृत्तिका, क्षेत्रं यत्र संस्थितोऽस्ति, कालः यस्मिन् काले स वर्त्तमानोऽस्ति, भावो येन वर्णादिना सः समन्वितोऽस्ति, एवं घटो द्रव्यत्वेनैव पार्थिवत्वादिनैवास्ति-सदात्मको वर्त्तते, नतु जलत्वादिना, क्षेत्रतः मरुभूमितः एवं न तु गुर्जरदेशतः, कालतो वर्षाकालेनैव नतु वासन्तिकत्वेन, भावतः पुनर्नीलत्वेनैव नतु रक्तत्वेनास्ति इत्यर्थोलभ्यते। परद्रव्यादिभिर्घटेऽस्तित्वप्रसक्ति-वारणार्थं यथा स्यात्पदमुक्तं तथैव स्वद्रव्यादिभिरपि नास्तित्ववारणार्थमेवकारपदमुक्तमिति।

सूत्रार्थ—सप्तभंगी के भङ्गों में से प्रथम भङ्ग को प्रकट करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। तथा च—किसी अपेक्षा समस्त जीवादिक वस्तु सत्स्वरूप ही है। इस प्रकार का यह प्रधान रूप से विधि की विवक्षा करके समस्त वस्तु में अस्तित्व का कथन करने वाला प्रथम भङ्ग है।

हिन्दी व्याख्या—स्यात् यह पद विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। अस् धातु के विधिलिङ्ग का प्रथम पुरुष का एकवचन का रूप नहीं है। यह स्याद्वाद सिद्धान्त के प्राणभूत अनेकान्त का बोधक है।

प्रश्न—यदि स्यात्पद अनेकान्त का बोधक है तो इस तरह के पद के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती है क्योंकि उसी एक अनेकान्त प्रतिपादक स्यात्पद द्वारा कथञ्चित् सदादि रूप अनेकान्त का प्रतिपादन हो जाता है।

उत्तर—शङ्का ठीक है। परन्तु विचार करने पर यह निर्मूल हो जाती है। क्योंकि स्यात्पद सामान्यरूप से ही अनेकान्त का प्रतिपादन करता है अतः उससे सामान्यतः अनेकान्त का बोध तो हो जाता है परन्तु फिर भी जो विशेषार्थीजन हैं उन्हें समझाने के लिए तो विशेष का प्रयोग करना ही पड़ता है। इसी लक्ष्य को लेकर यहाँ विशेष रूप से सद्—अस्तित्व—पद का प्रयोग किया गया है। यद्यपि सामान्य से वृक्ष के कहने पर विशेष वृक्ष का भी उसमें अन्तर्भाव हो जाता है; परन्तु फिर भी यह वृक्ष पीपल का है ऐसा विशेषार्थी को समझाने के लिये विशेषवाचक शब्दों का प्रयोग होता ही है। इसी अभिप्राय को लेकर "स्यात्सदेव सर्वम्" ऐसे विशेषवाचक पद का कथन किया गया है।

प्रश्न—ऐसा जब आपका कथन है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है तो फिर इससे यह भी तो प्रतिपत्ति हो जाती है कि वस्तु कथंचित् सदादि धर्मवाली भी है। फिर उस विशेष रूप सदादि धर्म का बोध कराने वाले स्यात्पद का प्रयोग अनर्थक ही है। क्योंकि ऐसा लिखा हुआ है—

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते।
यथैवकारोऽयोगादि व्यवच्छेद प्रयोजनः ॥१॥

अतः इस कथन के अनुसार श्रोता को एवकार की तरह इसका भान स्वतः ही हो जायगा। अतः स्यात्पद का प्रयोग अकिञ्चित्कर ही प्रतीत होता है?

उत्तर—श्रोता दो तरह के होते हैं—एक वे जो स्याद्वाद न्याय में कौशल संपन्न हैं और दूसरे वे जो स्याद्वाद न्याय में कौशलसंपन्न नहीं हैं। इसलिये पहले प्रकार के श्रोताजनों की अपेक्षा को लेकर तो हमने भी स्यात्पद का प्रयोग सार्थक नहीं माना है। परन्तु जो दूसरे प्रकार के श्रोता हैं उन्हें स्याद्वाद सिद्धान्त में कुशलता प्राप्त कराने के निमित्त इस शब्द का प्रयोग आवश्यक है। उन्हें बिना इसका प्रयोग किये स्याद्वाद सिद्धान्त का भान नहीं हो सकता है। अतः उन्हें स्यात् शब्द के प्रयोग से यह समझाया जाता है कि घट पर-रूप स्तम्भादिक की अपेक्षा से सर्वथा अस्तित्व रूप विशिष्ट न होकर केवल अपने ही द्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्वविशिष्ट है। इस तरह प्रत्येक जीवादिक वस्तु स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से ही अस्तित्वविशिष्ट हैं, पर-रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं।

प्रश्न—जब ऐसी बात है तो फिर वाक्य में सर्वत्र इसका प्रयोग देखने में क्यों नहीं आता है? क्या कारण है?

उत्तर—वाक्य में जो इसका प्रयोग आवश्यक होने पर भी देखने में नहीं आता है उसका कारण यही है कि वह सामर्थ्य से ही प्रतीत हो जाता है। जिस प्रकार वाक्य में अयोगव्यवच्छेदक एव शब्द के प्रयोग किये बिना भी समझदार व्यक्ति प्रकरणवश उसे समझ लेते हैं उसी प्रकार समझदार व्यक्ति स्यात् शब्द का प्रयोग वाक्य में नहीं होने पर भी प्रकरणवश उसे प्रयुक्त हुआ जान लेते हैं। तभी तो उन्हें इष्टार्थ का बोध हो जाता है। इसी सब प्रकरण को शंका-समाधानपूर्वक सुस्पष्ट करने के लिये "अतः पररूपेण तत्र सत्त्वं न स्यादित्यवबोधनार्थं स्यात् पदमुक्तम्" इस पाठ को टीकाकार ने रखा है। इतना

स्पष्ट हो जाने पर अब टीकाकार इसी बात को यों समझाते हैं—जब ऐसा कहा जाता है कि "स्यात् सन्नेव घटः" तो इसका अभिप्राय यही होता है कि घट अपने द्रव्य से मृत्तिका रूप स्वोपादान द्रव्य की अपेक्षा से ही है पर-द्रव्यरूप जलादिक की अपेक्षा से नहीं है। अपने क्षेत्र से—जहाँ पर वह रखा हुआ है ऐसे मारवाड़ रूप स्थान की अपेक्षा से ही है। पर-क्षेत्ररूप गुजरात की अपेक्षा से वह नहीं है। अपने काल से—जिस काल में वह वर्त्तमान है ऐसे वर्षाकाल की अपेक्षा से ही है। पर-काल की अपेक्षा वह वर्त्तमान नहीं है ऐसे वसन्तकाल की अपेक्षा से वह नहीं है। भाव से अपने में वर्त्तमान नीलादि रूप पर्याय की अपेक्षा से ही है, पर-भाव रक्तत्वादि वर्ण पर्याय की अपेक्षा से वह नहीं है। पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से घट में अस्तित्व आने के प्रसङ्ग को दूर करने के लिये जिस प्रकार से स्यात् पद कहा गया है उसी प्रकार स्वचतुष्टय की अपेक्षा घट में नास्तित्व के प्रसङ्ग को वारण करने के लिये एवकार पद कहा गया है। इस प्रकार विधि—अस्तित्व की प्रधानता को लेकर यह प्रथम भङ्ग कहा है॥ ११॥

सूत्र—स्यादसदेव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधविवक्षया द्वितीयो भङ्गः॥ १२॥

संस्कृत टीका—स्यात्—परद्रव्यक्षेत्रादिभिः जीवादिकं वस्तु असदेव—नास्त्येवेत्येवं रूपोऽर्थः प्राधान्येन निषेधस्य प्रतिपादकेन द्वितीय भङ्गवाक्येन प्रतिपाद्यते। स्वद्रव्यादिभिरिव पर-द्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टे प्रतिनियत स्वरूपाभावतो वस्तु प्रतिनियात् नं स्यात्। न चास्ति त्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमितिवाच्यं कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्। हेतुवत् नहि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादि साधनस्य अस्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, साधनत्वाभाव प्रसंगात्। तस्माद् वस्तुनि अस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतं नास्तित्वं च तेनेति सर्वानुभवसिद्धम्।

सूत्रार्थ—किसी अपेक्षा जीवादिक वस्तु असत्स्वरूप ही है ऐसा यह प्रधान रूप से असत्त्व धर्म की विवक्षा करके समस्त वस्तु में नास्ति का—असत्त्व का—कथन करने वाला द्वितीय भङ्ग है।

हिन्दी व्याख्या—"स्यादसदेव सर्वम्" समस्त जीवादिक वस्तुएँ कथञ्चित् असत् स्वरूप ही हैं—जब ऐसा कहा जाता है तो इसका यही अर्थ होता है कि जिस प्रकार वे स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सत्स्वरूप ही हैं उसी प्रकार वे पर-चतुष्टय की अपेक्षा—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा—असत् स्वरूप ही हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा जिस प्रकार से वस्तु में सत्त्व इष्ट माना गया है यदि इसी प्रकार से उसमें परचतुष्टय की अपेक्षा भी सत्त्व माना जावे—असत्त्व न माना जावे—तो वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप व्यवस्थित नहीं हो सकता है और इस कारण यह अमुक वस्तु है, यह अमुक वस्तु है—इस रूप से वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं सध सकती है।

प्रश्न—जो अस्तित्वैकान्तवादी हैं—वस्तु एकान्ततः अस्तित्व धर्म से ही युक्त है—ऐसी जिनकी मान्यता है उनके यहाँ तो किसी भी अपेक्षा नास्तित्व धर्म वाली वस्तु मानी नहीं गई है अतः समस्त वस्तु नास्तित्व धर्मवाली हैं, ऐसा आपका कहना असिद्ध है।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो एकान्ततः अस्तित्व धर्मविशिष्ट ही हो, नास्तित्व धर्म विशिष्ट न हो। क्योंकि यह बात युक्ति से घटित होती है कि अस्तित्व बिना नास्तित्व के और नास्तित्व बिना अस्तित्व के रह ही नहीं सकता है। ये दोनों परस्पर में अविनाभावी हैं। जिस प्रकार सत्त्वरूप हेतु का अपने अनित्यरूप साध्य वाले पक्ष में अस्तित्व विपक्ष से व्यावृत्त हुए बिना

नहीं सधता है। तो जिस प्रकार हेतु में स्वसाध्य को सिद्ध करने की अपेक्षा अस्तित्व विपक्ष में नहीं रहने रूप नास्तित्वाविनाभावी है उसी प्रकार वस्तु में जो अस्तित्व धर्म है वह नास्तित्वाविनाभावी है। यह बात ऐसी है जो सर्वानुभव प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

सूत्र--स्यात्सदेव स्यादसदेवेति क्रमशो विधिनिषेधविवक्षया तृतीय भङ्गः ॥ १३ ॥

संस्कृत टीका—प्रथम द्वितीय भङ्गाभ्यां जीवादि वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वञ्च पृथक्-पृथक् प्राधान्येनैव प्रतिपादितं सम्प्रति तृतीय भंगेन क्रमशो जीवादि वस्तुनि विधि-निषेधकल्पनयाऽस्तित्वं नास्तित्वं चाह—यदा जीवादि वस्तु वर्त्तिनोरस्तित्व नास्तित्व धर्मयोः क्रमेण विवक्षा क्रियते तदा तद्वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरस्त्येव पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैस्तु नास्त्येव इत्येवं क्रमशो विधि-निषेधरूपयोरस्तित्व-नास्तित्वधर्मयोः प्रतिपादकस्तृतीयभंगः सुस्पष्ट एव।

सूत्रार्थ—जीवादिक वस्तु कथञ्चित् सत्स्वरूप ही है और कथंचित् असत्स्वरूप ही है इस प्रकार क्रमशः विधि-निषेध की कल्पना से तृतीय भंग बनता है।

हिन्दी व्याख्या—यह बात तो पहले समझा दी गई है कि प्रथम भङ्ग में प्रधानरूप से विधि विवक्षित हुई है और द्वितीय भङ्ग में प्रधान रूप से नास्तित्व धर्म विवक्षित हुआ है, अब इस तृतीय भङ्ग में क्रमशः दोनों धर्म प्रधान रूप से विवक्षित हुए हैं। जब जीवादि वस्तु में स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से विधि की विवक्षा की जाती है तब वह प्रधान हो जाती है और जब पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व धर्म की विवक्षा की जाती है तब नास्तित्व धर्म प्रधान होता है। इस तरह यहाँ पर क्रमशः दोनों धर्मों की प्रधानता है अतः यह तृतीय भङ्ग सुस्पष्ट है।[1] ॥ १३ ॥

सूत्र—स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत् प्राधान्येन विधि-निषेधविवक्षया चतुर्थः ॥१४॥

संस्कृत टीका—क्रमशः प्रधानभावेन विधि-निषेधयोस्तृतीयभङ्गः प्रतिपादितः सम्प्रति युगपद् विधिनिषेधयोः प्रधानभावेन जायमानं चतुर्थं भङ्गं प्रतिपादयितुमाह—स्यादवक्तव्यमेवेत्यादि—तथा च वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मक त्वाद्युगपत्सकलधर्मं निरूपणमशक्यम् अतो यौगपद्येन वक्तुमशक्यत्वाद् वस्तु कथञ्चिदवक्तव्यमेव युगपत् तादृश प्रतिपादक शब्दाभावात् संकेतितोऽपि शब्दो युगपदनेकार्थं प्रत्यायने नालम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—जब अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों की युगपत् प्रधानता बतलाकर वस्तु का कथन किया जाता है तब वह वस्तु कथञ्चित् अवक्तव्य कोटि में आ जाती है। इसी बात को प्रतिपादित करने वाला यह चतुर्थ भङ्ग है।[2] वस्तु अनन्त धर्मों से युक्त है अतः कोई ऐसा शब्द नहीं है जो एक साथ अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सके। क्योंकि जब वस्तु के अस्तित्व धर्म का प्रतिपादन किया जावेगा तब नास्तित्व धर्म का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा और जब नास्तित्व धर्म का प्रतिपादन किया जावेगा तब

---

१. "क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं।

२. सहावाच्यमशक्तितः" —अष्ट सहस्री कारिका १६,
इसके लिये देखो—आप्तमीमांसा पर लिखा गया मेरा विस्तृत हिन्दी अनुवाद; तथा सप्तभङ्गी के स्वरूप को अच्छी तरह से जानने के लिये मेरे द्वारा अनूदित युक्त्यनुशासन को देखना चाहिये।

अस्तित्व धर्म का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा इसलिये धर्मों का युगपत् प्रतिपादन न हो सकने के कारण वस्तु को कथञ्चित् अवक्तव्य कहा गया है।

प्रश्न—ऐसे कई शब्द कोषादि में मिलते हैं जो एक ही साथ अनेक अर्थों का ज्ञान करा देते हैं, जैसे "गो" शब्द गाय, ब्रह्मा, आत्मा, वाणी आदि अर्थों का; व्याकरण प्रसिद्ध सत् शब्द शतृ और शानच् का; एवं पुष्पदन्त शब्द चन्द्र और सूर्य का एक साथ ज्ञान करा देते हैं फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं कि इन दोनों धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है—अतः वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है। क्योंकि इन पूर्वोक्त शब्दों की तरह ही हम कोई ऐसा एक सांकेतिक शब्द मान लेंगे कि जिसके द्वारा इन दोनों धर्मों का हम एक साथ ज्ञान कर लेंगे।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जब यह सिद्धान्त है कि अर्थभेद से उसके वाचक शब्द में और शब्दभेद से उसके वाच्य अर्थ में भेद होता है, नहीं तो वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही घटित नहीं हो सकता तब गाय अर्थ का वाचक गो शब्द भिन्न है और वाणी अर्थ का वाचक गो शब्द भिन्न है। इस तरह अपने-अपने अर्थ को कहने वाले गो शब्द वाच्यार्थ के भेद से भिन्न-भिन्न ही हैं, वे एक नहीं हैं। परन्तु उनमें जो एकत्व की प्रतीति होती है वह सादृश्य से होती है। इसी प्रकार सत्[1] शब्द से शतृ और शानच् इन प्रत्ययों का ज्ञान भी क्रमशः ही होता है क्योंकि शब्द में एक बार में एक ही अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति है, अनेकार्थ का एक साथ प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है। ऐसा ही कथन "पुष्पदन्त" शब्द में अपने अर्थ का प्रतिपादन करने के सम्बन्ध में जानना[2] चाहिये।

प्रश्न—ऐसा कहकर आप हठात् अपनी बात मनवाना चाहते हैं। क्या आपको यह नहीं मालूम है कि जब "सेना" शब्द का प्रयोग किया जाता है तब वह "सेना" शब्द युगपत् हाथी, घोड़ा, बैल, सिपाही, वीरयोद्धा इत्यादि अनेक अर्थों का बोधक होता है? इसी प्रकार "वन" शब्द खदिर, पलाश आदि अनेक अर्थों का युगपत् ज्ञान कराने वाला होता है। फिर हम यह कैसे मान लें कि एक शब्द युगपत् अनेक अर्थों का वाचक नहीं होता है?

उत्तर—सेना, वन आदि शब्दों की भी प्रवृत्ति युगपत् अनेकार्थ के कहने में नहीं होती है। किन्तु हाथी, घोड़ा, रथ आदि की विशेष प्रत्यासत्तिरूप एक समूह अर्थ के कहने में ही होती है। हाथी, घोड़ा, रथ आदि की विशेष प्रत्यासत्तिरूप एक समुदाय ही सेना है और इसी अपने एक वाच्यार्थ का वाचक वह सेना शब्द है, हाथी, घोड़ा आदि अनेक अर्थों का नहीं। इसी प्रकार से वन शब्द के सम्बन्ध में भी यही कथन जानना चाहिये। द्वन्द्व समास एवं कर्मधारय समास ये सब भी एक साथ अपने वाच्यार्थ को नहीं कहते हैं। इसी प्रकार से प्रमाणवाक्य और स्यात्पद ये सब भी युगपत् अपने वाच्यार्थ का कथन नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष शङ्का समाधानपूर्वक कथन मध्यमोपयोगी टीका के द्वारा किया जायगा। यह प्रथमापरीक्षोपयोगी टीका है अतः उसके अनुरूप ही यहाँ यह प्रकरण "युगपत् तादृश प्रतिपादक शब्दाभावात् संकेतितोऽपि शब्दो युगपदनेकार्थं प्रत्यायनेनालम्" इस पाठ के असली हृद्यार्थ को प्रकाशित करने

---

१. "जैनेन्द्र व्याकरण" में शतृ और शानच् प्रत्यय की सत् ऐसी संज्ञा की गई है—

२. "सांकेतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम् तस्यापि क्रमेणार्थद्वयस्य प्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः"
—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ७१६,

के लिये संक्षेप से लिखा है।

इस तरह यह चतुर्थ भंग किसी अपेक्षा, एक साथ दोनों की वक्तव्यता किसी भी शब्द के द्वारा नहीं हो सकने के कारण निर्दोषरूप से सुसंपन्न हो जाता है ॥१४॥

सूत्र—आद्यतुर्ययोर्भंगयो र्योगे पञ्चमः ॥१५॥

संस्कृत टीका—आद्य तुर्ययो भंगयोर्योगेजायमानस्य पञ्चमभङ्गस्यालापप्रकारः। "स्यात्सदेव सर्वं जीवादिकं स्यादवक्त व्यमेव सर्वं जीवादिकमित्याकारको भवति। एवञ्च यदा विधिविवक्षया घटे स्वद्रव्य-क्षेत्र-कालादिभिरस्तित्वं प्रतिपाद्यते तथा घटेऽस्तित्वस्य प्रधानता नास्तित्वस्य च गौणता युगपत् उभयोः प्राधान्ये च स्यादवक्तव्यता।

हिन्दी व्याख्या—प्रथम भंग और चतुर्थभंग के संयोग से पाँचवां भंग होता है। इसका आलाप प्रकार "स्यात्सदेव स्यादवक्तव्यमेव" ऐसा है। इसका तात्पर्य ऐसा है कि जब घटादि वस्तुओं में विधि की प्रधानता करके स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व धर्म का कथन किया जाता है, उस समय नास्तित्व धर्म की गौणता हो जाती है परन्तु उस वस्तु में ये दोनों धर्म विद्यमान हैं सो इन दोनों का एक साथ वहाँ कथन नहीं हो सकता है। इस कारण वस्तु अस्तित्वधर्मविशिष्ट होती हुई भी कथञ्चित् अवक्तव्य है। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक वस्तु प्रथम भंग की अपेक्षा वक्तव्य होती हुई भी युगपत् प्रथम द्वितीय भंग की अपेक्षा वह कथञ्चित् अवक्तव्य हो जाती है ॥ १५ ॥

सूत्र—द्वितीयतुर्ययोर्योगे षष्ठः ॥१६॥

संस्कृत टीका—द्वितीयतुर्ययोर्भङ्गयोर्योगे षष्ठो भङ्गो निष्पन्नो भवति। अस्यालाप प्रकारः—स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं च सर्वमित्याकारको भवति। तथा च घटादिकं वस्तु पर-द्रव्यादि चतुष्टयेनास्तित्व-विशिष्टं सत् अस्तित्व नास्तित्वाभ्यां युगपद् वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यमेवेति।

हिन्दी व्याख्या—द्वितीय भङ्ग और चतुर्थ भङ्ग का योग करने पर यह छठा भङ्ग निष्पन्न होता है। इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि घटादिक वस्तु कथञ्चित् पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वविशिष्ट होती हुई भी अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों द्वारा युगपद् वक्तुमअशक्य है। इसलिये "स्यान्नास्तित्वमेव अवक्तव्यं च" यह छठा भङ्ग बन जाता है ॥सू० १६॥

सूत्र—क्रमाक्रमाभ्यां विधि-प्रतिषेध कल्पना रूपः सप्तमः ॥सू० १७॥

संस्कृत टीका—अयं च सप्तमो भङ्गस्तृतीयभङ्गचतुर्थभङ्गयोः संयोगे भवति। यदा क्रमशो विधि-प्रतिषेध कल्पना भवति—तदा तृतीय भङ्गस्य अक्रमेण च विधि-प्रतिषेध कल्पनायां चतुर्थ भङ्गस्य निष्पत्तिः। एवं च स्याद्घटादि वस्तु स्वद्रव्यादि चतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वविशिष्टं सत् पर-द्रव्यादि चतुष्टया-पेक्षया स्यान्नास्तित्वविशिष्टं सत्। अस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां युगपद् वक्तुमशक्यत्वादव्यमेव कथञ्चिदिति सप्तमभङ्गस्यालाप प्रकारः। सप्तभङ्गानामित्थं हृद्यं स्वानुभूत्यैव चकास्तिइत्यक्तलं विस्तरेणेति ॥१७॥

सूत्रार्थ—विधि और नास्तित्व की जब क्रमशः मुख्यता की जाती है जब तृतीय भङ्ग की और इन दोनों की युगपद् जब मुख्यता की जाती है तब चतुर्थ भङ्ग की निष्पत्ति होती है—ऐसा पहले प्रति-पादन से ज्ञात हो चुका है। अतः क्रमशः और अक्रमशः विधि-नास्तित्व की विवक्षा में यह सप्तम भङ्गनिष्पन्न होता है। तात्पर्य इसका यही है कि स्वद्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय की क्रमशः विवक्षा करने पर ये अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक-दूसरे के समक्ष गौण नहीं होते हैं—जैसा कि प्रथम द्वितीय

भङ्ग में प्रकट किया गया है। पर इस तृतीय भङ्ग में इन दोनों की क्रमशः मुख्यता हुई है। इसी कारण यह तृतीय भङ्ग इन प्रथम और द्वितीय भङ्गों से भिन्न कहा गया है। और जब इन दोनों धर्मों की युगपत् मुख्यता की जाती है उस अवस्था में इन धर्मों द्वारा वस्तु अवक्तव्य हो जाती है। इस तरह वस्तु अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों द्वारा क्रमशः व्यक्तव्य होती हुई भी दोनों धर्मों की युगपत् मुख्यता में वह अवक्तव्य भी हो जाती है। इस तरह घटादिक वस्तु किसी अपेक्षा अस्तित्व वाली भी है, किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्मवाली भी है और किसी अपेक्षा अवक्तव्य धर्म वाली भी है, यही इस भंग का निष्कर्षार्थ है।

सप्तभङ्गी के स्वरूप कथन में यह बतलाया गया है कि एक ही धर्म के विषय में सात प्रकार के वचनप्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। अब हम इसी सात प्रकार के वचनप्रयोग को सरल रूप से समझने के लिए जिनदत्तगत पुत्रत्व धर्म को लेकर घटित कर प्रकट करते हैं—

स्यादस्ति जिनदत्तः पुत्रः (१) स्यान्नास्ति जिनदत्तः पुत्रः (२) स्यादस्तिनास्ति जिनदत्तः पुत्रः (३) स्यादवक्तव्यो जिनदत्तः पुत्रः (४) स्यादस्ति अवक्तव्यो जिनदत्तः पुत्रः (५) स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जिनदत्तः पुत्रः (६) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जिनदत्तः पुत्रः (७)। इस प्रकार से जिनदत्त में एक पुत्रत्व धर्म को लेकर सात प्रकार के ये वचन प्रयोग होते हैं। जब हम जिनदत्त को "यह पुत्र है" इस प्रकार से विवक्षित करते हैं तो इसका यह मतलब नहीं होता है कि जिनदत्त पुत्र ही है। क्योंकि ही शब्द का प्रयोग उसमें इतर अपुत्रत्व आदि अनेक धर्मों का व्यवच्छेदक हो जाता है और एक पुत्रत्व धर्म की ही एकान्त से वह उसमें प्रतिष्ठा करता है अतः इस "ही" को हटाने के लिये ही "भी" का स्थानापन्न "स्यात्" शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो इस बात को उद्‌बोधित करता है कि जिनदत्त अपने पिता की अपेक्षा से ही पुत्र है और दूसरी किसी ओर अपेक्षा से वह पुत्र नहीं है (किन्तु अपनी पत्नी की अपेक्षा से तो वह पति भी है) इस प्रकार जिनदत्त में ये दो वचन प्रकार बनते हैं—जिनदत्त किसी अपेक्षा पुत्र भी है (१) किसी अपेक्षा जिनदत्त पुत्र नहीं भी है (२)। परन्तु जिनदत्त में ऐसा नहीं है कि पुत्रत्व धर्म और अपुत्रत्व धर्म एक-दूसरे धर्म के अस्तित्व काल में वर्तमान नहीं है। पर उनका प्रकाशन प्रधान रूप से क्रमशः ही हो सकता है, अक्रमशः नहीं। अतः उस अपेक्षा तीसरे व्यक्ति की दृष्टि में जिनदत्त पुत्र भी है और पुत्र नहीं भी है ऐसा यह तृतीय वचन प्रकार बन जाता है। इन दोनों धर्मों को एक साथ जिनदत्त में प्रकाशन करने वाला कोई एक शब्द नहीं है—अतः इस अपेक्षा जिनदत्त क्या है ? पुत्र है या अपुत्र है यह कहा नहीं जा सकता है। इसलिए वह अव्यक्तव्य भी है। केवल पुत्रत्व की विवक्षा से वह जिनदत्त पुत्र भी है और पुत्रत्व-अपुत्रत्व की युगपत् विवक्षा से स्यात् पुत्रः स्यादवक्तव्यश्च यह उसमें पाँचवाँ भंग—वचन प्रकार बन जाता है। केवल अपुत्रत्व की विवक्षा से एवं दोनों की—पुत्रत्व अपुत्रत्व की युगपत् विवक्षा से वह "स्यादपुत्रः स्यादवक्तव्यश्च" इस छठे वचन प्रकार का वाच्य बन जाता है। दोनों धर्मों की—पुत्रत्व अपुत्रत्व की—क्रमशः प्रधानता लेकर वाच्यता में और इन दोनों की युगपत्प्रधानता लेकर जब विचारित होता है तब वह "स्यात्पुत्रः स्यादपुत्रः स्यादवक्तव्यश्च" इस सातवें वचन का वाच्य बन जाता है ॥सू० १७॥

सूत्र—विधेरिव निषेधकस्यापि बोधकत्वाच्छब्दात्तत्प्रतिपत्तिः ॥ १८ ॥

संस्कृत टीका—प्राधान्येनेति पदमत्राध्याहार्यम्। तस्माद् यथा शब्दः प्रधानतया विधिं बोधयति

एवं प्राधान्येन निषेधमपि बोधयतीति ज्ञातव्यम् । नो चेत्तेन प्रधानतया निषेधस्य प्रतिपत्तिर्न स्यात् न चैवं सर्वानुभवसिद्धत्वात्तत्प्रतिपत्तेः, अतः शब्दस्य विधिबोधकत्वमिव निषेधबोधकत्वमपि प्रतिपत्तव्यम् ।

सूत्रार्थ—शब्द जिस प्रकार अस्तित्व का बोधक होता है उसी प्रकार से वह नास्तित्व का भी बोधक होता है ।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ "प्रधानता से" ऐसा शब्द अध्याहृत हुआ है । इसलिये इस सूत्र का अर्थ ऐसा समझना चाहिये—कि शब्द जिस प्रकार से विधि—अस्तित्व—का प्रधान रूप से प्रतिपादक होता है और इसी से वह प्रथमभंग बनता है । इसी प्रकार से वह निषेध-नास्तित्व का भी प्रधानरूप से प्रतिपादक होता है । यदि ऐसा नहीं अंगीकार किया जावे तो उससे प्रधानरूप से नास्तित्व की प्रतिपत्ति न हो सकने के कारण द्वितीय भंग जो नास्तित्व धर्म की प्रधानता करके निष्पन्न होता है, वह कैसे निष्पन्न हो सकेगा ? अतः यह सर्वानुभव प्रसिद्ध बात अपलपित नहीं की जा सकती है, और न यह एकान्त रूप से कहा जा सकता है कि शब्द प्रधानता से विधि का ही कहने वाला है, निषेध का प्रधानता से कहने वाला नहीं है । क्योंकि वह प्रकरणानुसार विवक्षाधीन होकर कहीं विधि का प्रधानता से कथक होता है तो कहीं नास्तित्व का प्रधानता से कथक होता है ॥ १८ ॥

सूत्र—गुणभावेनैव तदभिधाने न तत्र गौणत्वानुपपत्तिः ॥ १९ ॥

संस्कृत टीका—शब्दो गुणभावेनैव—अप्राधान्येनैव नास्तित्वं—निषेधमभिधत्ते इत्यपि न सम्यक्-क्वचित्प्राधान्येन प्रतीयमानस्यैवान्यत्राप्राधान्येन प्रतिपत्तेः, एवञ्च यथा शब्दः क्वचिदस्तित्वरूपं धर्मं प्रधानतया प्रतिपादयति एवं कदाचित् क्वचित् निषेधमपि प्राधान्येन प्रतिपादयति । नतु अप्राधान्ये नैव, अन्यथा तत्राप्रधानतानुपपत्तेः क्वचित्प्रधानतया प्रतीयमानस्यैवाप्रधानतायाः सद्भावात् । एतेन परद्रव्य-क्षेत्राद्यपेक्षया घटादौ नास्तित्व प्रतिपादकस्य द्वितीयभंगस्योपपत्तिरुक्ता ।

हिन्दी व्याख्या—शब्द नास्तित्व धर्म को प्रधानरूप से न कहकर गौणरूप से ही कहता है, यदि ऐसी बात कही जावे तो इस पर कहा गया है कि ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि नास्तित्व-धर्म में प्रधा-नता माने बिना अप्रधानता नहीं आ सकती है । अतः इस एकान्त मान्यता को छोड़कर यही मानना युक्तियुक्त है कि शब्द कहीं पर प्रधानरूप से जिस प्रकार विधि का प्रतिपादक होता है उसी प्रकार वह कहीं पर निषेध का भी प्रधानरूप से ही प्रतिपादक होता है । इस प्रकार से द्वितीय भंग निर्विरोध सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र—मुख्यत्वेन निषेधैकान्तवाच्योक्तिरप्यकान्तोक्त युक्तेः ॥ २० ॥

संस्कत टीका—शब्दः प्रधानभावेन निषेधमेव—नास्तित्व मेव प्रतिपादयतीत्यपि न श्रेयस्करं विधेरपि प्रधान भावेन क्वचित्तेन प्रतिपादनात् । यथा शब्दः क्वचित् कदाचित् पर-द्रव्यादि—चतुष्टयापे-क्षया निषेधस्य प्रतिपादकोऽभिहितः, द्वितीयभंगे प्रधानभावेन, तथैव प्रथमभंगे स्वद्रव्यादि चतुष्टयापेक्षया विधेरपि प्राधान्येन स प्रतिपादकोऽभिहितः । न च वाच्यम् अप्रधानतयैव शब्दो विधिं प्रतिपादयतीति क्वचित् प्रधानता रिक्तस्याप्रधानतानुपपत्तेः । अतोऽकान्तैव निषेधैकान्त वाच्योक्तिरुक्त युक्तेः ।

हिन्दी व्याख्या—शब्द मुख्यरूप से निषेध का ही प्रतिपादक होता है यह कथन भी ठीक नहीं है

क्योंकि वह कहीं-कहीं पर प्रधान भाव से विधि का प्रतिपादक भी होता है। अतः जिस प्रकार द्वितीयभंग में शब्द परद्रव्यादि चतुष्टय को लेकर प्रधानता से नास्तित्व धर्म का प्रतिपादक हुआ है, उसी तरह वह प्रथमभंग में स्वद्रव्यादि चतुष्टय को लेकर विधि का भी प्रधानभाव से प्रतिपादक हुआ है। इतने पर भी यदि यह कहा जावे कि शब्द अप्रधान रूप से ही विधि का प्रतिपादक होता है तो इसके समाधान निमित्त यह कहा गया है कि जिसे कहीं पर भी प्रधानता का पद प्राप्त करने का सौभाग्य ही लब्ध नहीं हुआ है उसे अप्रधानता की कोटि में कैसे डाला जा सकता है ? जो कहीं प्रधान बनता है वही कहीं अप्रधान बनता है और जो कहीं अप्रधान बनता है वही कहीं पर प्रधान बनता है। अतः यह एकान्त कथन कि शब्द प्रधान भाव से निषेध का ही प्रतिपादन करता है एवं गौणरूप से नास्तित्व का—ऐसा मानकर प्रथम भंग के अस्तित्व का सिन्दूर कैसे पोंछा जा सकता है ॥ २० ॥

सूत्र—विधिनिषेधान्यतरप्रतिपादनस्य प्रधानताशब्दे क्रमादुभयैकान्तप्राधान्यमस्तं गमयति ॥ २१ ॥

संस्कृत टीका—प्रथम द्वितीय भंग प्रतिपाद्ययोरर्थयोरेकान्ततां निराकृत्य सम्प्रति तृतीयभंग प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकान्तता निराचिकीर्षुः सूत्रकारः विधि निषेधान्यतरेत्यादि सूत्रमाह—शब्दः क्रमादुभयमेव प्रधानभावेनाभिधत्ते, स्वद्रव्यादि चतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वं पर-द्रव्यादि चतुष्टयापेक्षया च नास्तित्वम्। एवञ्च तृतीयभंगे प्राधान्येन क्रमादुभयधर्मं प्रतिपादनैकान्तता याऽन्यतीर्थिकैररीकृता सा न समीचीना शब्दे विधि-निषेधान्यतर धर्म प्रतिपादनोपलम्भात्। कथमिति चेत्प्रथम द्वितीयभंगावलोकनीयौ।

हिन्दी व्याख्या—जो ऐसा कहते हैं कि शब्द प्रधानता से क्रमशः विधि और निषेध का ही बोधक है, विधि को प्रधान करके वह निषेध को गौण नहीं करता है और निषेध को प्रधान करके विधि को गौण नहीं करता, अतः वह प्रथमभङ्ग और द्वितीयभङ्ग को नहीं बनाता है केवल एक तीसरे ही भंग को बनाता है। सो इस प्रकार की यह तृतीयभंग को मानने की जो एकान्तता है उसी का विचार इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने किया है। इसमें यह समझाया गया है कि इस प्रकार की एकान्त मान्यता सुसंगत नहीं है। क्योंकि जब तक इन दोनों अस्तित्व नास्तित्व धर्मों का सत्त्व ही सिद्ध नहीं होगा। तब तक इनमें मुख्यता और गौणता के होने का कथन प्रमाणित नहीं हो सकेगा और इसके अभाव में तृतीय भंग में जो इन्हें क्रमशः प्रधानता दी गई है वह कैसे प्राप्त हो सकेगी ? अतः इस "शब्द द्वारा दोनों धर्मों का प्रतिपादन क्रमशः प्रधान रूप से ही होता है मुख्य गौण रूप से नहीं" एकान्त मान्यता को छोड़कर इसे कथञ्चिद् रूप में ही स्वीकार करना चाहिये—जिससे प्रथम और द्वितीय भंग की मान्यता पर भी आँच न आ सके। इसलिये प्रथम भंग अपने विषय को कथञ्चित् मुख्य रूप से और द्वितीय भंग अपने विषय को कथञ्चित् मुख्य रूप से और यह तृतीय भंग प्रथम द्वितीय दोनों भंगों के विषय को कथञ्चित् क्रमशः मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है ऐसी मान्यता को ही निर्दोष मानना चाहिये। यही निष्कर्षार्थ इस सूत्र और इसकी टीका का है।

सूत्र—अवक्तव्य शब्देनापि वाच्यत्वाभाव प्रसंगतश्चतुर्थ भंगैकान्तोऽप्यकान्तः ॥ २२ ॥

संस्कृत टीका—तृतीय भंगस्यैकान्तं निरस्य चतुर्थ भंगैकान्तमकान्तं प्रदर्शयतिशब्दो युगपदुभयार्थस्यावाचक एव तादृश वाचक शब्दा भावादित्यपि न युक्तियुक्तं तस्यावक्तव्य शब्देनापि अनिर्देश्यत्वात्-अवाच्यत्वात् अतोऽवाच्यत्व प्रसंगतश्चतुर्थभंगैकान्तो न श्रेयान् वदतोव्याघातात्।

हिन्दी व्याख्या—यदि ऐसा कहा जाय कि एक साथ अस्तित्व नास्तित्व धर्मों का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, इसलिये इन दोनों धर्मों से विशिष्ट वस्तु सर्वथा अवक्तव्य ही है। तो इस एकान्त मान्यता का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यदि ऐसी ही एकान्त मान्यता को प्रश्रय दिया जावे—तो फिर जैसे कोई ऐसा कहे कि "मेरी माता बन्ध्या है" अथवा भोजन करता हुआ कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि "मैं भोजन करते समय नहीं बोलता हूँ—मौन से भोजन करता हूं" तो यह सब जैसा वदतोव्याघात है—स्ववचन बाधित है—उसी प्रकार का यह भी वदतोव्याघात है। क्योंकि सर्वथा अवक्तव्यता में "यह अवक्तव्य है" इस प्रकार के शब्द द्वारा भी वह कथित नहीं किया जा सकता है। नहीं तो वह "अवक्तव्य" इस शब्द के द्वारा वक्तव्य हो जाता है और इस तरह से यह इस एकान्त पक्ष पर स्वयं की ओर से कुठाराघात करना है। अतः इस एकान्त मान्यता का परित्याग कर "कथंचित् वस्तु अवक्तव्य है" ऐसा अनेकान्त पक्ष ही अंगीकार करना चाहिये ॥ २२ ॥

सूत्र—इतरथापि संवेदनाच्छेषभंगत्रयैकान्तोऽप्येवमेव ॥ २३ ॥

संस्कृत टीका—विधिरूपार्थस्य वाचकत्वे सति युगपदुभयार्थस्यावाचक एव शब्द इत्येवं रूपः पञ्चमभंगैकान्तः, निषेधार्थस्य वाचकत्वे सति युगपदुभयार्थस्यावाचक एव शब्द इत्येवं रूपः षष्ठभंगैकान्त पक्षः, क्रमादुभयस्य वाचकः सन्नपि युगपदुभयस्यावाचक एव शब्द इत्येवं रूपः सप्तमभंगैकान्तपक्षोऽपि अकान्तः। पञ्चमभंगैकान्तस्याकान्तत्वं निषेधार्थस्य वाचकत्वेन सहापि युगपदुभयार्थस्य अवाचकत्व दर्शनात् सिद्ध्यति, षष्ठभंगैकान्तपक्षस्याकान्तत्वविध्यर्थस्य वाचकत्वेन सहापि युगपदुभयावाचकत्व दर्शनेन सिध्यति, सप्तमभंगैकान्तपक्षस्याकान्तत्वं केवलं विध्यादि प्राधान्येनापि वाचकत्व दर्शनतः सिध्यति इदमेवेतरथापि संवेदनाच्छब्देन प्रकाशितम्। किमधिकं प्रोक्तेन सुधियो विचारयन्तु, स्वयमेवैते एक धर्म-माश्रित्य मूलोक्ताः सप्तभंगाश्चन्द्रप्रभावाच्चकासते, कौमुदं च वर्धयन्ति।

सूत्रार्थ—शेष भङ्गों का—५वें, ६वें और ७वें भंगों का—एकान्त पक्ष भी इसी तरह का है—अकान्त है—सदोष है।

हिन्दी व्याख्या—पाँचवाँ भंग निर्दोष, जैसा कि पहले प्रकट किया जा चुका है, माना गया है। परन्तु जब ऐसा कहा जाता है कि शब्द विधिरूप अर्थ का वाचक होता हुआ एक साथ वह विधि-निषेध का अवाचक ही होता है तब उस भंग में एकान्तता आ जाती है और यह एकान्तता अनेकान्त पक्ष के समक्ष इसलिए प्रमाणित नहीं हो पाती है कि शब्द निषेध रूप पदार्थ का भी वाचक होता हुआ युगपत् विधि-निषेध दोनों रूप पदार्थ का अवाचक होता है। इस तरह केवल एक पञ्चम भंग ही नहीं बनता है। ६वाँ भंग भी बनता है।

इसी प्रकार ऐसा एकान्ततः प्रतिपादन करने वाला "कि शब्द नास्तित्व रूप अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ युगपत् विधि-निषेधात्मक पदार्थ का वाचक नहीं ही होता है।" छठवाँ भंग भी नहीं बनता है। क्योंकि शब्द विधिरूप अर्थ का भी प्रतिपादक होता हुआ विधि-निषेधरूप अर्थ का युगपत् वाचक नहीं होता है। इसी तरह पाँचवें भंग के सद्भाव हो जाने से केवल ६वें भंग का ही सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार सातवें भंग का भी एकान्त कथन अकान्त होता है क्योंकि शब्द प्रथम आदि भंगों का भी वाचक है यही बात ५वें, ६वें और सातवें भंग की एकान्तता में अकान्तता एकट करने वाली "इतर-थाऽपि संवेदनात्" इस पाठ द्वारा पुष्ट की गई है। अब इस सम्बन्ध में अधिक प्रतिपादन करने की

आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमान् जन ही स्वयं इसका विचार करलें। इस प्रकार से ये मूलोक्त सात भंग ही एक ही वस्तु में किसी एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से निष्पन्न होते हैं तथा ये चन्द्रप्रभा की तरह स्वयं ही प्रकाशशील हैं इसीलिए इनसे वस्तुतत्त्व को जानने में प्रकाश मिलता है। इनका सहारा लिये बिना वस्तुतत्त्व का तलस्पर्शी ज्ञान नहीं हो सकता है। तलस्पर्शी ज्ञान हुए बिना अन्यतीर्थिक जनों में अपनी-अपनी मान्यता को लेकर जो वितण्डावाद खड़ा हो गया है वह शान्त नहीं हो सकता है। और इसकी शान्ति हुए बिना पृथ्वी पर अमन-चैन नहीं बरस सकता है। यही बात संकेत के रूप में "कौमुदं च वर्धयन्ति" इस पाठ के द्वारा यहाँ प्रकट की गई है। अतः पारस्परिक सिद्धान्त विरोध को दूर करने वाले सात भंगों का आश्रयण करना आवश्यकीय है ॥२३॥

सूत्र—धर्म-धर्मं प्रति सप्तभंग सद्भावतोऽनन्ताः सप्तभंग्यः ॥२४॥

संस्कृत टीका—एकस्मिन् वस्तुनि विधेय निषेध्यानन्त धर्म सत्वेनानन्त भंग सम्भवे कथं सप्त भंग्येवेति न शंक्यम् प्रतिपर्याय सप्तभंगीमनुसृत्यानन्त पर्यायेष्वनन्तसप्तभंगीनामेव संभवात्। सप्त भंगीति कथनं तु सामान्यतो विज्ञेयं प्रतिधर्मं प्रतिपाद्यस्य सप्तविधजिज्ञासोदयेन प्रश्नानां सप्तविधत्वात्। जिज्ञासाऽपि सप्तविधं सप्तविधसन्देहोदयेन ज्ञातव्यम्। सप्तविध सन्देहोदये च कारणं तद्विषयभूत-धर्माणां सप्तविधत्वं विज्ञेयम्। अतोऽनन्त सप्तभंगीनामिष्टत्वात् तत्प्रसंगापादनेन नास्मभ्यं काचिदपि विभीषिका प्रदर्शनीयेति।

सूत्रार्थ—यह तो पहले ही समझा दिया गया है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उनमें से किसी एक धर्म के विधि और निषेध का आश्रय करके सप्तभंग बनते हैं। ऐसी स्थिति में शंकाकार ने ऐसी शंका उपस्थित की है कि जब एक-एक धर्म की विधि और उसके निषेध को लेकर ७ भंग बनते हैं कि जिसे आप सप्तभंगी कहते हैं तो फिर इस तरह से अनन्त सप्तभंगी आपको माननी पड़ेगी तो इसके उत्तर में कहा गया है कि इस प्रकार के अनन्त सप्तभंगी के प्रसंग प्राप्त होने से हम डरते नहीं हैं। क्योंकि हमें अनन्त सप्तभंगी मानना इष्ट है तो फिर सात भंगों का जो समाहार है वह सप्तभंगी है ऐसा जो आपने कहा है उसका क्या मतलब है? इस आपके कथन से तो हम यही समझ सके हैं कि भंग सात ही होते हैं। कमती अधिक नहीं। पर यहाँ तो आप सप्तभंगी को अनन्त होने की बात प्रकट कर रहे हैं। सो क्या कारण है?

उत्तर—भङ्ग तो सात ही होते हैं। कमती-बढ़ती नहीं, पर इससे यह बात थोड़े ही प्रतीत होती है कि सप्तभङ्गी अनन्त नहीं होती है। जब वस्तु अनन्त धर्मों का एक अखाड़ा है तो उसमें अनन्त धर्मरूप पहलवानों की कुश्ती होती ही रहती है इसे तो कोई रोक नहीं सकता है। उसमें कोई पहलवान किसी पहलवान को और कोई पहलवान किसी पहलवान को पछाड़ता ही रहता है। वस्तुवर्ती अस्तित्वरूप पहलवान जब नास्तित्वरूप पहलवान के साथ भिड़ता है तो वह अपनी द्रव्यादिरूप चतुष्टय की शक्ति के बल पर नास्तित्व रूप पहलवान को परास्त कर विजयी बन जाता है और जब पर-द्रव्यादि चतुष्टय की शक्ति के बल पर नास्तित्वरूपी पहलवान अस्तित्वरूपी पहलवान के साथ भिड़ता है तो वह उसे परस्त कर देता है। इस तरह विजयश्री कभी अस्तित्व के गले में और कभी नास्तित्व के गले में स्वतन्त्र रूप से वरमाला डालकर वरण करती है। ध्रुवरूप से यहाँ विजयश्री एक के ही पक्ष में पक्षपातिनी नहीं हो पाती है। और जब यह दोनों की एक-सी बलवत्ता का विचार कर संवरण करने की ओर झुकती है तो उस समय क्रमशः ही वह उन्हें संवरण करती है एक साथ

नहीं क्योंकि दोनों में क्रमशः बलवत्ता उसे प्रतीतिकोटि में आ गई है परन्तु उसकी बलवत्ता का व्यास्यान वह उन दोनों में एक साथ नहीं कर पाती है अतः उस अपेक्षा वे दोनों ही अवक्तव्य कोटि में आ जाते हैं। अवक्तव्य कोटि में आने पर भी वे दोनों अपनी-अपनी अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से बलशाली भी हैं और पररूप से बलशाली नहीं भी हैं। इस अपेक्षा वे ५वें और ६वें भंग की श्रेणी में आ जाते हैं। तथा एवं युगपत् क्रमशः बलवत्ता की स्थिति में वे दोनों ७वें भङ्ग की श्रेणी में आ जाते हैं। इस तरह इस रूपक के अनुसार जब तक हम किसी भी वस्तुगत एक धर्म की छानबीन करते हैं तो उस समय उसकी छानबीन करने में ये सात प्रकार के विचार सामने आते हैं। इन सात प्रकार के विचारों की उपस्थिति उस समय वस्तुगत धर्म को सात प्रकार से जानने की इच्छा से ही होती है। सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण इस प्रकार के ही सात प्रश्नों का होना है। इस प्रकार के सात प्रश्नों के होने का कारण वस्तुगत धर्म में सात प्रकार के संशयों का होना है। इसलिए वस्तुगत प्रत्येक धर्म में सात प्रकार के ये उत्तर रूप भङ्ग होते हैं। अतः इस प्रकार से अनन्त सप्तभङ्गी का सद्भाव जब सिद्ध हो जाता है तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वस्तुगत एक-एक धर्म विषयक ७ प्रकार के उद्भूत संशय को दूर करने के लिए ये पूर्वोक्त रूप से सात ही भङ्ग होते हैं।

सूत्र—सप्तभंगीयं प्रतिभंगं सकलादेश विकलादेश भेदात् द्विविधा ॥ २५ ॥

संस्कृत टीका—सप्तभंग्याः सद्भावं सोपपत्तिकं प्रख्याप्याधुना सा प्रमाण सप्तभंगी-नयसप्तभंगी भेदेन द्विविधा भवतीति प्रतिपादयितुं "सप्तभंगी प्रतिभंगमित्यादि" सूत्रमाह—

एवं च पूर्वोक्त स्वरूपा सप्तभंगी प्रतिभंग द्विविधा—सकलादेशस्वभावा विकलादेश स्वभावा च। सकलादेशस्वभावा प्रमाणसप्तभंगीत्युच्यते। विकलादेशस्वभावातु नयभंगीत्युच्यते। तथा चैकधर्म बोधनमुखेन कालादिभिरभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेणवाऽनेकाशेषधर्मात्मकवस्तु विषयक बोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशम्, अभेदवृत्तेरभेदोपचारस्य वाऽनाश्रयणे एकधर्मात्मक वस्तु विषयक बोधजनक वाक्यत्वरूपं विकलादेशत्वम्। तत्र द्रव्यार्थिकनयानुसारेण सर्वपर्यायाणां द्रव्यात्मकत्वात् स्यादस्त्येव घटः इति वाक्यमस्तित्वस्वरूपैकधर्मं प्रतिपादन द्वारा तदात्मक सकलधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽभेदवृत्त्या प्रतिपादकं भवति, पर्यायार्थिकनयानुसारेण तु सर्वपर्यायाणां परस्परभिन्नत्वात् एकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने सामर्थ्यविरहादभेदोपचारेणानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादकं भवति। इतिरीत्या द्रव्यार्थिकनयेन पर्यायार्थिक नयेन वा प्रतिभंग प्रमाण सप्तभंगी प्राधान्येन अतिस्त्वात्मक धर्मबोधकद्वारा अभेदवृत्त्याः अभेदोपचाराद्वा विवक्षितास्तित्वाद्येकधर्मात्मकानेकाशेषधर्मात्मक वस्तु विषयक बोधजनक वाक्य रूपा सती सकलादेशत्वभावा भवति नय सप्तभंगी तु अभेदवृत्तेरभेदोयचारस्य वाऽनाश्रयणे प्रधानतया एकधर्मात्मक वस्तु विषयक बोधजनक वाक्य रूपा सती विकलादेशस्वभावा भवतीति भावः।

हिन्दी व्याख्या—यह सप्तभगी प्रत्येक भंग में सकलादेशरूप और विकलादेशरूप होती है। इसी कारण इसे इन्हीं दो भेदों में विभक्त किया गया है। प्रमाणवाक्य सकलादेशरूप होता है—इसलिये सकलादेश स्वभाव वाली प्रमाण सप्तभंगी होती है। नयवाक्य विकलादेश रूप होता है। इसलिए विकलादेश स्वभाववाली नय सप्तभंगी होती है। वस्तुगत अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म के प्रतिपादन द्वारा जो वाक्य उन शेष धर्मों की उस प्रतिपादित किये गये धर्म के साथ कालादि द्वारा अभेद वृत्ति मानकर के उसमें उनके अभेद का उपचार करके उन समस्त धर्मों का प्रतिपादन करता है, उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु

सम्बन्धी बोध का जनक होता है—वह सकलादेश रूप प्रमाण वाक्य है। इसका तात्पर्य ऐसा है कि प्रमाण से जानी हुई अनन्तधर्मस्वभाववाली वस्तु के काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द की अपेक्षा से अभेदवृत्ति अथवा अभेद का उपचार करके सम्पूर्ण धर्मों को एक साथ प्रतिपादन करने वाले वाक्य को सकलादेश कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म मौजूद हैं। इन समस्त धर्मों का एक वाक्य द्वारा युगपत् कथन होना सर्वथा अशक्य है परन्तु फिर भी इन समस्त धर्मों का युगपत् एक वाक्य द्वारा कथन हो सके इसके लिये एक तरीका है; और उस तरीके का नाम ही प्रमाण वाक्य या सकलादेश है। जब ऐसा कहा जाता है कि "घट कथंचित् अस्तिस्वरूप है"। तब यही एक वाक्य घट के उस प्रतिपादित अस्तित्व धर्म के साथ शेष उस वस्तु रूप घट में रहे अनन्त धर्मों की अभेद वृत्ति मान लेता है या उसके साथ उन धर्मों का अभेदोपचार कर लेता है। इस अभेदवृत्ति करने में या अभेदोपचार करने में ये काल, आत्मरूप आदि बातें सापेक्ष होती हैं। घटादि पदार्थों में जिस समय अस्तित्व आदि धर्म रहते हैं उस समय उनमें और भी अनन्त धर्म रहते हैं। यह काल की अपेक्षा उस प्रतिपादित अस्तित्व धर्म के साथ अन्य अनन्त धर्मों की अभेदवृत्ति या अभेदोपचार है। इससे यह समझा जा सकता है कि अस्तित्वादि जितने भी धर्म उस वस्तु रूप घटादि पदार्थ में हैं वे सब एक हैं। अस्तित्व धर्म से भिन्न नहीं हैं। अतः एक अस्तित्व धर्म के प्रतिपादित होते ही उन समस्त धर्मों का प्रतिपादन हो गया समझ लिया जाता है। आत्म रूप की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—जिस प्रकार अस्तित्व घटादि पदार्थ का स्वभाव है उसी प्रकार और भी उस घटादिरूप वस्तु के धर्म उसके स्वभाव रूप हैं। अर्थ की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—जिस प्रकार घटादि पदार्थ अस्तित्व धर्म के आधार-भूत हैं, उसी प्रकार से वे और भी अन्य धर्मों के आधारभूत हैं। यहाँ अर्थ का अर्थ आधारभूत द्रव्य है। सम्बन्ध की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—जिस प्रकार घटादि पदार्थ का और अस्तित्व धर्म का तादात्म्य सम्बन्ध है यही सम्बन्ध अन्य अशेष धर्मों का उस घटादि पदार्थ के साथ है। उपकार की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से है—जो उपकार अस्तित्व के द्वारा अपने स्वरूप में अनुराग उत्पन्न करता है वही अपने स्वरूप में अनुराग शेष धर्मों द्वारा भी किया जाता है। गुणि-देश की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—गुणिदेश का मतलब है द्रव्य का आधारभूत स्थान—क्षेत्र। जो क्षेत्र द्रव्य से सम्बन्धित-तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त हुए-अस्तित्व का है वही क्षेत्र उस द्रव्य से सम्बन्धित अन्य धर्मों का भी है। संसर्ग की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—एक घटादि रूप वस्तु की अपेक्षा जो संसर्ग अस्तित्व का है वही संसर्ग उसके साथ अन्य धर्मों का भी है। शब्द की अपेक्षा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार इस प्रकार से होता है—जिस अस्ति शब्द से अस्तित्व धर्म जाना जाता है उसी अस्ति शब्द से अन्य और भी धर्म जाने जाते हैं। इस प्रकार से कालादि को लेकर एक अस्तित्व धर्म के साथ शेष अन्य धर्मों की द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अभेदवृत्ति मान ली जाती है या पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रहे हुए भी उन सब धर्मों में अभेद का उपचार कर लिया जाता है।

अभेद वृत्ति द्रव्यार्थिक नय की "द्रव्य की समस्त पर्यायें द्रव्य रूप हैं।" इस मान्यतानुसार समस्त धर्मों में एवं अनेक धर्मियों में मानी जाती है और अभेद का उपचार इनमें इसलिये किया जाता है, कि पर्यायार्थिक नय की मान्यता के अनुसार जितनी भी पर्यायें हैं चाहे वे सहभावी रूप हों चाहे क्रमभावीरूप हों सब आपस में एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न ही हैं। इसलिये एक प्रमाण वाक्य अनेकार्थ का बोधक नहीं हो

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

सकता है। वह भी अपने ही एक अर्थ का बोधक होता है। इस तरह द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से और पर्यायार्थिक नय की गौणता से प्रमाणवाक्य सकलादेशक सकल धर्मों की पिण्डरूप बनी हुई एक ही वस्तु का कथक कहा गया है। अनेक अर्थ का युगपत् बोधक नहीं कहा गया है। सकल धर्मों में अभेद वृत्ति पर्यायार्थिक नय की गौणता एवं द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता करने में ही आती है। तथा—जिस समय पर्यायार्थिक नय की गौणता होती है, उस समय सकल धर्मों में भिन्नता होने पर भी अभेद का आरोप किया जाता है। क्योंकि काल आदि की अपेक्षा उनमें अभेद वृत्ति नहीं हो सकती है।

प्रश्न—जब प्रमाण वाक्य एक साथ अनेक धर्मों को जाननेपूर्वक उनका एक धर्म के साथ-साथ ही प्रकाशन कर देता है तो फिर "स्यादवक्तव्य" ऐसा जो चतुर्थ भंग माना गया है वह अब नहीं बन सकता है।

उत्तर—यह बात तो जब अवक्तव्य भंग का प्रकरण लिखा गया है वहीं पर कह दी गई है कि युगपत् अनेकार्थ को प्रकाशित करने की किसी भी शब्द से शक्ति नहीं है परन्तु यहाँ पर जो मान्यता प्रकट की गई है वह भी अनन्तधर्मात्मक एक ही वस्तु को प्रमाणवाक्य प्रकाशित करता है, यही कही गई है। एक ही धर्म के साथ जो अनन्त धर्मों को अभेद कहा गया है वह अभेदवृत्ति और अभेद के आरोप से ही कहा गया है। परन्तु फिर भी जब प्रमाणवाक्य उनका प्रकाशन करेगा तब तो वह उनका प्रकाशन क्रमशः ही करेगा, युगपत् नहीं। अतः प्रमाणवाक्य में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो एक ही साथ अनन्त धर्मों का प्रकाशन कर सके। वह तो केवल अनन्तधर्मों से विशिष्ट वस्तु को जानता है।

प्रश्न—तो फिर प्रमाण का यह लक्षण सुसंगत कैसे हो सकता है कि वह सकलादेशक है? क्योंकि समस्त का कथन करने वाला ही सकलादेशक होता है।

उत्तर—लक्षण की सुसंगति में कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि वह एक ही अस्तित्वादि धर्म के साथ-साथ उस वस्तुगत अनन्त धर्मों का अभेद मानकर या उनको उसके साथ अभेद का उपचार कर उनके पिण्डरूप हुई उस एक वस्तु को उनसे युक्त हुई जानता है और उसी का कथन करता है। सकल धर्मों का एक साथ कथन करने वाला वाक्य प्रमाणवाक्य है ऐसा सकलादेशक का अर्थ नहीं है किन्तु सकल धर्मों से युक्त उस वस्तु को मानकर-जानकर उसका कथन करना इसमें कोई बाधा नहीं आती है। यही सकलादेशक का अर्थ है इस तरह वस्तुगत अनेक धर्मों का वह कथन नहीं करता है। वह कभी अस्तित्व-मुख से अनन्त धर्मों को समेट कर उसे प्रकाशित करता है तो कभी निषेधमुख से अनेक धर्मों को समेटकर उसी वस्तु को प्रकाशित करता है—इत्यादि।

प्रश्न—तो फिर इस प्रकार के कथन से तो वस्तु के अनन्त धर्मों की अनन्त ही प्रमाण भंगियाँ बनेंगी, प्रमाण सप्तभंगी कैसे बन सकेगी?

उत्तर—प्रमाण सप्तभंगी क्यों नहीं बन सकेगी? इसके निष्पन्न होने में बाधा ही क्या है। क्योंकि कभी वह विधिमुख से अनन्त धर्मों का अस्तित्व के साथ कालादिकों के द्वारा अभेद मानकर उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रधानतया कथन करता है और कभी वह निषेधमुख से अनन्तधर्मों का उसके साथ

अभेद मानकर प्रधान रूप से उस वस्तु को प्रकाशित करता है।[1] इसी प्रकार क्रमशः इन दोनों धर्मों की मुख्यता से शेष अनन्त धर्मों को समेटकर इन सब धर्मों की एक पिण्डरूप उस वस्तु को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार का कथन शेष भंगों के द्वारा अनन्त धर्मों का अभेदादि करके वह उनकी पिण्ड रूप उस वस्तु को प्रकाशित करता है, ऐसा जान लेना चाहिये। इस तरह से इन सात भंगों के उस प्रमाणभंगी में बनने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्रश्न—आपके इस कथन से तो यह प्रमाणवाक्य एक प्रकार से भानुमती का पिटारा ही साबित होता है। जिस प्रकार भानुमती के पिटारे में सब प्रकार की चीजें संगृहीत रहती हैं इसी प्रकार से इस पिटारे में भी अस्तित्व नास्तित्वादि समस्त धर्म संगृहीत होकर रहते हैं परन्तु उस भानुमती के पिटारे की कोई कीमत नहीं होती है क्योंकि वहाँ व्यवस्थित कोई चीज नहीं रहती है। इसी प्रकार से आपका यह प्रमाण वाक्य भी अनुपादेयता की श्रेणि में रखा जावे तो कोई अनौचित्य नहीं है।

उत्तर—यह अनौचित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है क्योंकि यहाँ पर प्रत्येक धर्म अपने-अपने स्वभाव से सुव्यवस्थित ही रहते हैं, अव्यवस्थित नहीं। अतः यह विलक्षण जाति का ही ज्ञानियों द्वारा आविष्कृत हुआ एक पिटारा है, अबुद्ध भानुमती का पिटारा नहीं है। इस तरह अवक्तव्य भंग के बनने में कोई बाधा नहीं आती है।

नय सप्तभंगी जब अभेदवृत्ति और अभेद का उपचार नहीं आश्रित होता है तब बनती है। नय विकलादेशक इसी कारण से माना गया है कि वह वस्तु का उसमें के किसी एक धर्म को मुख्य करके उसी का विधि निषेध द्वारा प्रतिपादन करता है। इस एक धर्म के विधि-निषेध के विचार से सात भंग हो जाते हैं। विकलादेश में द्रव्यार्थिकनय की गौणता और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होती है।

सूत्र—द्रव्यपर्यायार्पितेन कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च सकलवस्तुनः प्रतिपादकत्वं सकलादेशत्वम् ॥२६॥

संस्कृत टीका—उत्तानार्थमिदं सूत्रम् सकलस्येति सपर्यायस्येति यावत्।

हिन्दी व्याख्या—विशेषार्थ—सकलादेश का क्या अर्थ है यही बात इस सूत्र द्वारा प्रकट की गई है। इस सम्बन्ध में जो भी स्पष्टीकरण होना चाहिये वह सब २४वें सूत्र में किया जा चुका है। अनन्तधर्म यहाँ सकल शब्द से लिये गये हैं क्योंकि गुण और पर्यायवाला[2] जो होता है, वही द्रव्य है—ऐसा द्रव्य का लक्षण कहा गया है। सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। गुण और पर्याय का ग्रहण पर्यायार्थिक नय से होता है इसलिये नयों के दो भेद किये गये हैं—एक द्रव्यार्थिकनय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। गुणों को ग्रहण करने वाला स्वतन्त्र गुणार्थिकनय नहीं माना गया है; क्योंकि गुणों को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिकनय ही माना गया है। इस तरह द्रव्य में सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें रहती हैं।

---

१. "नन्वेवं प्रधानभावेनाशेष धर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं कथमुपपद्येत येन सकलादेशः प्रमाणाधीनः स्यादितिचेत्कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्य पर्याय तयार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूमः।
—"अष्ट सहस्री" पृ० १३८।

२. गुण पर्ययवद्द्रव्यम्।
—तत्त्वार्थः अध्याय ५वाँ।

द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य और पर्यायार्थिकनय का विषय पर्यायें हैं। अतः जब किसी भी वस्तु का विचार किया जाता रहा है उस विचार में ये दो ही दृष्टियां काम देती हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तुगत अनन्त गुणादि सब एक द्रव्य रूप ही हैं, वे उससे भिन्न नहीं हैं। अतः द्रव्यदृष्टि एक द्रव्य को ही विषय करती है, गुणपर्यायादि को नहीं। इसी तरह पर्यायदृष्टि द्रव्य को विषय नहीं करती, वह पर्याय को ही विषय करती है। इस तरह द्रव्यदृष्टि द्रव्य को अनन्त गुणात्मक मानकर जब चलती है तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्य और द्रव्य की पर्यायों में आपस में इसकी अपेक्षा भेद नहीं है किन्तु अभेद है। पर्यायें परिवर्तनशील होती है और वे भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिये अनन्त धर्मों में पर्यायों में अभेद का उपचार किया जाता है अतः इस रूप से जो वस्तु का कथन होता है वही सकलादेश है और यह प्रमाणाधीन है।२६।

सूत्र—एकधर्ममुखेन भेदं कृत्वा वस्तुप्रतिपादक वाक्यत्वं विकलादेशत्वम् ॥२७॥

संस्कृत टीका—यदा पूर्वोक्त कालादिभिः कृत्वा नयविषयीकृतस्य वस्तु धर्मस्य भेदो विवक्ष्यते तदा एकस्य शब्दस्य युगपदनेकार्थ प्रतिपत्तिजनने सामर्थ्याभावेन क्रमशो वस्तुगतैकैक धर्म प्रतिपादन परस्य विकलादेशकत्वं जायते। एकैक धर्म प्रतिपादनद्वारा तेनैकैक धर्म विशिष्ट वस्तु प्रतिपादनात्। तथा चैक-धर्मात्मक वस्तु विषयक बोधजनक वाक्यत्वं विकलादेशत्वम्।

सूत्रार्थ– वस्तुगत अनन्त धर्मों को भिन्न-भिन्न मानकर किसी एक धर्म की प्रधानता करके वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहा गया है।

हिन्दी व्याख्या—कालादिकों द्वारा जिस प्रकार से वस्तुगत धर्मों में अभेदवृत्ति मानी जाती है उसी प्रकार उनके द्वारा भेदवृत्ति भी समर्थित की जाती है। अतः वस्तुगत जितने भी धर्म हैं वे परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। उनमें से किसी एक धर्म को लेकर उस वस्तु का जो कथन किया जाता है वह नयवाक्य है। जैसे वस्तु अस्तित्व धर्मविशिष्ट है—यह नयवाक्य है, क्योंकि इससे वस्तु के शेष धर्मों को गौण करके एक अस्तित्व धर्म द्वारा ही उसका कथन किया गया है। इसी प्रकार से नयवाक्य नास्तित्वादि धर्मों को लेकर क्रमशः उस वस्तु को उस धर्मविशिष्ट प्रतिपादन करता है। यह प्रतिपादन करना ही विकलादेश है और यह नयाधीन है ॥ २७ ॥

सूत्र—विषयाजन्यमपि ज्ञानं स्वावरणक्षयोपशमादिना तं प्रदीपवत्प्रकाशयति ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका—बौद्धास्तावन्मन्यन्ते—"ना कारणं विषयः" इति तेषां मान्यतानुसारेण ज्ञानं विषयाज्जायमानमेव तदाकारतां धारयत् तं विषयं गृह्णातीति अन्यथा घटज्ञानस्य घटएव विषयो न पट इति प्रतिनियमः कथं सिद्धि सौधपथमाग्रास्यति। तेषामिमां मान्यतां परिहारार्थं स्वमान्यतां च स्थाप-नार्थं सूत्रकारः "विषयाजन्यमपि" इत्यादि सूत्रं प्राह—यथा प्रदीपः स्वप्रकाश्य घटादिभ्योऽजातोऽपि स्वा-वारक कुड्याद्यपगमेन पदार्थान् प्रकाशयति तथैव ज्ञानमपि विषयाजन्यमपि विषयानाकारमपि स्वावरण क्षयोपशमानुसारमेव घटपटादि पदार्थान् जानाति। अजन्यमिति पदमुपलक्षणं तेनातदाकारत्वस्यापि ग्रहणात् ॥ २८ ॥

हिन्दी व्याख्या—ज्ञान अपने ज्ञेय पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता है और न उनके आकार का ही होता है फिर भी वह उन्हें प्रदीप की तरह अपने आवरण के क्षयोपशमादि के अनुसार ही प्रकाशित करता है। बौद्धों का ऐसा मानना है कि ज्ञान अपने द्वारा ज्ञेय घट-पटादि पदार्थों को तभी प्रकाशित कर सकता है

कि जब वह उनसे उत्पन्न होता है और उनके आकार का होता है। इस विषय को पुष्ट करने के लिये वे कहते हैं—जो ज्ञान का कारण नहीं होता है वह उसका विषय नहीं होता है। उनकी इस मान्यता को हटाने के लिये और अपनी मान्यता को स्थापित करने के लिये ही यह सूत्र सूत्रकार ने कहा है।

इसके द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार दीपक अपने द्वारा प्रकाश्य घट-पटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता है और न उनके आकार को ही धारण करता है फिर भी वह उनका प्रकाशन करता है इसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा ज्ञेय घट-पटादिकों से उत्पन्न नहीं होता है और न उनके आकार को ही धारण करता है फिर भी वह अपनी योग्यता के अनुसार उनका प्रकाशन करता है।

प्रश्न—यदि ऐसी ही बात है तो फिर यह नियम तो नहीं बन सकता है कि घट ज्ञान का घट ही विषय हो पट नहीं, चाहे जो भी विषय उस ज्ञान का हो सकता है।

उत्तर—ऐसा कैसे हो सकता है ? ज्ञान जिस पदार्थ को जानेगा वही पदार्थ उस ज्ञान का विषय होगा। फिर घट के जानने के समय वह पट को जानने वाला क्यों नहीं होगा ऐसी आशङ्का ही कैसे उठ सकती है ?

प्रश्न—ऐसी आशङ्का क्यों नहीं उठ सकती है—उठ सकती है और इस प्रकार से कि—ज्ञान जब घट से तो उत्पन्न हुआ नहीं है और घट को जानता है तो इसी प्रकार वह पट से भी उत्पन्न नहीं हुआ है तो पट को भी जानना चाहिये। हमारे यहाँ तो यह नियम सध जाता है। क्योंकि वह घट से उत्पन्न हुआ है इसलिये घट को ही जानता है, पट से उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिये पट को नहीं जानता है।

उत्तर—यदि ऐसा नियम ही अङ्गीकार किया जावे तो फिर पूर्व ज्ञान क्षण से उत्तरकालिक ज्ञान जो उत्पन्न होता है उस उत्तरकालीन ज्ञान क्षण के द्वारा पूर्व ज्ञानक्षण जाना जाना चाहिये। परन्तु वह उसके द्वारा जाना जाता है ऐसा बौद्ध-सिद्धान्त नहीं मानता है। क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में क्षणिकवाद के ध्वस्त होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसलिये ज्ञान घट से—अपने विषय से—उत्पन्न होता है इसीलिये उसे जानता है ऐसा कथन नहीं बनता है।

प्रश्न—तो फिर विषयाजन्य के अभाव में यह प्रतिनियम कैसे बनता है कि घट ज्ञान का घट ही विषय है, पट नहीं।

उत्तर—इस नियम के बनने में कोई बाधा नहीं है। विषयाजन्य होने पर भी ज्ञान में अपने आवारक कर्म के क्षयोपशम आदि के कारण इतनी ही योग्यता है कि वह उस समय घट को ही जानता है—पट को नहीं। क्योंकि उस समय में उसमें इतनी योग्यता नहीं है। इसी सब चर्चा को हृदयङ्गम करके यहाँ सूत्र में "स्वावरण क्षयोपशमादिना" यह पद रखा गया है। इस विषय में और भी अधिक विवेचन हो सकता है परन्तु प्रथमोपयोगी होने से इतना ही स्पष्टीकरण इस सूत्र के सम्बन्ध में पर्याप्त है। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि ज्ञान विषय से अजन्य एवं अतदाकार होकर भी अपने विषय का प्रकाशक होता है। यह बात हम दीपक में देखते हैं। दीपक जिन पदार्थों का प्रकाशक होता है वह न तो उनसे उत्पन्न होता है और न उनके आकार को ही धारण करता है—फिर भी वह उनका प्रकाशक होता है ॥ २५ ॥

सूत्र—न ते तदङ्गे तयोर्व्यस्तसामस्त्येन व्यभिचरितत्वात् ॥ २९ ॥

संस्कृत टीका—ते—तदुत्पत्ति तदाकारते। तस्य प्रत्यक्ष परोक्षात्मकस्य ज्ञानस्य अंगे-विषय व्यवस्थां प्रति कारणे न भवतः, व्यभिचरितत्वात्। सम्प्रति तदेव स्पष्टं कुर्वे—ज्ञानं हि स्वावरण क्षयोपशम क्षयरूपतया योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति, अतस्तद्व्यवस्थां प्रति तदुत्पत्ति तदाकारते कारणभूते न भवतः, बौद्धा हि मन्यन्ते नीलादि ज्ञानं नीलादितः उत्पन्नत्वाद् नीलाद्याकारत्वाच्च नीलादेरेव प्रकाशकं भवति नान्यस्य घटपटादेः, तदर्थादनुत्पन्नस्य अतदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वान् प्रति साधारणतयाऽविशेषात् तस्य नीलादि प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थापकत्वं न स्यात्-तस्मात् ज्ञानरूपस्य प्रमाणस्य प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थापकत्वे तदुत्पत्ति तदाकारते एव नियामिके व्यवस्थापिके वा भवतः, नतु तदावरण क्षयोपशमादि रूप योग्यतेति तेषां मान्यता न समीचीना तयोर्व्यस्तत्व सामस्त्येन व्यभिचरित्वात्। तथाहि—प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य किं व्यस्ताभ्यामेव तदुत्पत्ति तदाकारताभ्यां प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थापकत्वम् आहोस्वित् समस्ताभ्यामेव ताभ्याम्। न तावत् प्रथमः पक्षः इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारात् तदुत्पत्तेः तदाकारस्य च समानार्थैः नापि द्वितीयः पक्षः समानजातीय ज्ञानस्य समानान्तर ज्ञान ग्राहकत्व प्रसंगात्। तत्र योग्यताया ऋतेऽन्यद् ग्रहण कारणं पश्याम इति ॥सू० २९॥

हिन्दी व्याख्या—यद्यपि २७वें सूत्र द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि ज्ञान अपने आवारक कर्म के क्षयोपशम आदि से जन्य योग्यता के बल से ही ज्ञेय का प्रकाशन करता है परन्तु फिर भी इसी बात को और भी विशेष रूप से परिस्फुट करने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की है। अतः इस सम्बन्ध में पुनरुक्ति दोष का यहाँ आह्वान नहीं हो सकता है। तथा—एक बात यह भी है कि गुरुजन मन्दबुद्धि वाले शिष्यजनों को जैसे भी बोध हो उस रूप से उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं—इसीलिए इस सूत्र द्वारा २७वें सूत्र में कथित विषय को विशेष रूप से समझा रहे हैं। इसमें यह समझाया गया है—कि बौद्धों ने जो तदुत्पत्ति-तदाकारता को लेकर ज्ञान अपने विषय का नियामक होता है ऐसा माना है—उस पर ऐसा कहा गया है कि वे तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनों ही तदंग प्रत्यक्ष रूप ज्ञान के अपने ज्ञेय को जानने के प्रति व्यवस्थापक नहीं है क्योंकि इन दोनों के ज्ञान के साथ स्वतन्त्र रूप से अथवा साथ-साथ रहने पर भी योग्यता को माने बिना व्यभिचार दोष देखा जाता है।

जब बौद्धों की ओर से ऐसा कहा गया है कि नीलादि को विषय करने वाला नीलज्ञान नीलरूप पदार्थ से उत्पन्न होता हुआ और उसके आकार[1] का होता हुआ ही उस नील पदार्थ को विषय करता है घटपटादि को नहीं—क्योंकि वह उससे उत्पन्न नहीं हुआ है और न उसके आकार का ही हुआ है। इसलिए नील ज्ञान नीले पदार्थ को ही जानता है। नीले पदार्थ को जानते समय वह और दूसरे घटपटादि पदार्थों को नहीं जानता है। इस प्रकार से हमारे यहाँ अपने-अपने विषय को ज्ञान में प्रतिनियत करने की व्यवस्था बन जाती है। पर जो ऐसा नहीं मानते हैं उनके यहाँ अर्थ से अनुत्पन्न और उसके आकार के नहीं हुए ज्ञान में इस प्रकार की विषय व्यवस्था नहीं बनती है। अतः एक पदार्थ को जानते समय उनका ज्ञान और भी अनेक पदार्थों को जानने के प्रसंग वाला क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा अतः इस अप्रत्याशित प्रसंग प्राप्ति को हटाने के लिए तदुत्पत्ति और तदाकारता को ही नियामक और व्यवस्थापक मानना चाहिए, तदावरण क्षयोपशमरूप योग्यता को नहीं। इस प्रकार का बौद्धों की ओर से तदावरण

---

१. अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थ रूपताम्।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥१॥

क्षयोपशमरूप योग्यता पर प्रहार किया तो सिद्धान्तवादी की ओर से यह कहा गया है कि तदुत्पत्ति और तदाकारता को लेकर भी ज्ञान अपने ज्ञेय पदार्थ का बिना तदावरण क्षयोपशमरूप योग्यता के न नियामक होता है और न व्यवस्थापक होता है। देखो—ज्ञान जिस प्रकार पदार्थ से उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है अतः तदुत्पत्ति के बल से उसे इन्द्रियों को जानने वाला होना चाहिए। और यदि वह इन्द्रियों को जानता है तो फिर आँख में लगे हुए अञ्जन को भी उसे जान लेना चाहिए। इस तरह आँख में अञ्जन लगाकर जो दर्पण उठाकर लोग उसे देखते हैं सो यह क्यों ? अतः तदुत्पत्ति सम्बन्ध के रहने पर भी वह ज्ञान में विषय का व्यवस्थापक नहीं होता है यही बात इससे प्रमाणित होती है। और यदि तदाकारता विषय व्यवस्थापिका ज्ञान में होती तो फिर एक घट का ज्ञान अपने आकार के समस्त घटों का ज्ञाता हो जाना चाहिए, परन्तु नहीं होता है। अतः इससे भी यही चरितार्थ होता है कि तदाकारता भी विषय व्यवस्था कराने में अकिञ्चित्कर है। और यदि ऐसा माना जाय कि तदुत्पत्ति और तदाकारता ये दोनों जिस ज्ञान में होती हैं वहीं पर ये विषय व्यवस्थापक होती हैं तो फिर जो ज्ञान प्रथम ज्ञान से उत्पन्न होता है और उसके आकार का होता है वह ज्ञान अपने उत्पादक ज्ञान को जानने वाला बौद्धों ने क्यों नहीं माना है ? इस तरह से अलग-अलग भी और समस्त भी तदुत्पति और तदाकारता ये दोनों व्यभिचरित प्रकट की गई हैं। अतएव यही मानना युक्तियुक्त है कि प्रत्येक ज्ञान प्रतिनियत पदार्थों को अपने आवरण रूप कर्म के क्षयोपशम रूप सामर्थ्य से ही जानता है। अतः पदार्थों को प्रतिनियत रूप में जानने वाले ज्ञान में यही कारण है ऐसा ही मानना चाहिए। अन्य और कोई कारण नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न—पदार्थों के जानने में कारण तो आलोकादि भी होते हैं फिर ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि और कोई कारण नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर—आलोकादि पदार्थ की तरह ही ज्ञान में कारण नहीं होते हैं—क्योंकि वे परिच्छेद्य हैं। जो परिच्छेद्य होता है वह अन्धकार की तरह उसका कारण नहीं होता है ॥सू० २९॥

सूत्र—प्रमाणविषयीभूतोऽर्थः सामान्य विशेषाद्यनेकान्तात्मकः[1] ॥सू० ३०॥

संस्कृत टीका—ज्ञानस्य प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थापकत्वं स्वावरण क्षयोपशमरूप योग्यतया प्रतिपाद्य सम्प्रति प्रमाणस्य विषयीभूतार्थं स्वरूपं सूत्रकारः प्रकाशयति—प्रमाण विषयीभूतोऽर्थ इत्यादिना—तथा च प्रमाणभूत ज्ञानेन परिच्छिद्यमानो गवादि पदार्थः सामान्यविशेषरूपानेकान्तात्मको भवति "अयं गौः अयं गौः" इत्याकारकानुगत बुद्धि नियामकत्वं सामान्यम्। अयं गौरस्माद् गोभिन्न इत्याकार व्यावृत्ति बुद्धि नियामकत्वं विशेषः। तत्र गौरित्युक्ते शुक्ल कृष्णादि गोषु विषयेषु प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं तद्गतं सामान्याकारं गोत्वं व्यावृत्ताकारं च व्यक्तिरूपं युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धम्। एवमपि परोक्षम्। न च वाच्यं सामान्य मात्र विषयं परोक्ष प्रमाणमिति प्रत्यक्षस्येव तस्यापि सामान्य विशेषात्मक वस्तु विषयत्वात् सामान्यं विहाय केवलं विशेषो विशेषं वा विहाय केवलं सामान्यं न कुत्रापि उपलभ्यते। एकान्ततस्तयोः पार्थक्यासंभवात्। तथा चोक्तम्—"निर्विशेषं हि सामान्यं भवत् खर विषाणवत् सामान्य रहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि" ॥सू० ३०॥

---

१. "स्वतोऽनुवृत्ति व्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥" —(स्याद्वाद मंजर्याम्)

सूत्रार्थ—प्रमाणभूत ज्ञान का विषय सामान्य एवं विशेष आदि धर्मों वाला पदार्थ होता है ।३०।

हिन्दी व्याख्या—कितनेक वादी ऐसे हैं जो ज्ञान का विषय केवल सामान्य ही मानते हैं, और कितनेक केवल विशेष ही मानते हैं तथा कितनेक ऐसे भी हैं जो परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष को ही ज्ञान का विषय मानते हैं, इनका ऐसा कहना है कि "पदार्थों में—घट-पटादिकों में जो अनुवृत्ति प्रत्यय होता है वह सामान्य के साथ उस पदार्थ का सम्बन्ध है इसलिए होता है और जो व्यावृत्ति प्रत्यय होता है वह उस पदार्थ के साथ सम्बन्धित विशेष के कारण होता है। कोई भी पदार्थ स्वयं न सामान्यात्मक और न विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष स्वयं पदार्थ माने गये हैं[1] वैशेषिकों की ऐसी मान्यता है। जैन दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है कि पदार्थ स्वयं ही सामान्य विशेष गुणवाला है। अतः उनके यहाँ सामान्य और विशेष ये पदार्थरूप नहीं माने गये हैं किन्तु पदार्थ के धर्मरूप—गुणरूप—माने गये हैं।[2] धर्मी से धर्म भिन्न नहीं होता है ऐसा अनेकान्त का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणभूत ज्ञान का विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ कहा गया है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। इसमें यह हेतु प्रकट किया गाय है कि जब हम गाय को देखते हैं तो उस गाय को लेकर ही अन्य देखी जाने वाली गायों में भी यह गया है ऐसी प्रतीति होती है। और यह भी प्रतीति होती है कि गाय से महिष भिन्न है। अथवा यह गाय उस काली गाय से भिन्न है। इस तरह से हमें जो वह अनुगत रूप तथा एक शब्द द्वारा वाच्यता रूप प्रतीति एवं भिन्नता की प्रतीति हुई है वह उस गोत्व सामान्य विशिष्ट एव विशेष धर्म विशिष्ट गाय से ही हुई है। गाय से भिन्न रहे हुए सामान्य-विशेष द्वारा नहीं हुई है। वैशेषिकों ने सामान्य और विशेष धर्म अपने व्यक्तियों से सर्वथा जुदे माने हैं और परस्पर निरपेक्ष माने हैं—तब कि जैन दार्शनिकों ने इन्हें वस्तु के स्वरूपभूत और उससे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न माना है। प्रत्यक्षज्ञान से जैसी इनकी प्रतीति ये दोनों वस्तु के स्वभावभूत हैं ऐसी होती है—प्रत्यक्ष से ये जाने जाते हैं—उसी प्रकार से परोक्ष प्रमाणभूत ज्ञान भी इन्हें जानता है। इसलिये ऐसी जो किसी की मान्यता है कि परोक्षप्रमाण केवल सामान्य को ही जानता है और विशेष को प्रत्यक्ष जानता है सो यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्य को छोड़कर विशेष और विशेष को छोड़कर सामान्य स्वतन्त्र नहीं रहता है। ये दोनों साथ-साथ ही एक जगह रहते हैं। अतः एकान्ततः इनमें पार्थक्य नहीं है। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है—विशेषविहीन सामान्य गधे के सींग की तरह असत् है और सामान्यविहीन विशेष भी इसी तरह है—अर्थात् गधे की सींग के जैसा असत् है। अतः यही मान्यता उचित है कि प्रमाण का जो विषय होता है वह सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही होता है। केवल सामान्यात्मक और केवल विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय नहीं होता है, क्योंकि ऐसा पदार्थ गधे की सींग की तरह संसार में है ही नहीं, जो प्रमाण का विषय हो सके ।।३०।।

सूत्र—अनुवृत्त व्यावृत्त प्रतीतिविषयत्वात् पूर्वोत्तराकारहानोपादानावस्थानलक्षणपरिणत्यार्थ क्रियाकारित्वाच्च ।।३१।।

संस्कृत टीका—गवादि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वं सामान्यतया प्रसाध्य अधुना सोपपत्तिकं

---

१. द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायाभावाः सप्तपदार्थाः। —तर्कसंग्रह

२. न धर्म धर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति।
इदेदमित्यस्ति मतिश्चवृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाध ।। —स्याद्वाद मंजर्याम्।

हेतुद्वयेन तत्र सामान्यविशेषात्मकत्वम् अनुवृत्त व्यावृत्तेत्यादिरूपेण सूत्रकारः साधयति। कृष्णधवलशबलादिवर्णोपेत गोव्यक्तिषु परस्परं कृष्णत्वधवलत्वशबलत्वादिना भिन्नत्वेऽपि "अयमपिगौरयमपिगौः" इत्येवं रूप समानाकारानुवृत्ति बुद्धि विषयत्वेन गोत्वादि सामान्यस्यः अपं शबलो गौः नतु श्यामः नापि शुक्लः इत्येवं रूप परस्पर व्यावृत्ति बुद्धि विषयत्वेन शबलत्वादि गुण रूप विशेषस्य च सिद्ध्या गवादि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वं सिध्यति, धर्मिधर्मिणोरेकान्ततो भिन्नत्वाभावेन कथञ्चिदभिन्नत्वात्। तत्रायं गौरयंगौरित्याकारा सदृशपरिणति रूप गोत्वादि सामान्य विषयिणी प्रतीतिरनुवृत्ताकारा प्रतीतिरवगन्तव्या, श्यामोऽयं शबलोऽय गौरित्यादि स्वरूपा श्यामत्व शबलत्वादि गुण रूप विशेष विषयिणी प्रतीतिः व्यावृत्ताकारा प्रतीतिरवगन्तव्या। एवं रीत्याऽनुवृत्त व्यावृत्त प्रतीति विषयत्वात् प्रमाण विषयभूतोऽर्थः सामान्य विशेषात्मको भवति।

एवमपि पदार्थः पर्यायरूप तयोत्पन्नो विनष्टो भवन्नपि द्रव्यरूपतया ध्रुवरूपोऽपि भवति—यथा सुवर्णपिण्डः पूर्वपिण्डाकारं परित्यज्य कटक कुण्डलादि रूपं पर्यायं धारयन्नपि पूर्वपिण्डाकाररूप पर्यायेषु कटक कुण्डलादि रूपोत्तरपर्यायेषु च सुवर्णत्वरूप ध्रौव्यात्मना स्थिरो भवति। एवं रूपया परिणत्याऽर्थक्रियाकारित्वं सुवर्णद्रव्येषु आयाति। एतेन वक्ष्यमाणतिर्यगूर्ध्वता सामान्यात्मकत्वं विशेषात्मकत्वं च वस्तुन्यभिहितं ज्ञातव्यम् ॥३१॥

हिन्दी व्याख्या—प्रमाण का विषयभूत पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है इसी बात को हेतुपूर्वक समर्थित करने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र का निर्माण किया है। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में अनुवृत्ति प्रत्यय विषयता और व्यावृत्ति प्रत्ययविषयता है इसलिये पदार्थ सामान्य विशेष धर्मात्मक है। इसका तात्पर्य ऐसा है कि जैसे—कृष्ण, धवल, शबलादि वर्णोपेत गोव्यक्तियों में परस्पर में कृष्णत्व, धवलत्वादि वर्णों की अपेक्षा भिन्नता होने पर भी जो उन सब में यह भी गाय है यह भी गाय है इस प्रकार की सदृशता की बुद्धि होती है एवं एक शब्द वाच्यता आती है—यह सामान्यरूप धर्म को आश्रित करके ही आती है। तथा यह गाय शबल है, काली नहीं है, सफेद भी नहीं है इस प्रकार की जो उनमें एक दूसरे से भिन्नता की बुद्धि होती है वह विशेष धर्म को लेकर ही होती है। इस तरह गाय आदि प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष धर्मात्मक है यह कथन सिद्ध हो जाता है। क्योंकि धर्म और धर्मी में कथंचित् अभिन्नता भी स्वीकार की गई है। अतः यही मानना युक्तिसंगत है कि गाय आदि पदार्थों में जो सदृश आकारता की प्रतीति है वह सामान्य धर्म को एवं गाय श्याम है, धवल नहीं है इस प्रकार की आपस में जो भिन्नता की बुद्धि है वह विशेष धर्म को विषय करती है। इससे प्रमाण का विषयभूत पदार्थ समान्य विशेष रूप है, तथा—दूसरी बात यह भी है प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनसे विहीन नहीं है। मृत्तिका से जब घट बनता है—तब मृत्तिका के पूर्व आकार का विनाश होता है। पूर्व आकार के विनाश में और उत्तराकार रूप घट की उत्पत्ति में मृत्तिका का स्थायित्व माना जाता है। यही बात सूत्रस्थ हान, उपादान और अवस्थान शब्दों द्वारा प्रकट की गई है। घटरूप परिणमन और पूर्वाकार रूप परिणमन ये आपस में भिन्न-भिन्न है यह भिन्नता ही मृत्तिका द्रव्य में विशेषधर्म के सद्भाव प्रकट करने में प्रमाणभूत युक्ति है तथा पूर्व अवस्था में और उत्तर अवस्था में मृत्तिका का स्थायित्व रहना यह सामान्य धर्म के उसमें रहने में प्रमाणभूत युक्ति है। इस तरह सामान्य विशेष धर्मात्मक पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी माना गया है। घट के द्वारा जल लाना, उसमें जल भरकर रखना, मृत्तिका से घटादि का निर्माण होना आदि जितने भी लौकिक व्यवहार चलाने के कार्य हैं ये सब उस-उस पदार्थ की अर्थक्रियाएँ हैं। पूर्वोक्त रूप से पदार्थ व्यवस्था न मानने पर पदार्थ में अर्थक्रिया करने की विहीनता का प्रसंग प्राप्त होता है।

यही बात "एवमपि पदार्थः पर्यायरूप तयोत्पन्नो विनष्टो भवन्नपि" इत्यादि पाठ द्वारा सुवर्ण द्रव्य के दृष्टान्त को लेकर समझाई गई है। पर्यायों को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय है और द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय है। विशेष धर्म को पर्याय में परिगणित किया गया है और सामान्य धर्म को तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य में विभक्त किया गया है। अतः सामान्य धर्म को विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय है। एक काल में अनेक व्यक्तियों में पायी जाने वाली समानता का नाम तिर्यक् सामान्य और भिन्न-भिन्न काल में एक ही व्यक्ति में पायी जाने वाली समानता का नाम ऊर्ध्वता सामान्य है। पदार्थों में पर्याय की ही अपेक्षा उत्पादव्ययरूप धर्म होते हैं और द्रव्य की अपेक्षा उत्पाद व्यय रूप धर्म नहीं होते हैं। किन्तु अवस्थानरूप ध्रुव-धर्म ही रहता है। इस प्रकार से विचार करने पर प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रुव धर्मों से युक्त होता हुआ अपने आप में सामान्यविशेष धर्मों को आत्मसात् किये हुए है। तभी वह प्रमाण का विषय बनता है। अन्यथा उसमें असत्समता आने से वह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में से किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बन सकता है ॥३१॥

सूत्र—सामान्यं द्विविधं तिर्यगूर्ध्वतासामान्य भेदात् ॥३२॥

संस्कृत टीका—उत्तानार्थमिदं सूत्रम्। तत्र मृत्तिका सुवर्णत्वादिरूपं सामान्यमूर्ध्वता सामान्यं गोत्वादि रूपं च सामान्यं तिर्यक् सामान्यञ्च ॥३२॥

सूत्रार्थ—सामान्य दो प्रकार का है—एक तिर्यक् सामान्य और दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य।

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। जो अनेक अपनी-अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायों में सामान्य रूप से रहता है वह ऊर्ध्वता सामान्य है, जैसे—मृत्तिका। मृत्तिका कपाल, कोश, कुशूल, घट आदि रूप अपनी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन समस्त पर्यायों में एकरस होकर रहती है, इसी प्रकार सुवर्ण भी कटक, कुण्डल, केयूर, हार आदि रूप अपनी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है। अतः मृत्तिका द्रव्य और सुवर्ण द्रव्य आदि ऊर्ध्वता सामान्य रूप कहे गये हैं। तथा अपने-अपने व्यक्तियों में जो समान रूप परिणाम वाला होता है वह तिर्यक् सामान्य है। जैसे खण्डी, मुण्डी गाय आदिकों में युगपत् रहने वाला गोत्व धर्म आदि ॥सू० ३२॥

सूत्र—सदृश परिणाम रूपं तिर्यक् सामान्यम् ॥३३॥

संस्कृत टीका—शुक्ल श्याम शबलादि गो व्यक्तिषु अयं गौरयं गौरित्येवं सास्ना लागंल ककुद खुर विषाणादित्वेन सदृश परिणामशीलत्वात् गोत्वं तिर्यक् सामान्यमित्युच्यते। एवमेव नील रक्तादि घटादीनां परस्पर भिन्नत्वेऽपि "अयं घटः अयं घटः" इत्येवम् अनुगत प्रतीति नियामक तथा नीलरक्तादि प्रति घट व्यक्ति सदृश परिणामितया घटत्वं रूपं तिर्यक् सामान्यं मन्तव्यम्। अन्यत्रापि मनुष्यत्व पशुत्वादावपि एवमेव ज्ञातव्यम् ॥३३॥

हिन्दी व्याख्या—३१वें सूत्र में जो सामान्य के दो भेद प्रदर्शित किये गये हैं, उनमें से तिर्यक् सामान्य का लक्षण निर्देश इस सूत्र द्वारा किया गया है। जो सामान्य-समान धर्म अपने प्रत्येक व्यक्तियों में रहता है वही तिर्यक् सामान्य है। यह तिर्यक् सामान्य एक ही काल में अपने अनेक व्यक्तियों में रहता है। जैसे गोत्व यह तिर्यक् सामान्य अपने गायमात्र व्यक्तियों में रहता है। ऐसा नहीं है कि गोत्व केवल खंडी मुण्डी गायों में ही रहे अन्य लूली-लंगड़ी गायों में नहीं रहे। यद्यपि खंडी मुंडी आदि गायों में परस्पर भिन्नता है। परन्तु जाति की अपेक्षा उनमें भिन्नता नहीं है। अतः गोत्व जाति की अपेक्षा उनमें जो

समानता है वही तिर्यक् सामान्य है। गोत्व जाति की अपेक्षा उनमें समानता सास्ना—गल कंबल, लांगूल—पूँछ, ककुद—कांधोर, खुर, विषाण—शृंग आदि को लेकर ही आती है। जितनी भी गायें होंगी, उन सब में ये सब ही सास्ना आदि धर्म—चिह्न पाये जावेंगे। इनके बिना गो व्यक्ति हो ही नहीं सकती। अतः गोत्व इन्हीं चिह्नों रूप होता है। जहाँ द्रष्टा इन चिह्नों को देखता है वहाँ वह यह गाय है ऐसा जान लेता है।

प्रश्न—अभी आपने कहा है कि जाति की अपेक्षा जहाँ समानता रहती है, वह तिर्यक् सामान्य है। सो जाति की अपेक्षा तो समानता कनक, कुंडल, केयूर, हार आदिकों में भी रहती है। फिर सामान्य के तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य ऐसे दो भेद कैसे बन सकते हैं? तिर्यक् सामान्य ही एक भेद युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

उत्तर—सामान्य के ये दो भेद युक्तियुक्त हैं। आक्षेपार्ह नहीं हैं। जहाँ पर अपने-अपने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जिसके द्वारा युगपत्—एक ही काल में समानता की प्रतीति होती है वहाँ वह प्रतीति तिर्यक् सामान्य बल से होती है। इस तरह भिन्न-भिन्न अनेक अपने आश्रयभूत व्यक्तियों में समानता की प्रतीति का जनक जो होता है वही तिर्यक् सामान्य है। तिर्यक् सामान्य अपने आश्रयभूत व्यक्तियों में केवल समानता के चिह्नों पर ही आकृष्ट रहता है। जन्य जनक आदि सम्बन्धों पर नहीं। तब कि ऊर्ध्वता सामान्य ऐसा नहीं है। वह अपने साथ जिनका कार्य कारण सम्बन्ध है उस सम्बन्ध को लेकर उनमें समानता की प्रतीति का जनक होता है। सुवर्ण से जितने भी आभूषण आदि बने हुए हैं, यदि सुवर्णत्व जाति की अपेक्षा उनका विचार किया जावे तो वे सब सुवर्ण रूप ही है। इस तरह अपनी आगे पीछे की सब पर्यायों में अनुगत प्रतीति का जनक जो सामान्य होता है वह ऊर्ध्वता सामान्य है। इस तरह जो जाति अपने आश्रयभूत व्यक्तियों में समानता के व्यवहार की शिक्षा देती है वह तो तिर्यक् सामान्य और जो अपनी-अपनी आश्रयभूत पूर्वकालीन एवं उत्तरकालीन पर्यायों में समानता की शिक्षा देता है वह है ऊर्ध्वता सामान्य। इस प्रकार से इन दोनों सामान्यों के लक्षणों में भेद हैं। अतः सामान्य के दो भेद मानने में कोई विरोध नहीं आता है। परस्पर भिन्न-भिन्न नील रक्त आदि घटों में घटत्व, भिन्न मनुष्य आदि व्यक्तियों में मनुष्यत्व ये सब तिर्यक् सामान्य ही हैं। क्योंकि ये सब अनुगत प्रतीति और एक शब्द वाच्यता के नियामक उनमें होते है॥ ३३॥

सूत्र—पूर्वापर विवर्त्तव्याप्यूर्ध्वता सामान्यम्॥ ३४॥

संस्कृत टीका—उत्तानार्थमिदं सूत्रम्।

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। विवर्त्त शब्द का अर्थ पर्याय है। आगे पीछे की अपनी पर्यायों में रहने वाला जो द्रव्य है वह ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे मृत्तिका द्रव्य। स्थास, कोश, कुशूल, घट आदि जितनी भी मृत्तिका की पर्यायें हैं उनमें सबमें मृत्तिका द्रव्य का अन्वय रहता है अतः वह ऊर्ध्वता सामान्य है।

सूत्र—गुण पर्याय भेदाद्विशेषोऽपि द्विविधः॥ ३५॥

संस्कृत टीका—सामान्यस्वरूपं निरूप्य विशेषस्वरूपं निरूपयितुमाह—गुण-पर्याय भेदादिति। व्यावृत्ति प्रतीति जनको विशेषः स च गुण पर्याय भेदाद् द्विविधः तत्र गोत्व घटत्वादि लक्षण तिर्यक् सामान्य विशिष्टेषु गोघटादिषु शुक्लत्व श्यामत्व शबलत्व नीलत्व रक्तत्वादयो गुणागुण विशेष पद वाच्याः एवमेवोर्ध्वता सामान्य स्वरूपेषु सुवर्णमृत्तिकादि द्रव्येषु कटककुण्डलादयः शरावोदञ्चनादयश्च पर्यायाः पर्याय विशेष पदवाच्याः ज्ञातव्याः।

हिन्दी व्याख्या—गुण और पर्याय के भेद से विशेष भी दो प्रकार का है। सामान्य का स्वरूप निरूपण करके विशेष का स्वरूप निरूपण करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की है। यह इससे भिन्न है, यह इससे भिन्न है इस प्रकार की परस्पर में भिन्नता की बुद्धि का जनक विशेष होता है। यह विशेष गुण और पर्याय के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें गोत्व घटत्व आदि सामान्य धर्मवाले गौ घट आदि पदार्थों में शुक्लता, नीलता, रक्तता आदि जो गुण हैं वे गुण विशेष हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्वता सामान्य रूप जो सुवर्ण-मृत्तिका आदि द्रव्य हैं उनसे जो कटक, कुण्डल आदि पर्याय बनती हैं, शराव, उदञ्चन आदि पर्यायें बनती हैं ये सब पर्याय पदवाच्य हैं। यह तो विशेष का लक्षण प्रकट ही कर दिया है कि विशेष व्यावृत्ति बुद्धि का जनक होता है सो श्याम विशेष शुक्ल विशेष से भिन्न है, शुक्लविशेष नील-विशेष से भिन्न है इत्यादि रूप से गुणविशेष और मृत्तिका आदि द्रव्यों की शराव, उदञ्चन आदि पर्यायें एक पर्याय दूसरी पर्याय से भिन्न है इस प्रकार से व्यावृत्ति बुद्धि की जनक होती है। अतः विशेष लक्षण से समन्वित होने के कारण गुणों को और पर्यायों को विशेष माना गया है ॥३५॥

सूत्र—अभिन्नकालवर्त्तिनः सुख-ज्ञानादयो गुणाः।
भिन्न कालवर्त्तिनश्च सुख-दुःखादयः पर्यायाः ॥ ३६ ॥

संस्कृत टीका—गुण पर्याय भेदेन विशेष्यस्य द्वैविध्यमुक्तम्—तत्रात्मादिषु वस्तुषु सुख ज्ञानादयो ये विसदृश परिणामा भवन्ति ते अभिन्नकाल वर्त्तित्वेन—सहभावित्वेन – गुण पदेन व्यपदिश्यन्ते। आत्मादि वस्तुषु यस्मिन् काले सुखं वर्त्तते तस्मिन्नेव काले तत्राविरोधेन ज्ञानादिकमपि वर्त्तते। यथाऽऽम्रादिषु रूप-रसादिकं युगपदाविरोधेन वर्त्तते तथैव सुखज्ञानादि गुणानामपि वृत्तिरेकत्र विरोध विना समुपलभ्यत एव सहभाविनो गुणा इतिवचनात्। येषामेकत्र वृत्तौ काल भेदाभावो भवति न एवाभिन्नकाल वर्त्तिनो भवन्ति। पर्यायाः सुखदुःखादयः कोशकुशूलादयश्च भिन्न काल वर्त्तिनो भवन्ति। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमश एव तेषामुपलम्भात् क्रमवर्त्तिनः पर्याया इतिवचनात् यस्मिन् काले आत्मादि वस्तुषु सुखं वर्त्तते तस्मिन् काले दुःखं न वर्त्तते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो द्रव्य में एक ही काल में एक साथ रहते हैं ऐसे सुखज्ञानादिक गुणरूप विशेष हैं और जो द्रव्य में एक ही काल में एक साथ नहीं रहते हैं ऐसे सुख-दुःख आदि परिणाम पर्याय रूप विशेष हैं ॥ ३६ ॥

हिन्दी व्याख्या—वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक है यह प्रकट किया जा चुका है। इसमें सामान्य धर्म का प्रतिपादन करके अब विशेष धर्म का प्रतिपादन करने के लिये उसके प्रतिपादित गुण और पर्याय का क्या स्वरूप है यह समझाया जा रहा है। आत्मा आदि वस्तुओं में विसदृश परिणाम रूप सुखज्ञान आदि पाये जाते हैं, वे गुण विशेष हैं। क्योंकि इनका वहाँ रहना एक ही काल में एक साथ होता है। ऐसा नहीं है कि—जिस काल में आत्मा में सुख रहता है उसके साथ उस काल में ज्ञान नहीं रहता हो। दर्शन नहीं रहता हो। वीर्य आदि और भी गुण नहीं रहते हों। इन गुणों को एक साथ एक आत्मा में रहने में किसी भी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ता है। आम में जिस प्रकार से एक साथ एक ही काल में रूप, रस, गन्ध आदि गुण पाये जाते हैं उसी प्रकार से आत्मादि द्रव्यों में भी सुख ज्ञान आदि गुणों का सद्भाव अविरोध रूप से माना गया है। क्योंकि ये भी अविरोध रूप से वहाँ अपना अस्तित्व रखते हैं।

प्रश्न—यदि एक द्रव्य में एक साथ ये गुण रहते हैं एक ही काल में तो फिर इनमें परस्पर में एकमेकता क्यों नहीं हो जाती है ?

उत्तर—एक द्रव्य में ये एक साथ एक काल में रहते हैं इसलिये इनमें परस्पर में एकमेकता हो जावे ऐसी बात नहीं है। देखो, लोकाकाश में तिल में तैल की तरह धर्मादिक द्रव्य व्याप्त होकर रह रहे हैं जिस स्थान पर धर्मद्रव्य है उसी स्थान पर अधर्मादिद्रव्य भी हैं। इस तरह एक ही क्षेत्र में धर्मादि द्रव्यों का वास होने पर भी उनमें परस्पर में एकमेकता नहीं आती है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा अलग-अलग है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—यह समाधान तो आपने द्रव्यों को लक्ष्य कर दिया है। हमारा तो ऐसा प्रश्न ही नहीं है। हम तो गुणों के सम्बन्ध में ऐसा पूछ रहे हैं कि जब ये एक ही द्रव्य में एक साथ रहते हैं तो फिर इनमें एकमेकता क्यों नहीं आती है ?

उत्तर—आपके प्रश्न का विचार अनेकान्त सिद्धान्त की मान्यतानुसार करने पर आत्मा के सुख-ज्ञानादिक गुण किसी दृष्टि से एक भी हो सकते हैं क्योंकि इनका आश्रयभूत जो आत्मा है उससे ये किसी अपेक्षा अभिन्न हैं। इन ज्ञान-सुखादिकों का जो पिण्ड है वही तो आत्मा है। गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध में गुण गुणीरूप और गुणी गुणरूप कहा गया है। इस तरह जैसा गुण गुणी का आपस में अभेद मान लिया जाता है उसी प्रकार से गुणों का भी आपस में अभेद मान लिया गया है। यदि ऐसी बात न मानी जावे तो प्रमाण सप्तभङ्गी ही नहीं बन सकती है। इसी विषय को सूचित करने के लिए टीकाकार ने 'अविरोधेन' ऐसा पद टीका में रखा है।

द्रव्य में जो क्रम-क्रम से उत्पन्न होते हैं अर्थात् एक साथ जो अनेक रूप में द्रव्य में नहीं रहते हैं वे पर्याय विशेष हैं। सुख के सद्भाव में दुःख कभी नहीं रह सकता है और दुःख के सद्भाव में सुख नहीं रह सकता है। मृत्तिका द्रव्य की स्थास, कोष, कुशूल आदि जितनी भी क्रमिक पर्यायें हैं वे सब पर्याय विशेष हैं। क्योंकि ये पर्याय विशेष एक द्रव्य में एक समय में एक ही होते हैं अनेक नहीं।

प्रश्न—आपने गुण विशेष के दृष्टान्त में सुख को ग्रहण किया है और पर्याय विशेष के दृष्टान्त में भी सुख को ग्रहण किया है तो इससे क्या समझा जावे ? सुख गुण विशेष है या पर्याय विशेष है ?

उत्तर—सुख और ज्ञानादिक आत्मा में एक साथ जैसे रहते हैं वैसे ही जो एक साथ बिना किसी विरोध के द्रव्य में रहते हैं वे गुण हैं और सुख और दुःख जिस प्रकार एक साथ एक द्रव्य में नहीं रहते हैं इस प्रकार से जो रहते हैं वे सब पर्याय विशेष हैं। इस बात को समझाने के लिये दोनों जगह सुख को ग्रहण किया है। सुख सामान्य आत्मा का गुण है, पर्याय नहीं।

प्रश्न—पर्याय तो पराधीन होती है क्योंकि निमित्त मिलने पर ही द्रव्य में पर्याय का उत्पाद होता कहा गया है। तो क्या गुण विशेष रूप जो सुखादि हैं वे भी क्या इसी प्रकार के हैं ? यदि हैं तो उन्हें भी पर्याय विशेष में ही रखना चाहिये, गुण विशेष में नहीं।

उत्तर—इन्द्रियजन्य जो सुख विशेष है वह गुण विशेष में गृहीत नहीं हुआ है। क्योंकि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' ऐसा अनन्तज्ञानियों का कथन है—जो नित्य ही द्रव्य के साथ रहते हैं वे ही सहभावी गुण हैं। ऐसे सहभावी गुण आत्मा के सामान्यज्ञान, सामान्यदर्शन और सामान्य सुखादि हैं, इनसे रहित आत्मा त्रिकाल में भी नहीं होता है और त्रिकाल में इनका विनाश भी नहीं होता है इसीलिये इन्हें गुण कहा गया है। पर्याय इससे विपरीत स्वभाव वाली होती है। वह उत्पन्न होती रहती है और नष्ट होती रहती है। एक पर्याय के नाश होने पर दूसरी पर्याय वस्तु में उत्पन्न होती है। इसी कारण उसे क्रमभावी कहा गया है।

प्रश्न—आत्मा का गुण ज्ञान सामान्य आपने कहा है वह तो हम भी स्वीकार करते हैं—क्योंकि 'उपयोगो लक्षणम्' ऐसा आर्ष वाक्य है। परन्तु जिस प्रकार इन्द्रिय जन्य सुख विशेष इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण वह पर्याय रूप से परिगणित हुआ है। उसी प्रकार ज्ञान के विशेष मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब भी पर्याय विशेष ही मानना चाहिये, गुण विशेष नहीं क्योंकि इनमें कितनेक ज्ञान कर्मों के क्षयोपशम रूप निमित्त से उत्पन्न होते हैं और कोई एक कर्मों के क्षय रूप निमित्त से उत्पन्न होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्तर—मतिज्ञानादिरूप चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। और ये ज्ञान सामान्य ज्ञान की ही विशेष पर्याय रूप हैं अतः इन्हें पर्याय विशेष में ही परिगणित किया गया है। परन्तु जो क्षायिक ज्ञानरूप केवलज्ञान है वह पर्याय विशेष में परिगणित नहीं हुआ है। वह तो जीव का निज स्वभाव है। अतः इसे गुण विशेष में ही परिगणित किया गया है।

प्रश्न—तो फिर जिस प्रकार से सामान्य ज्ञान का आत्मा में सद्भाव पाया जाता है। उसी प्रकार से केवलज्ञान का भी सद्भाव क्यों नहीं पाया जाता ?

उत्तर—यह कौन कहता है कि आत्मा में केवलज्ञान का सद्भाव नहीं पाया जाता ? इसका भी सद्भाव आत्मा में पाया जाता है।

प्रश्न—तो फिर अन्य ज्ञानों की तरह उसकी आत्मा में उपलब्धि क्यों नहीं होती है ?

उत्तर—इसकी उपलब्धि इसलिये नहीं होती है कि यह अन्य मत्यादिक ज्ञानों की तरह सहज में प्राप्त नहीं होता है। सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा विलय हो जाने पर ही वह उत्पन्न होता है। आत्मा में जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का सद्भाव रहता है तब तक वह इसको पूर्णरूप से आवृत किये रहता है। मत्यादि चार ज्ञानों में ऐसी बात नहीं है ये तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः इनके सद्भाव में भी ज्ञानावरणीय कर्म का आंशिक रूप से सद्भाव पाया जाता है।

प्रश्न—आप जो ऐसा कह रहे हैं कि केवलज्ञान रूप गुण विशेष को ज्ञानावरणीय कर्म जो कि उसका प्रतिपक्षी है आवृत किये हुए हैं सो यह बात समझ में नहीं आती है। क्योंकि मौजूदा वस्तु का ही उसके प्रतिपक्षी द्वारा आवरण होता देखा जाता है। जब आत्मा में केवलज्ञान का उदय नहीं है तब वह ज्ञानावरणीय कर्म आवरण किसका करेगा ?

उत्तर—शङ्का तो ठीक है परन्तु इस पर विचार यदि अच्छी तरह से किया जावे तो समाधान भी हाथ में आ जाता है। आत्मा में केवलज्ञान का सद्भाव शक्ति की अपेक्षा से ही माना गया है। ज्ञानावरणीय कर्म इसी शक्ति को आवृत किये रहता है। अतः वह जीव का स्वभावभूत होने पर भी उसके सद्भाव में प्रकाशित नहीं हो पाता है। एक बार ही इसके प्रकाशित हो जाने पर फिर इसका आवरण नहीं होता है। अतः केवलज्ञान को आत्मा का स्वभावभूत गुण विशेष ही माना गया है, पर्याय विशेष नहीं। इस प्रकार के इस मूल अभिप्राय को हृदयंगम करके ही 'अभिन्न कालवर्त्तिनः' ऐसा पद सूत्रकार ने सूत्र में निहित किया है। जो कि अन्यवादियों की शङ्काओं का निरसन करता हुआ ज्ञानियों की दृष्टि अपनी पूर्ण आभा से चन्द्रमण्डल की तरह चमक रहा है। केवल उस ओर लक्ष्य दिलाने के अभिप्राय से ही यह स्पष्टीकरण लिखा गया है ॥ ३६ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

पंचम अध्याय

सूत्र—प्रमाण साध्यमज्ञाननिवृत्त्यादिकं तत्फलम् ॥ १ ॥

संस्कृत टीका—प्रमाणस्य स्वरूपं संख्यां विषयं च निरूप्याधुना तत्फलं निरूपयितु माह—प्रमाण साध्यमित्यादि—प्रमाणेन प्रत्यक्ष परोक्ष रूपेण द्विविधेन प्रमाणेन यत् साध्यते—संपाद्यते स्वस्वविषयाज्ञान निवृत्त्यादिकं तत् प्रमाण साध्यमज्ञान निवृत्त्यादिकं तस्य प्रमाणस्य फलं—प्रयोजनमवगन्तव्यम् यदा हि ज्ञानं घटपटादिकं विषयी करोति तदा तद्विषयकावरण भङ्गात् अज्ञान निवृत्तिर्भवति, इदमेव ज्ञानस्य साक्षात्फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप फल वाला प्रमाण होता है।

हिन्दी व्याख्या—प्रथम अध्याय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इस ग्रन्थ में सूत्रकार ने प्रमाण के स्वरूप का, उसके भेदों का और उसके विषय का बहुत ही अच्छी तरह से निरूपण किया है। अब वे इस पञ्चम अध्याय के द्वारा प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से मान्य उस प्रमाण के फल का विचार कर रहे हैं। प्रमाण जब तक पदार्थ को विषय नहीं करता है तब तक उस विषय का बोध नहीं होता है। बोध का नहीं होना ही उस विषय का अज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान का विषय सामान्य विशेष धर्मात्मक पदार्थ है सो जब ये ज्ञान अपने-अपने विषय को साक्षाद्रूप से या प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं तब उस विषय सम्बन्धी आवरण के अभाव हो जाने से उस विषय का उन-उन ज्ञानों द्वारा ग्रहण होता है। इस तरह से अपने-अपने विषय सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना ही प्रमाण का प्रत्यक्ष परोक्ष का फल है और यह अज्ञाननिवृत्ति ही प्रत्येक ज्ञान का साक्षात् फल कहा गया है ॥ १ ॥

सूत्र—साक्षात्परम्परा भेदात्तद् द्विविधम् ॥ २ ॥

संस्कृत टीका—अज्ञाननिवृत्त्यादि रूपं प्रमाण फलं द्विविधम्—साक्षात्फलं परम्पराफलं चेति। तत्र प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यापारानन्तरं कालाद्यव्यवधानेन यत्फलमुत्पद्यतेतत्प्रमाणस्य साक्षात्फलं व्यपदिश्यते। एतेन चक्षुरादिजन्य ज्ञान विशेष व्यापाराव्यवहितोत्तर कालावच्छेदेन जायमानं घटादि विषयकाज्ञाननिवृत्ति रूपं फलं प्रमाणस्य साक्षात्फलम्। प्रमाण व्यापार व्यवहितोत्तर कालावच्छेदेन तु जायमानं हेयोपादेयोपेक्ष्य वस्तुषु हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूपं फलं प्रमाणस्य परम्परा फलमिति फलितम् ॥ २ ॥

अर्थ—साक्षात्फल और परम्परा फल के भेद से प्रमाण का फल दो प्रकार का होता है।

हिन्दी व्याख्या—प्रमाण के द्वारा वस्तु के ग्रहण हो जाने पर जो उस वस्तु के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है वह तो साक्षात्फल है और फिर जो उस अज्ञाननिवृत्ति रूप फल के बाद उसे वस्तु के सम्बन्ध में हान, उपादान और उपेक्षा रूप भाव होते हैं वह उसका परम्परा फल है।

प्रश्न—वस्तु ज्यों ही ज्ञान के द्वारा गृहीत होती है वह हान, उपादान और उपेक्षा का विषय बन जाती है। फिर इसके अतिरिक्त और साक्षात्फल क्या है?

उत्तर—हान, उपादान आदिरूप जो भाव होते हैं वे बिना वस्तु-विषयक अज्ञाननिवृत्ति हुए नहीं हो सकते हैं। "यह विष है" इस प्रकार से जब तक विष के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक उसके सम्बन्ध में यह छोड़ने योग्य है ऐसा हान भाव नहीं होता है। अतः यह मानना चाहिए कि अज्ञान निवृत्ति रूप फल हुए बिना परम्परा फल नहीं होता है। हम लोगों को इनमें ऐसा पौर्वापर्य भाव जो प्रतीत नहीं होता है उसका कारण क्षणों की अतिसूक्ष्मता है, वह ज्ञात नहीं हो पाती है ॥ २ ॥

सूत्र—सर्व प्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः साक्षात्फलम् ॥ ३ ॥

संस्कृत टीका—सर्वेषां पूर्वोक्त प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणानां स्व-स्वविषयाज्ञाननिवृत्तिः—विपर्ययादि रूपाज्ञानविनाशः स्वपरनिश्चयरूपः साक्षात्फलं निगदितम्। एतेन सांव्यवहारिक-पारमार्थिक भेदेन द्विविधस्य देशशेषात्मना स्पष्टतारूप वैशद्यलक्षण प्रत्यक्षप्रमाणस्य स्मरणप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागमभेदेन पञ्चविधस्या स्पष्टता लक्षणा वैशद्यरूप परोक्षे प्रमाणस्य चाज्ञाननिवृत्तिरेव साक्षात्फलमवगन्तव्य-मेतेषां व्यापारानन्तरं स्व स्व विषय सम्बन्ध्यज्ञान निवृत्तेरेव प्रथमं सम्पद्यमानत्वात्। सा चाज्ञाननिवृत्तिः स्वपर व्यवसिति रूपैवावगन्तव्या ॥ ३ ॥

अर्थ—समस्त प्रमाणों का साक्षात्फल अज्ञान का विनाश होना ही कहा गया है ॥ ३ ॥

हिन्दी व्याख्या—अपने-अपने विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में जो उनके जान लेने पर नाम, जाति आदि रूप से उनका भान होता है वही उनके सम्बन्ध की अज्ञान की निवृत्ति होती है क्योंकि संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप अज्ञान का विनाश, जब तक वे ज्ञान के विषयभूत नहीं बनते हैं तब तक नहीं होता है। ज्ञान के विषयभूत बन जाने पर उनके सम्बन्ध में जो अभी तक संशयादि रूप अज्ञान चला आ रहा था वह नष्ट हो जाता है और यह अमुक पदार्थ है ऐसा बोध हो जाता है। इस प्रकार से यह अज्ञान की निवृत्ति ही समस्त ज्ञानों का चाहे वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो चाहे पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो, साक्षात्फल कहा गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण पीछे के अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है। एकदेश से जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता लेकर पदार्थों को स्पष्ट जानता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियों की सहायता के बिना विकल रूप से और सकल रूप से पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानता है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। परोक्ष प्रमाण का भी स्वरूप पीछे के अध्याय में स्पष्ट रूप से विवेचित हो चुका है। यह परोक्ष प्रमाण अस्पष्ट रूप से पदार्थों को जानता है। इसके स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेद कहे गये हैं। स्मरणादि ज्ञानों का जब तक अपने-अपने विषय में व्यापार नहीं होता है तब तक उस विषय के अज्ञान का सद्भाव बना रहता है। स्मरणादि ज्ञानों के द्वारा अपना-अपना विषय गृहीत हो जाने पर उस-उस विषय का अस्तर-णादि रूप अज्ञाननिवृत्त हो जाता है। अतः यह अज्ञाननिवृत्ति ही उन-उन ज्ञानों का साक्षात्फल कहा गया है यह समस्त ज्ञानों द्वारा संपाद्य अज्ञाननिवृत्ति स्वपर व्यवसाय रूप होती मानी गई है ॥ ३ ॥

सूत्र—केवलं विहाय प्रमाणानां परम्पराफलं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका—सर्वेषां ज्ञानानामज्ञाननिवृत्तिरूपं साक्षात्फलमुक्त्वा परम्परा फलमेतेषां किमस्ति। इतिजिज्ञासां प्रणमयितुमाह—केवलं विहायेत्यादि—केवलमसहायं ज्ञानं रूप्यरू पिसकल पदार्थ युगपत् साक्षात्कारिज्ञानं केवल ज्ञानं विमुच्य सर्वेषां प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञानानां परम्परा फलं हेयोपादेयोपेक्षणीयेषु पदार्थेषु हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूप ज्ञातव्यम्। एतेन स्वपरव्यवसायिना ज्ञानेनावधारण रूप व्यापार करणानन्तरं तद्विषयकाज्ञाननिवृत्ति रूपे साक्षात्फले जाते सति यत् तदनन्तरमिष्टानिष्ट साधनभूतेषु

शत्रुमित्रादि पदार्थेषु हेयोपादेयेषु क्रमशो हानबुद्धिरुपादान बुद्धिरुपेक्षणीयेषु चेष्टानिष्टासाधनेषु जीर्ण-शीर्ण तुच्छ कन्थादिषु उपेक्षा बुद्धि रूप जायते तदेव परम्परा फलम्। केवलज्ञानस्य हानोपादान बुद्धिरूपं परम्परा फलं न संभवति केवलज्ञानशालिनः केवलिनः सकल पदार्थ साक्षात्कारित्वेन कृतार्थतया हानोपादान बुद्धे रसंभवात्। सर्वत्र चोपेक्षा बुद्धे रेव सद्भावात् ॥ ४ ॥

अर्थ - केवलज्ञान को छोड़कर शेष प्रमाणों का परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप कहा गया है ॥ ४ ॥

हिन्दी व्याख्या—समस्त ज्ञानों का साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति रूप कहकर अब उन सब का परम्परा फल क्या है इस प्रकार की विनेय जन की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र का कथन किया है। इसके द्वारा वे समझा रहे हैं कि केवलज्ञान को छोड़कर शेष प्रत्यक्ष परोक्षभूत ज्ञानों का परम्पराफल हेय पदार्थों में--अनिष्ट साधनभूत शत्रु आदिकों में—हान बुद्धि का होना, हितसाधकभूत मित्रादि जनों में उपादान बुद्धि का होना और जीर्ण-शीर्ण कन्थादिक पदार्थों में जो कि न इष्ट के साधनभूत हैं और न अनिष्ट के साधनभूत हैं उपेक्षाबुद्धि का होना है। केवलज्ञान असहाय ज्ञान है, यह त्रिकालवर्त्ती रूपी और अरूपी समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है। अतः इस ज्ञानवाला केवली सकल पदार्थों का साक्षात्कारी हो जाने के कारण कृतार्थ बन जाता है। इससे उनमें हान और उपादान रूप बुद्धियाँ उद्गत नहीं होती है। किन्तु समस्त पदार्थों में उन्हें एक उपेक्षा भाव ही रहता है। इस उपेक्षा भाव में त्याग और आदान का भाव नहीं होता है। छद्मस्थजन को ही अपने ज्ञान का जब पदार्थों की तरफ उन्हें जानने का व्यापार होता है, तब उस व्यापार के अनन्तर अज्ञान की निवृत्ति होते ही हान, उपान और उपेक्षाबुद्धि होती है। यदि वह पदार्थ हितकर नहीं है तो वह छोड़ दिया जाता है, और यदि वह अपने प्रयोजन का साधक है तो ग्रहण कर लिया जाता है। और यदि वह न प्रयोजनभूत है और न अप्रयोजनभूत है तो उपेक्षणीय हो जाता है ॥ ४ ॥

सूत्र—युगपत्सकल पदार्थ साक्षात्कारितया तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षाबुद्धिरेव ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका—उत्तानार्थमिदं सूत्रम्। दोषावरणयोर्निश्शेषहानितो युगपत्सकल पदार्थ साक्षात्कारिताऽऽत्मनि प्रसिध्यति किमत्र चित्रम्। क्वचिद्दोषावरणयोर्निश्शेषा हानिरस्त्यतिशायनात्। यथा सुवर्णे मलक्षयः युगपत्सकल पदार्थ साक्षात्कारितैव् सर्वज्ञता ॥ ५ ॥

अर्थ—एक ही समय में सकल पदार्थों का साक्षात्कारी होने के कारण केवलज्ञान का परम्परा फल उपेक्षा बुद्धि—माध्यस्थ्यभाव ही है।

हिन्दी व्याख्या—सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। दोषों एवं आवरणों की संपूर्ण रूप से हानि होने से आत्मा में एक ऐसे ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है कि जिसके बल पर आत्मा एक ही साथ सकल पदार्थों का साक्षात्कारी बन जाता है। दोष और आवरणों की आत्मा में समस्त रूप में हानि होती है यह साध्य अतिशायन हेतु से सुवर्ण में मलक्षय की तरह होता है। अज्ञान, राग और द्वेष आदि दोष हैं। पूर्व दोष जिसके बल पर आत्मा में जागरूक या अपनी सत्ता में रहें वह आवरण है। यह आवरण ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार का होता है। अज्ञानादि दोष आत्मा में आगन्तुक हैं, इसलिए ये आत्मा के विकारी भाव हैं। इसलिए इन्हें भावकर्म कहा गया है। इन्हीं का दूसरा नाम दोष है। दोष और आवरणों के सर्वथा अभाव हो जाने से ही आत्मा में वीतरागता के साथ सर्वज्ञता प्रकट होती है। जिस प्रकार सुवर्ण आदि द्रव्य में किट्टकालिमादिक बहिरङ्गमल और अन्तरङ्गमल की तरतमता-हीनाधिकता होने से शुद्ध सुवर्ण में उसका सर्वथा अभाव देखा जाता है ठीक उसी प्रकार से दोष और आवरण की भी हीनाधिकता हम संसारीजनों में प्रसिद्ध होती हुई सर्वथा अभावरूप में कहीं न कहीं अवश्य है। जहाँ इनका सर्वथा अभाव है वही

वीतरागता है। किट्टकालिमादिक उभय प्रकार के मैल से रहित होने के कारण ही सुवर्ण की जिस प्रकार शुद्धि मानी जाती है उसी प्रकार इन दोनों दोष और आवरणों से रहित होने के कारण ही आत्मा की शुद्धि मानी गई है। इस शुद्धि का नाम ही वीतरागता है।

दार्शनिक पद्धति के अनुसार धर्मी प्रसिद्ध होता है, साध्य अप्रसिद्ध और हेतु अपने साध्य के साथ अविनाभाव रूप सम्बन्ध से बन्धा हुआ होता है। "आत्मा में दोष और आवरणों की हानि है" यह वाक्य धर्मी है। और वह धर्मी प्रसिद्ध है क्योंकि सामान्य रूप में संसारी आत्माओं में इनका थोड़े से भी रूप में अभाव न होता तो इनके यत्किञ्चित् अभाव से (क्षयोपशम से) जन्य ज्ञानादिक कार्यों का जो वहाँ तरतमरूप से विकास देखने में आता है, वह नहीं हो सकता। अतः यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हम संसारी आत्माओं में ज्ञानावरणादिक कर्मों की आंशिक रूप में हानि है। जब यह बात है तो इससे यह भी युक्ति के बल पर मानना चाहिये कि किसी न किसी आत्मा में इनका सर्वथा ही अभाव है।

प्रश्न—साध्य अप्रसिद्ध होता है। सो जब आप दोष और आवरणों की हानि को साध्य कोटि में रखते हैं सो यह बात ठीक नहीं हैं क्योंकि वह तो लोष्टादिक पदार्थों में स्वतः ही सिद्ध है—दोष और आवरणों की हानि सर्वथा वहाँ है ही—अतः साध्य अप्रसिद्ध न होकर प्रसिद्ध हो जाता है और वह इस तरह से साध्य कोटि में आता ही नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्तर—हानि शब्द का अर्थ जो तुम समझ रहे हो वह यहाँ नहीं लिया गया है। यहाँ तो हानि शब्द से प्रध्वंसाभाव लिया गया गया है, अत्यन्ताभाव नहीं। यदि लोष्ठादिक पदार्थों में पहले दोष और आवरणों का अस्तित्व सिद्ध होता तो यह बात मानी जा सकती थी कि वहाँ इनकी हानि है। अतः साध्य अप्रसिद्ध ही है, प्रसिद्ध नहीं।

प्रश्न—जब जैन सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है कि—"नहि कश्चित् स पुद्गलोऽस्ति यो न जीवैरसकृत् न भुक्तोज्झितः" ऐसा कोई सा भी पुद्गल नहीं बचा है जिसे जीवों ने बार-बार भोग कर न छोड़ दिया हो तो इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जब आत्मा ने उन लोष्ठादिकों को अपने एकेन्द्रिय के शरीररूप से ग्रहण किया था तब वहाँ पर आत्मा का सद्भाव होने से उनमें पहले दोष और आवरणों की सत्ता थी ही और अब वह वहाँ पर नहीं है।

उत्तर—इस कथन से आप यह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि दोष और आवरण लोष्ठादिकों में थे। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब आत्मा ने उन्हें एकेन्द्रिय के शरीर रूप में ग्रहण किया था तब वे दोष और आवरण उस आत्मा के ही साथ थे न कि लोष्ठादिकों में। जब वहाँ से उस भव सम्बन्धी आयु के क्षय होने पर वह आत्मा गत्यन्तरित हो गया, तब वे उसके अचेतन शरीर रूप में पड़े रह गये। इस तरह दोष और आवरण का सम्बन्ध शरीर के साथ नहीं है किन्तु—संसारी चेतन के साथ है। अतः अप्रसिद्ध ही साध्य हुआ है, प्रसिद्ध नहीं।

प्रश्न—जिस प्रकार आप तरतमरूप हेतु से दोष और आवरण की सर्वथा हानि सिद्ध कर रहे हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि बुद्धि का भी तो हम संसारी जीवों में तरतम भाव देखा जाता है अतः इसका भी कहीं न कहीं सम्पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिए परन्तु ऐसा तो होता नहीं है क्योंकि ऐसी मान्यता में आत्मा के निज लक्षण का अभाव प्रसङ्ग होने से या तो उसमें अज्ञता ही सिद्ध हो जायगी या फिर आत्मद्रव्य का निज लक्षण के अभाव में अभाव मानना पड़ेगा। अतः तरतम हेतु से—अतिशायन हेतु से—दोष और आवरणों की सर्वथा हानिरूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

उत्तर—तरतमरूप हेतु से अपने साध्य की सिद्धि करने में कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि

यह हेतु सर्वप्रकार से निर्दोष है। रही बुद्धि की बात—सो उसका सर्वथा अभाव अचेतन पृथिवी आदिकों में माना ही गया है।

प्रश्न—इस प्रकार के कथन से तो आप साधारण व्यक्ति को भले ही समझा सकते हो—पर जो समझदार है उसे नहीं समझा सकते हो—क्योंकि आप हानि शब्द का अर्थ प्रध्वंसाभाव कर रहे हो तो उनमें बुद्धि का प्रध्वंसाभाव नहीं है, वहाँ तो उनका अत्यन्ताभाव है। और वह अत्यन्ताभाव हानि शब्द का अर्थ इष्ट नहीं है अतः यह छलात्मक उत्तर ठीक नहीं है।

उत्तर—अरे भाई! यह छलात्मक उत्तर नहीं है। छल तो सामने वाले प्रतिवादी व्यक्ति को येनकेनप्रकारेण चुप करने के लिए आश्रित किया जाता है। अचेतन पृथिवी आदिकों में बुद्धि का अत्यन्ताभाव नहीं है, प्रध्वंसाभाव ही है। और वह इस प्रकार से है—पृथिवीकायिक जीवों द्वारा जब पृथिवीरूप पुद्गल शरीर रूप से गृहीत किया हुआ रहता है तब उसमें बुद्धिरूप चेतनागुण का सम्बन्ध से अस्तित्व माना जाता है। पश्चात् अपनी आयु के अवसान होते ही जब वही पुद्गल उनके द्वारा छोड़ दिया जाता है तब उसमें से उसकी निवृत्ति होने पर उसका वहाँ अभाव हो जाता है। इस प्रकार "भूत्वाऽभावत्वम्" होकर के नहीं होना यह प्रध्वंसाभाव का लक्षण वहाँ घटित हो जाता है। क्योंकि बुद्धि के सद्भावपूर्वक ही वहाँ उसका अभाव सिद्ध किया गया है। पृथिव्यादिक अचेतन पुद्गल में चेतनागुणरूप बुद्धि का सर्वात्मना अभाव होने से आत्मा में अपने निज लक्षण के अभाव की आशङ्का कैसे आ सकती है। यह तो तभी संभव थी कि जब आत्मा में इसका सर्वथा अभाव माना जाता। परन्तु ऐसी मान्यता तो है नहीं, अतः इस प्रकार की मान्यता में न तो आत्मा का ही सर्वथा अभाव हो सकता है और न उसमें उसके सामान्य बुद्धिरूप लक्षण का ही।

प्रश्न—दोष और आवरण की हानि का अर्थ यदि आप प्रध्वंसाभाव करते हैं तो वह हानि ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्य की कैसे हो सकती है? कारण कि "सतो न विनाशः असतश्चनोत्पादः" सत् पदार्थ का कभी विनाश नहीं होता है और असत्पदार्थ का कभी उत्पाद नहीं होता है। इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणादि पुद्गलों का द्रव्यरूप होने से प्रध्वंसाभाव रूप क्षय कैसे हो सकता है। अन्यथा मूलद्रव्य के विनाश मानने पर तो जैन सिद्धान्त की प्रक्रिया ही अस्तव्यस्त हो जाती है।

उत्तर—ऐसा नहीं है जैसा कि तुम कह रहे हो। ज्ञानावरणादिक द्रव्य नहीं है ये तो कार्मणवर्गणारूप द्रव्य की पर्यायें हैं। निमित्त को लेकर जब इन कार्मणवर्गणाओं में ज्ञानावरणादिक पर्यायरूप परिणमन हो जाता है तब उनकी कर्म संज्ञा हो जाती है। निमित्त के हटने पर द्रव्य अपने रूप में परिणमित होता रहता है। इस प्रकार कार्मणवर्गणारूप द्रव्य कर्मपर्याय से रहित होकर अकर्मरूप पर्याय से परिणमित हो जाता है। निमित्त के मिलने पर जैसे वह कर्मरूप पर्याय से परिणमित होने के स्वभाव वाला था उसी प्रकार निमित्त के हट जाने पर अकर्मरूप पर्याय से परिणमित होना भी उसका एक स्वभाव है। इसी का नाम आवरणादिक का क्षय है। जिस प्रकार सुवर्ण आदि की शुद्धि उससे उसके मैल आदि के हट जाने पर होती है इसी प्रकार आत्मा की शुद्धि भी कर्मरूप मैल के हट जाने पर होती है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं—केवल शुद्ध सुवर्ण को उपलब्धि ही उसके मैल की निवृत्ति जैसी मानी जाती है उसी प्रकार केवल शुद्ध आत्मद्रव्य की उपलब्धि भी आवरणादिकों की निवृत्ति है। यह उनकी निवृत्ति या केवल आत्मा की उपलब्धि ही कर्मों का और मैल का क्षय है। यह क्षय वहाँ से उन पर्यायों का हट जाना रूप ही है।

प्रश्न—जिस प्रकार मृत्तिका द्रव्य के वर्त्तमान रहने पर निमित्त के मिलते ही उसमें घट आदि पर्यायों का उत्पाद होना देखा जाता है उसी प्रकार कार्मण द्रव्य के सद्भाव में निमित्त मिलने से उसमें

पुनः कर्मरूप पर्याय का कि जिस आत्मा में वह अकर्मरूप पर्याय से स्थित है सद्भाव क्यों नहीं हो जावेगा ? ऐसी परिस्थिति में आप जो दोष और आवरणों की सर्वथा हानि होने रूप शुद्धि का राग आलाप रहे हैं वह कैसे बन सकता है ?

उत्तर—यह तो समझा ही दिया गया है कि कार्मणवर्गणाओं का निमित्त कषायादिक के मिलने से ज्ञानावरणादि पर्यायरूप में परिणमन होता है। जब यह निमित्त ही सर्वथा उस आत्मा से हट गया तो फिर मूलद्रव्य वर्तमान रहने पर भी निमित्त के अभाव में उस रूप में परिणमित हो ही नहीं सकता, दोष और आवरण का परस्पर में कार्यकारण सम्बन्ध है। जब आत्मा से आवरण रूप कर्म हट जाते हैं तब उनके हटते ही सम्यग्ज्ञानादिक गुणों की जागृति से दोष भी वहाँ से हट जाते हैं। इस प्रकार आत्मा दर्पण की तरह निर्मल हो जाता है और उसमें त्रिकालवर्त्ती समस्त पदार्थों का झलकना युगपत् होने लगता है। यही आत्मा में सकल पदार्थ साक्षात्कारिता है। जब आत्मा में यह सकल पदार्थ साक्षात्कारितारूप सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है तब उस केवलीआत्मा में समस्त पदार्थों के प्रति उपेक्षा भाव-माध्यस्थ्यभाव हो जाता है। हान, उपादानभाव नहीं रहता है। हान उपादान भाव कर्मावृत आत्मा में ही होता है। इस प्रकार से अतिशायन हेतु द्वारा आत्मा में दोष और आवरणों की संपूर्णरूप से हानि-प्रक्षय-सिद्ध किया गया है। यही सर्वज्ञत्व की सिद्धि है। सर्वज्ञ के क्षायिकज्ञान का नाम ही केवलज्ञान है।

सूत्र—प्रमाणात्तत्फलं कथञ्चिदभिन्नं भिन्नं चेति ॥ ६ ॥

संस्कृत टीका—प्रमाणात् प्रमाणफलस्य कथञ्चिदभिन्नत्वं कथञ्चिच्च भिन्नत्वं मन्तव्यम्। अन्यथा प्रमाणफल व्यवस्था न स्यात्। यदि अज्ञाननिवृत्त्यादिकं प्रमाणफलं प्रमाणतः सर्वथाऽभिन्नं भवेत्तदा तयोरेकतरस्यैव व्यवस्था सद्भावात् प्रमाणमिद तत्फलं चेदमिति व्यवहार विलोपो भवेत्। एकमेव तत्फलस्य तस्माद्भिन्नत्वे प्रमाणस्यैवेदं फलं न घटपटादेरिति नियामकाऽभावेन प्रमाण फल व्यवस्थापि-नोपपद्येत। तस्मादनेकान्त मन्तव्यमेव स्वीकरणीयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न भी है और कथंचित् भिन्न भी है।

हिन्दी व्याख्या—प्रमाण से प्रमाण का फल कथञ्चित् भिन्न है और कथंचित् भिन्न है ऐसा मानना चाहिए अन्यथा प्रमाण और प्रमाण के फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। यदि अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप प्रमाण फल से सर्वथा अभिन्न हो तो उस स्थिति में या तो प्रमाण की ही व्यवस्था रहेगी या फल की ही व्यवस्था रहेगी—दोनों की व्यवस्था नहीं हो सकेगी तब यह प्रमाण है और यह इसका फल है ऐसा जो व्यवहार है उस व्यवहार का विलोप हो जायेगा। इसी तरह प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न यदि माना जावेगा तो उस स्थिति में भी यह प्रमाण का फल है ऐसा प्रमाण के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बन सकेगा क्योंकि जैसा वह प्रमाण से भिन्न है उसी तरह वह घटपटादि से भी भिन्न है अतः घट-पटादि का भी वह फल क्यों नहीं कहा जायेगा और प्रमाण का ही क्यों कहा जायेगा।

प्रश्न—भिन्न होने पर भी यह फल प्रमाण का है ऐसा इसलिए कहा जायेगा कि वह उस प्रमाण से उत्पन्न होता है। घट-पटादिक से वह उत्पन्न नहीं होता है इसलिए घटपटादि का वह है ऐसा नहीं कहा जायेगा।

उत्तर—जैसे मृत्तिका पिण्ड से ही घट उत्पन्न होता है और वह मृत्तिका पिण्ड से आकार-प्रकार की अपेक्षा भिन्न होता हुआ भी उससे सर्वथा भिन्न तो नहीं कहा जाता है किसी अपेक्षा ही भिन्न कहा जाता है। यदि वह उससे सर्वथा भिन्न ही माना जावे तो यह घट मृत्तिका पिण्ड से उत्पन्न हुआ है ऐसा व्यवहार कैसे बन सकता है ? अर्थात् नहीं बन सकता है। इसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप फल भी

प्रमाण से ही उत्पन्न होता है और वह उस अपेक्षा कार्य होने की दृष्टि से प्रमाणरूप अपने कारण से भिन्न होता हुआ भी सर्वथा भिन्न तो नहीं कहा जा सकता, किसी अपेक्षा से ही भिन्न कहा जा सकता है। जिस प्रकार घट में मृत्तिका का अन्वय रहता है और इसी से वह मृत्तिका का घट ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार प्रमाण फल में भी प्रमाण का सम्बन्ध रहता है इसी कारण वह प्रमाण का फल है ऐसा कहा जाता है। अतः इस दृष्टि से प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता है।

प्रश्न—यदि प्रमाण और प्रमाण के फल को सर्वथा भिन्न मानने में प्रमाण और प्रमाण फल ऐसा व्यवहार नहीं सध सकता है। तो फिर प्रमाण से प्रमाणफल को सर्वथा अभिन्न ही मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर– बहुत बड़ी बाधा है। क्योंकि इस स्थिति में भी प्रमाण और प्रमाणफल इन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं बन पाती है। अतः प्रमाण और प्रमाणफल में परस्पर में साधनसाध्य भाव है इसलिए तो वह कथञ्चित् भिन्न है और ये दोनों एक ही प्रमाणता में तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं इसलिए ये कथञ्चित् अभिन्न हैं। यही स्याद्वाद सिद्धान्त मान्यता यहाँ समुचित है। एकान्त मान्यता नहीं।

प्रश्न—आपका यह कथन हम कैसे प्रमाणित मानें कि प्रमाण और उसके फल में कथञ्चित् अभिन्नता है। देखो—प्रमाण का जो परम्परा फल हान, उपादान आदि रूप है वह तो उससे व्यवहित होने के कारण सर्वथा भिन्न ही हैं। यदि इसे सर्वथा भिन्न नहीं माना जावे तो उसे अज्ञाननिवृत्ति की तरह साक्षात्फलरूप ही मानना चाहिए था।

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि प्रमाण का जो साक्षात् फल है उसका फल हानोपादानादि बुद्धि रूप होता है। अतः जो प्रमाण से वस्तु जानी गई है उसे ही जानने वाला या तो ग्रहण करता है या उसका परित्याग आदि करता है। अतः एक ही प्रमाता में प्रमाण और उसके फल का तादात्म्य सम्बन्ध होने की अपेक्षा लेकर प्रमाण और उसके परम्परा फल को सर्वथा भिन्न नहीं माना जा सकता है। यदि इस परम्परा फल को प्रमाण से सर्वथा जुदा ही माना जावेगा तो फिर देवदत्त के द्वारा जानी हुई वस्तु को ग्रहण या हान करने आदि रूप बुद्धि के होने का प्रसङ्ग यज्ञदत्त में भी प्राप्त होगा। क्योंकि जिस प्रकार वह परम्परा फल देवदत्त के प्रमाण से सर्वथा जुदा है उसी प्रकार वह फल यज्ञदत्त के प्रमाण से भी जुदा है। फिर कोई कारण नहीं कि वह देवदत्त के प्रमाण के साथ ही सम्बद्धित रहे और यज्ञदत्त के प्रमाण के साथ सम्बद्धित न रहे। अतः परम्पराफल प्रमाण से सर्वथा भिन्न ही है इस दुराग्रह को छोड़कर यही मानना चाहिए कि परम्परा फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ॥६॥

सूत्र—एक प्रमातृ तादात्म्येन कार्यकारणभावेन च प्रमाणफलयोः कथञ्चिदेकत्वानेकत्वम् ॥ ७ ॥

संस्कृत टीका—उत्तानार्थमिदं सूत्रं पूर्वोक्त पद्धत्याऽस्य सुस्पष्टीभवनात्। एक प्रमातृ तादात्म्येन प्रमाणफलयोः स्यादभिन्नत्वं कार्यकारणभावे न च स्यादनेकत्वं—भिन्नत्वमित्यर्थः ॥७॥

हिन्दी व्याख्या—यह ऊपर सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट हो चुका है कि प्रमाण से उसका फल चाहे वह साक्षात् फल हो चाहे परम्परा फल हो, किसी अपेक्षा—एक प्रमाता में इन दोनों के तादात्म्य होने की अपेक्षा अभिन्न है और किसी अपेक्षा कार्यकारण भाव की अपेक्षा भिन्न भी है। इस तरह से इस सूत्र द्वारा दोनों में कथञ्चित् भिन्नता एवं कथञ्चित् अभिन्नता का बीज यहाँ प्रकट किया गया है ॥७॥

प्रमाणतः फलस्य कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नत्वं सिसाधयिषुः सूत्रकारः प्रकारान्तरेणापि तत्साधयति—

सूत्र—प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलत्वेन परिणति सद्भावात् ॥ ८ ॥

संस्कृत टीका—स्वपर व्यवसायात्मकज्ञानरूप प्रमाणतया परिणतस्यैव प्रमातृरूपात्मद्रव्यस्य स्वपर-निश्चयरूपाज्ञाननिवृत्ति हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यादिनाऽपि परिणममानत्वेन तदुभयोरपि प्रमाण-फलयोरेकात्म प्रमातृ द्रव्य तादात्म्यापन्नत्वेन परस्परमपि तयोरभिन्नत्वं सिद्ध्यति। एतेन य एव प्रमातृ रूप आत्मा प्रथमं स्वपर व्यवसायस्वभावरूप प्रमाणतया परिणतो भवति स एव पश्चात् प्रमाणफल-रूपेणापि परिणमते इत्येवमेक प्रमातृरूपात्मद्रव्यापेक्षया तदुभयोरपि प्रमाणरूप फलरूपयोः परस्परमभेदः सिद्ध्यतीति भावः, एतेन ज्ञानावरणीयादि कर्मणां क्षय—क्षयोपशमाभ्यां ज्ञानावरणादि कर्मरजोमल रहितस्य किञ्चित्समलस्य वा स्वयंप्रकाशशीलस्यात्मनः स्वपर व्यवसाय स्वभावरूप प्रमाण तथा परि-णमनानन्तरं प्रकाशेनान्धकारस्य निवृत्तिवत् तथाक्षयोपशमं सर्वथा वाऽज्ञान निवृत्तिर्भवति ततश्च हेयोपादेयोपेक्षणीय वस्तुषु उपेक्षा बुद्धिर्हानोपादानोपेक्षाबुद्धयोवा समुद्भवन्ति। तदनन्तरं केवलं केवलिनः सर्वत्रोपेक्षाबुद्धिः छद्मस्थस्य च हेय वस्तुतो निवृत्तिः उपादेय वस्तुषु प्रवृत्तिरुपक्षणीय वस्तुषु चोपेक्षाबुद्धि-रूप जायते एते च पर्याया आत्मद्रव्यस्यैव वर्त्तन्ते तस्मात् एतेषामात्मद्रव्य परिणामत्वात् आत्मद्रव्य तादात्म्येन स्वरूपतस्तेषां परस्पर भिन्नत्वेऽपि आत्मद्रव्यत्वेनाभिन्नतया तेषामज्ञाननिवृत्त्यादि फलानां प्रमाणतः कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नत्वं सिद्धमिति फलितम् एवं च य एव प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणेन किमपि वस्तु निश्चिनोति स एव तद्वस्तु हेयं चेत् परित्यजति, उपादेयं चेत् उपादत्ते, उपेक्षणीयं चेदुपेक्षते इति सर्वानुभव सिद्धमेतत्। नहि अन्यः प्रमाता प्रमाणेन वस्तु निश्चिनोति अन्यश्चात्मा हानोपादानोपेक्षाबुद्धि करोतीति वस्तुस्थितिः॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्या—सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा प्रकारान्तर से भी प्रमाण और उसके फल में किसी अपेक्षा भिन्नता और किसी अपेक्षा अभिन्नता सिद्ध की है। इसमें उन्होंने ऐसा समझाया है कि प्रमाण रूप से परिणत हुई आत्मा ही फलरूप से परिणमन करती है इसलिये प्रमाण और उसके फल में न तो सर्वथा भिन्नता ही है और न सर्वथा अभिन्नता ही है किन्तु किसी अपेक्षा भिन्नता और किसी अपेक्षा अभिन्नता है, यही अनेकान्त सिद्धान्त यहाँ ध्रुवरूप से अटल रहता है। जहाँ प्रमाण का लक्षण समझाया गया है वहाँ यही प्रकट किया गया है कि स्व और पर को निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। ऐसे ज्ञानरूप से परिणमन इन्द्रियादिकों का नहीं होता है किन्तु आत्मा ही इस प्रकार के ज्ञानरूप से परिणत हो जाती है। क्योंकि आत्मा प्रमाता है इसलिये वही स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानती है। यह जो स्वपर व्यवसायात्मकरूपता आत्मा के हुए ज्ञानरूप परिणमन में है वही अज्ञाननिवृत्ति है और इस अज्ञाननिवृत्ति का ही परिणमन हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि रूप है। इस पर यदि विचार किया जाय तो मूलरूप में यही चन्द्रप्रभा की तरह प्रकाशित होती हुई प्रतीति अनुभव में आती है कि ज्ञानरूप प्रमाण का और उसके फल का तादात्म्य सम्बन्ध एक उसी आत्मा के साथ है कि जिस आत्मा में प्रमाण रूप ज्ञान ने ज्ञेय विषयक अज्ञान की निवृत्तिरूप साक्षात्फल और हानादि रूप परम्परा फल को उत्पन्न किया है। इस तरह जो आत्मा—प्रमाता स्वपर व्यवसायस्वभाव रूप प्रमाण ज्ञान के रूप में परिणत हुआ है वही उस प्रमाण ज्ञान के फलरूप से भी परिणत होता है। ऐसा नहीं है कि प्रमाण ज्ञान रूप से परिणत कोई आत्मा हो और उसके फलरूप से परिणत कोई दूसरी आत्मा हो। यही प्रमाण और उसके फल का एक आत्मा में तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध की अपेक्षा प्रमाण और उसके फल में अभेद कहा गया है। जब ज्ञानावरणादि प्रतिपक्षी कर्मों के क्षय से आत्मा में अनन्तज्ञान—केवलज्ञान उत्पन्न होता है या इनके क्षयोपशम से आत्मा क्षायोशमिक ज्ञान से युक्त होती है। उस समय उस क्षायिक ज्ञानरूप केवलज्ञान के द्वारा या उस क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा क्रमशः जो प्रकाश से अन्धकार के विलय की तरह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अज्ञाननिवृत्ति रूप साक्षात्फल और केवल समस्त पदार्थों में उपेक्षाबुद्धि रूप तथा हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि रूप परम्परा फल प्राप्त हुआ करता है इससे वह प्रमाता आत्मा समस्त पदार्थों में केवल उपेक्षा बुद्धि को, या हेय पदार्थों में हान बुद्धि को, उपादेय पदार्थों में उपादेय बुद्धि को और उपेक्षणीय पदार्थों में उपेक्षा बुद्धि को धारण करता है। सो ये सब बुद्धिरूप पर्यायें उसी एक आत्म द्रव्य की ही हैं। अतः इस अपेक्षावाद की दृष्टि से ये सब परिणामरूप पर्यायें परस्पर में लक्षण भेद की अपेक्षा भिन्न-भिन्न होने पर भी एक आत्मद्रव्य में अपने तादात्म्य सम्बन्ध को लेकर अभिन्न ही हैं, अतः प्रमाण और फल में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता आ जाती है। यह तो अनुभव सिद्ध है कि जो प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जिस किसी वस्तु का निश्चय करता है यदि वह वस्तु हेय है तो उसे वह छोड़ देता है, यदि वह उपादेय है तो उसे ग्रहण कर लेता है और यदि वह उपेक्षणीय है तो उसे उपेक्षित कर देता है इस तरह का यह फल एक ही आत्मा में होता है भिन्न-भिन्न आत्मा में नहीं। अतः ज्ञान और ज्ञान का फल एक आत्मद्रव्य में ही जायमान होने के कारण उस एक आत्मद्रव्य की अपेक्षा परस्पर में अभिन्न कहा गया है और अपने-अपने लक्षण भेद की अपेक्षा भिन्न-भिन्न भी कहा गया है ॥ ८ ॥

सूत्र—अन्यथा स्वेतर प्रमाण फल व्यवस्था न स्यात् ॥ ९ ॥

संस्कृत टीका—प्रमाणात्प्रमाणफलं स्याद्भिन्नं स्याद्भिन्नमिति पूर्वोक्त पद्धत्या प्रतिपादितेऽपि यदि कश्चित्स्वमतव्यामोहादिनां व्यवस्थां न स्वीकुर्यात् तर्हि तन्मतानुसारेण "इमे प्रमाणफले स्वकीये इमे च परकीये" ईदृशी या तयो र्व्यवस्था दृष्टिपथमायाति सा कथमधुनाऽऽगच्छेत् सर्वथा तस्या भिन्नत्वे भव्यत्वाभावात्। तथाहि यदि जिनदत्तात्मनि विद्यमानयोः प्रमाणफलयोः प्रमातुर्जिनदत्तात्मनः सकाशादेकान्ततो भिन्नत्वं स्यात्तदा तयोर्यथा देवदत्तादितो भिन्नत्वं तथैव जिनदत्तादपि भिन्नत्वं समानमेवेति जिनदत्तात्मनि विद्यमाने प्रमाणफले देवदत्तस्यापि कथं न स्याताम्। एवं देवदत्तात्मनि विद्यमाने प्रमाणफले जिनदत्तस्यापि कथं न स्याताम्। उभयत्रापि प्रमाणफलयोर्भिन्नत्वाविशेषात्। तस्मात्प्रमाणफलयोः स्वकीय परकीय प्रमाणफल व्यवस्था प्रतिपत्तये तयोरेक प्रमातृरूपात्मद्रव्य तादात्म्येनावस्थितिरवश्यमभ्युपगन्तव्येति ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसा कि अनेकान्त सिद्धान्त की दृष्टि से प्रमाण और प्रमाण के फल में उसकी भिन्नता और अभिन्नता को लेकर मौलिक विचार चन्द्रप्रभा की तरह अन्तःकरण में प्रकाशित होता हुआ प्रकट किया गया है उसे यदि स्वीकार न किया जावे तो फिर स्वकीय और परकीय प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती है ॥ ९ ॥

हिन्दी व्याख्या—युक्तिपूर्वक यह स्पष्ट रूप से समर्थित हो चुका है कि प्रमाण और उसका फल आपस में किसी अपेक्षा से भिन्न भी है और किसी अपेक्षा से अभिन्न भी है परन्तु फिर भी यदि कोई इस प्रतिपादित हुई पद्धति को अपने मत के व्यामोह से स्वीकार न करे तो यह उसके ऊपर सबसे अधिक वज्र के प्रहार जैसी आपत्ति आ जाती है कि "ये मेरे प्रमाण और उसके फल हैं, ये पर के प्रमाण और उसके फल हैं" ऐसी व्यवस्था उसके मन्तव्यानुसार नहीं बन सकती है। ऐसी व्यवस्था इन दोनों की होती नहीं है ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है क्योंकि ऐसा कथन तो प्रत्यक्ष का अपलाप करने जैसा है। प्रमाण और उसके फल के सम्बन्ध में स्वेतर व्यवस्था तो प्रत्यक्ष से ही प्रतीति कोटि में आती रहती है। फिर ऐसा कैसे माना जा सकता है कि प्रमाण और उसके फल के सम्बन्ध में यह व्यवस्था सावित नहीं होती है। हाँ, जो प्रमाण के फल को सर्वथा आपस में भिन्न ही मानते हैं उनके ही मन्तव्यानुसार इस सम्बन्ध में ऐसी आपत्ति आ सकती है कि जिनदत्त की आत्मा में विद्यमान प्रमाण और उसके फल में यदि उससे एकान्ततः भिन्नता है तो उसी प्रकार से वह भिन्नता उन दोनों की देवदत्त आदि से भी है तो फिर इस स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि ये प्रमाण और फल जिनदत्त की आत्मा के हैं, देवदत्त की आत्मा

के नहीं हैं, अतः स्वेतर प्रमाण फल की व्यवस्था में गड़बड़ी नहीं प्राप्त होने पावे इसके लिए इन दोनों का अवस्थान एक द्रव्यरूप आत्मा में मानकर इस अपेक्षा इन दोनों में अभिन्नता की मान्यता निर्दोष माननी चाहिए तथा अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा इनमें भिन्नता भी है ऐसा भी मानना चाहिए। इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिए कि अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा साक्षात् फल और परम्परा फल में भिन्नता और आत्मद्रव्य में इन दोनों का तादात्म्य होने की अपेक्षा अभिन्नता है ॥ ९ ॥

सूत्र—स्वपरनिश्चये साधकतमत्वात्साक्षात्फले प्रमाणस्यैव करणत्वम् ॥ १० ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञानरूप प्रमाणस्याज्ञाननिवृत्ति रूप साक्षात्फलेन सह कथंचिदभिन्नत्वं साधयितुं कार्यकारणरूप हेतुहेतुमद्भावः प्रतिपादितः तत्र प्रमाणस्य करणत्वं फलस्य च साध्यत्वं द्योतयितुं प्रथमं प्रमाणस्य करणत्वमाह—"स्वपर निश्चये साधकतमत्वादित्यादिना सूत्रेण, अतिशय साधकतमं करणमुच्यते। स्वपर निश्चये करणरूप ज्ञानस्यैव साधकत्वमायाति नत्वज्ञानरूपस्य सन्निकर्षादि र्नयनमनसोप्राप्यकारित्वादिति। तत्र प्रमाणताभावात् ज्ञानस्यैव च प्रमाणत्वात्। यथा काष्ठ-च्छेदन क्रियायां कुठारादिः करणं तस्मिन् कुठारादौ ऊर्ध्वोत्पन्नाधःपतनादिरूप व्यापारवत्त्वात् न कुठार प्रयोक्तृत्वष्टरि। एवमेव स्वपर व्यवसितिरूपाज्ञाननिवृत्तौ साक्षात्फले प्रमाणरूप ज्ञानस्यैव करणत्वमायाति न प्रमातर्यात्मनि साधनरूपे करणे अतिशयत्वन्तु तद्व्यापाराव्यवहितोत्तर कालावच्छेदेन क्रियारूपफल निष्पादकत्वादेव बोध्यम्। यथा—"देवदत्तः कुठारेण काष्ठं छिनत्ति" इत्यत्र छेदनरूप क्रियाया निष्पत्तिः साक्षात् तद्व्यापारानन्तर काले एव समुपलब्धा सती दृश्यते। एवमेव प्रकृतेऽपि प्रमातुरात्मनो घटपटादि विषयेण सहेन्द्रियादि संयोगानन्तर काले एव साक्षात्फलरूप क्रियायाः निष्पत्तिर्जायमाना समुपलभ्यते। अतः छिदिक्रियामेव स्वपर व्यवसितिरूप क्रियां प्रति कुठारवत् प्रमाणरूपज्ञानस्यैव करणत्वं निगदितं नान्यत्र सन्निकर्षादाविति ॥१०॥

अर्थ—साक्षात् फल और प्रमाण रूप ज्ञान में कार्य कारण भाव होने से कथंचित् भिन्नता का प्रतिपादन पीछे ७वें सूत्र द्वारा किया गया है। उसी बात का समर्थन करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र का निर्माण किया है। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि स्वपर निश्चय रूप जो अज्ञाननिवृत्ति है—वही प्रमाण का साक्षात् फल है। इस फल के प्रति साक्षात्करणता प्रमाण रूप ज्ञान में ही आती है अन्य में नहीं क्योंकि क्रिया के प्रति जो अतिशय साधक होता है वही करण कहलाता है।

प्रश्न—इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जायमान सन्निकर्ष से ही पदार्थ विषयक अज्ञान की विनिवृत्ति रूप साक्षात् फल होता हुआ प्रतीति कोटि में आता है अतः सन्निकर्ष को ही प्रमितिरूप अज्ञान-निवृत्ति के प्रति साधकतम मानना चाहिये ज्ञान को नहीं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिये—क्योंकि सूत्रकार ने जो "प्रमाणस्यैव" ऐसा पद सूत्र में रखा है उससे उन्होंने अन्यतीर्थिक जनों द्वारा मान्य जितने भी प्रमाण हैं। उन सब की व्यवच्छित्ति की है और एक ज्ञान में ही प्रमाणता व्यवस्थित की है सन्निकर्ष में प्रमाणता का कथन इसलिये नहीं किया गया है वह अचेतन होने से स्वपर का निश्चायक नहीं होता है, ज्ञान चेतन स्वरूप है और इसी कारण वह स्वपर का निश्चायक होता है, इसी को प्रमितिरूप क्रिया के प्रति साधकतमता कहा गया है, "इन्द्रियार्थ सम्बन्धः सन्निकर्षः" इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध का नाम ही सन्निकर्ष है, ऐसा यह सन्निकर्ष चक्षु एवं मन के साथ घटित नहीं होता है क्योंकि ये दोनों इन्द्रियाँ अपने विषयभूत पदार्थों से सम्बन्धित नहीं होती हैं।

चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता का कथन—

प्रश्न—स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण, ये इन्द्रियाँ तो अपने विषयों के साथ सम्बन्धित होती

हैं तभी जाकर ये अपने-अपने विषय को जानती हैं इसी प्रकार चक्षु और मन को भी जब अपने-अपने विषय का ज्ञाता माना गया है तो इनका भी सम्बन्ध पदार्थों के साथ क्यों नहीं माना जायेगा ? जब यह सिद्धान्त स्थापित हो चुका है कि इन्द्रियाँ बिना अपने विषय के साथ सम्बन्धित हुए पदार्थ को नहीं जानती हैं तो फिर आप इस विषय में मीन-मेख लगाने वाले कौन होते हैं ?

उत्तर—ऐसा आप किस आधार को लेकर कहते हैं कि इन्द्रियाँ अपने विषय को पदार्थों के साथ सम्बन्धित होकर ही उन पदार्थों को जानती हैं, यह सिद्धान्त स्थापित हो चुका है। यदि यही सिद्धान्त स्थापित हो जाता तो हम भी उसे स्वीकार कर लेते। कामल रोग वाला यदि सफेद पदार्थ को पीला देखता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता है कि सभी को उसकी बात मान लेनी चाहिए। स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी गई हैं इसलिए ये अपने-अपने विषयभूत पदार्थों के साथ भिड़कर पदार्थ का ज्ञान कराती हैं। चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं माने गये हैं अतः ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्धित नहीं होती हैं। यदि चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यकारी माना जावे तो शाखा और उसकी ओट में रहे हुए चन्द्रमा का जो एक साथ ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—ऐसा कौन कहता है कि एक साथ इन दोनों का ग्रहण होता है। वह तो क्रमशः ही होता है।

उत्तर—तो फिर उस ग्रहण में कालक्रम का अनुभव होना चाहिये परन्तु नहीं होता। अतः एक साथ ही इन दोनों का ग्रहण होता है ऐसा ही मानना चाहिए।

प्रश्न—अति सूक्ष्म होने से वहाँ कालक्रम का अनुभव नहीं होता है। अतः शाखा और उसकी ओट में रहे हुए चन्द्र का ग्रहण क्रमशः होता हुआ भी युगपत् हुआ है ऐसा भ्रम से ज्ञात होता है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि प्राप्यकारी इन्द्रियों में विषयकृत उपघात और अनुग्रह अवश्य ज्ञात होता है। जैसे कठोर कम्बल आदि के स्पर्श से स्पर्शन इन्द्रिय में, कडवी औषधि आदि के स्वाद से रसना इन्द्रिय में, अपवित्र दुर्गंधित पदार्थ के सूंघने से घ्राण इन्द्रिय में और भेरी आदि के शब्दों के श्रवण से कर्ण इन्द्रिय में गढ़ना आदि रूप उपघात तथा चन्दन एवं अङ्गना आदि पदार्थों के स्पर्श से स्पर्शन इन्द्रिय में, शक्कर आदि के स्वाद से रसना इन्द्रिय में, सुगन्ध के सूँघने से घ्राण इन्द्रिय में, मधुर शब्दों के श्रवण से कर्ण इन्द्रिय में, शीतलता आदि रूप अनुग्रह प्रत्येक जन को स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार से ये उपघात और अनुग्रह नेत्र इन्द्रिय में अपने विषय द्वारा होते हुए अनुभव में नहीं आते, करोंत आदि के देखने से आँखों में न तो चिरना आदि रूप उपघात प्रतीत होता और न चन्दन या अगुरु आदि शीतलतादायक पदार्थों के दर्शन मात्र से उनमें शीतलता आदि रूप अनुग्रह मालूम होता है। अतः यह कपोल कल्पित चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता को अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—इस प्रकार की मान्यता से कि विषयकृत उपघात और अनुग्रह चक्षु इन्द्रिय में प्रतीत नहीं होते हैं अतः वह अप्राप्त अर्थ को ही जानती है 'श्रोत्र और घ्राण' इन्द्रिय में भी यही बात स्पष्ट अनुभावित होती है। ये भी अपने-अपने विषय को इस प्रकार से प्राप्त होकर नहीं जनाती हैं तो फिर इनमें भी प्राप्यकारिता को त्याग देना चाहिये।

उत्तर—बात तो ठीक है, कर्ण इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय अपने-अपने विषय को विषय देश में जाकर नहीं जनाती हैं फिर भी जो इनके द्वारा इनका ग्रहण होता है उसका कारण यह है कि शब्द और

गन्ध पौद्गलिक होने से क्रिया (गमन) युक्त हैं अतः ये स्वयं अपने को विषय करने वाली इन्द्रियों के पास अनुकूल वायु आदि द्वारा प्रेरित होकर आते हैं और उनके द्वारा जनाये जाते हैं।

प्रश्न—चक्षु इन्द्रिय में भी बाह्य द्रव्य के सम्बन्ध से उपघात और अनुग्रह होते हुए प्रतीत होते हैं। अधिक देर तक सूर्य की ओर देखने से नेत्रों में चकाचौंधी छा जाती है। चिलकती हुई चीज देखने से नेत्रों से पानी झरने लगता है। इसी तरह हरी वनस्पति आदि देखने से नेत्रों में शीतलता आदि का भी अनुभव होता है, तथा—यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि किसी व्यक्ति की दुःखती हुई आँखों को देखने से देखने वालों की आँखों में पानी भर आता है।

उत्तर—हम यह तो निषेध नहीं करते हैं कि चक्षु में दूसरे पदार्थों द्वारा उपघातादिक नहीं होते हैं। देखने वाला व्यक्ति अब नेत्र द्वारा सूर्य और स्वभावतः शीतल चन्द्रमा आदि पदार्थों को बहुत देर तक देखता रहता है तो यह स्वाभाविक बात है कि उस चिरकाल तक के निरीक्षण के सम्बन्ध से स्पर्शन इन्द्रिय की तरह नेत्र इन्द्रिय में भी जलन और शीतलता जैसी अनुभावित होती है। इससे वह बात तो सिद्ध नहीं होती कि चक्षु पदार्थ को प्राप्त कर उसका प्रकाशक होता है। हम तो केवल इतना ही कहते हैं कि जिस तरह अन्य इन्द्रियाँ पदार्थों से भिड़कर अपने-अपने विषयभूत पदार्थों का प्रकाशन करती हैं उस तरह चक्षु इन्द्रिय पदार्थों से भिड़कर या पदार्थों के स्थान तक जाकर उन्हें प्रकाशित नहीं करती है और न पदार्थ ही चक्षु स्थान तक आकर उसके द्वारा जनाया जाता है, मात्र पदार्थ के रूप को जनाते समय उस द्वारा चक्षु इन्द्रिय में किसी भी प्रकार का उपघात अनुग्रह नहीं होता है। द्रष्टा जब अधिक देर तक पदार्थों का अवलोकन करता रहता है तभी यह होता है, मात्र देखने पर नहीं। अतः उपघातक द्रव्यों द्वारा उपघात के और अनुग्रह के द्रव्यों द्वारा अनुग्रह होने के हम चक्षु में निषेधक नहीं हैं।

प्रश्न—मुक्तावली में ऐसा कहा गया है 'चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' अर्थात् प्रदीप की तरह चक्षु इन्द्रिय से रश्मियाँ निकलती हैं और वे पदार्थों से भिड़कर प्रकाशित करती हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं और स्वयं तैजस रूप होती हैं।

उत्तर—चक्षु इन्द्रिय में स्वतन्त्र कोई तैजस रश्मियाँ हैं और वे उस इन्द्रिय से निकलकर उसका प्रकाशन करती हैं यह सब एक कल्पना[1] मात्र ही है। इसमें प्रमाण कुछ भी नहीं है, अतः चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त अर्थ का ही प्रकाशन करती है यह युक्तियुक्त बात अवश्य-अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। यदि च—चक्षु प्राप्त अर्थ का प्रकाशन करती है यही बात मानी जावे तो फिर अपने में लगे हुए अञ्जनादिक का प्रकाशन उसी के द्वारा स्पष्ट रूप से हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है[2]।

प्रश्न—यदि चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानकर पदार्थ को प्रकाशित करने वाली मानी जावे तो इसमें एक यह बड़ा भारी दोष आता है कि जिस समय वह अप्राप्त होकर घट को प्रकाशित करती है उसी समय उसके द्वारा पट का भी प्रकाशन हो जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार से नियामक नियम के अभाव में एक ही साथ विवक्षित अविवक्षित समस्त पदार्थ का प्रकाशन उसके द्वारा होने से किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकेगा परन्तु ऐसा तो होता नहीं है क्योंकि जिस पदार्थ को हमारी

---

१ इसके लिए स्याद्वादरत्नाकरावतारिका में चर्चित इस प्रकरण को देखना चाहिए।

२. "जइ पत्तं गेण्हेज्जउ तग्गयमंजणरजोमलाईयं।
पेच्छेज्ज, जं न पासइ अपत्तकारित्तओ चक्खु।" —विशेष्यावश्यक भाष्य पृ० १२७

चक्षु इन्द्रिय प्राप्त होकर बताती है उसे ही हम जानते हैं, अन्य को नहीं; कारण कि उसे उसने प्राप्त होकर प्रकाशित नहीं किया है।

उत्तर—यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय में इतनी योग्यता नहीं है कि वह एक ही साथ समस्त पदार्थों का प्रकाशन कर सके; क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में इतनी ही योग्यता है कि वह सम्बद्ध और वर्तमान अपने योग्य प्रतिनियत पदार्थों को ही जानता है अन्य को नहीं। कारण कि ऐसी उसमें शक्ति नहीं है इसका भी कारण यही है कि उसके प्रतिबन्धक-रोधक-ज्ञानावरणीयादि कर्मों का सद्भाव है अतः चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त अर्थ की प्रकाशक है ऐसी मान्यता ही युक्तियुक्त है।

मन में अप्राप्यकारिता का कथन

इसी प्रकार से मन भी अप्राप्यकारी है। द्रव्यमन और भावमन के भेद से मन दो प्रकार का कहा गया है। भावमन जीव स्वरूप और द्रव्यमन मनोवर्गणाओं से निष्पन्न होने के कारण पौद्गलिक कहा गया है। चक्षु इन्द्रिय में जिस प्रकार पदार्थकृत उपघात और अनुग्रह नहीं होते हैं उसी प्रकार मन में भी पदार्थकृत उपघात और अनुग्रह सिद्ध नहीं होते हैं। भावमन का काम विचारना है और इस विचार में सहायता पहुँचाना द्रव्यमन का काम है।

प्रश्न—भावमन तो जीव स्वरूप है अतः उसका देह से बाहर निकलना अशक्य है—इस पर हमारा कुछ भी नहीं कहना है, परन्तु द्रव्यमन के जो कि पौद्गलिक अचेतन है उसके बाहर निकलने में कोई आपत्ति नहीं है। यह ठीक है कि उसका काम स्वयं विचारने का नहीं है यह तो भावमन का ही है परन्तु जिस प्रकार प्रदीपादिक पदार्थों को निमित्त कर हम घट पटादि पदार्थों को जानते हैं। उसी प्रकार द्रव्य मन की सहायता से जीव पदार्थों को जानता है। निष्कर्ष कहने का यही है कि जिस प्रकार प्रदीपादिक की प्रभा से सम्बन्धित पदार्थों को जीव जानता है उसी प्रकार द्रव्यमन भी देह से बाहर निकलकर ज्ञेय पदार्थों से सम्बन्ध करता है। पश्चात् जीव उससे सम्बन्धित हुए पदार्थों को जानता है। अतः इस प्रकार की ज्ञप्ति में द्रव्यमन में करणता आने से प्राप्यकारिता सिद्ध होती है।[1] लोक में यही बात चरितार्थ होती है कि "अमुत्र मे मनोगतम्" अमुक जगह मेरा मन गया।

उत्तर—इस कथन से द्रव्यमन में प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं होती है। यह तो हम भी स्वीकार करते हैं कि पदार्थों को जानने में जीव के लिये द्रव्यमन सहायक होता है। इसकी सहायता के बिना पदार्थों का ज्ञान हम तुमको नहीं हो सकता है। इससे यह बात कैसे सिद्ध हुई कि वह प्राप्यकारी है। करण दो प्रकार के होते हैं—एक अन्तःकरण और दूसरा बाह्यकरण। आत्मा को पदार्थों के जानने में इन्द्रिय और मन अभ्यन्तर—अन्तःकरण हैं। प्रदीप आदि पदार्थ आदि बाह्यकरण हैं। बाह्यकरणों की समता अन्तःकरण में नहीं हो सकती है। बाह्यकरण आत्मा से सर्वथा भिन्न है। आत्मा उनकी सहायता से घट-पट आदि पदार्थों को जानती है। तब कि मन ऐसा नहीं है वह तो शरीर के भीतर रहा हुआ है। अतः शरीर के भीतर रहे हुए ही इसकी सहायता से आत्मा हम तुम सब पदार्थों को जानते हैं। जिस प्रकार अन्तःकरण स्पर्शनादि इन्द्रियाँ हैं आत्मा शरीर के भीतर रही हुई इनकी सहायता से ही पदार्थों को जानती है। अतः यह कहना कि जिस प्रकार प्रदीपादिकों की सहायता लेकर पदार्थों को जीव जानता है उसी प्रकार मन की सहायता लेकर जीव पदार्थों को जानता है अतः उसमें करणता आने से द्रव्य मन में प्राप्य-कारिता सिद्ध होती है सो यह प्राप्यकारिता की सिद्धि कराने में कोई महत्व की बात नहीं है। इससे तो

---

१. बहिर्निर्गतेन द्रव्यमनसा प्राप्य विषयं जानाति जीवः करणत्वात् प्रदीपप्रभयेव। (वि० आ० भा० १३०)

यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पदार्थों के प्रकाश करने में प्रदीपादिकों में करणता-सहायकता आती है। उसी प्रकार घट पटादिक पदार्थों को प्रकट कराने में मन—द्रव्यमन में करणता आती है जो हमें अभीष्ट ही है। "मनसा अहं जानामि" मैं—आत्मा—मन से पदार्थों को जानता हूँ।

प्रश्न—आपने जो अभी ऐसा कहा कि चक्षु इन्द्रिय की तरह मन में ज्ञेय पदार्थों को जानते समय उनके द्वारा वहाँ उपघात और अनुग्रह नहीं होते सो यह बात प्रत्यक्ष का अपलाप करने जैसी है—ठीक प्रतीत नहीं होती। चक्षु में ज्ञेयकृत उपघात अनुग्रह न हों उसमें हमें कोई विवाद नहीं, परन्तु मन में इन्हें नहीं मानना यह एक आश्चर्य जैसी बात है। यह तो अनुभव में आता है कि जब इष्ट पदार्थ का वियोग होता है उस समय मन में उन पदार्थों के उपकारादिक के विचार से एक प्रकार की बेचैनी बढ़ती है। इसी का नाम मन का उपघात है और यह उसमें बाह्य पदार्थों द्वारा होता हुआ प्रतीत होता है। मन में इस बेचैनी के अनुमापक उसके चिह्न स्वरूप देहाश्रित कृशता आदि है। इसी प्रकार इष्ट पदार्थों के संयोग से मन में एक प्रकार का हर्षोल्लास होता है। यह मन का बाह्य पदार्थकृत अनुग्रह है। मन में हर्षोल्लास है यह बात भी उस समय में मुख पर छायी हुई प्रसन्नता आदि से लक्षित हो जाती है अतः मन में बाह्य पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह होता है यह बात प्रसिद्ध ही है फिर आप इसका अपलाप कैसे करते हैं ?

उत्तर—यदि बाह्य पदार्थों द्वारा द्रव्य मन में उपघात और अनुग्रह होते हुए प्रसिद्ध होते और हम उन्हें न मानते तो यह कहना शोभित होता कि आप इसका अपलाप कैसे करते हैं। परन्तु इन दोनों की तो वहाँ गन्ध तक भी नहीं पहुँचती है। जो तुमने पूर्वोक्त रीति से मन में उपघात और अनुग्रह होने की बात कही वह मन में न होकर उल्टी उसके द्वारा आत्मा में ही प्रसिद्ध होती है। यथा—हृदय देश में निरुद्ध वायु जैसे देह में दौर्बल्य आदि लक्षणों को उत्पन्न करती हुई जीवों को कष्टकारक होती है और दवा आदि जैसे ज्वरादिक का उपशमन करती हुई जीवों में प्रसन्नता का हेतु होती है इसी प्रकार द्रव्य मन से परिणत जो इष्ट और अनिष्ट पुद्गल हैं वे पदार्थों को इष्ट और अनिष्ट रूप से विचार करने में जीव के लिये निमित्त हों उसमें हर्ष और विषाद के कारण बनकर उसके अनुग्राहक और उपघातक होते हैं। इससे यों भी समझ सकते हैं—जिस प्रकार वृद्ध पुरुष लकड़ी का सहारा पाकर चलता है—यदि लकड़ी उसे चलने में अच्छी तरह से सहायक होती है तो वही उसके लिए आनन्द का कारण बन जाती है और यदि वह चलने में ठीक-ठीक मदद नहीं पहुँचाती है तो वही उसे कष्टकारक हो जाती है। इसी प्रकार मन भी विचारक आत्मा को इष्ट रूप से पदार्थों के विचार करने में निमित्त रूप होकर जब मदद पहुँचाता है तब वह आत्मा उस इष्टरूप परिणत मन द्वारा विचार करने वाला होने से उस पदार्थ को इष्ट मानकर हर्षित होता है और अनिष्ट रूप परिणत मन द्वारा जब वह पदार्थों का विचार करता है तब वह अनिष्टरूप परिणत मन द्वारा विचार करने वाला होने से उन पदार्थों को अनिष्ट कल्पित कर दुःखी होता है। अतः यह जीव को विचार करने में निमित्त—सहायक है, स्वयं विचारक नहीं। चिन्त्यमान विषय के विचार से उपघात या अनुग्रह जो कुछ भी होता है वह इष्टानिष्ट विषय को विचार करने वाले आत्मा को ही होता है द्रव्य मन को नहीं क्योंकि वह अचेतन होने से अविचारक है—जैसे अचेतन इष्ट अनिष्ट आहार के सेवन करने से प्राणियों के शरीर की पुष्टि और अपुष्टि प्रत्यक्ष में ज्ञात होती है। इसी प्रकार अचेतन पौद्गलिक द्रव्य मन भी इष्ट और अनिष्ट का विचार करने वाले जीव के शरीर की हानि और पुष्टि का कारण होता है। कहने का तात्पर्य यह है—शङ्काकार ने द्रव्यमन में बाह्य पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह होते हैं इस बात की पुष्टि यों की कि जब मन इष्ट पदार्थ का विचार करता है

तब उसमें एक प्रकार का हर्ष होता है और जब किसी इष्ट के वियोग का स्मरण करता है तो उससे उसे एक प्रकार की ठेस पहुँचती है। इन दोनों बातों की समर्थक देह में उस समय होने वाली कृशता और मुख की प्रफुल्लता आदि हैं। बाह्य पदार्थों का मन पर अच्छे-बुरे रूप में असर पड़ता ही है यही उसमें उन द्वारा उपघात और अनुग्रह है। इस पर उत्तरकार का यह कहना है कि द्रव्यमन में जो कि स्वयं अविचारक है—और अचेतन है उस पर बाह्य पदार्थ के इष्टानिष्ट रूप विचार का कुछ भी असर नहीं पड़ता। क्योंकि विचारक तो जीव है। जीव ही द्रव्यमन की सहायता से इष्टानिष्ट पदार्थों का विचार करता है। पदार्थ में इष्ट अनिष्ट यह मान्यता द्रव्यमन की सहायता से ही जीव में उद्भूत होती है। पदार्थ न स्वयं इष्टरूप और न अनिष्ट रूप है। इष्ट पुद्गल परमाणुओं से रचित द्रव्य मन द्वारा जिन पदार्थों का आत्मा विचार करता है वे उसे इष्ट रूप से और जिनका अनिष्ट पुद्गल परमाणुओं से रचित मन द्वारा विचार करता है वे उसे अनिष्ट प्रतीत होते हैं, अतः जीव में इष्ट अनिष्ट कल्पना का जनक होने से द्रव्यमन ही खाये हुये इष्ट और अनिष्ट आहार की तरह जीवाधिष्ठित देह में कृशता और प्रफुल्लता आदि का कारण होता है। विचारों का असर आत्मा में ही होता है। पुद्गल द्वारा जीवों के उपकारादिक के विषय में श्री उमास्वाति का यह सूत्र[1] देखना चाहिये। अतः द्रव्यमन से जीव में ही उपघात और अनुग्रह होते हैं; चिन्त्यमान विषय से मन में नहीं। फिर भी ये मन में होते हैं ऐसी मान्यता का कारण मन को जीव से कथंचित् अभिन्नता है।[2]

प्रश्न—द्रव्यमन पौद्गलक है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—द्रव्यमन पौद्गलिक है इसमें अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण से हम यह जानते हैं कि द्रव्यमन पौद्गलिक है। जैसे अग्नि के स्पर्श से हुआ फोड़ा अग्नि की दाहात्मक शक्ति का अनुमापक होता है उसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट वस्तु के चिन्तवन करने पर होने वाली वदन की प्रसन्नता और देह की दुर्बलता आदि रूप अनुग्रह और उपघात द्रव्यमन में पौद्गलिकत्व की सिद्धि करते हैं। द्रव्यमन यदि पौद्गलिक न होता तो जिस प्रकार अपौद्गलिक आकाश आदि से उपघात आदि नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार संज्ञी प्राणियों को भी इष्टानिष्ट वस्तु के विचार करने पर जो वदन में प्रसन्नता और देह की दुर्बलता आदि रूप अनुग्रह और उपघात प्रतीत होते हैं। वे नहीं होना चाहिये परन्तु होते तो हैं। इससे यह अनुमित होता है कि द्रव्यमन पौद्गलिक है। अनुग्रह और उपघात आदि रूप कार्य विना द्रव्य मन में पौद्गलिकता हुए कथमपि सुघटित नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न—द्रव्य मन के निमित्त से उपघात और अनुग्रह रूप कार्य जीवों के होते हैं, इसलिए द्रव्यमन पौद्गलिक है, यह भी एक विलक्षण बात है। क्योंकि ये कार्य तो विचारित विषय से ही जीवों में देखने में आते हैं।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यदि चिन्तनीय विषयों से उपघात और अनुग्रह आदि कार्य माने जावें तो फिर इसी तरह जल, अग्नि और भोजन आदि का विचार करने पर भी क्लेद, दाह और बुभुक्षा की तृप्ति हो जानी चाहिए, परन्तु होती नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि विचारित पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह कुछ भी नहीं होते हैं इन पदार्थों के विचारने में निमित्त रूप हुए मन से ही ऐसा होता है।

प्रश्न—यह कहना कि इनकी तरह क्लेदादिक हो जाने चाहिए। सो ऐसा कहना तो उस समय शोभास्पद माना जा सकता था कि जब हम उपघातादिक का कारण पदार्थों को मानते, किन्तु हमारा तो

---

१. सुख-दुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च (तत्वार्थ सू० अध्याय ५)

२. सः जीवस्य भवन्नपि चिन्त्यमान विषयात् मनसः किल परो मन्यते तस्य जीवात्कथंचिदव्यतिरिक्तत्वात् (विशेष० भा० पृ० १३१)

यह कहना है कि पदार्थों का जो इष्टानिष्टात्मक विचार-ज्ञान है उससे ही उपघात और अनुग्रह होते हैं। अतः ज्ञानकृत उपघात और अनुग्रह मानने से यह क्लेद-दाह आदि कुछ भी नहीं हो सकते हैं।

उत्तर—ज्ञान उपघात और अनुग्रह का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप होने से अमूर्त्तिक है। अमूर्त्तिक पदार्थ आकाश की तरह उपघातादिक कार्यों का कारण नहीं हो सकता है। व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि "चिन्तया जातं ते शरीरं कृशम्" हे बच्चे! चिन्ता से तेरा शरीर कृश हो गया है। सो केवल औपचारिक ही कथन है, वास्तविक नहीं। क्योंकि चिन्ता भी तो एक प्रकार का ज्ञान विशेष ही है, इससे उपघातादिक नहीं होते हैं। फिर भी जो ऐसा कहा जाता है उसका कारण कार्य में कारण शक्ति का अध्यारोप है। क्योंकि चिन्ता-विचार विशेष का निमित्तकारण आत्मा के लिए इष्टानिष्ट पुद्गल रूप से परिणत मन ही है। अतः वह चिन्ता द्रव्यमनरूप ही है इससे यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—जागृत अवस्था में मन का सम्बन्ध पदार्थों के साथ यदि नहीं होता है तो कोई आक्षेप जैसी बात नहीं है। परन्तु यह तो अनुभव सिद्ध बात है कि स्वप्न में मन बाहरी पदार्थों से सम्बन्ध करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर जो इस तरह की स्वप्न में अनुभूति जीवों को होती है कि "अमुत्र मेरुशिखरादिगत पाण्डुकवनादौ मदीय मनोगतम्" मेरा मन सुमेरुपर्वत के शिखर स्थितपाण्डुक वन आदि में चला गया सो नहीं होनी चाहिए। स्वप्न में प्रत्येक प्राणी को यह अनुभव में आता है कि मेरा मन अमुक जगह अमुक पदार्थ से संलग्न हो गया जैसा हमें जागृत अवस्था में उस पदार्थ का भान होता है ठीक इसी तरह स्वप्न में भी उस पदार्थ का ज्यों का त्यों भान होता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि इस तरह की प्रतीति का कारण भ्रम है। जैसे स्वप्न में खाये गये लड्डू सत्य नहीं होते, क्योंकि उनके भक्षण से जगने पर भक्षक को तृप्ति आदि कुछ भी ज्ञात नहीं होती। अथवा—जैसे शिर पर अग्नि लगाकर लकड़ी को चक्राकार घुमाने से वह अग्नि भ्रम से चक्राकार प्रतीत होती है—वास्तव में वह चक्राकार नहीं है, क्योंकि जब घुमाना बन्द कर दिया जाता है तब वह अचक्राकार रूप अपने स्वरूप में ही स्थित ज्ञात होती है, ठीक इसी तरह से स्वप्न में उपलब्ध पदार्थ जिस रूप में प्रतीत होते हैं वे उस रूप में नहीं हैं क्योंकि जगने पर इनका वह रूप प्रतीति में नहीं आता। जैसे कोई-कोई प्राणी अपने आपको स्वप्न में उड़ते हुए भी देखते हैं तो क्या यह उनका देखना सत्य है? नहीं, क्योंकि जिस समय वे अपने को स्वप्न में उड़ता देख रहे हैं, उसी समय उनके पास में रहे हुए व्यक्ति उन्हें वहीं पर सोया हुआ ही देख रहे हैं। अतः स्वप्न में जो कुछ भी प्रतीति होती है वह जागृत अवस्था में उत्कटता में अनुभूत पदार्थों के प्रबल संस्कार की जागृति से ही होती है—जागृत अवस्था में मनुष्य जिन संस्कारों से ओत-प्रोत होकर प्रबल भावना से जो-जो कार्य करता है—जिन-जिन बातों की छाप उसकी आत्मा पर जम जाती है वे ही दृश्य उसे सिनेमा की तरह स्वप्नावस्था में प्रतीत होते हैं। वे दृश्य वास्तविक इसलिए नहीं हैं कि उनसे जो कुछ फल होना चाहिए वह जागृत अवस्था में प्रतीत नहीं होता है। जब हम स्वप्न में शराब का आसेवन करते हुए अपने आपको देखते हैं तो जगने पर उसका नशा हमें प्रतीत नहीं होता। जब हम स्वप्न में अपना सिर कटा हुआ देखते हैं तो क्या जगने पर हमें हमारा सिर कटा हुआ प्रतीत होता है? हाँ, स्वप्नोपलब्ध पदार्थ से यदि तृप्ति आदि कार्य अनुभवित होते तो स्वप्नोपलब्ध पदार्थ माना जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये वह पदार्थ असत्यार्थ है—भ्रम से ही उसकी प्रतीति उस समय होती है।

प्रश्न—यदि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ माना जावे तो फिर स्वप्नोलब्ध कामिनी आदि के

प्रसङ्ग से जो वीर्य का स्खलन हो जाता है वह क्यों होता है ? इससे यह प्रतीति होती है कि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ से भी क्रिया का फल प्रदर्शित होता है।

उत्तर—यह सब उस स्वप्नद्रष्टा की ही तीव्र कामुक भावना का फल है। जिस प्रकार कोई कामी जन किसी कामिनी का जाग्रत अवस्था में तन्मय होकर स्मरण करता है—उसका ध्यान करता है और मैं उसका सेवन कर रहा हूँ इस प्रकार अपने आपको मानता है ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति उस कामिनी रूप पदार्थ के अभाव में भी जिस प्रकार अपनी उत्कट कामुक भावना के बल से वीर्य की स्खलना से युक्त हो जाता है उसी प्रकार स्वप्न में भी वास्तविक कामिनी की प्राप्ति के अभाव में भी तीव्र कामुकता की भावना से कल्पित कामिनी आदि के सङ्गम से स्खलित वीर्यवाला हो जाता है। यदि यह बात न हो तो फिर जगने पर सत्यकामिनी की तरह निकट में सोयी हुई उस कामिनी की प्राप्ति होनी चाहिये और जिसके साथ कामसेवन किया गया है उस स्त्री को भी उसका अनुभव हो जाना चाहिये, अथवा गर्भ रह जाना चाहिये या उसके द्वारा किये गये नखक्षत दन्त प्रहार आदि की भी सेवन करने वाले पुरुष में उपलब्धि होनी चाहिये। परन्तु यह कुछ भी नहीं होता अतः स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ है यह मानना चाहिए।

प्रश्न– यदि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ हैं तो फिर जाग्रत अवस्था की तरह उसके निरीक्षण से जो देखने वाले के हर्षादिक होते हैं वे नहीं होना चाहिये।

उत्तर—उन पदार्थों की उपलब्धि से वे हर्षादिक नहीं होते हैं किन्तु उन पदार्थों की उपलब्धि से होने वाले सुखादिकों का जो अनुभवन रूप ज्ञान होता है उससे वे हर्षादिक होते हैं—इनका हम निषेध नहीं करते, हम तो सिर्फ इस बात का निषेध करते हैं कि उन पदार्थों की उपलब्धि से तृप्ति आदि क्रिया रूप फल प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार से चक्षु और मन का सम्बन्ध अपने विषयभूत पदार्थों के साथ नहीं होता है इस कारण "इन्द्रियार्थ सम्बन्धः सन्निकर्षः" यह सन्निकर्ष का लक्षण अव्याप्ति दोष से दुष्ट हो जाता हैं। अतः इसमें मुख्य रूप से प्रमाणता नहीं आती है, उपचार से भले ही प्रमाणता इसमें रहे इसका हम निषेध नहीं करते हैं पर मुख्य रूप से तो प्रमाणता स्वपर का निश्चय करने में साधकतम बने हुए प्रमाणरूप, ज्ञान में ही आती है। यहाँ "प्रमाणस्यैव" में जो एवकार पद आया है अन्ययोगव्यवच्छेदक है। इसका फल पूर्वोक्त रूप से जिस प्रकार से प्रकट किया गया है, उसी प्रकार से निर्विकल्पादिक जो ज्ञान हैं उनमें भी स्वपर निश्चयात्मक क्रिया के प्रति साधकतमता नहीं है, ऐसा जान लेना चाहिये। विस्तार हो जाने के भय से अब और अधिक नहीं लिखता हूँ।

प्रमाण रूप ज्ञान में स्वपर-व्यवसायात्मक क्रिया के प्रति करणता इसलिए आती है कि वह उसमें साधकतम होता है जैसे "कोई व्यक्ति कुठार से काष्ठ को छेदता है" यहां पर छेदनरूप क्रिया में साधकतम होने से करणता कुठार में आती है उस व्यक्ति में नहीं क्योंकि वह छेदनरूप क्रिया कुठार के उत्पतन निःपतन क्रिया के अव्यवहित काल में ही निष्पन्न होती हुई देखने में आती है। इसी तरह प्रमाणरूप ज्ञान के द्वारा ही अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया निष्पन्न होती हुई प्रतीत होती है अतः वही उसमें साधकतम कहा गया है, अन्य प्रमाता आदि नहीं। अवशिष्ट टीका का अर्थ सुखोन्नेय है अतः नहीं लिखा है ॥ १० ॥

सूत्र—तत्तु प्रमाणनिष्पाद्यत्वात्कार्यम् ॥ ११ ॥

संस्कृत टीका—प्रमाणनिष्पाद्यत्वात्-तत्-साक्षात् फलम् अज्ञाननिवृत्तिरूपं साध्यम्-प्रमाणकार्यम्,

पूर्वं प्रमाणफलयोः कथञ्चिद् भिन्नत्वप्रतिपादनावसरे प्रमाणपलयोः कार्यकारण सम्बन्धस्तद्धेतुः कथितः, तत्राव्यवहितपूर्वसूत्रेण प्रमाणभूतज्ञाने साक्षात्फलं प्रति करणत्वात् कारणता समर्थिता, अनेन सूत्रेण तु साक्षात्फलभूतेऽज्ञाननिवृत्तौ कार्यत्वं समर्थ्यते, तत्तुप्रमाण निष्पाद्यत्वात्-प्रमाणभूत ज्ञान जन्यत्वात् इत्यादिना सूत्रेण तत्र प्रमाणभूत ज्ञानस्यैव करणत्व समर्थनात् जन्यत्वं बोध्यम् यथा कुठारादि करणसाध्या छिदिक्रिया तस्मात् कथंचिद्भिन्ना व्यवह्रियते एवमेवाज्ञाननिवृत्तिरूपं साक्षात्फलमपि प्रमाणतः कथंचिद् भिन्नं भवति तस्याः प्रमाणसाध्यत्वात् ॥ ११ ॥

हिन्दी व्याख्या—जब यह बात अच्छी तरह से समर्थित हो चुकी है कि प्रमाणभूत ज्ञान से ही अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात्फल उत्पन्न होता है क्योंकि वही उसके प्रति साधकतम है तो इस कथन से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि वह अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात् फल प्रमाणभूत ज्ञान द्वारा साध्य होने से उसका कार्य है। जहां पर कार्यकारण भाव होता है वहाँ किसी अपेक्षा भिन्नता भी होती है। जिस प्रकार छिदि-क्रिया जो कि कुठार से ही जन्य होती है अपने करणभूत कुठार से कथंचित् भिन्न होती है।

प्रश्न—जब यह बात सिद्ध हो जाती है तो फिर इसके लिये स्वतन्त्र सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—सूत्रकार जीवों का जैसे भी भला हो उसी प्रकार से उनके भले होने का उपाय सोचा करते हैं। ठीक है, विज्ञजन तो पूर्वोक्त कथन से यह बात जान जाते कि अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया प्रमाणभूत ज्ञान से ही साध्य होती है अतः वह उसकी कार्यभूत है, परन्तु जो अबुद्ध हैं बिना समझाये नहीं समझते हैं, उन्हें भी तो समझाना है अतः उन्हें समझाने के लिये इस सूत्र का निर्माण सार्थक है।

सूत्र—क्रिया क्रियावतोर्मिथः स्याद्भिन्नत्वाभिन्नत्वेन प्रमातुरपि तस्यास्तदने कान्तो नेयः ॥१२॥

संस्कृत टीका—प्रतिनियत क्रिया क्रियावदभाव प्रसङ्गापत्तितः क्रिया क्रियावतो न सर्वथा भिन्ना, नापि च सर्वथाऽभिन्ना, यदि क्रिया क्रियावतः सर्वथा भिन्ना स्यात्तदा सम्बन्धाऽभावतोऽस्यैव कियावतः कर्त्तुरियं क्रिया नान्यस्येति प्रतिनियत व्यवस्था न स्यात्, प्रतिनियत व्यवस्थायां च न सर्वथा तस्यां तद्वतो भिन्नत्वमायाति, यदि सा स्वाश्रयतोऽभिन्ना भवति तदाऽपि क्रियाश्रय मात्रं क्रियामात्रं वा वास्तविकं भवेत् नतु तदुभयम्, तस्मात् स्वाश्रयतः सा कथंचिद्भिन्नाऽभिन्नाऽङ्गी कर्त्तव्या क्रियावतः कर्त्तुः क्रियायाश्च साध्य साधक भावेन उपलम्भात्, कथंचित् सा तस्माद् भिन्ना, क्रियारूपेण क्रियावतः, कर्त्तुरेव परिणतत्वात् कथंचित् सा तस्मादभिन्ना, स्वपर व्यवसितिरूपा अज्ञाननिवृति क्रिया आत्माश्रयैवोत्पद्यते प्रमाणभूत ज्ञानेनातस्तस्यां क्रियायां तस्य साधकत्वात् क्रियायाश्च साध्यत्वात् उभयोः साध्य साधक भावेन स्याद्भिन्नत्वं, प्रमितेश्चाज्ञाननिवृत्ति रूपायाः प्रमातुश्च परस्परमभेदात्कथं चिदभिन्नत्वमिति।

अर्थ—क्रिया और क्रियावान् पदार्थ में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता होती है, सर्वथा भिन्नता या सर्वथा अभिन्नता नहीं है इस सिद्धान्त के अनुसार प्रमाता आत्मा से भी अज्ञाननिवृत्ति आदि रूप क्रिया कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होती है, ऐसा अनेकान्त इन दोनों में स्थापित कर लेना चाहिए।

हिन्दी व्याख्या—यदि क्रिया और क्रियावान् पदार्थ में परस्पर में सर्वथा भिन्नता मानी जावे तो यह क्रिया इस क्रियावान् पदार्थ की है अन्य की नहीं है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है क्योंकि क्रिया और क्रियावान् पदार्थ का इस प्रकार के व्यवहार का हेतुभूत वहाँ कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं क्योंकि वे तो आपस में बिलकुल भिन्न-भिन्न ही हैं, यदि यह क्रिया इसी क्रियावान् पदार्थ की है अन्य की नहीं है इस

प्रकार से यदि क्रिया की क्रियावान् पदार्थ के साथ प्रतिनियत व्यवस्था ठहराई जाती है तो क्रिया में अपने क्रियावान् पदार्थ से सर्वथा भिन्नता सिद्ध नहीं होती है।

इसी प्रकार यदि क्रिया क्रियावान् पदार्थ से सर्वथा अभिन्न मानी जावे तो वहाँ पर यह क्रिया है और यह क्रियावान् पदार्थ है इस प्रकार की भेद प्रतीति नहीं हो सकती है या तो क्रिया की ही प्रतीति होगी या क्रियावान् पदार्थ की ही प्रतीति होगी, दोनों की युगपत्प्रतीति नहीं होगी। इसलिये क्रिया क्रियावान् में परस्पर में कथञ्चित् भिन्नता या कथञ्चित् अभिन्नता स्वीकार करनी चाहिये। कथंचित् भिन्नता तो इसलिये स्वीकार करनी चाहिये कि क्रियावान् में और क्रिया में परस्पर में साध्य साधक भाव उपलब्ध होता है, क्रियावान् साधक और क्रिया साध्य होती है, इस सम्बन्ध की अपेक्षा इनमें भिन्नता और क्रिया रूप से ही तो परिणमन क्रियावान् पदार्थ का होता है। अतः इस सम्बन्ध से वह क्रियावान् से कथञ्चित् अभिन्न है, ऐसा बात मानना चाहिये।

प्रकृत में प्रमाता के आश्रय प्रमाणभूत ज्ञान के द्वारा जो अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया उत्पन्न की जाती है वह उसका साधक होता है और क्रिया साध्य होती है। इस तरह प्रमाता आत्मा में और अज्ञाननिवृत्ति-रूप प्रमिति क्रिया में साध्य-साधक भाव उपलब्ध होने से कथंचित् परस्पर में भिन्नता है और इसी प्रमितिरूप क्रिया रूप से आमा ही परिणमित होती है इस अपेक्षा उन दोनों में कथंचित् अभिन्नता है। जिस प्रकार छिदि क्रिया में देवदत्त साधक होता है और कुठार साधकतम होता है उसी प्रकार प्रमितिरूप क्रिया में आत्मा साधक और प्रमाणभूत ज्ञान साधकतम होता है। परन्तु प्रमाणभूत ज्ञान से परिणमन आत्मा का ही होता है और उसी ज्ञान के द्वारा जन्य प्रमिति क्रिया रूप से परिणत आत्मा ही होती है, इस अपेक्षा प्रमाता आत्मा और प्रमिति क्रिया में परस्पर में कथंचिद् भिन्नता और कथञ्चित् अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है ॥१२॥

सूत्र—प्रमाण फल व्यवहारोऽवितथोऽभिप्रेताऽनभिप्रेतसाधन दूषणत्वान्यथानुपपत्तेः ॥१३॥

संस्कृत टीका—प्रमाण तत्फलयोः परस्परं कथञ्चिद्भिन्नत्वमाभिन्नत्वं च प्रतिपाद्य स्वमत व्यामोहाद् यदि कश्चिदेवं ब्रूयात् यत् प्रमाण फलादिरूप व्यवहारो न पारमार्थिको वितथत्वात् तदा सूत्रकारेणोक्तं प्रमाण फलादि रूपोऽयं व्यवहारो न वितथः स्वाभिप्रेतेष्ट साधकनस्यानभिप्रेतानिष्ट दूषणस्य च व्यवस्थां कर्तुमशक्यवात्। नहि वाङ्मात्रेण स्वाभिप्रेत सिद्धिर्भवतुमर्हा सर्वेषां स्वेऽ तत्त्व सिद्धि प्रसङ्गात् अथ चेत् स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणभङ्गी कुरुते तर्हि तत्र तेना वितथता स्वीकर्त्तव्या भवति। नो चेत्स्वपक्ष सिद्धिः कथमिव भवेत्। अतः स्वमत व्यामोहं परित्यज्य प्रमाणफल व्यवहारः पारमार्थिक एवेति मन्तव्यम् तथा च सति "सर्व एवायमनुमानानुमेय व्यवहारो बुद्ध्या रूढेन धर्मधर्मि भावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते' इति कथनं न शोभते।

अर्थ—यह प्रमाण और यह प्रमाण का फल है, ऐसा जो व्यवहार है वह अवितथ—पारमार्थिक—वास्तविक है। यदि इसे वास्तविक न माना जाय तो फिर स्व-पक्ष की सिद्धि और पर-पक्ष का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

हिन्दी व्याख्या—प्रमाण और उसके फल में कथञ्चित् भिन्नता और कथञ्चित् अभिन्नता का प्रतिपादन अच्छी तरह से कर दिया गया है। अब यदि कोई स्वमत के व्यामोह से प्रमाण और उसके फल के व्यवहार को अपारमार्थिक—काल्पनिक मानकर ऐसा कहता है कि प्रमाणफलादि रूप जो व्यवहार

है वह वास्तविक नहीं है—झूठा है तो इसकी इस मान्यता को हटाने के लिए सूत्रकार द्वारा यह समझाया गया है कि यदि यह प्रमाण फलादि रूप व्यवहार वास्तविक न माना जावे तो यह तुम्हारा पक्ष "प्रमाण फलादि रूप वितथ है" किस आधार से यह सिद्ध हो सकता है ? और प्रमाण फल को वास्तविक मानने वालों का पक्ष किस आधार से खण्डित किया जा सकता है ? स्व-पक्ष की सिद्धि और पर पक्ष का निराकरण कहीं कहने मात्र से साधित या दूषित नहीं होता है। यदि ऐसा होने लगे तो फिर क्या है ? सब ही अपने-अपने पक्ष की सिद्धि वाले हो जावेंगे। यदि प्रमाण फल का व्यवहार अवास्तविक है, यह पक्ष प्रमाण से साबित किया जाता है तो इस साबित करने वाले प्रमाण में पारमार्थिकता मानी पड़ेगी अपारमार्थिकता नहीं, नहीं तो फिर अपारमार्थिक प्रमाण से प्रमाणफल व्यवहार में अपारमार्थिकता कैसे सिद्ध की जा सकती है। इसलिए अपने मत का व्यामोह छोड़कर प्रमाणफल व्यवहार पारमार्थिक ही है ऐसा मानना चाहिए। जब प्रमाणफल वास्तविक है यह बात स्वीकृत हो जाती है तो फिर यह कथन कि 'अनुमान और अनुमेय आदि रूप जितना भी व्यवहार है वह सब काल्पनिक है, वास्तविक नही है,' कैसे सुहावना माना जा सकता है।

प्रश्न—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये तत्व चतुष्टय वस्तुतः अवास्तविक ही हैं क्योंकि प्रमाता—आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाला कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण है ही नहीं। आत्मा इन्द्रियजन्य ज्ञान से जाना नहीं जाता है इसलिए उसका ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो सकता नहीं है। यदि कहा जावे कि अहं प्रत्यय रूप मानस प्रत्यक्ष से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है सो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ इत्यादि रूप से अहं प्रत्यय तो शरीर के आश्रित भी होता है तथा यदि अहं प्रत्यय से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है तो अहं प्रत्यय सदा होते रहना चाहिए, कभी-कभी नहीं होना चाहिए। क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार आत्मा तो सदा विद्यमान ही रहता है। अनुमान प्रमाण से भी आत्मा नहीं जानी जाती है क्योंकि आत्मा का कोई ऐसा अविनाभावी लिङ्ग नहीं है कि जिसके बल पर आत्मा ग्राहक अनुमान का उत्थान हो सके। आगमों में परस्पर ऐक्य मत नहीं है। कोई आगम पदार्थ को कोई रूप से प्रतिपादित करता है तो कोई आगम उसी पदार्थ को और दूसरे रूप से प्रतिपादित करता है। बाह्य प्रमेय पदार्थ का जब विचार किया जाता है तो उसकी भी सत्ता सिद्ध[1] नहीं होती। केवल अनादिकालीन वासना के बल पर ही अर्थाभाव में भी स्वप्न ज्ञान की तरह अर्थ का ज्ञान होता है। स्व-परावभासी ज्ञान प्रमाण माना गया है। जब पदार्थ ही नहीं है तो वह किसका ग्राहक होगा। प्रमाण के अभाव से उसकी फलरूप जो प्रमिति है वह भी अब कैसे सिद्ध हो सकेगी ? इस तरह प्रमाता आदि तत्त्व चतुष्टय का अभाव मानने वाले माध्यमिक बौद्ध के सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर इस सूत्र का सूत्रकार ने निर्माण किया है। इसके द्वारा तत्त्व चतुष्टय की सिद्धि की जाकर प्रमाण और उसके फल का जो व्यवहार है उसे अवितथ-काल्पनिक नहीं कहकर पारमार्थिक कहा गया है। हेमचन्द्राचार्य ने इस विषय पर ऐसा कहा कहा है—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत।
कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥

—स्याद्वाद मंजरी, १७

माध्यमिक ने शून्यवाद की स्थापना के लिए जो कहा है वह स्वयं शून्य रूप है या अशून्य रूप है। यदि शून्य रूप है तो खर विषाण की तरह वह शून्यता की सिद्धि नहीं कर सकता है और यदि अशून्य

---

१ बाह्यो न विद्यते कश्चिद्, यथा बालै र्विल्प्यते।
वासना लुठितं चित्त मर्थाभाने प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

रूप है तो स्ववचन बाधित हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर ऐसा कहा गया है कि यदि प्रमाण और उसके फल के व्यवहार को अपारमार्थिक माना जाता है तो स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन करना नहीं बन सकता है। जब स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन किया जाता है तो उस स्थिति में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार आकर स्वयं उपस्थित हो जाता है। इससे तत्त्व चतुष्टय का जो खण्डन किया गया है, वह शोभास्पद नहीं कहला सकता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष भले ही आत्मा का ग्राहक न हो इसमें हमें भी कोई बाधा नहीं है परन्तु मानस प्रत्यक्ष रूप अहं प्रयत्य से जो कि आत्मा के बिना कथमपि हो नहीं सकता है आत्मा का साधक होता है—शरीराश्रित जो अहं प्रत्यय हो जाया करता है उसका कारण शरीर आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती है और उसका उपकारक है अतः प्रिय नौकर में अहं बुद्धि की तरह यह वहाँ औपचारिक ही कहा गया है—वास्तविक नहीं। अहं प्रत्यय जो आत्मा में सदा नहीं होता है उसका कारण उपयोग की अस्थिरता है। जीव का लक्षण उपयोग कहा गया है। अहं प्रत्यय भी एक प्रकार का उपयोग ही है। आत्मा के अस्तित्व के ज्ञापक अनेक अव्यभिचारी लिङ्ग हैं जिनका कथन आत्मा के अस्तित्व का स्थापन करने वाले जैन दार्शनिक ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है। इस तरह से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। बाह्य पदार्थ मायोपमरूप नहीं है और न वह स्वप्न ज्ञान की तरह असत्य ही है। सर्वज्ञ कथित आगम में किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध नहीं आता है। प्रमिति का अस्तित्व स्वानुभव से सिद्ध होता है। इस तरह तत्त्व चतुष्टय का अपलाप कथमपि नहीं हो सकता है। यदि इनका अपलाप किया जाता है तो शून्यवादी को मौन का ही आश्रय करना चाहिये। अन्यथा प्रमाण और उसके फल व्यवहार को पारमार्थिक मानते हुए स्वमत का कदाग्रह छोड़ देना चाहिए तभी जाकर किसी अपेक्षा शून्यवाद का और किसी अपेक्षा अशून्यवाद का संस्थापन हो सकता है—एकान्त मान्यता में कोई ध्रुव सत्यवाद नहीं बन सकता है। इसी अनेकान्तवाद को प्रकट करने के लिये "अभिप्रेतानभिप्रेत साधन दूषणत्वानुपपत्तेः" इस हेत्वन्त पद का प्रयोग किया गया है॥ १३॥

सूत्र—तत्तल्लक्षणादि विहीनं तत्तद्वद्यदवभासते तत्तदाभासं तच्चतुर्विधं स्वरूप संख्या विषय फलाभास भेदात्॥ १४॥

संस्कृत टीका—स्वपर व्यवसायात्मकस्य प्रमाणभूतज्ञानस्य स्वरूपं, संख्यां, विषयं, फलं च विविच्य तत्तोऽन्यद् यद् भवति तत्सर्वं तत्तदाभासं रूपं भवतीत्येव तावत् अमुना सूत्रेणेतः प्ररूप्यते। प्रमाण स्वरूपादि विपरीत स्वरूपादिस्तदाभासो भवत्यतः प्रमाणाभासोऽयं चतुर्विधो निगदितस्तथाहि—प्रमाणस्वरूपाभासः (१), प्रमाण संख्याभासः (२), प्रमाणविषयाभासः (३), प्रमाण फलाभासश्चेति (४)। प्रमाण लक्षण रहितः प्रमाणलक्षणवत् यदवभासते सः प्रमाणस्वरूपाभासः असत्प्रमाण स्वरूपमित्यर्थः, प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि परिसंख्यानं संख्याभासम् विशेषमात्रमेव वा सामान्यमात्रमेव वा, परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष एव वा प्रमाणविषय इत्येवं रूपोऽभ्युपगमः प्रमाणविषयाभासः, प्रमाणात् प्रमाणफलमेकान्ततो भिन्नमेवाभिन्नमेववेत्येवं रूपा मान्यता प्रमाण फलाभासरूपा, एतेषां लक्षणानि यथावसरं वक्ष्यन्ते।

हिन्दी व्याख्या—प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय, और प्रमाण का फल जैसा प्रतिपादित किया जा चुका है—उससे भिन्न प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय, और प्रमाण का फल जैसा कि अन्य दार्शनिकजनों द्वारा मान्य हुआ है—वह सब क्रमशः प्रमाणस्वरूपाभास, प्रमाणसंख्याभास, प्रमाणविषयाभास और प्रमाणफलाभास है। स्व और पर का संशयादि दोषों से रहित होकर निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण का लक्षण माना गया है। जो इस लक्षण से तो विहीन हो किन्तु इस लक्षण से युक्त हुआ जैसा प्रतीत हो वह प्रमाणस्वरूपाभास है अर्थात् प्रमाण लक्षण से रहित जो प्रमाण

है वही प्रमाणस्वरूपाभास है। मौलिक रूप से जो प्रमाण तो नहीं है पर प्रमाण के जैसा प्रतीति कोटि में आ रहा हो वही प्रमाणाभास कहलाता है।

जैसे—एमीटेशन मोती— एमीटेशन मोती वास्तविक मोती नहीं होता—नकली ही मोती होता है, पर असली मोती के जैसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रमाणस्वरूप जो नहीं हो किन्तु नकली ही प्रमाण हो पर वह असली प्रमाण के जैसा प्रतीत हो तो वही प्रमाणाभास है जैसे सन्निकर्षादि। सन्निकर्षादि प्रमाण अचेतन हैं अतः वे स्वव्यवसायात्मक नहीं हैं, पर ये प्रमाण के जैसे ही प्रतीतिकोटि में आते हैं। प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण ऐसे दो ही माने गये हैं। पर इन भेदों को न मानकर केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाली एवं केवल प्रत्यक्ष अनुमान को ही प्रमाण मानने वाली आदि रूप जो मान्यताएँ हैं वे सब प्रमाणसंख्याभास रूप हैं, प्रमाण मात्र का विषय विशेष और सामान्य धर्म-वाला पदार्थ ही माना गया है केवल विशेषयुक्त या केवल सामान्य युक्त कोई पदार्थ नहीं माना गया है, पर ऐसा कहना कि केवल विशेष को ही प्रमाण विषय करता है या केवल सामान्य को ही प्रमाण विषय करता है या परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष को ही प्रमाण विषय करता है यह सब प्रमाण विषयाभास है। प्रमाण का फल प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न माना गया है—परन्तु ऐसा न मान कर ऐसा मानना कि प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा भिन्न ही है, या सर्वथा अभिन्न ही है। इन प्रमाणा-भासों पर विवेचन स्वयं सूत्रकार आगे करने वाले हैं, अतः यहाँ केवल सामान्य रूप से प्रमाणाभास और उसके भेदों का ही दिग्दर्शन कराया गया है ॥१४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र—प्रमाणस्वरूपाभासा अज्ञानात्मक-अनात्मप्रकाशक-स्व-मात्रावभासक-निर्विकल्प समारोपाः ॥१५॥

संस्कृत टीका—तत्र चतुर्विधस्य प्रमाणाभासस्याद्यभेदं निरूपयितुं सूत्रकारेणेदं सूत्रमभिहितम्। एवञ्च यत् प्रमाणस्य स्वरूपमिवावभासते—प्रतीयते-तत्प्रमाणस्वरूपाभासम्। तत् अज्ञानात्मकादिभेदेन पञ्चविधमस्ति। तत्र नैयायिकादिभिः परिकल्पितं घटपटादि विषयैः चक्षुरादि संयोगादिरूपं सन्निकर्षादिकं जड़तयाऽज्ञानात्मकत्वात् न ज्ञान विशेष प्रमाण स्वरूपम् अपितु प्रमाण स्वरूपवदाभासमानत्वादज्ञानात्मक प्रमाणस्वरूपाभासरूपं बोध्यम्। एतेन स्वपर प्रकाशकतया चेतनधर्मस्य ज्ञानस्यैव प्रमाणता युक्तेति सूचितम्। एवमेव स्वमात्रावभासकं ज्ञानम् अनुव्यवसाय ग्राह्य ज्ञानं वा प्रमाणस्वरूपं न भवति स्व पर व्यवसायात्मकत्वाऽभावात् प्रमाणस्वरूपाभासरूपमेव, तथैव परानवभासकं क्षणिक विज्ञानमपि स्वमात्रावभासकत्वेन, दर्शनात्मकमपि निर्विकल्पक ज्ञानं वस्तु सामान्य स्वरूपमात्र प्रकाशकत्वेन वस्तुविशेषा ग्राहकतया प्रमाणस्वरूपाभासात्मकं विज्ञेयम्। एवमेव संशयरूपं विपर्ययरूपम् अनध्यवसायरूपं च ज्ञानमपि समारोपरूपत्वात् प्रमाण स्वरूपं न संभवति समारोप विरुद्धस्यैव प्रमाणस्वरूपाभ्युपगमात् ॥ १५ ॥

हिन्दी व्याख्या—१४वें सूत्र द्वारा जो प्रमाणाभास चार प्रकार का प्रकट किया गया है उसी प्रमाणाभास का पहला भेद जो प्रमाणस्वरूपाभास है उसके विषय में ही इस सूत्र द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें यह समझाया गया है कि प्रमाण का यथार्थ लक्षण स्वरूप-स्व और पर को समारोप का तिरस्कार करते हुए जानने से ही है। यदि कोई ज्ञान को केवल स्व का ही जानने वाला, केवल पर का ही जानने वाला, केवल स्व को नहीं जानने वाला, केवल पर को नहीं जानने वाला, मानता है और जो कोई ऐसा मानता है कि ज्ञान का प्रत्यक्षकरण, ज्ञान से ही होता है, ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है सो इत्यादि रूप से प्रमाण ज्ञान के स्वरूप में जितनी भी भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताएँ हैं वे सब प्रमाणस्वरूपाभास ही हैं। नैयायिक आदिकों ने प्रमाणभूत ज्ञान का स्वरूप इन्द्रिय और पदार्थों के

सम्बन्ध से जायमान सन्निकर्ष को माना है; पर यह सन्निकर्ष जड़ होने से अज्ञानात्मक है। इसलिये यह प्रमाणात्मक ज्ञान का विशेष स्वरूपभूत नहीं हो सकता। क्योंकि प्रमाणात्मक ज्ञान जो होता है वह चेतन स्वरूप होता है और स्वपर का व्यवसायी होता है। अतः सन्निकर्ष यह प्रमाणस्वरूपाभासरूप है क्योंकि यह अज्ञानात्मक है। इसी प्रकार स्व को ही जानने वाला ज्ञान और केवल को पर को ही जानने वाला ज्ञान प्रमाणस्वरूपाभासभूत है तथा जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है किन्तु करण ज्ञान के द्वारा जो जाना जाता है वह ज्ञान भी प्रमाणस्वरूपाभासभूत ही कहा गया है, इसी प्रकार जो ज्ञान पर पदार्थों को नहीं जानने वाला माना गया है, तथा जो निर्विकल्पक दर्शनरूप माना गया है, जो ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप होता है वे सब ज्ञान स्व-पर व्यवसायात्मक प्रमाण ज्ञानस्वरूप के समक्ष प्रमाण स्वरूपाभास की कोटि में ही आते हैं। क्योंकि प्रमाण का स्वरूप समारोप का विरोधी होता है ॥१५॥

सूत्र—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष लक्षणरहितं तद्वदवभासमानं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभासम् ॥१६॥

संस्कृत टीका—पूर्वं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त भेदाद् द्विविधं प्रोक्तम्। तत्र-इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतो वैशद्यं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष लक्षणं निगदितम्। अस्माल्लक्षणाद्विपरीत लक्षणोपेतमिन्द्रियजमनिन्द्रियजं च प्रत्येकं तदाभासं ज्ञातव्यम्। यथा—मेघेषु जायमानं गन्धर्व नगर ज्ञानमिन्द्रियनिबन्धनं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभासं दुःखं च जायमानं सुख ज्ञानमनिन्द्रियनिबन्धनं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभासमवगन्तव्यम् ॥१६॥

अर्थ—जो ज्ञान परमार्थतः सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के लक्षण से तो हीन हो पर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के जैसा जान पड़ता हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है।

हिन्दी व्याख्या—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष पहले इन्द्रियज और अनिन्द्रियज प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इन्द्रियों से जो एकदेश निर्मलता लिये हुए ज्ञान होता है वह इन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और मन की सहायता से जो एकदेश निर्मल ज्ञान होता है वह अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है परन्तु जो ज्ञान इस लक्षण से युक्त न होकर इससे विपरीत लक्षण से युक्त होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है। जैसे मेघों में गन्धर्व नगर का ज्ञान और दुःख में सुख का ज्ञान। मेघों में जायमान गन्धर्व नगर ज्ञान इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का और दुःख में जायमान सुख ज्ञान अनिन्द्रियज सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है॥ १६ ॥

सूत्र—मनःपर्यय केवलज्ञानादृते विकलं पारमार्थिक प्रत्यक्षाभासम् ॥ १७ ॥

संस्कृत टीका—पारमार्थिक प्रत्यक्षवद् यदवभासते तत्पारमार्थिक प्रत्याक्षाभासं तच्च विभङ्ग-रूपम्। मनःपर्यय केवलज्ञानयोः पारमार्थिकं भूतयोस्तदा भासत्वासंभवात्। पारमार्थिकं प्रत्यक्षं पूर्वं सकल विकल विकल्पाभ्यां द्विप्रकारकमुक्तम्। तत्र सकल पारमार्थिकं प्रत्यक्षं केवलज्ञानं तत्तदाभासरूपं न भवति संपूर्ण स्वावरण क्षयोद्भूतत्वात्। मनःपर्ययज्ञानावरण क्षयोपशमाज्जायमानं मनःपर्यय ज्ञानं तु मिथ्या-दृष्टिष्वसंभवात्तदाभासरूपं न जायते। अवधिज्ञानं च मिथ्यादृष्टिष्वपि सद्भावात् तत्र विभंगाख्यया प्रसिद्धं सत् तदाभासरूपतां धारयति, मिथ्यादृष्टेः शिवराजर्षेर्यदसंख्यात द्वीप समुद्रात्मकेषु मध्यलोकेषु सत्स्वपि सप्तद्वीप समुद्रज्ञानमभूत् तद्विभंगाख्यं ज्ञानमवगन्तव्यम्।

हिन्दी व्याख्या—मनःपर्यय और केवलज्ञान के सिवाय जो विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान कहा गया है वही पारमार्थिक प्रत्यक्षाभासरूप होता है। जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष के जैसा प्रतीत होता हो—पर

स्वतः पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो वही पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास कहलाता है। ज्ञान पाँच प्रकार के कहे गये हैं। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, केवलज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यहाँ सूत्र में विकल शब्द से इसी अवधिज्ञान का ग्रहण हुआ है। जिस समय यह अवधिज्ञान तदाभासरूप होता है, उस समय इसका नाम विभंगज्ञान ऐसा हो जाता है। यह अवधिज्ञान विभङ्ग नाम को तभी धारण करता है कि जब यह मिथ्यादृष्टि की आत्मा में होता है[1]। सम्यग्दृष्टि की आत्मा में होने पर ही इसका नाम अवधिज्ञान कहा गया है। मनःपर्ययज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त न हो सकने के कारण वह तदाभासरूप नहीं कहा गया है। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है— क्योंकि वह अपने आवरक ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा नाश से ही उत्पन्न होता है। इस कारण इस ज्ञान में तो तदाभासरूप होने की आशंका ही नहीं हो सकती। हां, क्षायोपशमिक ज्ञानों में—मतिज्ञान—श्रुतज्ञानऔर अवधि ज्ञान—तदाभास रूप होने की संभावना मिथ्यादृष्टियों को प्राप्त हो जाने के कारण स्पष्ट है। जब ये मिथ्यादृष्टियों की आत्मा में होते हैं उस समय इनका नाम मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान हो जाता है। मनःपर्ययज्ञान भी यद्यपि क्षायोपशमिक ज्ञान है पर वह जिस आत्मा में संयम की विशिष्ट शुद्धि होती है उसी को प्राप्त होता है। संयम की विशिष्ट शुद्धि सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त हो सकती है अन्य को नहीं, अतः उसका तदाभास नहीं होने के कारण नहीं कहा गया है। यह मध्यलोक असंख्यात द्वीप-समुद्रात्मक है। परन्तु शिवराजर्षि ने जो कि मिथ्यादृष्टि थे इस पृथिवी को—मध्यलोक को—सप्तद्वीप सप्त समुद्रात्मक जो कहा है वह विभङ्ग ज्ञान के ही प्रभाव से कहा है। अतः उनका वह ज्ञान विभङ्गज्ञान था ऐसा मानना चाहिए।

सूत्र—अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥ १८ ॥

संस्कृत टीका—प्रत्यक्ष प्रमाणाभासं निरूप्य सम्प्रति सूत्रकारः परोक्षप्रमाणाभासं निरूपयितुम्। अननुभूते वस्तुनीत्यादिसूत्रमाह—स्मरणंतु प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन गृहीतस्यैव वस्तुनो भवति नाननुभूतस्याऽति प्रसङ्गात्। अतोऽननुभूतेऽपि पदार्थे यत् तदित्याकारकं ज्ञानं जायते तत्स्मरणाभासमवगन्तव्यम् यथाऽननुभूते तन्मुनिमण्डलमिति ॥ १८ ॥

हिन्दी व्याख्या—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से जिस पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ है ऐसे अननुभूत पदार्थ में जो "वह" इस प्रकार का ज्ञान होता है वही स्मरणाभास है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से गृहीत पदार्थ का ही स्मरण होता है। अनभूत पदार्थ का नहीं ऐसा नियम है। यदि अननुभूत पदार्थ में स्मरण ज्ञान होने लगे तो जिस प्रकार उसने अननुभूत देवदत्त का स्मरण किया उसी समय उसे ब्रह्मदत्त का भी स्मरण होना चाहिये। अतः यह मानना चाहिये कि कालान्तर में जो पदार्थ का स्मरण ज्ञान होता है वह अनुभूत पदार्थ का ही होता है, अननुभूत का नहीं। फिर भी जो अननुभूत पदार्थ में "वह" ऐसा ज्ञान हो जाता है तो वही स्मरणाभास है जैसे कभी नहीं अनुभव में आए हुए मुनिमण्डल में "वह मुनिमण्डल" ऐसा ज्ञान स्मरणाभास रूप है ॥ १८ ॥

सूत्र—समानवस्तुनि तदेवेदमित्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ १९ ॥

संस्कृत टीका—समान वस्तुनि—सदृशे पदार्थे सदृशमिदमित्येवं वक्तव्ये तदपहाय "तदेवेदम्" इत्याकारकं यज्ज्ञानं भवति तत् प्रत्यभिज्ञानवदाभासमानत्वात् प्रत्यभिज्ञानाभासमुच्यते। एवमेव एकत्व-

---

१ "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"—तत्त्वार्थ सूत्र, प्रथम अध्याय।

विशिष्टे वस्तुनि "तदेवेदं वस्तु" इत्येवं वक्तव्ये तद्विहाय तेन सदृशमिदमित्यादिरूपं यज्ज्ञानमुत्पद्यतेतदपि प्रत्यभिज्ञानवदेवाभासमानत्वात् प्रत्यभिज्ञानाभासमवगन्तव्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—तुल्य वस्तु में "यह इसके समान है" ऐसा ज्ञान न होकर जो ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है वह प्रत्यभिज्ञानाभास है—झूठा प्रत्यभिज्ञान है।

हिन्दी अनुवाद—यह पहले प्रकट किया जा चुका है कि अनुभव और स्मृति से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम प्रत्यभिज्ञान है और यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान एवं एकत्व प्रत्यभिज्ञान आदि के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है। जहाँ सादृश्य की प्रतीति होने में एकत्व की प्रतीति हो वह एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है और जहाँ एकत्व की प्रतीति होने में सादृश्य की प्रतीति हो वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास है ॥ १९ ॥

सूत्र—असत्यामपि व्याप्तौ तद्ग्राहकस्तर्काभासः ॥ २० ॥

संस्कृत टीका—व्याप्तिज्ञानं तर्क इति तर्कप्रमाणस्य लक्षणं पूर्वमभिहितम्-एतल्लक्षणरहितत्वादेव तर्काभासत्वं भवति। एवं च अविनारूप व्याप्तिरहिते वस्तुनि व्याप्तिग्राहकः संस्कार विशेषस्तर्काभास इति फलितम्। यथा स श्याभो मित्रातनयत्वात्। इत्यत्र मित्रातनयत्वहेतोः श्यामत्वरूप साध्येन सह यद्यपि व्याप्तिर्नास्ति तथापि यत्र-यत्र मित्रातनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वमित्येवं रूपेण असद्व्याप्तिग्राहकतया तर्काभासत्वं निगदितम् ॥ २० ॥

अर्थ—व्याप्ति न होने पर भी व्याप्ति का ग्रहण करने वाला तर्क तर्काभास कहा गया है ॥ २० ॥

हिन्दी व्याख्या—व्याप्ति का जो ग्राहक होता है वह तर्क है, ऐसा तर्क का लक्षण कहा गया है। परन्तु जहाँ पर यह लक्षण घटित नहीं होता है—अर्थात् व्याप्तिशून्य में जो व्याप्ति ग्रहण करता है ऐसा जो संस्कार विशेष है वह तर्काभास है। सतर्क व्याप्तिविशिष्ट वस्तु में यदि किसी कारण से व्यभिचार की शङ्का हो जाती है तो वह उसका निवर्त्तक होता है। जैसे—यह पर्वत वह्निवाला है क्योंकि धूमवाला है। अब यदि किसी को ऐसी आशङ्का हो जाती है कि यह धूम वह्नि का व्यभिचारी है या नहीं ? तो शङ्का की निवृत्ति के लिए तर्क कहता है कि यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता—वह्नि के बिना होता तो वह वह्निजन्य नहीं होता तथा धूम के लिए जो अग्नि जलाने में प्रवृत्ति देखी जाती है वह न देखी जाती अतः वह्नि के अभाव में धूम त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है, अतः जितना भी कहीं धूम होगा वह अग्निजन्मा ही होगा, अनग्निजन्मा नहीं होगा। इस तरह से शंका की निवृत्ति करता हुआ वह धूम की व्याप्ति वह्नि के साथ निश्चित रूप से ग्रहण करा देता है—परन्तु जो तर्काभास होता है वह तर्क के जैसा प्रतीत होता और व्याप्तिशून्य साध्य के साथ साधन की व्याप्ति का आभास प्रकट करता है। जैसे—किसी ने कहा—मैत्रा का पुत्र होने से गर्भस्थ मैत्रा का शिशु श्यामवर्ण का होगा, क्योंकि इसके और भी वर्तमान जो पुत्र हैं, वे सब श्याम वर्ण के हैं अतः यह भी मैत्रा का पुत्र है अतः यह भी श्यामवर्ण का ही होगा। यद्यपि यहाँ पर मैत्रातनयत्व हेतु की व्याप्ति श्यामत्व के साथ नहीं है क्योंकि वह सोपाधिक है फिर भी यह उसके साथ व्याप्ति वाला जैसा प्रतिभासित होता है। अतः अव्याप्त के साथ व्याप्तियुक्त प्रतीत होने के कारण यह तर्काभास—ऊहाभास कहा गया है। क्योंकि ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती है कि 'यावान् मैत्रातनयः स सर्वोऽपि श्यामः' जितने भी मैत्रातनय होते हैं वे सब काले होते हैं ॥२०॥

सूत्र—पक्षाभासादिजं ज्ञानमनुमानाभासम् ॥ २१ ॥

संस्कृत टीका—तर्काभासस्य निरूपणं कृत्वाऽथानुमानाभासं निरूपयितुम् "पक्षाभासादिजम्" इत्यादि सूत्रमाह—तत्र पक्ष हेतु दृष्टान्तोपनय निगमन रूपाः पञ्चावयवा अनुमानाङ्गत्वेनोक्तास्तेष्वेकमपि

अंगं यदि स्वलक्षण न्यूनं भवति तदा—तज्जायमानं ज्ञानमनुमानाभासरूपं भवति, तथाहि—अप्रतीतानिराकृताभीप्सितं साध्यं भवतीति साध्यलक्षणमुक्तम् तत्र यदि प्रतीत निराकृतानभीप्सित साध्यधर्मविशिष्टः पक्षो भवति तदा स पक्षवदभासमानत्वेन पक्षाभास संज्ञया व्यवह्रियते। आदि शब्देनात्र हेत्वाभास-दृष्टान्ताभासोपनयाभास निगमनाभासानां संग्रहोऽवगन्तव्य·, तत्र हेतुलक्षणरिक्तो हेतुवदवभासते यः स हेत्वाभासः 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु भवति' इत्युक्त लक्षण विरहात् हेतौतदाभासता दृष्टान्तलक्षणविहीनो यो दृष्टान्तवदाभासते स दृष्टान्ताभासः साध्यसाधन व्याप्ति प्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्त इति सम्यग्दृष्टान्तस्य लक्षणमस्ति। अस्य लक्षणस्याभावात् दृष्टान्ते तदाभासता पक्षे हेतोरुपसंहार उपनय इति। उपनयस्य लक्षणम् अस्माल्लक्षणाद् विपरीत लक्षणोपेतत्वेनोपनयाभासत्वम्। पक्षे साध्यस्योपसंहारो निगमनमिति निगतनस्य लक्षणम्। अस्माल्लक्षणाद्वैपरीत्ये निगमनाभासत्वम्। एतेभ्यः पक्षाभासादिभ्यो जायमाने ज्ञानमनुमानाभासमुच्यते। ॥ २१ ॥

अर्थ—पक्षाभास आदि से जायमान जो ज्ञान है वह अनुमानाभास है।

हिन्दी अनुवाद—तर्काभास का निरूपण करके अब सूत्रकार अनुमानाभास का निरूपण इस सूत्र द्वारा करते हैं। इसके द्वारा उन्होंने यह समझाया है कि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये अनुमान के अङ्ग हैं। इन पाँचों अवयवों में से किसी एक अग के लक्षण के मिथ्या होने पर अनुमानाभास हो जाता है। जैसे–साध्य का लक्षण जो अप्रतीत, अनिराकृत और अभीप्सित होता है वह साध्य है ऐसा कहा गया है। इनमें से यदि प्रतीत, निराकृत और अनभीप्सित साध्यरूप धर्म से विशिष्ट पक्ष है तो वह वास्तविक पक्ष नहीं है। किन्तु पक्ष के सरीखा प्रतीत होने के कारण वह पक्षाभास है। क्योंकि साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी का नाम पक्ष कहा गया है। जब पक्ष साध्याभास से युक्त होता है तो वह भी पक्षाभास की कोटि में ही परिगणित होता है। सूत्र में जो आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास, उपनयाभास और निगमनाभास का ग्रहण किया गया है। इनमें जो हेतु अपने लक्षण से हीन होता है और हेतु के जैसा प्रतीत होता है वह हेत्वाभास है। हेतु का लक्षण जो अपने साध्य के साथ जो अविनाभाव रूप से निश्चित होता है वह हेतु है ऐसा कहा गया है। इस हेतु लक्षण के अभाव मे ही हेतु में हेत्वाभासता आती है। दृष्टान्त का लक्षण साध्य साधक के अविनाभाव की प्रतिपत्ति का स्थानभूत जो होता है वह दृष्टान्त है, ऐसा कहा गया है। इस लक्षण से विहीन होने पर ही दृष्टान्त में दृष्टान्ताभासता आती है। पक्ष में हेतु को दुहराने का नाम उपनय है। इसकी विपरीतता में उपनयाभासता उपनय में आ जाती है। तथा प्रतिज्ञा का दुहराना इसका नाम निगमन है। इसके विपरीत प्रयोग में निगमनाभासता निगमन मे आती है। इस तरह से इन पक्षाभास आदिकों से जायमान अनुमान में अनुमनाभासता का प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का स्पष्टीकरण सूत्रकार स्वयं आगे करने वाले हैं अतः यहाँ पर इसका केवल नाम निर्देश ही टीकाकार ने किया है।

सूत्र—प्रतीतबाधितानभिमत साध्यधर्म विशेषण भेदात् त्रिविधः पक्षाभासः ॥ २२ ॥

संस्कृत टीका—अनुमानाभासं निरूप्य तन्मूलभूत पक्षाभास स्वरूपं निरूपयितुम् 'प्रतीत बाधिते' त्यादि सूत्रमाह सूत्रकारः—एवं च यः पक्षवदवभासते स पक्षाभासः स च त्रिविधः, तथाहि—प्रतीत साध्यधर्म विशेषणः, बाधित साध्यधर्म विशेषणः, अनभिमत साध्य धर्म विशेषणश्च। तत्र प्रतीतः प्रसिद्धः साध्यरूप धर्मो विशेषणं यस्य स प्रतीत साध्यधर्म विशेषणः—यथा आर्हतान्प्रति 'अस्तिजीवः' इत्यैवं कश्चित्पुरुषो यदा वधारणार्थकैवकारं विना पक्ष प्रयोगं करोति तदा तस्मिन् प्रयोगे साध्यस्य प्रतीतत्वात् पक्षः प्रतीत साध्यधर्म विशेषणत्वेन पक्षाभासतामङ्गीकरोति तेन पक्षाभासेन समुत्थमनुमान ज्ञानमपि अनुमानाभासरूपं भवति। जैनमते वस्तुमात्रस्यैवाऽनेकान्तात्मकत्वे न स्वीकृतत्वात् जीवास्तित्व साधनं सिद्ध साधनरूपमेव। एवमेव

'वह्निरनुष्ण' इत्यत्र वह्नौ अनुष्णत्वं स्पार्शन प्रत्यक्षेण बाधितं वर्तते अतो वह्निरूपः पक्षो बाधित साध्यरूप धर्म विशेषण विशिष्टः, तस्मादयं पक्षाभासः एवमेव यदि कश्चिज्जैनधर्मानुयायी 'शब्दो नित्योऽनित्योवैव' वदति तदा तदपेक्षया साध्यस्यानभीप्सितत्वात्पक्षोऽनभीत्सित साध्यधर्म विशेषणो जायते। अमुना प्रकारेण त्रिविधः पक्षाभासो भवति ॥२२॥

अर्थ—प्रतीत साध्य धर्म विशेषण वाला, बाधितसाध्यधर्म विशेषण वाला और अनभीप्सित साध्यधर्म विशेषणवाला पक्ष पक्षाभास कहा गया है। अतः इस प्रकार से पक्षाभास में त्रिविधता कही गई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हिन्दी व्याख्या—यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इष्ट, अबाधित और असिद्ध जो होता है वही साध्यकोटि में रखा जाता है, वादी को जो अभीप्सित है—जिसे वह सिद्ध करना चाहता है उसे ही तो वह साध्य बनाता है, अनभीप्सित अनिष्ट को नहीं, यदि यह इष्ट साध्य प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से बाधित होता है तो इष्ट होते हुए भी वह साध्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसी तरह वह इष्ट और अबाधित होते हुए भी यदि प्रसिद्ध है—प्रतीत है—तो उसे साध्यकोटि में रखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि सिद्ध को साध्य करना ऐसा है जैसा कि पीसे हुए को पीसना, जो पक्ष इस प्रकार के विशेषणों वाले साध्य से सम्पन्न होता है वही सच्चा पक्ष कहलाता है और जो ऐसा नहीं होता वह पक्षाभास—सदोष पक्ष—कहलाता है। इतना निष्कर्ष हृदय में अवधारित करके ही सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की है—इसके द्वारा यह समझाया गया है कि पक्ष विशेष्य होता है और साध्य उसका विशेषण होता है। जब कोई जैन मान्यता वालों को समक्ष ऐसा कहता है कि—"अस्ति जीवः" जीव अस्तित्व धर्मविशिष्ट है—यहाँ पक्ष जीव है और "है" यह साध्य है, तो उसका ऐसा कथन जैनों को प्रतीत होने के कारण प्रतीत साधर्म विशेषणवाला पक्षाभास बन जाता है। हां, यदि यहाँ पर वह "एव" ही शब्द का प्रयोग कर ऐसा कहता कि जीव अस्तित्व धर्म विशिष्ट ही है। ऐसी एकान्त मान्यता जैनों की नहीं है—अतः वह अप्रतीत होने के कारण साध्य कोटि में आ जाता। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि "वह्निरनुष्णः" अग्नि अनुष्ण है तो यहाँ पर अग्नि पक्ष है और अनुष्ण साध्य है। यह अनुष्णत्वरूप साध्य अग्नि में स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से बाधित है क्योंकि अग्नि उष्ण है। अतः स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से इस अग्निरूप पक्ष का साध्य बाधित हो जाने के कारण यह अग्निरूप पक्ष बाधित साध्यधर्म विशेषण वाला पक्षाभास हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई जैन धर्मानुयायी ऐसा कहता है कि "शब्द नित्य ही है या अनित्य ही है" तो उसका यह कथन अनभीप्सित साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास की कोटि में आ जाता है। क्योंकि जैन मान्यता प्रत्येक पदार्थ को अनेकधर्मात्मक मानती है। एकान्त रूप से वह न किसी को नित्य मानती है और न किसी को अनित्य मानती है। तात्पर्य इस समस्त कथन का यही है कि प्रसिद्ध साध्यवाला, बाधित साध्यवाला और अनिष्ट साध्यवाला पक्ष पक्षाभास हो जाता है ॥२२॥

सूत्र—बाधितसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभासः साध्यस्य प्रत्यक्षादिभिर्निराकरणादनेकविधः ॥ २३ ॥

संस्कृत टीका—पक्षाभासानां त्रैविध्यमुक्त्वा तदन्तर्गतद्वितीय पक्षाभासस्य प्रथम तृतीय पक्षाभासवन्नैकत्वं किन्तु अनेकत्वमेवेति प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रं सूत्रकारेण प्रोक्तम्। एवं च प्रत्यक्षाऽनुमानागम लोक स्ववचन निराकृत साध्यधर्मविशेषणभेदैर्द्वितीयपक्षाभासोऽनेकविधो जायते। तथाहि—प्रत्यक्षनिराकृत साध्य धर्म विशेषणो यथा "शब्दोऽपौद्गलिकः" अत्र शब्दे पौद्गलिकत्वं श्रवणप्रत्यक्षेण बाधितम्। अतोऽयं शब्दरूपः पक्षः प्रत्यक्षनिराकृत साध्यधर्म विशेषण युक्तत्वात् पक्षाभासतो धारयति। नुमाअननिराकृत साध्यधर्म

विशेषणो यथा—"न सन्ति सूक्ष्मान्तरित दूरार्था पदार्थाः" अत्र सूक्ष्मान्तरित दूरार्थानां पदार्थानामस्तित्वम् अनुमानतः साधितं वर्त्ततेऽतः "न सन्ति" साध्येनानेनानुमान निराकृतेन सूक्ष्मान्तरितादिपदार्थ रूपपक्षस्यानुमान निराकृत साध्यधर्म विशेषण पक्षाभासता । आगमनिराकृत साध्यधर्म विशेषणो यथा—जैनैर्मांसं भक्ष्यम् प्राण्यङ्गत्वादन्नादिवत्" इत्यत्र मांसे भक्ष्यत्वमागमान्निराकृतं[1] वर्त्ततेऽतो भक्ष्यमित्यनेन साध्येनागमनिराकृतेन युक्तत्वात् "जैनैर्मांसं भक्ष्यम्" एषा प्रतिज्ञाऽऽगमबाधिता जायते । लोकनिराकृत साध्यधर्म विशेषणो यथा "शंखशुक्तिवदस्थि पवित्रम्" इत्यत्र अस्थि पवित्रता लोक निराकृताऽपवित्रत्वात्तस्य । अतो लोकनिराकृतेन पवित्रत्वसाध्येन युक्तत्वात् अस्थिरूपे पक्षे लोकनिराकृत साध्यधर्म विशेषणत्वमागच्छति एवं कश्चिद्भोजन कुर्वन्नपि परं प्रति एवं प्रतिपादयति यदहं मौनेन भोजनं करोमि, इत्यत्र पक्षाभासत्वं पूर्वोक्त पद्धत्या स्वयमेवोह्यम् । एतच्च सर्वमग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ २३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रूप से पक्षाभास ३ प्रकार के कहे गये हैं—इनमें द्वितीय जो बाधित साध्यधर्म विशेषणवाला पक्षाभास है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिस पक्ष का साध्य बाधित हो जाता है ऐसे उस साध्य से युक्त होने के कारण अनेक प्रकार का कहा गया है । प्रतीत साध्यधर्म विशेषणवाला पक्षाभास और अनभीप्सित साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास भेदविहीन कहा गया है क्योंकि इसके भेद नहीं होते हैं । परन्तु जो बाधित साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास है वह प्रत्यक्षप्रमाण से, अनुमान प्रमाण से, आगम प्रमाण से, लोक से और स्ववचन से अपने साध्य को बाधित होने के कारण अनेक प्रकार का कहा गया है। जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द पौद्गलिक नहीं है क्योंकि वह आकाश का गुण है तो ऐसी प्रतिज्ञा में शब्द रूप पक्ष, श्रवण प्रत्यक्ष द्वारा शब्द ग्राह्य होने के कारण अपौद्गलिकत्व साध्य से शून्य सिद्ध होता है । इसलिए यह प्रत्यक्ष से बाधित साध्यवाला होने के कारण पक्षाभास हो जाता है । इसी प्रकार जो पक्ष अनुमान से बाधित साध्यवाला होता है वह अनुमान बाधित साध्य विशेषणवाला पक्षाभास होता है । जैसे कोई ऐसा कहे कि "सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ पदार्थ नहीं हैं" तो यहाँ पर साध्य "नहीं हैं" है और सूक्ष्म-परमाणु आदि, अन्तरित—रामरावणादि और दूरार्थ—सुमेरु पर्वत आदि ये सब पक्ष हैं—इनमें "नहीं हैं" ऐसा जो साध्य है यह अनुमान प्रमाण से बाधित है क्योंकि अनुमान प्रमाण से इनकी सत्ता सिद्ध हो जाती है । आगम बाधित पक्षाभास वहाँ पर होता है कि जिस पक्ष का साध्य आगम से बाधित होता है जैसे—कोई ऐसा कहे कि मांस भक्ष्य है क्योंकि अन्न की तरह वह प्राणी-अङ्ग है । सो यहाँ पर मांस पक्ष है और भक्ष्य साध्य है । यह साध्य आगम से इसलिए बाधित होता है कि आगम में मांस को अभक्ष्य सिद्ध किया गया है, लोकनिराकृत साध्यधर्म विशेषणवाला पक्षाभास वहाँ होता है कि जहाँ पक्ष का साध्य लौकिक व्यवहार से बाधित होता है जैसे—जब कोई ऐसा कहता है कि शुक्तिका की तरह हड्डी पवित्र है" यहाँ पर हड्डी यह पक्ष है और उसमें पवित्रता साध्य है । परन्तु यह पवित्रता उसमें लोकव्यवहार से बाधित है—निराकृत है । स्ववचन निराकृत साध्यधर्म विशेषण वाला पक्षाभास वहाँ होता है कि जहाँ पर पक्ष का साध्य स्ववचन से ही बाधित हो जाता है । जैसे—भोजन करता हुआ कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मैं मौन से भोजन करता हूँ । जब वह खाता हुआ अपने मौनव्रत को दूसरों से कहकर प्रकट कर रहा है तो उसका मौनव्रत कहाँ सधा । अतः ऐसा उसका कथन "मेरी माता बन्ध्या है" इस कथन के अनुसार स्ववचन बाधित हो जाता है ॥ २३ ॥

---

१. प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः ।
स्त्रीत्वाऽविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥ (सागार धर्मामृते)

अब आगे के सूत्रों द्वारा इसी विषय का स्पष्टीकरण किया जा रहा है--

सूत्र—वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वाज्जलवदिति ॥ २४ ॥

संस्कृत टीका—अत्र वह्नौ-पक्षे साध्यमनुष्णत्वं स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षेण बाधित मतोऽयं वह्नि-रूपः पक्षः प्रत्यक्ष निराकृतसाध्य धर्म विशेषणवत्वात् पक्षाभासः ।

अर्थ—जिस पक्ष का साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है ऐसा वह पक्ष प्रत्यक्ष निराकृत साध्य धर्म विशेषण वाला हो जाने के कारण पक्षाभास की गिनती में आ जाता है। जब कोई ऐसा कहता है कि अग्नि अनुष्ण है क्योंकि वह जल की तरह द्रव्य रूप है। यहाँ पर अग्नि पक्ष है और अनुष्णत्व साध्य है। यह साध्य अग्नि में उष्णत्वावग्राहक स्पार्शन प्रत्यक्ष से बाधित सिद्ध होता है क्योंकि उसके द्वारा उसमें उष्णत्व का ही ग्रहण होता है। इस तरह पक्ष का साध्य यहाँ प्रत्यक्ष से बाधित हो जाने के कारण पक्ष को प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास कहा गया है।

सूत्र—नास्ति सर्वज्ञः वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति ॥ २५ ॥

संस्कृत टीका—अत्र सर्वज्ञः पक्षः नास्तित्वं तत्र साध्यम्। परन्तु "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वात्" अनेनानुमानेन सर्वज्ञस्य सत्तायाः साधितत्वात् तदसत्ता निरस्ता। अतोऽनुमान बाधित साध्यत्वात् अनुमान निराकृत साध्यधर्म विशेषणोऽयं पक्षाभासः।

हिन्दी व्याख्या—जिस पक्ष का साध्य अनुमान प्रमाण से बाधित होता है वह अनुमान निराकृत साध्यधर्म विशेषण पक्षाभास है उसी का यहाँ दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। जब कोई ऐसा कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है तो "सर्वज्ञ" पक्ष है और "नहीं है" साध्य है। पर यह साध्य "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वात्" अपने पक्ष में इस अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है, इसलिए यह पक्ष अनुमान बाधित पक्षाभास कहा गया है ॥ २५ ॥

सूत्र—धर्मः प्रेत्य दुःखदो जीवाधिष्ठितत्वादधर्मवत् ॥ २६ ॥

संस्कृत टीका—आगमबाधित साध्यधर्म विशेषणो यथा-प्रेत्य-परलोके धर्मः दुःखप्रदाता भवति जीवाधिष्ठितत्वात् अधर्मवत्। अत्र-धर्मः पक्षः प्रेत्य दुःखदः साध्यम्। परन्तु आगमे धर्मस्य उभयलोक सुखदातृत्वं प्रतिपादितम्। अतो धर्मस्य प्रेत्य दुःखप्रदत्व प्रतिपादनं पक्षाभासात्मकं ज्ञेयम् ॥ २६ ॥

हिन्दी व्याख्या—आगमबाधित पक्षाभास वहीं पर होता है कि जहाँ पर आगम से निराकृत साध्य हो जैसे जीवाधिष्ठित होने से धर्म परलोक में दुःखदाता है ऐसे कथन में धर्म पक्ष है और दुःखदत्व उसका साध्य है। यह साध्य धर्म में रहता नहीं है क्योंकि आगम में धर्म को उभयलोक सुखदायी कहा गया है ॥ २६ ॥

सूत्र—दयाऽनार्यार्यजनाचरित्वात्पापवत् ॥ २७ ॥

संस्कृत टीका—लोकनिराकृत साध्य धर्म विशेषण पक्षाभास इत्थम् पापवत् दया अनार्या-आचरितु-मयोग्या अत्र "दया" पक्षः अनार्येति साध्यम्। परन्तु लोकव्यवहारे दया पापवत् अनाचरणीया नैव प्रतिपादिता किन्तु आचरणयोग्यैव कथिता अतो दयायामनार्यत्व कथनम् पक्षाभासरूपमेव ॥ २७ ॥

हिन्दी व्याख्या—लोक निराकृत साध्य धर्म विशेषण वाला पक्षाभास इस प्रकार से है—जैसे कोई यह कहे कि दया नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह पाप की तरह आर्य पुरुषों द्वारा अनाचरणीय है। सो इस प्रकार का कथन लोक व्यवहार से बाधित है—क्योंकि लोक व्यवहार में दया को अनाचरणीय नहीं कहा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गया है अतः दयारूप पक्ष में अनार्यपना लोक व्यवहार से बाधित होने के कारण यह प्रतिज्ञा लोकनिराकृत साध्य धर्म विशेषणवाली है ॥ २७ ॥

सूत्र—तत्त्वमनिर्देश्यं वक्तुमशक्त्वात् ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका—यदा अवक्तव्यैकान्तवादी इदं कथयति-तत्त्वं सर्वथाऽनिर्देश्यं-निर्देष्टुमशक्यम्-तदा कथम् "अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्येतियुच्यते" इति वचनात् तत्त्वमनिर्देश्यमिति वचनं म ब्रूयात् येन वदतो व्याघातो न स्यात् ॥ २८ ॥

हिन्दी व्याख्या—स्ववचनबाधित साध्यधर्म विशेषण वाला पक्षाभास तब होता है कि जिसमें अपने ही सिद्धान्त का अपने ही कथन द्वारा व्याघात हो। जैसे जब सर्वथा अवक्तव्यैकान्तवादी ऐसा कहता है कि वस्तुतत्त्व शब्दों द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है अतः वह अनिर्देश्य है। तब इस एकान्त मान्यता में "अवाच्यता के एकान्त में वस्तु तत्त्व अवाच्य है ऐसे शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता है" इस कथन के अनुसार वस्तु तत्त्व अनिर्देश्य है ऐसा कहकर उसमें अनिर्देश्यता प्रकट नहीं की जा सकती है। यदि वह ऐसा करता है तो "मेरी माता वन्ध्या है" इस प्रकार से कहने वाले के समान उसका कथन उपहास्यास्पद क्यों नहीं कहा जायेगा—अवश्य ही कहा जायगा। क्योंकि वस्तु तत्त्व सर्वथा अनिर्देश्य है यह प्रतिज्ञा उसकी इस प्रकार के कथन द्वारा निर्देश्य हो जाती है। तो फिर अनिर्देश्यता का एकान्त कैसे मान्य हो सकता है ॥ २८ ॥

सूत्र—असिद्ध विरुद्धानैकान्तिकभेदाद्धि हेत्वाभासास्त्रिविधाः ॥ २९ ॥

संस्कृत टीका—अनुमानाभासप्रसङ्गमादाय पक्षाभास स्वरूपं विविच्य हेत्वाभास स्वरूपं प्ररूप्यते — तत्रासिद्ध हेत्वाभासः (१), विरुद्धहेत्वाभासः (२), अनैकान्तिक हेत्वाभासः(३) श्चेति त्रिविधा हेत्वाभासाः, हेतु लक्षण रहितो हेतुवदाभासते योऽसौ हेत्वाभासः, हेतुस्तावत्साध्याविनाभावी भवति। यत्र साध्याविनाभावित्वं नास्ति तत्रैव हेत्वाभासत्वमिति कथनात्। असिद्ध हेत्वाभासः आश्रयासिद्धान्यतरा सिद्धोभयसिद्ध संदिग्धादि भेदादनेकविधः, विरुद्ध हेत्वाभास एकविध एव, अनैकान्तिक हेत्वाभासो निश्चित सपक्षवृत्ति संदिग्ध विपक्षवृत्ति भेदाद्द्विधः, साध्येन साकं प्रमाण प्रतीताविनाभाव विहीनो हेतुरसिद्धः साध्येन समं यस्य व्याप्तिः केनापिः प्रमाणेन निश्चिता न भवति सोऽसिद्ध इति तात्पर्यार्थः। यथा—शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्, अत्र शब्देऽनित्यत्व साधनाय प्रयुक्तं चाक्षुषत्वं स्वरूपत एवासिद्धत्वेनायं स्वरूपासिद्धो हेतुः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात्तस्यान्यथानुपपत्ति लक्षण विरहाच्च नापक्ष धर्मत्वात्। नहि पक्ष धर्मत्वं हेतो लंक्षणं तदभावेऽपि अन्यथानुपपत्ति बलाद्धेतुत्वोपपत्तेः, सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् अत्र शब्दे परिणामित्वसाधनायप्रयुक्तो हेतुः संख्याऽपेक्षयाऽन्यैतरासिद्धस्तन्मतानुसारेण शब्दस्याविर्भाव स्वीकरणात्। जैनमतानुसारेण च तस्य कृतकत्वात् एवमेव शब्दोऽनित्यः स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वात् अत्र स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुर्वादिनः प्रतिवादिनोऽसिद्धं श्रवणेन्द्रिय ग्राह्यत्वात्तस्य संदिग्धासिद्धो यथा—शक्रमूर्धाऽवह्निमान् धूमभावेन वाष्पस्य दर्शनात् यदा काश्चिन्मुग्ध बुद्धिर्वाष्पधूमयोर्भेदमजानन् पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा वन्ह्यनुमाने सन्देहशीलो जायते—तदायं तदपेक्षया संदिग्धा सिद्धो भवति। एव मन्येऽपि आश्रया सिद्धादयो भेदा असिद्ध हेत्वाभासस्यावगन्तव्याः। साध्य विपरीत—व्याप्तो विरुद्धः—यथा शब्दोनित्यः कृतकत्वात्—अत्र कृतकत्वस्य हेतो व्याप्ति नित्यत्वेन सार्धं नास्ति किन्तु तद्विरुद्धेनानित्यत्वेनैव सार्धम्। पक्ष सपक्ष वृत्तित्वे सति विपक्ष वृत्तित्वमनैकान्तिकत्वम्। यथा पर्वतोऽयं धूमवान् वह्निमत्त्वात्। अत्र वह्निमत्त्वस्य हेतो र्वृत्ति धूंमाभावयुक्त ह्रदादावपि—विपक्षेऽपि वर्त्तते पक्षेऽपि वर्तते सपक्षे महानसादपि वर्तते। एवमेवानित्यः शब्दः प्रमेय-

त्वादित्यादावपि पक्ष सपक्ष विपक्ष वृत्तित्वेनाऽनैकान्तिकताऽवगन्तव्या, जिनोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादित्यादौ संदिग्ध विपक्षवृत्तिता—वक्तृत्वमपि अस्तु सर्वज्ञत्वमप्यस्तु, अविरोधात् ॥२६॥

अर्थ—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक के भेद से हेत्वाभास तीन प्रकार के कहे गये हैं ॥२६॥

हिन्दी व्याख्या—यहाँ अनुमानाभास के प्रसङ्ग को लेकर पक्षाभास का कथन करके अब सूत्रकार हेत्नाभास का कथन कर रहे हैं। वे असिद्ध हेत्वाभास आदि के भेद से तीन प्रकार के हैं। हेतु का लक्षण साध्याविनाभावी कहा गया है। इस हेतु के लक्षण से जो रहित होते हैं और हेतु के जैसे जो प्रतीत होते हैं वे ही हेत्वाभास कहे जाते हैं। असिद्धता हेतु में तभी आती है कि जब उसकी अन्यथानुपपत्ति या तथोपपत्ति निश्चित नहीं होती है। यह असिद्ध हेत्वाभास आश्रयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध उभयासिद्ध और संदिग्ध आदि के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है। जब कोई ऐसा कहता है कि—"शब्दोऽनित्य चाक्षुषत्वात्" शब्द चक्षु इन्द्रिय का विषय होने से अनित्य है—यहाँ पर शब्द पक्ष है अनित्य साध्य है और चाक्षुषत्व हेतु है। तो उसका यह कथन इसलिये ठीक नहीं माना जाता है कि यहाँ पर हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि हेतु का आश्रयभूत जो शब्द है उसमें चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपतः नहीं रहता है। शब्द में तो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यता ही रहती है, इस तरह अन्यथानुपपत्ति रूप अपने लक्षण के विरह होने से ही यह हेतु स्वरूपासिद्ध हो गया है।

प्रश्न—यह हेतु अपने पक्ष में नहीं रहता है इस कारण यह स्वरूपासिद्ध है ऐसा क्यों नहीं माना जाना चाहिये ?

उत्तर—हेतु में जो स्वसाध्य गमकता आती है वह अन्यथाऽनुपपत्ति के ही बल पर आती है, पक्षधर्मता के बल से नहीं, अतः पक्षधर्मता हेतु में हो या न हो यदि उसमें अन्यथाऽनुपपत्तिरूपता है तो वह नियमतः अपने साध्य का गमक होता है। प्रकृत में हेतु और साध्य में अन्यथानुपपत्ति का विरह है इसलिए हेतु में स्वरूपासिद्धता कही गई है। जब सांख्य के प्रति ऐसा कोई कहता है कि शब्द परिणामी-अनित्य है क्योंकि वह किया जाता है, उत्पन्न होता है। तो यहाँ पर कृतकत्व यह हेतु अन्यतरासिद्ध है। क्योंकि सांख्य सिद्धान्त में सत्कार्यवादी होने के कारण किसी की भी उत्पत्ति नहीं मानी गई है। उत्पत्ति और विनाश सत्कार्यवाद में है ही नहीं, आविर्भाव और तिरोभाव है। इसलिए सांख्य की अपेक्षा यह कृतकत्व हेतु अन्यतरासिद्ध है।

जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है तो यहाँ पर यह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्यता शब्द में न वादी को संमत है और न प्रतिवादी को संमत है। इस तरह यह हेतु उभयासिद्ध है। संदिग्धासिद्ध हेतु वहाँ होता है जहाँ हेतु के स्वरूप में सन्देह होता है, जैसे—कोई मुग्ध बुद्धि वाला व्यक्ति जब शक्र मूर्धा में उठती हुई वाष्प को निहारता है तो कहता है यहाँ पर अग्नि है क्योंकि इसमें धूम निकल रहा है, तब उसकी इस बात को सुनकर उसे गुरुजन समझाते हैं कि बेटा ! यह धूम नहीं है यह तो वाष्प है, वाष्प के होने पर अग्नि नहीं होती है। अब वह जब कभी पर्वत में उड़ते हुए धूम को देखता है तो वह उसके स्वरूप में सन्देह करने लगता है कि कहीं यह वाष्प तो नहीं है। इस तरह वाष्प और धूम के स्वरूप के निश्चय हुए बिना ही यदि वह ऐसा कहता है यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योंकि यह धूम वाला है। तो यहाँ पर धूमहेतु उसकी अपेक्षा संदिग्धासिद्ध है, क्योंकि उसके स्वरूप में उसे सन्देह है। इसी प्रकार से और भी इस हेत्वाभास के भेद हैं।

साध्य से विपरीत के साथ अर्थात् साध्याभाव के साथ जिसकी व्याप्ति होती है ऐसा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे—जब कोई कहता है—शब्द नित्य है क्योंकि वह किया हुआ होता है।

यहाँ पर साध्य नित्य है। इस नित्य के साथ कृतकत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है किन्तु नित्य के विपरीत अनित्य के ही साथ कृतकत्व की व्याप्ति है, विरुद्ध हेत्वाभास सामान्य रूप से एक ही प्रकार वाला है।

पक्ष सपक्ष में रहते हुए भी विपक्ष में जिस हेतु का अस्तित्व पाया जाता है ऐसा हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप कहा गया है। जैसे—यदि कोई ऐसा कहता है कि "यह पर्वत धूमवाला है, क्योंकि यह अग्निवाला है ?" "यहां पर साध्य धूम और हेतु अग्नि" है। यह अग्निरूप हेतु पर्वत रूप पक्ष में भी रहता है और सपक्ष जो रसोईघर है उसमें भी रहता है तथा विपक्ष जो धूम रहित अयोगोलक है उसमें भी रहता है। इसी प्रकार "शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है" यहाँ प्रमेयत्व हेतु शब्द में और घटादि रूप सपक्ष में रहता हुआ भी विपक्ष जो गगनादिक हैं उनमें भी रहता है। अतः जो भी हेतु इस तरह का होता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप कहा गया है। इस अनैकान्तिक हेत्वाभास के निश्चित विपक्ष वृत्ति और संदिग्ध विपक्षवृत्ति ऐसे दो भेद माने गये हैं। अनैकान्तिक के स्वरूप को प्रकट करने के लिए जो उदाहरण प्रकट किया गया है वह निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का है। तथा—जब कोई ऐसा कहता है कि "जिनेन्द्र सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वे वक्ता हैं" तो यहाँ पर जो वक्तव्यत्व रूप हेतु है वह पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष-सर्वज्ञ-से अपनी व्यावृत्ति कराने में संदिग्धता वाला है। क्योंकि वह सर्वज्ञ भी रहा आवे और वक्ता भी रहा आवे। सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व का आपस में कोई विरोध नहीं है।

सामान्यतो हेत्वाभासान् निर्दिश्य विशेषतस्तान् लक्षयन्ति सूत्रकाराः—

सूत्र—निश्चितान्यथानुपपत्त्यभावोऽसिद्धोऽनेकविधः ॥३०॥

संस्कृत टीका—सूत्रे नामतो निर्दिष्टस्यासिद्ध हेत्वाभासस्य स्वरूपं प्रकाशयन्नाह सूत्रकारो निश्चितान्यथेत्यादि—

यस्य हेतोः स्व साध्येन सार्धमन्यथानुपपत्ति रूप स्वरूपस्य अभावो मानेन निश्चितो वर्त्तते सोऽसिद्ध हेत्वाभासः, सद्धेतुस्तु निश्चितान्यथानुपपत्तिक एव, शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वात् इत्यादौ चाक्षुषत्वरूपो हेतुः शब्दात्म पक्षे स्वरूपत एवासिद्धो वर्तते शब्दे श्रावणत्वस्यैव सत्त्वे न चाक्षुषत्वाभावात्। तस्मात् चाक्षुषत्वरूपा सिद्धात्मक हेत्वाभासात् समुत्पद्यमानं शब्दः परिणामी" इत्येवमनुमानत्वेनाभिमतं ज्ञानमनुमानाभासत्वमवगन्तव्यम्, स चायमसिद्धो हेत्वाभासो विविधात्मकः पूर्वं टीकाकारेण प्रतिपादितः स्वरूपासिद्धादिभेदात्।

हिन्दी व्याख्या—अपने साध्य के साथ जिस हेतु का अविनाभाव सम्बन्ध किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं होता है ऐसा वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास रूप कहा जाता है। जो सद्धेतु होता है वह अपने साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव सम्बन्ध वाला होता है। जब कोई ऐसा कहता है—शब्द परिणामी है क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है, तो यहाँ पर जब शब्द में चाक्षुषत्व हेतु स्वभावतः रहता ही नहीं है तब वह वहाँ परिणामित्व साध्य का साधक कैसे हो सकता है। इसलिए इस असिद्ध हेतु से—असिद्ध हेत्वाभास से—जायमान जो "शब्द परिणामी है" इत्याकारक अनुमानात्मक ज्ञान है वह अनुमानाभास रूप है। यह असिद्ध हेत्वाभास अनेक प्रकार का है जैसा कि इस सूत्र से पहिले के सूत्र में टीकाकार ने प्रकट किया है।

सूत्र—साध्याभावेनैव निश्चित नियमको विरुद्धः ॥३१॥

संस्कृत टीका—यस्य हेतोः नियमः—अन्यथानुपपत्तिरूपः सम्बन्धः—साध्याऽभावेनैव सार्धं निश्चितो भवति स हेतुर्विरुद्धः, यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यत्र यत्र-यत्र कृतकत्वं तत्र-तत्र नित्यत्वमेषा

व्याप्तिर्नास्ति किन्तु यत्र-यत्र कृतकत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वमेवैव व्याप्तिरस्ति, अतः कृतकत्वस्य हेतोः-अन्यथानुपपत्तिरूप सम्बन्धोऽनित्यत्वेनैव सार्धं घटते न नित्यत्वेन सार्धम् । अनित्यत्वं च नित्यत्व विरोधि, एवकारेणाऽनैकान्तिक हेत्वाभासस्य व्यावृत्तिः क्रियते ॥३१॥

हिन्दी अनुवाद—जिस हेतु का अविनाभाव रूप नियम साध्याभाव के साथ ही निश्चित होता है वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है । जैसे—जब कोई ऐसा कहता है कि--शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है तो यहाँ कृतक हेतु है उसका अविनाभाव सम्बन्ध अपने नित्यरूप साध्य के साथ नहीं है । ऐसी व्याप्ति नहीं बनती है कि जहाँ-जहाँ कृतकत्व होगा वहाँ-वहाँ नित्यत्व होगा । किन्तु व्याप्ति तो ऐसी बनती है कि जहाँ-जहाँ कृतकत्व होगा—वहाँ-वहाँ अनित्यत्व होगा । इस तरह कृतकत्व हेतु का साध्य जो नित्यत्व है उससे विरुद्ध अनित्यत्व के साथ ही इस हेतु की व्याप्ति होने के कारण यह हेतु विरुद्ध है ।

प्रश्न—यहाँ पर एवकार का प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—एवकार का प्रयोग अनैकान्तिक हेत्वाभास की निवृत्ति के लिये किया गया है । क्योंकि अनैकान्तिक हेत्वाभास भी अपने साध्याभाव के साथ रहता है ।

प्रश्न—जब अनैकान्तिक हेत्वाभास अपने साध्याभाव के साथ रहता है तो फिर विरुद्ध हेत्वाभास और अनैकान्तिक हेत्वाभास में अन्तर क्यों माना गया है ?

उत्तर—विरुद्ध हेत्वाभास तो सपक्ष से व्यावृत्त होता हुआ अपने साध्याभाव के साथ रहता है और अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष के साथ रहता है । बस, यही इन दोनों में अन्तर है ।

सूत्र—पक्ष सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तिमाननैकान्तिकः ॥३२॥

संस्कृत टीका—एकस्मिन्नेव अधिकरणे अन्तो निश्चयो नियतरूपेण वृत्तित्वं यस्यासौ ऐकान्तिकः न ऐकान्तिकः, अनैकान्तिकः—अनियवृत्तिः न निश्चितरूपेण साध्याधिकरण एव वृत्तिः अपितु साध्याधिकरणे साध्याभावाधिकरणे च यो वर्तते सोऽनैकान्तिकः यथा—पर्वतोऽयं धूमवान् वह्नेः—अत्र साध्याधिकरणं पर्वतः तत्रापि वह्निरूप हेतु सद्भावः सपक्षश्च महानसादिस्तत्रापि हेतुसद्भावः विपक्षश्चायोगोलकस्तत्रापि वह्निरूपहेतु सद्भावः ॥ ३२ ॥

हिन्दी अनुवाद—पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ भी जो हेतु विपक्ष में भी रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । साध्ययुक्त एक ही अधिकरण में जिसकी नियत रूप से वृत्ति होती है वह ऐकान्तिक है । जो इस वृत्ति का नहीं होता है वह अनैकान्तिक है—अनियत वृत्ति वाला है । ऐसा हेतु साध्याधिकरण में भी रहता है । और साध्य के अभाव वाले अधिकरण में भी रहता है । जैसे किसी ने ऐसा कहा—यह पर्वत धूमवाला है क्योंकि यह अग्निवाला है । यहाँ पर साध्याधिकरण पर्वत है उसमें वह्निरूप हेतु रहता है और साध्य का जो अधिकरण नहीं है ऐसे अयोगोलक में भी यह हेतु रहता है अतः यह पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी रहने के कारण अनैकान्तिक कहा गया है ॥ ३२ ॥

सूत्र—संदिग्ध निश्चित विपक्षवृत्ति भेदादसौ द्विविधः ॥ ३३ ॥

संस्कृत टीका—असौ-अनैकान्तिको हेत्वाभासो द्विविधः—संदिग्ध विपक्ष वृत्तिः निश्चित विपक्षवृत्तिश्चेति । यस्य हेतोर्विपक्षे वृत्तिः संदिग्धा स्यात् स निश्चित विपक्ष वृत्तिश्च । जिनः सर्वज्ञो नास्ति

वक्तृत्वादसौ संदिग्धविपक्ष वृत्तिकोऽनैकान्तिकः, शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वादसौ निश्चितविपक्ष वृत्तिकः ॥ ३३ ॥

अर्थ—अनैकान्तिक हेत्वाभास संदिग्ध विपक्षवृत्ति और निश्चित विपक्षवृत्ति के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जिस हेतु की विपक्ष में वृत्ति संदिग्ध होती है ऐसा वह संदिग्ध विपक्ष वृत्ति वाला अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप होता है। तथा जिस हेतु की वृत्ति विपक्ष में निश्चित होती है ऐसा वह हेतु निश्चित विपक्ष वृत्ति वाला अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप होता है, इन दोनों हेत्वाभासों के सम्बन्ध में पीछे टीकाकार ने स्पष्टीकरण कर दिया है ॥ ३३ ॥

सूत्र—साधर्म्यं दृष्टान्ताभासो नवविधः साध्यसाधनोभयधर्मविकलः संदिग्ध साध्य साधनोभयानन्वया प्रदर्शितान्वय विपरीतान्वयभेदात् ॥ ३४ ॥

संस्कृत टीका—अनुमानाभासप्रसङ्गेन पक्षाभास हेत्वाभासयो निरूपणं विधायाऽधुना तत्प्रसङ्गादेव दृष्टान्ताभासं निरूपयति सूत्रकारः—साधर्म्यवैधर्म्यभेदाभ्यां दृष्टान्तस्य द्वैविध्यं प्रोक्तमतो दृष्टान्ताभासोऽपि साधर्म्यदृष्टान्ताभास वैधर्म्यदृष्टान्ताभासभेदेन द्विविध एव। तत्र दृष्टान्ताभासः कतिविधः इत्यारेकायां स नवविध इत्युत्तरयता सूत्रकारेण नवविधत्वमेव तस्य प्रदर्श्यते। तथाहि—साध्यधर्मविकलः १, साधनधर्मविकलः २, साध्यसाधनोभय धर्म विकलः ३, संदिग्धसाध्यधर्मा, ४, संदिग्धसाधन धर्मा, ५, संदिग्ध साधनोभय धर्मा ६, अनन्वयः ७, अप्रदर्शितान्वयः ८, विपरीतान्वयश्चेति ९। तत्र "शब्दोनित्यः अमूर्त्तत्वात् दुःखवत्" इत्यत्र दुःखात्मके दृष्टान्ते नित्यत्वात्मक साध्यस्याभावात् नित्यरूप साध्यधर्म विकलोनाम दृष्टान्ताभासः, दुःखस्य पुरुषादिकृत पाप कर्म जन्यतया नित्यत्वाभावात्, एवं शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात् परमाणु वत् इत्यादौ परमाणुरूपे दृष्टान्ते नित्यत्वात्मक साध्यस्य सत्त्वेऽपि अमूर्त्तत्व रूपहेतोरभावेन अमूर्त्तत्वरूप साधन विकलो नाम दृष्टान्ताभासः, एवं शब्दोनित्यः अमूर्त्तत्वात् घटवत् इत्यादौ घटात्मके दृष्टान्ते नित्यत्वात्मक साध्यस्या मूर्तत्वरूपहेतोश्चासद्भावेन साध्यसाधनोभय धर्म विकलो दृष्टान्ताभासः एवमेव अयं पुरुषो रागादिमान् वक्तृत्वाज्जिनदत्तवत् इत्यादौ जिनदत्तात्मके दृष्टान्ते रागादि रूप साध्यस्य दृष्टान्ते संदिग्धत्वात् संदिग्धसाध्यधर्मो नाम दृष्टान्ताभासः, अन्य जनो मनो विकारस्याप्रत्यक्षतया जिनदत्ते राग द्वेषादयः सन्ति नवेति सन्देह सत्त्वात्। एवमेवायं पुरुषो मरणधर्मा रागद्वेषादिमत्त्वाद् देवदत्तवत् इत्यादौ देवदत्तात्मके दृष्टान्ते मरणधर्मात्मकस्य साध्यस्य सत्त्वेऽपि रागद्वेषादिमत्त्वस्य हेतोः संदिग्धत्वात् संदिग्धसाधन धर्मोनाम दृष्टान्ताभासः, एवम्—"अयं सर्वदर्शी नास्ति रागद्वेषादि मत्त्वात् मुनि विशेष वत् इत्यादौ मुनि विशेषात्मके दृष्टान्ते सर्वदर्शित्वाभाव रूप साध्यस्य रागद्वेषादिमत्त्व साधनस्य च संदिग्धत्वात् संदिग्ध साध्य साधनोभयधर्मो नाम दृष्टान्ताभासः, एवम् अयं पुरुषो राग द्वेषादिमान् वक्तृत्वादिष्ट पुरुषवदित्यादौ इष्ट पुरुषे दृष्टान्ते राग द्वेषादिमत्त्वस्य साध्यस्य वक्तृत्वरूप साधनस्य च सत्त्वेऽपि यो यो वक्ता स स रागादिमान् इत्येवमन्वयव्याप्तेरभावेन अनन्वयो नाम दृष्टान्ताभासः, एवं शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत् इत्यादौ घटात्मके दृष्टान्तेऽनियत्वात्मक साध्यस्य कृतकत्व रूप साधनस्य च सत्त्वेऽपि यत्र २ कृतकत्वं तत्र तत्रानित्यत्वामित्येवमन्वय व्याप्तेः सत्त्वेऽपि वादिना वचनेना प्रदर्शितत्वादप्रदर्शितान्वयोनाम दृष्टान्ताभासः, एवं शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यद नित्यं तत् कृतकं घटवदित्यादौ घटात्मके दृष्टान्तेऽनित्यत्व रूप साध्यस्य कृतकत्वरूप साधनस्य सत्त्वेऽपि यत्कृतकं तदनित्य मिति अन्वय व्याप्ते वैपरीत्येन यदनित्यं तत्कृतकम् इत्येवमन्ययव्याप्तिरुक्ता तस्माद्विपरीतान्वयो नाम दृष्टान्ताभासोऽवगन्तव्यः ॥ ३४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं—जो इस प्रकार से हैं—साध्य धर्म विकल दृष्टान्ताभास (१) साधन धर्म विकल दृष्टान्ताभास (२) साध्य साधनोभय विकल दृष्टान्ताभास (३) संदिग्ध साध्य धर्म वाला दृष्टान्ताभास (४) संदिग्ध साधन धर्म वाला दृष्टान्ताभास (५) संदिग्ध उभय धर्मवाला दृष्टान्ताभास (६) अनन्वय दृष्टान्ताभास (७) अप्रदर्शितान्वय वाला दृष्टान्ताभास (८) और विपरीतान्वय वाला दृष्टान्ताभास (९)।

हिन्दी अनुवाद—अनुमानाभास के प्रसंग को लेकर पक्षाभासों और हेत्वाभासों का निरूपण करके अब सूत्रकार दृष्टान्ताभासों की प्ररूपणा कर रहे हैं। इसमें यह समझाया गया है कि साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का बतलाया गया है। इसलिये साधर्म्य दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के भेद से दृष्टान्ताभास भी दो ही प्रकार का होता है। इनमें जो साधर्म्य दृष्टान्ताभास है वह नौ प्रकार का होता है—वे उसके नौ प्रकार ऊपर में प्रकट कर दिये गये हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—जब कोई इस प्रकार से कहता है कि 'अमूर्त्त होने के कारण दुःख की तरह शब्द नित्य है' तो इस अनुमान प्रयोग में शब्द पक्ष, नित्य साध्य, अमूर्त्त हेतु और दुःख दृष्टान्त है। दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों रहते हैं। पर यहाँ जो दृष्टान्त दिया गया है वह साध्य जो नित्यत्व है उससे रहित है क्योंकि दुःख पुरुषकृत पापकर्म के उदय से होता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह परमाणु की तरह अमूर्त्त है तो यहाँ पर परमाणु दृष्टान्त में पौद्गलिक होने से अमूर्त्तत्व रूप हेतु नहीं रहता है इसलिये यह साधन धर्म विकल दृष्टान्ताभास है। इस प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह घट की तरह अमूर्त्त है तो यहाँ घटरूप दृष्टान्त में न साध्य रहता और न साधन ही रहना है—इस कारण यह साध्य साधन उभयधर्मों से विकल होने के कारण दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह पुरुष रागादि वाला है क्योंकि यह जिनदत्त की तरह वक्ता है। तो यहाँ पर जो जिनदत्त दृष्टान्त है वह संदिग्ध साध्य वाला होने से दृष्टान्ताभास रूप है क्योंकि अन्यजनों के मनोविकार प्रत्यक्ष होने के कारण वे उनमें हैं या नहीं यह जानना सन्देह से खाली नहीं होता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह पुरुष मरणधर्म वाला है क्योंकि देवदत्त की तरह यह राग-द्वेष आदि वाला है। तो यहाँ पर जो दृष्टान्त देवदत्त है उसमें साध्य की सत्ता रहने पर भी हेतु की सत्ता संदिग्ध है इसलिए यह संदिग्ध साधन वाला दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह सर्वदर्शी नहीं है क्योंकि यह मुनि विशेष की तरह राग-द्वेष आदि वाला है तो यहाँ पर जो मुनि विशेष को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है उसमें साध्य और साधन ये दोनों संदिग्ध हैं। इसलिए यह सदिग्ध साध्य साधन उभय धर्म वाला दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि—यह पुरुष रागद्वेष आदि वाला है क्योंकि यह वक्ता है जैसा कि इष्टपुरुष तो यहाँ पर इष्टपुरुष रूप जो दृष्टान्त है उसमें यद्यपि साध्य और साधन का दोनों का सत्त्व है परन्तु फिर भी जो-जो वक्ता होता है वह-वह रागादि वाला होता है ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनती है इसलिए यह अनन्वय दृष्टान्ताभास है।

इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है जैसा कि घट, तो यहाँ जो घट दृष्टान्त है उसमें साध्य और साधन दोनों की सत्ता है—परन्तु फिर भी जहाँ-जहाँ कृतकता होती है वहाँ-वहाँ अनित्यता होती है इस प्रकार से उसे वादी ने अपने वचन द्वारा प्रदर्शित नहीं किया है इस कारण यह अप्रदर्शितान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है जैसा कि घट तो यहाँ पर जो घटरूप दृष्टान्त है, उसमें साध्य

और साधन का दोनों का सद्भाव है परन्तु फिर भी उसने जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है ऐसी अन्वय व्याप्ति न कहकर जो-जो अनित्य है वह-वह कृतक होता है ऐसी विपरीत अन्वय व्याप्ति कही है ओर उसमें दृष्टान्त घट का प्रदर्शित किया है। अतः यह विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है।

सूत्र—साधर्म्य दृष्टान्ताभासो नवविधः साध्यसाधनोभयधर्मविकलः संदिग्ध साध्यसाधनोभयान्वया प्रदर्शितान्वयाविपरीतान्वयभेदात् ॥ ३५ ॥

संस्कृत टीका—अनुमानाभासप्रसङ्गेन पक्षाभासहेत्वाभासयोर्निरूपणं विधायाधुना तत्प्रसङ्गादेव दृष्टान्ताभासं निरूपयति सूत्रकारः—साधर्म्यवैधर्म्यभेदाभ्यां दृष्टान्तस्य द्वैविध्यं प्रोक्तमतो दृष्टान्ताभासोऽपि साधर्म्यदृष्टान्ताभास वैधर्म्यदृष्टान्ताभासभेदेन द्विविध एव तत्र दृष्टान्ताभासः कतिविधः इत्यारेकायां स नवविध इत्युत्तरयता सूत्रकारेण नवविधत्वमेव तस्य प्रदर्श्यते। तथाहि—(१) साध्यधर्म विकलः, (२) साधनधर्मविकलः, (३) साध्यसाधनोभयधर्मविकलः, (४) संदिग्धसाध्यधर्मा, (५) संदिग्धसाधनधर्मा, (६) संदिग्धसाध्यसाधनोभयधर्मा, (७) अनन्वयः (८) अप्रदर्शितान्वयः, (९) विपरीतान्वयश्चेति तत्र "शब्दो नित्यः अमूर्तत्वात् दुःखवत्" इत्यत्र दुःखात्मके दृष्टान्ते नित्यत्वात्मकसाध्यस्याभावात् नित्यत्वरूपसाध्यधर्मविकलो नाम दृष्टान्ताभासः, दुःखस्य पुरुषादिकृत पापकर्मजन्यतया नित्यत्वाभावात् एवं शब्दोनित्यः अमूर्तत्वात् परमाणुवत् सत्यादौ परमाणुरूपे दृष्टान्ते नित्यत्वात्मकसाध्यस्य सत्त्वेऽपि अमूर्तत्वरूप हेतोरभावेन अमूर्तत्वरूपसाधनविकलो नाम दृष्टान्ताभासः, एवं शब्दोनित्यः अमूर्तत्वात् घटवत् इत्यादौ घटात्मके दृष्टान्ते नित्यत्वात्मक साध्यस्यामूर्तत्वरूपहेतोश्चासद्भावेन साध्यसाधनोभयधर्म विकलो दृष्टान्ताभासः एवमेव अयं पुरुषो रागादिमान् वक्तृत्वाज्जिनदत्तवत् इत्यादौ जिनदत्तात्मके दृष्टान्ते रागादिरूप साध्यस्य संदिग्धत्वात् संदिग्धसाध्यधर्मो नाम दृष्टान्ताभासः अन्यजनोमनोविकारस्याप्रत्यक्षतया जिनमते दृष्टान्ते रागद्वेषादयः सन्ति नवेति सन्देह सत्त्वात् एवमेवायं पुरुषो मरणधर्मा रागद्वेषादिमत्वात् देवदत्तवत् इत्यादौ देवदत्तात्मके दृष्टान्ते मरणधर्मात्मकस्य साध्यस्य सत्त्वेऽपि रागद्वेषादिमत्त्वस्य हेतोः संदिग्धत्वत् संदिग्धसाधनधर्मोनाम दृष्टान्ताभासः एवं "अयं सर्वदर्शीतास्तिरागद्वेषादिमत्त्वात् मुनिविशेषवत् इत्यादौ मुनिविशेषात्मके दृष्टान्ते सर्वदर्शित्वाभावरूप साध्यस्य रागद्वेषादिमत्त्वसाधनस्य च संदिग्धत्वान् संदिग्धसाध्यसाधनोभयधर्मोनाम दृष्टान्ताभासः एवं अयं पुरुषो रागद्वेषादिमान् वक्तृत्वादिष्ट पुरुषवदित्यादौ इष्ट पुरुषे दृष्टान्ते रागद्वेषादिमत्त्वरूप साध्यस्य वक्तृत्वरूप साधनस्य च सत्त्वेऽपियो यो वक्ता स स रागादिमान् इत्येवमन्वयव्याप्तेरभावेन अनन्वयो नाम दृष्टान्ताभासः एवं शब्दोनित्यः कृतकत्वात् घटवत् इत्यादौ घटात्मके दृष्टान्तेऽनित्यात्मक साध्यस्य कृतकरूपसाधनस्य च सत्त्वेऽपि यत्र-यत्र कृतकत्वं तत्र तत्रानित्यत्वमित्येवमन्वयव्याप्तेः सत्त्वेऽपि वादिना वचनेनाप्रदर्शितत्वादप्रदर्शितान्वयो नाम दृष्टान्ताभासः एवं शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यदनित्यं तत् कृतकं घटवदित्यादौ घटात्मके दृष्टान्तेऽनित्यत्वरूपसाध्यस्य कृतकत्वरूपसाधनस्य सत्त्वेऽपि यत्कृतकं तदनित्यं इति अन्वयव्याप्तेर्वपरीत्येन यदनित्यं तत्कृतकम् इत्येवमन्वयव्याप्तिरुक्ता तस्माद्विपरीतान्वयो नाम दृष्टान्ताभासोऽवगन्तव्यः ॥ ३५ ॥

अर्थ—साधर्म्यदृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं—जो इस प्रकार से हैं—(१) साध्यधर्मविकल दृष्टान्ताभास (२) साधन धर्मविकलदृष्टान्ताभास (३) साध्यसाधनोभयविकल दृष्टान्ताभास (४) संदिग्धसाध्यधर्मवाला दृष्टान्ताभास (५) संदिग्ध साधनधर्मवाला दृष्टान्ताभास (६) संदिग्धउभयधर्मवाला दृष्टान्ताभास (७) अनन्वयदृष्टान्ताभास (८) अप्रदर्शितान्वयवाला दृष्टान्ताभास और (९) विपरीतान्वयवाला दृष्टान्ताभास ॥ ३५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हिन्दी व्याख्या—अनुमानाभास के प्रसङ्ग को लेकर पक्षाभासों और हेत्वाभासों का निरूपण करके अब सूत्रकार दृष्टान्ताभासों की प्ररूपणा कर रहे हैं। इसमें यह समझाया गया है कि साधर्म्य-दृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का बतलाया गया है इसलिए साधर्म्यदृष्टान्ता-भास और वैधर्म्यदृष्टान्ताभास के भेद से दृष्टान्ताभास भी दो ही प्रकार का होता है। इनमें जो साधर्म्य दृष्टा-न्ताभास है वह नौ प्रकार का होता है—वे उसके नौ प्रकार ऊपर में प्रकट कर दिये गये हैं, इनका स्पष्टी-करण इस प्रकार से है—जब कोई इस प्रकार से कहता है कि "अमूर्त होने के कारण दुःख की तरह शब्द नित्य है" तो इस अनुमान प्रयोग में शब्द पक्ष नित्य साध्य अमूर्त है और दुःख दृष्टान्त है। दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों रहते हैं, पर यहाँ जो दृष्टान्त दिया गया है वह साध्य जो नित्यत्व है उससे रहित है क्योंकि दुःख पुरुषकृत पापकर्म के उदय से होता है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह परमाणु की तरह अमूर्त है तो यहाँ पर परमाणु दृष्टान्त में पौद्गलिक होने से अमूर्त-त्वरूप हेतु नहीं रहता है इसलिए यह साधन धर्मविकल दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह घट की तरह अमूर्त है, तो यहाँ घटरूप दृष्टान्त में न साध्य रहता है और न साधन ही रहता है इस कारण यह साध्य साधन उभयधर्मों से विकल होने के कारण दृष्टान्ता-भास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह पुरुष रागादिवाला है क्योंकि यह जिनदत्त की तरह वक्ता है। तो यहाँ पर जो जिनदत्त दृष्टान्त है वह संदिग्ध साध्यवाला होने से दृष्टान्ताभासरूप है क्योंकि अन्य जनों के मनोविकार अप्रत्यक्ष होने के कारण वे उनमें हैं या नहीं यह जानना संदेह से खाली नहीं होता है। इस प्रकार जब कोई ऐसा कहना है कि यह पुरुष मरणधर्मवाला है क्योंकि देवदत्त की तरह यह रागद्वेष आदिवाला है तो यहाँ पर जो दृष्टान्त देवदत्त है उसमें साध्य की सत्ता रहने पर भी हेतु की सत्ता संदिग्ध है। इसलिए वह संदिग्ध साधनवाला दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह सर्वदर्शी नहीं है क्योंकि यह मुनिविशेष की तरह रागद्वेष आदिवाला है तो यहां पर जो मुनिविशेष को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है उसमें साध्य और साधन ये दोनों संदिग्ध हैं, इसलिए यह संदिग्ध साध्य साधन उभय धर्मवाला दृष्टान्ताभास है, इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि—यह पुरुष रागद्वेष आदि वाला है क्योंकि यह वक्ता है, जैसाकि इष्टपुरुष तो यहाँ पर इष्टपुरुषरूप रूप जो दृष्टान्त है उसमें यद्यपि साध्य और साधन का दोनों का सत्त्व है परन्तु फिर भी जो-जो वक्ता होता है वह-वह रागादिवाला होता है ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनती है इसलिये यह अनन्वय दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है जैसा कि घट तो यहाँ जो घट दृष्टान्त है उसमें साध्य और साधन दोनों की सत्ता है परन्तु फिर भी जहाँ-जहाँ कृतकता होती है वहाँ-वहां अनित्यता होती है इस प्रकार से उसे वादी ने अपने वचन द्वारा प्रदर्शित नहीं किया है। इस कारण यह अप्रदर्शितान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है जो-जो अनित्य होता है वह-वह कृतक होता है जैसा कि घट तो यहाँ पर जो घटरूप दृष्टान्त है उसमें साध्य और साधन का दोनों का सद्भाव है परन्तु फिर भी उसने जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है ऐसी अन्वयव्याप्ति न कहकर जो-जो अनित्य होता है वह-वह कृतक होता है ऐसी विपरीत अन्वयव्याप्ति कही है और उसमें दृष्टान्त घट को प्रदर्शित किया है अतः यह विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है ॥ ३५ ॥

सूत्र—वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोऽप्यमेवासिद्ध संदिग्धव्यतिरेकाव्यतिरेकोक्त्यादि योगात् ॥३६॥

संस्कृत टीका—साधर्म्यदृष्टान्ताभासं निरूप्य वैधर्म्यदृष्टान्ताभासं निरूपयति सूत्रकारस्तथाहि—

वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोऽप्यवमेव नवविधं एव कथमिति चेदाह साध्यादिना सह पूर्वं असिद्ध संदिग्ध पद योगाद् पश्चात् व्यतिरेकशब्दप्रयोगाच्च तत्र नवविधत्वमित्थं भवति-असिद्ध साध्यव्यतिरेकः असिद्ध साधन व्यतिरेकः, असिद्धोभयव्यतिरेकः संदिग्धसाध्य व्यतिरेकः, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभयव्यतिरेकः अव्यतिरेकः आदिना अप्रदर्शितव्यतिरेकः विपरीतव्यतिरेकश्च गृह्यते तत्रासिद्धसाध्यव्यनिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा तेषु प्रमाणेषु अनुमानं प्रमाणं भ्रान्तं प्रमाणत्वात् यद् भ्रान्तं न भवति तत् प्रमाणमपि न भवति यथा स्वप्रज्ञानमित्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते स्वप्नज्ञाने भ्रान्तत्व रूपसाध्य व्यतिरेकस्य भ्रान्तत्वाभाव रूपस्याभावात् साध्यव्यतिरेकस्य तत्रासिद्धतयाऽसिद्ध साध्यव्यतिरेक रूपोऽयं वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः असिद्धसाधनव्यतिरेको वैधर्म्य दृष्टान्ताभासो यथा निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्—यन्न निर्विकल्पकं ज्ञानं तन्न प्रमाणं यथाऽनुमानमित्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्तेऽनुमानात्मकज्ञाने प्रमाणत्वाभावभावरूपस्य साधनव्यतिरेकस्याभावात् साधनव्यतिरेकस्य तत्रासिद्धतया असिद्ध साधनव्यतिरेकोऽयं वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः सद्धेतुजन्मानुमानात् प्रमाणत्वस्याव्यावृतत्वात् । एवमसिद्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा शब्दः कथञ्चिन्नित्यानित्यः सत्वात् यो न कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकः स न सत् भवति यथा स्तम्भः इत्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते स्तम्भे कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वरूप साध्याभावस्य सत्त्वरूप साधनाभावस्य चासिद्धत्वेन तथाविध साध्यसाधनोभयस्यैव तत्र सद्भावेन असिद्ध साध्य साधनोभयव्यतिरेको नाम वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः अथ संदिग्ध साध्यव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा 'कपिलः असर्वज्ञः अनाप्तो वा अक्षणिकैकान्तवादित्वात् यः सर्वज्ञः आप्तो वा भवति स क्षणिकैकान्तवादी भवति यथा बुद्धः इत्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते बौद्धे सर्वज्ञत्वाभावरूप साध्यव्यतिरेकस्य सर्वज्ञत्वस्य अनाप्तत्वभावरूपसाध्य व्यतिरेकस्य आप्तत्वस्य वा संदिग्धत्वेन संदिग्ध साध्यव्यतिरेको नाम वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो भवति बुद्धे सर्वज्ञत्वस्य आप्तत्वस्य वा संदिग्धत्वात् संदिग्धसाधनव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा–अयं पुरुषः अश्रद्धेयवचनः रागद्वेषादिमत्वात् यः श्रद्धेयवचनो भवति स वीतरागद्वेषो भवति यथा बौद्धः शौद्धोदनिरित्यादे वैधर्म्य दृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते शौद्धोदनौ रागद्वेषादिमत्वरूप साधनाभावस्य वीतरागद्वेषत्वस्य संदिग्धतया। संदिग्धसाधनव्यतिरेको नाम वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः एवं संदिग्ध साध्यसाधनोभयव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा—कपिलो न वीतरागः कृपापात्रेष्वपि परमकरुणतयाऽर्पित स्वमांसखण्डत्वात् यो वीतरागो भवति स परमकरुणतया कृपापात्रेषु समर्पित स्वमांस खण्डो भवति यथा तपनबन्धुः कश्चिन्मुनि विशेषः इत्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते मुनिविशेषे तपनबन्धौ वीतरागाभावाभावस्य साध्याभावस्य वीतरागत्वरूपस्य कृपापात्रेष्वपि परमकरुणतयाऽर्पित स्वमांसखण्डत्वस्य साधनाभावस्य च संदिग्धतया संदिग्ध साध्य साधनोभयव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः एवमेव अव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा—अयं पुरुषो वीतरागो नास्ति वक्तृत्वात् यो वीतरागो भवति न वक्ता भवति यथा प्रस्तरखण्डः इत्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते प्रस्तरखण्डे साध्यव्यतिरेकस्य वीतरागत्वरूपस्य वक्तृत्वभावरूपस्य साधनव्यतिरेकस्य च सद्भावेऽपि यत्र यत्र वीतरागत्वं तत्र तत्र वक्तृत्वाभावः इत्येवं व्यतिरेक व्याप्तेरभावात् अव्यतिरेको नाम वैधर्म्यदृष्टान्ताभासः अप्रदर्शितव्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् गगनवत् इत्यादौ वैधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते गगने यदनित्यं न भवति तत् कृतकमपि न भवति इत्येवं रूपा यद्यपि व्यतिरेकव्याप्तिरस्ति तथापि वादिना सा स्ववचनेन न प्रदर्शिता तस्मात् अप्रदर्शितव्यतिरेको नाम वैधर्म्य दृष्टान्ताभासः एवं विपरीत व्यतिरेको वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यदकृतकं तन्नित्यं यथा—गगनमित्यादौ वधर्म्यदृष्टान्तरूपेणोपन्यस्ते गगने यन्नित्यं तदकृतकमित्येव व्यतिरेक प्रदर्शनीये यदकृतकं तन्नित्यम् इत्येवं तद्वैपरीत्येन प्रदर्शितत्वात् विपरीत व्यतिरेको नाम वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो भवतीत्यवसेयम् ॥३६॥

अर्थ—साधर्म्यदृष्टान्ताभास की तरह वैधर्म्य दृष्टान्ताभास भी नौ प्रकार का है जैसे—असिद्ध साध्य व्यतिरेक आदि ।।३६।।

हिन्दी व्याख्या—साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ प्रकारों का निरूपण करके अब सूत्रकार वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ प्रकारों का निरूपण करते हैं। सूत्र में आगत 'एवमेव' शब्द यही सूचित करता है कि जिस प्रकार से साधर्म्यदृष्टान्ताभास के साध्य धर्मविकल आदि नौ भेद कहे गये हैं उसी प्रकार से वैधर्म्य दृष्टान्त के भी साध्य साधन एवं उभय पदों के पहले असिद्ध शब्द का योग करके और बाद में व्यतिरेक शब्द का योग करके असिद्धसाध्यव्यतिरेक असिद्धसाधनव्यतिरेक असिद्ध उभयव्यतिरेक तथा साध्यादि पदों से पहले संदिग्ध पद का योग करके बाद में व्यतिरेक शब्द का योग करके संदिग्धसाध्यव्यतिरेक, संदिग्धसाधनव्यतिरेक, संदिग्धउभयव्यतिरेक तथा केवल अव्यतिरेक और आदि पद से गृहीत अप्रदर्शितव्यतिरेक और विपरीत व्यतिरेक इस प्रकार से नौ भेद निष्पन्न हो जाते हैं।

अन्वय साधर्म्य दृष्टान्त में जिस प्रकार से साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है उसी प्रकार से वैधर्म्य दृष्टान्त में साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है। जिस वैधर्म्य दृष्टान्त में साध्य का साधन का या दोनों का अभाव असिद्ध हो या संदिग्ध हो अथवा ठीक तरह से प्रकट न किया गया हो या विपरीत रूप से प्रकट किया गया हो वह वैधर्म्यदृष्टान्ताभास कहा गया है उसके नौ भेदों का विचार इस प्रकार से है। जब कोई ऐसा कहता है कि उन प्रमाणों में अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह प्रमाण है यहाँ पर व्यतिरेक इस प्रकार से बनाना चाहिए—जो भ्रान्त नहीं होता है वह प्रमाण भी नहीं होता है जैसा कि स्वप्नज्ञान अनुमान भ्रान्त है इस प्रकार के कथन में भ्रान्त यह साध्य है और प्रमाणत्वात् यह हेतु है। व्यतिरेक में पहले साध्याभाव प्रदर्शित किया जाता है और बाद में हेत्वभाव प्रदर्शित किया जाता है वह यहाँ इस प्रकार से प्रदर्शित किया गया है जो भ्रान्त नहीं होता है (यह साध्याभाव है) वह प्रमाण भी नहीं होता है (यह हेत्वभाव है) जैसा कि स्वप्नज्ञान (यह वैधर्म्य दृष्टान्त है) यहाँ पर जो स्वप्नज्ञान को वैधर्म्यदृष्टान्त के रूप में उपन्यस्त किया गया है वह असिद्ध व्यतिरेकवाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है क्योंकि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तत्वाभावरूप साध्यव्यतिरेक का सद्भाव नहीं है अर्थात् भ्रान्तता का अभाव नहीं है प्रत्युत भ्रान्तता ही है अतः स्वप्नज्ञान यह असिद्ध साध्य व्यतिरेक वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है क्योंकि वह प्रमाण है। यहाँ पर निर्विकल्पक साध्य है और प्रमाणत्वात् यह हेतु है। जो निर्विकल्पक नहीं होता है वह प्रमाण भी नहीं होता है यह व्यतिरेक है इसमें दृष्टान्त अनुमान है। सो यह अनुमानरूप वैधर्म्यदृष्टान्त असिद्ध साधन व्यतिरेक वाला दृष्टान्ताभासरूप है क्योंकि अनुमान में प्रमाणत्वाभावरूप जो साधनव्यतिरेक है उसका अभाव है; कारण इसका यह है कि निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान को प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि शब्द कथंचित् नित्यानित्यात्मक है क्योंकि वह सत् स्वरूप है जो कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक नहीं होता है वह सत्स्वरूप भी नहीं होता है जैसा कि स्तम्भ। यहाँ पर कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक साध्य है और इसका व्यतिरेक जो कथंचिन्नित्यानित्यात्मक नहीं होता है वह सत्स्वरूप भी नहीं होता है ऐसा है। इसमें दृष्टान्त स्तम्भ का दिया गया है। सो स्तम्भ में न साध्यव्यतिरेक है और न साधन व्यतिरेक है क्योंकि स्तम्भ कथंचिन्नित्यानित्यात्मक माना गया है और सत्स्वरूप माना गया है अतः स्तम्भरूप दृष्टान्त असिद्ध साध्य के अभाव वाला और असिद्ध साधन के अभाव वाला होने के कारण असिद्ध साध्य साधनोभय व्यतिरेकवाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता

है कि—कपिल असर्वज्ञ या अनाप्त है क्योंकि वह अक्षणिक एकान्तवादी है—एकान्ततः नित्यवादी है—जो सर्वज्ञ या आप्त होता है वह क्षणिकैकान्तवादी होता है—एकान्ततः क्षणिकवादी होता है—जैसा कि सुगत। यहाँ पर असर्वज्ञ या अनाप्त ये साध्य हैं और अक्षणिकैकान्तवादी यह हेतु है। इनका व्यतिरेक सर्वज्ञ या आप्त और क्षणिकैकान्तवादी है। इसमें दृष्टान्त के रूप में वैधर्म्य उदाहरण के स्थान में—सुगत को उपस्थित किया गया है। पर यह संदिग्धसाध्य व्यतिरेक वाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है क्योंकि सुगत में असर्वज्ञता के या अनाप्तता के व्यतिरेक का—अभाव का—संदेह है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि यह पुरुष अश्रद्धेय वचनवाला है क्योंकि इसमें रागद्वेष आदि हैं—जो ऐसा नहीं होता है—श्रद्धेय वचनवाला होता है–वह ऐसा भी नहीं होता है—रागद्वेष आदिवाला नहीं होता है जैसा कि शुद्धोदन का पुत्र बुद्ध। यहाँ पर अश्रद्धेय वचन का व्यतिरेक श्रद्धेयवचन और रागद्वेषादिमत्त्व का व्यतिरेक वीतराग-द्वेषवाला प्रकट किया गया है। इसमें वैधर्म्यदृष्टान्त के स्थान पर बुद्ध को रखा गया है। सो यह वैधर्म्य दृष्टान्ताभास रूप है क्योंकि बुद्ध में वीतरागद्वेषवत्ता संदिग्ध है, इस कारण यह संदिग्ध साधन व्यतिरेक वाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई इस प्रकार से कहता है 'कपिल वीतराग नहीं है क्योंकि उसने दया करके कृपापात्रों को भी अपने मांस का खण्ड तक नहीं दिया जो वीतराग होता है वह दयालु होता हुआ कृपापात्रों को अपने मांस का खण्ड प्रदान करता है जैसा कि तपनबन्धु किसी मुनि विशेष ने किया है। यहाँ पर साध्य वीतरागभाव है और साधन दया से प्रेरित होकर कृपापात्रों के लिए अपने मांस का खण्ड नहीं देना है। इन दोनों साध्य और साधन का व्यतिरेक वीतराग और दया से प्रेरित होकर कृपापात्रों को स्वमांस खण्ड का प्रदान करता है। इस व्यतिरेक में दृष्टान्त रूप से तपनबन्धु मुनि विशेष को रखा गया है। सो इस व्यतिरेक दृष्टान्त में वीतरागत्व रूप साध्य का और परम दया से प्रेरित होकर कृपापात्रों के लिए स्वमांस खण्ड का प्रदान करना रूप साधन ये दोनों ही संदिग्ध है अतः यह संदिग्ध साध्य साधन व्यतिरेक वाला दृष्टान्ताभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है—यह पुरुष वीतराग नहीं है क्योंकि यह वक्ता है जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता है जैसा कि प्रस्तर खण्ड। यहाँ प्रस्तरखण्ड में साध्य व्यतिरेक रूप वीतरागत्व का और साधन व्यतिरेक रूप वक्तृत्वाभाव (अवक्तृत्व) का यद्यपि सद्भाव है परन्तु फिर भी ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बनती है कि जहाँ-जहाँ वीतरागता होती है वहाँ-वहाँ वक्तृत्वाभाव होता है अतः यह अव्यतिरेक नाम का दृष्टान्ताभास है। इसी तरह जब कोई ऐसा कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है जैसा कि गगन। यहाँ पर गगन यह व्यतिरेक दृष्टान्त के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इसमें जो अनित्य नहीं होता है वह कृतक भी नहीं होता है ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति यद्यपि मौजूद है परन्तु फिर भी वह वादी ने अपने वचन द्वारा प्रदर्शित नहीं की है। इसी कारण यह अप्रदर्शित व्यतिरेक नाम का वैधर्म्य दृष्टान्ताभास है। इसी तरह जब कोई कोई ऐसा कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक होता है जो कृतक नहीं होता है वह अनित्य भी नहीं होता है जैसे आकाश। इस प्रकार से यहाँ पर जो यह व्यतिरेक आकाश में प्रकट किया गया है वह विपरीत रूप में प्रकट किया गया है प्रकट तो व्यतिरेक इस प्रकार से करना था कि जो अनित्य नहीं होता है वह कृतक भी नहीं होता है। इसीलिए यह विपरीत व्यतिरेक वाला वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहा गया है॥ ३६॥

सूत्र—पक्षेहेतोः साध्यस्य चोक्तलक्षणवैपरीत्येतोपसंहारावपनय-निगमनाभासौ॥ ३७॥

संस्कृत टीका—साधर्म्यवैधर्म्य दृष्टान्ताभासस्य निरूपणं विधाय सम्प्रति सूत्रकार उपनयनिगमनाभासौ निरूपणार्थं पक्षे हेतोरित्यादि सूत्रमाह—पक्षे साध्यविशिष्टे पर्वतादौ धर्मिणि हेतोरुपसंहार उपनयः, साध्यस्य चोपसंहारो निगमन इति सुलक्षणमनयाः प्रतिपादितम् यथा—पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्—

यदित्थं तदित्थं यथा महानसम् तथा चायं धूमवान् तस्मादग्निमनिति अत्र "तथा चायमिति उपनयवाक्यम् तस्मादग्निमानिति निगमनवाक्यम् एतल्लक्षण वैपरीत्येन यदुपसंहरेणं तदेव तत्र तदाभासत्वं यथा तथा चायं पर्वतो वह्निमान् तस्माद्धूमवान् इति अत्र पक्षे प्रथमं हेतोरूप संहारापेक्षया साध्यस्यैवोपसंहरणात् साध्यस्योपसंहारापेक्षया च हेतोरुपसंहरणात्तदाभासता विज्ञेया भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—पक्ष में हेतु का और साध्य का उपसंहार करना यह क्रमशः उपनय और निगमन का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है परन्तु इस प्रतिपादित स्वरूप की अपेक्षा इनका विपरीत रूप से उपसंहार करना यही उनमें तदाभासता है ॥ ३७ ॥

हिन्दी व्याख्या—सूत्रकार ने साधर्म्य और वैधर्म्यदृष्टान्ताभास का निरूपण करके इस सूत्र द्वारा उपनयाभास और निगमनाभास का क्या स्वरूप है इसका प्रतिपादन किया है, इसमें यह समझाया गया है कि जब कोई ऐसा कहता है कि यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि यह धूमवाला है जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है जैसा कि रसोईघर। यहाँ तक तो प्रतिज्ञावाक्य हेतुवाक्य और उदाहरण वाक्य में सब दार्शनिक पद्धति के अनुसार हैं परन्तु जब ऐसा वह कहता है कि यह पर्वत अग्निवाला है इसलिए यह धूमवाला है तो ऐसा उसका यह कथन—जो पक्ष में साध्य के उपसंहार रूप है वह उपनयाभास रूप है क्योंकि इस प्रकार के कथन से जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है ऐसी व्याप्ति बनाई गई प्रमाणित हो जाती है परन्तु ऐसी व्याप्ति सदोष है क्योंकि अयोगोलक में अग्नि की मौजूदगी में भी धूम की उपलब्धि नहीं होती है अतः पक्ष में हेतु का पहले उपसंहार न करके जो साध्य का उपसंहार किया गया है वह उपनयाभास है। इसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि अग्निवाला होने से ही यह पर्वत धूमवाला है तो यह पक्ष में हेतु का दुहराना निगमनाभास है, क्योंकि पहले हेतु को पक्ष में दुहराया जाता है और बाद में साध्य को दुहराया जाता है ऐसा ही नियम है। यहाँ उस नियम का उल्लंघन किया गया है और उसके विपरीत उनका कथन हुआ है अतः उपनय में और निगमन में इस प्रकार से तदाभासता आती है ऐसा जानना ॥ ३७ ॥

सूत्र—विप्रतारकादिवाक्यजन्यं ज्ञानमागमाभासम् ॥ ३८ ॥

संस्कृत टीका—आप्तवाक्यजन्यमर्थज्ञानमागम इति पूर्वं कथितम् अस्माल्लक्षणाद्विपरीतं विप्रतारकादिवचनाज्जायमानमर्थज्ञानमागमाभासमुक्तम्, यथा—गंभीरानद्यास्तटे तालतमालहिन्तालमूले अनायासलभ्या बहवः पिण्डखर्जूराः सन्ति, भो माणवकाः ! सत्त्वरं धावत-धावत इति ॥ ३८ ॥

अर्थ—विप्रतारक आदि जनों के वचनों से जो अर्थज्ञान होता है वह आगमाभास है ॥ ३८ ॥

हिन्दी व्याख्या—आप्तजन के वचन से जो अर्थ ज्ञान होता है वह आगम है ऐसा आगम का सुलक्षण है परन्तु जो लक्षण इस कथित लक्षण से विपरीत जाता है वह सुलक्षण आगम का नहीं है प्रत्युत वह आगमाभास है जैसे कोई विप्रतारक पुरुष जब ऐसा कहता है कि हे बच्चो ! गंभीरा नदी के तीर पर ताल तमाल और हिन्तालवृक्षों के बिना किसी परिश्रम के किए बहुत से पिण्डखजूरे पड़े हुए मिलते हैं इसलिये तुम लोग बहुत ही जल्दी-जल्दी दोड़ो-दोड़ो। यह विप्रतारक पुरुष का वचन जो कि स्वयं में ही अप्रमाणभूत है उससे जो ऐसा बोध कराया जा रहा है कि ताल आदि वृक्षों के नीचे पिण्डखजूरा पड़े हुए मिलते हैं सो यह आगमाभास है। यहाँ जो आदि पद प्रयुक्त हुआ है उससे यह ध्वनित किया गया है कि यदि कोई विप्रतारक नहीं भी है परन्तु यदि वह झूठमूठ ही किसी को हँसी मजाक में अयथार्थवचन प्रयुक्त करता है तो उन वचनों से जन्य वह ज्ञान भी आगमाभास ही है। पहले आप्त के दो भेद प्रकट

किये गये हैं—एक केवलज्ञानी और दूसरे जनकादि। इनमें केवलज्ञानी लोकोत्तर आप्त हैं और जनक आदि लौकिक आप्त हैं। क्योंकि लौकिक व्यवहार में माता-पिता आदि प्रामाणिक माने जाते हैं। जो वचन आप्तोक्त नहीं होता है वह यथार्थतः आगमकोटि में जैनमान्यतानुसार परिगणित नहीं किया गया है। पंचपरमेष्ठी के सिवाय परमार्थतः लोकोत्तर आप्त कोई नहीं माना गया है।

प्रश्न—जब आगमाभास का आपने यह लक्षण किया है तो इससे उनकी भ्रूसंज्ञा आदि से जायमान ज्ञान आगमाभास नहीं कहला सकेगा क्या ?

उत्तर—उनके वचन से जायमान ज्ञान को जब आगमाभास की श्रेणी में रखा गया है तो इससे यह भी जान लेना चाहिए कि भ्रूसंज्ञा आदि से जायमान ज्ञान भी आगमाभास की श्रेणी में ही रखा गया है।

प्रश्न—इस बात का सूचक सूत्र में तो कोई शब्द है ही नहीं फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं ?

उत्तर—सूत्र में "वचन" यह शब्द उपलक्षणरूप है अतः इससे ही भ्रूसंज्ञा आदि का ग्रहण हो गया है ॥ ३८ ॥

सूत्र—उक्त प्रमाणद्वयातिरिक्तन्यूनाधिकतत्संख्यानं सख्याभासम् ॥ ३९ ॥

संस्कृत टीका—आगमप्रमाणाभासं निरूप्य संख्याभासं निरूपयितुमुक्तप्रमाणद्वयातिरिक्तेत्यादि सूत्रमाह सूत्रकारः—तथा च प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिति चार्वाक कल्पितप्रमाणसंख्या, प्रत्यक्षमनुमानं चैतद् द्वयमेव प्रमाणामिति तथागतकल्पित प्रमाणसंख्या, प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चैतत्रयमेव प्रमाणमिति सांख्यकल्पितप्रमाणसंख्या, प्रत्यक्षमनुमानमागम उपमानं चेति चत्वार्येव प्रमाणानि इति चाक्षपादकल्पित प्रमाणसंख्या अर्थापत्तियुतं तच्चतुष्टयमेवं प्रमाणमिति प्रभाकरकल्पितपञ्चप्रमाणसंख्या अनुपलब्धि सहितमेतत्पञ्चकमेव प्रमाणमिति भट्टमतकल्पित प्रमाणषट्कसंख्या, संभव सहितमेतत्षट्कं प्रमाणमिति पौराणिककल्पित सप्तप्रमाणसंख्या, ऐतिह्यसहितमेतत्सप्तकमेव प्रमाणमिति ऐतिहासिककल्पितप्रमाणाष्टकसंख्या, चेष्टासहितमेतदष्टकमेव प्रमाणमिति पौरोहित्यकल्पितनव प्रमाणसंख्या प्रमाणसंख्याभासरूपैव प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रमाणद्वित्वसंख्याया एव पारमार्थिकत्वात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्रमाण की संख्या भेद जैसी जितनी पीछे कही गई है उससे अतिरिक्त उसकी संख्या प्रमाणाभास में परिगणित हुई है ॥ ३९ ॥

हिन्दी व्याख्या—आगमप्रमाणाभास का निरूपण करके सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा प्रमाण संख्याभास का निरूपण किया है। इसके द्वारा यह समझाया गया है कि—चार्वाक ने प्रत्यक्ष ही प्रमाण है अनुमानादिक प्रमाण नहीं हैं—इस रूप से जो प्रमाणसंख्या एक ही रूप मानी है, वह बौद्ध ने प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से प्रमाण संख्या दो मानी है, वह सांख्य ने प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के भेद से प्रमाण संख्या तीन मानी है, वह अक्षपाद ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान के भेद से प्रमाणसंख्या चार मानी है, वह प्रभाकर ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति के भेद से प्रमाणसंख्या पांच मानी है, वह भट्ट ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि अभाव के भेद से प्रमाण संख्या छह मानी है, वह पौराणिकों ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति अभाव और संभव के भेद से प्रमाणसंख्या सात मानी है, वह ऐतिहासिकों ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति अभाव संभव और ऐतिह्य के भेद से प्रमाणसंख्या आठ मानी है वह और पौरोहितों ने प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति अभाव संभव ऐतिह्य और चेष्टा के भेद से प्रमाण संख्या ९ मानी है। सो ये सब संख्याभास रूप ही हैं क्योंकि

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाणसंख्या दो रूप ही यथार्थ है यह सब इसकी बड़ी टीका से स्फुट रूप से ज्ञात होगा ॥ ३९ ॥

सूत्र—सामान्यमेव विशेष एव वा निरपेक्षं तदुभयमेव प्रमाण-विषय इति तस्य विषयाभासः ॥४०॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संस्कृत टीका—सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः सत्त्वेन तदात्मकमेव जीवादिवस्तु प्रमाणविषयो भवति अतः सामान्यमेव प्रमाण-विषय इति सत्ताद्वैतमतं विशेष एव प्रमाणविषय इति बौद्धमतं परस्पर-निरपेक्षौ सामान्यविशेषौ एव प्रमाण विषयः इति नैयायिकमतं विषयाभासस्वरूपं मन्तव्यं परस्परापेक्षय सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः प्रमाणविषयत्वेनोक्तत्वात् ॥४०॥

अर्थ—सामान्य ही प्रमाण का विषय है अथवा विशेष ही या परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशे ही प्रमाण का विषय है ऐसी जो मान्यता है वही प्रमाण का विषयाभास है ।

हिन्दी व्याख्या—प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मों का आयतन है इनकी एक के बिना एक के अभाव में स्वरूप सत्ता ही नहीं बन सकती है । तथा ये दोनों धर्म परस्पर में सर्वथा निरपेक्ष भी नहीं है । अतः जब वस्तु ही सामान्य विशेष धर्मात्मक है तो प्रमाण का विषय भी सामान्य विशेष रूप ही है अतः सत्ताद्वैतवादियों की यह मान्यता कि प्रमाण केवल सामान्य को ही जानता है विशेष धर्म को नहीं जानता या बौद्धों की यह मान्यता कि प्रमाण केवल एक विशेष को ही जानता है सामान्य धर्म को नहीं जानता तथा नैयायिकों की यह मान्यता कि प्रमाण केवल परस्पर में सर्वथा एक दूसरे की अपेक्षा से विहीन हुए सामान्य को और विशेष दोनों की ही जानता है उस प्रमाण की विषयाभास स्वरूप ही है क्योंकि सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है यह बात पीछे के सूत्रों द्वारा स्पष्ट की जा चुकी है ।

सूत्र—प्रमाणात्तत्फलं सर्वथा भिन्नमभिन्नं वेति फलाभासं ॥४१॥

संस्कृत टीका—प्रमाणादज्ञाननिवृत्त्यादिरूपं फलमेकान्तेन भिन्नमभिन्नं चेति नैयायिक बौद्ध-मतोक्तं प्रमाणफलाभासरूपमेव प्रमाणात्तत्फलस्य कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वस्यैवानुभावात् ॥४१॥

अर्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा जुदा है या सर्वथा जुदा नहीं है ऐसी जो एकान्तरूप से अन्यतीर्थिक जनों की मान्यता है वही उसका फलाभास है ।

हिन्दी व्याख्या—यह पीछे स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रमाण का अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात्फल और हानोपादानोपेक्षारूप परम्पराफल प्रमाण से किसी अपेक्षा भिन्न भी है और किसी अपेक्षा अभिन्न भी है । परन्तु इस सिद्धान्त को न मानकर केवल स्वमतव्यामोह के कारण जो बौद्ध सिद्धान्त प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानता है और नैयायिक सिद्धान्त प्रमाण से प्रमाण के फल को सर्वथा भिन्न मानता है सो यह ऐसी मान्यता प्रमाण की फलाभासरूप ही है ऐसा जानना चाहिए ॥४१॥

॥ **पंचम अध्यायः समाप्तः** ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सूत्र—प्रमाणाधित वस्तुन्यनन्तधर्मिण्येकैकांशपर्यवसायीतरांशामपलापी ज्ञातुरभिप्रायो नयः ॥१॥

संस्कृत टीका—सविशदं प्रमाणस्वरूपादिकं प्रतिपाद्यास्मिन् षष्ठाध्याये नयस्वरूपतदाभासादीनां निरूपणं कर्त्तुमादौ नयस्वरूपं सूत्रकारो निरूपयति वस्तुनीत्यादिना सूत्रेण वस्तु तावदनन्तधर्मात्मकं प्रतिपादितम् तत्तु श्रुतज्ञानप्रमाणविषयभूतम् । यदा तदेव वस्तु नयपथमवतरति तदा वस्तुगतानन्तधर्मेभ्यो धर्ममेकमादाय प्रतिपत्ता तत्प्रतिपादनपरस्तद्गततरधर्मेषु गर्जानमौलिकमवलम्ब्य स्वाभिप्रेत धर्म विशिष्टं तत् प्रसाधयति अयमेवैकांशपर्यवसायीतरांशानपलापी प्रत्तिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः कथितः नायं नयः प्रमाणस्वरूपः किन्तु प्रमाणैकदेशः समुद्रजलबिन्दुवत् । यद्यपि नया अनन्ता अनन्त धर्मत्वात् वस्तुनः तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात् तथा च—"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया" । तथापि पुरातनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्राय परिकल्पनाद्वोरण नयाः सप्तप्रतिपादिताः ॥१॥

अर्थ—वस्तु अनन्त धर्मों का एकपिण्डरूप है इसके अनुसार प्रत्येक जीवादि पदार्थ एकान्ततः किसी एक ही धर्म से आलिङ्गित नहीं हैं वह तो अनन्त धर्मात्मक है अतः श्रुत प्रमाण से अधिगत अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से किसी एक-एक विवक्षित धर्म की मुख्यता करके और शेष धर्मों को गौण करके उस वस्तु का उस एक धर्म के द्वारा प्रतिपादन करने वाले का जो अभिप्राय विशेष है उसी का नाम नय है ॥१॥

हिन्दी व्याख्या—विशद रूप से प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय, प्रमाण का फल, प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास एवं फलाभास का निरूपण करके अब सूत्रकार इस अध्याय में नय का और नयाभास का निरूपण करते हैं। नयाभास का निरूपण नय के स्वरूप के निरूपण के अधीन है, इसलिए वे सबसे पहले यहाँ नय का क्या स्वरूप है इसका निरूपण करते हैं। यह तो स्पष्ट रूप से समझाया जा चुका है कि वस्तु अनन्त धर्मों से युक्त है और अनन्तधर्मात्मक उस वस्तु को जानने वाला श्रुतज्ञान प्रमाण है, नय नहीं। क्योंकि अनन्तधर्मों को युगपत् जानने की शक्ति नय में नहीं है यह तो अनन्त धर्मों से युक्त हुई वस्तु में से किसी एक धर्म को अपनी विवक्षा का विषयभूत बनाकर उसका प्रतिपादन करता है। परन्तु अपने विवक्षित धर्म के अतिरिक्त शेष धर्मों का वह खण्डन नहीं करता है। हाँ, उन्हें वह गौण कर देता है। इस नयमार्ग का अवलम्बन करने वाला वक्ता जिस धर्म के प्रतिपादन करने के अभिप्राय वाला होता है उसका वही अभिप्राय नय है। इस प्रकार का अभिप्राय चूँकि वस्तुगत अनन्तधर्मों में से किसी एक धर्म को ही विषय करता है परन्तु इसका अभिप्राय

यह नहीं है कि वह वस्तुगत शेष धर्मों को तिरस्कृत करता हो। लोक में भी तो यही देखा जाता है कि जिसका विवाह होता है उसी की प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं। इससे यह तात्पर्य तो निकलता नहीं है कि दूसरों का तिरस्कार किया गया है। इसी प्रकार से वक्ता या प्रतिवक्ता जिस विवक्षित धर्म से विशिष्ट करके वस्तु का कथन करता है वह उसी के गीत गाता है। इससे उसकी दृष्टि वस्तुगत शेष धर्मों को तिरस्कार करने की ओर नहीं होती है और जहाँ ऐसी दृष्टि है वहाँ वह दृष्टि सुनयरूप नहीं है किन्तु दुर्नयरूप[1] ही है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—नय प्रमाणरूप है या अप्रमाणरूप है ?

उत्तर— नय न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप है किन्तु वह प्रमाण का एकदेशरूप है। जिस प्रकार समुद्र की तरह बिन्दु न पूर्ण समुद्र रूप होती है और न असमुद्ररूप होती है किन्तु समुद्र की एकदेश रूप होती है।

प्रश्न—आगे इस ग्रन्थ में नय सात हैं ऐसा कहा जायेगा—सो यह कहना "वस्तुओं में अनन्तधर्म हैं अतएव उनके प्रतिपादक वचनरूप नय भी अनन्त हैं" इस कथन के अनुसार विरुद्ध पड़ता है।

उत्तर—बात तो ऐसी ही है कि अनन्तधर्म हैं और अनन्त ही नय हैं पर सात जो नय कहे गये हैं वे ही उन सब नयों के संग्राहक हो जाते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण नैगमादि नयों के स्वरूप प्रतिपादन करते समय किया जायेगा ॥ १ ॥

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताभेदात्स सप्तविधः ॥ २ ॥

संस्कृत टीका—अनन्ताशात्मके वस्तुन्येकांशविषयको नयो भवतीति तस्य सामान्यलक्षणमभिधायाधुना सूत्रकारस्तद्विकल्पान प्रतिपादयति नैगमः, संग्रहो, व्यवहारः, ऋजुसूत्रम्, शब्दः, समभिरूढः एवंभूतश्चेमानि तद्विकल्पानां नामानि एतेषां स्वरूपं सदृष्टान्तं सूत्रकारः स्वयमेवाग्रेऽभिधास्यामि नोच्यतेऽतोऽत्र मया ॥ २ ॥

अर्थ—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय—ये सात नय हैं ॥ २ ॥

हिन्दी व्याख्या—नय अनन्तशात्मक वस्तु में से उसके एक अंश को विषय करने वाला होता है यह नय का सामान्य लक्षण कहा है। इनके भेदों के नाम सूत्रोक्त हैं। ग्रन्थकार स्वयं ही दृष्टान्त सहित इनके लक्षणों का कथन आगे करने वाले हैं अतः इनका स्वरूप हम यहाँ नहीं कह रहे हैं ॥ २ ॥

सूत्र—स्वेप्सितधर्मादितर धर्मापलापी तस्याभासः ॥ ३ ॥

संस्कृत टीका—प्रतिपत्तुर्योऽभिप्रायः स्वाभिप्रेतादंशात् वस्तुगतेरांशानपलपति-निषेधतिऽसोऽभिप्रायस्तस्य नयाभास उच्यते। नयलक्षणरहित्वात्तदभिप्रायस्य अतोऽन्यतीर्थिकानामेकान्तनित्यानित्यत्वादि व्यवस्थापकं सर्वमपि वाक्यं नयाभासकोटिमागच्छति स्वाभिमतांशातिरिक्तान्यवस्तुगतांशातामपलापकत्वात् ॥ ३ ॥

हिन्दी व्याख्या—नय का जैसा लक्षण ऊपर प्रकट किया गया है उसके अनुरूप न होकर प्रतिपत्ता का या वक्ता का जो अभिप्राय अपने इच्छित धर्म का ही पोषण करता हुआ मंडन करता हुआ वस्तु-

---

१ "सदेव सत्स्यादिति त्रिधार्थो भीयेत दुर्नीतिनय प्रमाणैः"—स्याद्वादमंजर्याम्।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गत अन्य धर्मों का खण्डन करता है—उनका निषेध करता है—वह उसका अभिप्राय नयाभास रूप कहा गया है, क्योंकि वह नयलक्षण से विहीन होता है अतः अन्यतीर्थिक जनों द्वारा जो एकान्तरूप से नित्य अनित्य आदि के व्यवस्थापक कथन किये गये हैं वे सब नयाभास की ही कोटि में आ जाते हैं क्योंकि इनके व्यवस्थापक वचनों में स्वाभिप्रेत सिद्धान्त के अतिरिक्त वस्तुगत अन्य धर्मों का अपलाप भरा रहता है ॥ ३ ॥

सूत्र—संक्षेप विस्ताराभ्यामपि नयस्य द्वैविध्यमुक्तम् ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका—नैगमादि नयापेक्षया नयस्य सप्तविधत्वमुक्त्वापि पुनः प्रकारान्तरेण तत्र द्वैविध्यं प्रतिपाद्यते व्याससमासनयाभ्याम् तत्र समासनयापेक्षया नयस्य द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकौ द्वौ भेदौस्तः। व्यासनयापेक्षया तस्य चानेकभेदाः। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। द्रवति अदुद्रुवत् द्रोष्यति इतिद्रव्यम्। द्रव्यरूपोऽर्थोऽस्य विषयत्वेन वर्त्तते इति द्रव्यार्थिकः स विषयत्वेनास्यास्तीति पर्यायार्थिकः। यथा सुवर्णस्य वलयकुण्डलादिरूपाः पर्याया अनेके भवन्ति तेषामुत्पत्ति-विनाशयुक्तत्वात् तेषु च सर्वेषु वलयादिपर्यायेषु सुवर्णस्योपलभ्यमानत्वेन सुवर्णं द्रव्यमित्युच्यते तस्य सर्वेष्वपि वलयादि पर्यायेषु अनुवर्तमानत्वात् अतो द्रव्यार्थिकनयो भवति सामान्यांशगोचरो वस्तुमात्रस्य सामान्यविशेषात्मकत्वात् विशेषांशगोचरश्च पर्यायार्थिकनयो भवति सामान्यं द्विविधं पूर्वमेवोक्तं विशेष-श्चापि प्रतिपर्यायानुयापि ऊर्ध्वता सामान्यं प्रतिव्यक्ति सदृश परिणामलक्षणं च तिर्यक् सामान्यम्। गुण-पर्यायभेदाद् विशेषश्चापि द्विविधः कथितः क्रमभावी पर्यायः विशेषः शुक्लकृष्णत्वादिरूपोगुणः ॥ ४ ॥

अर्थ—संक्षेपनय और विस्तारनय के भेद से भी नय में द्विविधता कही गयी है।

हिन्दी व्याख्या—नैगमादि नयों की अपेक्षा यद्यपि नय सात विभागों में विभक्त किये गये हैं फिर भी प्रकारान्तर से नय को दो विभागों में और विभक्त किया गया है। वे दो विभाग उसके व्यासनय और समासनय हैं। समासनय की अपेक्षा नय के द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ऐसे दो भेद हैं और व्यास-नय की अपेक्षा नयके अनेक भेद हैं। इस कथन का तात्पर्य यही है कि यदि समास संक्षेप रूप से नय के भेद किये जावें तो वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो होते हैं और विस्तार से यदि भेद किये जावें तो वे अनेक होते हैं। जिस नय का विषय केवल द्रव्य ही होता है—अर्थात् जो द्रव्य को ही मुख्य रूप से विषय करता है वह द्रव्यार्थिकनय है और जो केवल पर्याय को ही विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय है। जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त करता रहता है भूतकाल में जिसने पर्यायों को प्राप्त किया है तथा भविष्यत् काल में भी जो पर्यायों को प्राप्त करने वाला है उसका नाम द्रव्य है अर्थात् त्रिकाल में भी जो पर्यायों से रिक्त नहीं होता है—हर समय जिसमें पर्यायों की माला उत्पन्न और विलीन होती रहती है वही द्रव्य है। यह द्रव्य ही जिस नय का विषय है वही नय द्रव्यार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय में द्रव्य की ही मुख्यता रहती है, पर्याय की नहीं। जो उत्पाद और व्ययरूप परिणति को धारण करता रहता है वह पर्याय है। यह पर्याय रूप अर्थ जिसका विषय होता है वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे सुवर्ण की कटक-कुण्डल आदि रूप अवस्थाएँ अनेक होती हैं और वे उत्पन्न और ध्वस्त होती रहती हैं परन्तु इन सबमें सुवर्ण द्रव्य का अन्वय चलता रहता है। इसलिए सुवर्ण को द्रव्य के स्थान पर समझना चाहिए और इसी द्रव्य को द्रव्यार्थिक नय विषय करता है। द्रव्य का नाम ही सामान्यांश है। वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक है। इसमें सामान्यांश को जानने वाला यह द्रव्यार्थिकनय है और पर्यायांश को जानने वाला पर्याया-र्थिकनय हैं। सामान्य तिर्यक् सामान्य और विशेष भी पर्याय और गुण की अपेक्षा लेकर दो प्रकार का कहा गया है। जो अपने व्यक्तियों में सदृश परिणमनरूप होता है वह तिर्यक् सामान्य है क्रमशः होने वाला पर्याय

विशेष और द्रव्य के साथ सदा रहने वाला गुण विशेष है। यह गुणविशेष कृष्ण शुक्ल आदि रूप होता है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र—संक्षेपतो नयोद्विविधो द्रव्यपर्यायार्थिक विकल्पात् ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका—संक्षेपतः संक्षेपमाश्रित्य पंचम्यर्थे तसिल् द्रव्यपर्यायार्थिक विकल्पात् इत्यत्र द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक विकल्पादिति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते इतिवचनात् ज्ञातव्यम् उत्तरार्थमिदं सूत्रम् ॥ ५ ॥

हिन्दी व्याख्या—"संक्षेपतः" शब्द का अर्थ "संक्षेप विधि को आश्रित करके" ऐसा है। यहाँ पंचमी विभक्ति के अर्थ में यह तसिल् प्रत्यय हुआ है तथा—"द्रव्यपर्याय" इन पदों में द्वन्द्व समास हुआ है। द्वन्द्व समास के अन्त में आगत पद का सम्बन्ध प्रत्येक पद के साथ हो जाता है। इस कथन के अनुसार आर्थिक पद का सम्बन्ध द्रव्य के साथ भी हो जाने से द्रव्यार्थिक ऐसा पद बनाया गया है। सूत्र का अर्थ स्पष्ट है ॥ ५ ॥

सूत्र—विस्तरतो नयोऽनेकविधः ॥ ६ ॥

संस्कृत टीका—प्रतिपतृणामभिप्रायविशेषाणां बहुत्वसंभवेन नियतसंख्यया निर्धारयितुमशक्यतया नया अनेकविधा एव संभवन्ति प्रतिपतृपरामर्शानामेव नयरूपत्वात्तत्रानेकविधत्वं स्वतः एव सिद्ध्यति किमत्र पर्यालोचनया ॥ ६ ॥

हिन्दी व्याख्या—विस्तार से नय का विचार करने पर वह अनेक प्रकार का है। क्योंकि प्रतिपत्ताजनों के अभिप्रायविशेष ही तो नयरूप कहे गये हैं और वे अभिप्रायविशेष अनेक होते हैं क्योंकि वस्तुगत एक-एक धर्म की पर्यालोचना प्रत्तिपत्ताजन अनेक रीति से करता है इसलिए अभिप्रायों को नियत संख्या से बद्ध नहीं किया जा सकता है अतः इसमें विशेष विचार की आवश्यकता ही नहीं है कि विस्तार की अपेक्षा नय अनेकविध क्यों कहा गया है क्योंकि नय में इस प्रकार के विचारों को लेकर विविधता अनेक प्रकारता तो स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥ ६ ॥

सूत्र—नैगमसंग्रह व्यवहार विकल्पैस्त्रेधा द्रव्यार्थिकः ॥ ७ ॥

संस्कृत टीका—द्रव्यार्थिकनयस्त्रिविधो गतितो नैगमनय संग्रहनय व्यवहारनय भेदात्। नैगमादि नयानामेषां स्वरूपमग्रे सूत्रकारः स्वयमेवाभिधास्यति नोच्यतेऽतः ॥ ७ ॥

अर्थ—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय के भेद से द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का कहा गया है। सूत्रकार स्वयं ही नैगमादि नयों का वर्णन करने वाले हैं अतः इनके सम्बन्ध में यहाँ हमने कुछ भी नहीं कहा है ॥ ७ ॥

सूत्र—गौणमुख्यभावेन पर्याययो र्द्रव्ययोर्द्रव्य पर्याययोश्च विवक्षणात्मको नैगमनयः ॥ ८ ॥

संस्कृत टीका—द्रव्यार्थिकनयस्य भेदस्वरूपं प्रथमं नैगमनयं प्ररूपयन्नाहसूत्रकारः द्वयोः पर्याययोः, द्वयोः द्रव्ययोः, द्रव्यपर्याययोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन येनाभिप्रायविशेषेण विवक्षा क्रियते सोऽभिप्रायविशेषो नैगमनय उच्यते एतेन एकस्य द्रव्यस्य पर्यायस्य वा मुख्यतयाऽपरस्य च पर्यायस्य पर्यायस्य द्रव्य वा यत्राप्रधानतया विवक्षणं भवति सोऽभिप्रायो नैगमरूपो मन्तव्यः नैकेगमाः बोधमार्गाः यस्य स नैगम इति व्युत्पत्तेः। द्वयोः पर्याययोः प्रधानगौणभावेन विवक्षणमित्थं-यथा-"सत्वविशिष्टं चैतन्यमात्मनि वर्तते"

इत्यत्र चैतन्यरूपस्य गुणात्मक पर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षा सत्त्वस्य च चैतन्यविशेषणत्वेन गौणरूपेण विवक्षा धर्मिद्वयोः प्रधानगौणभावेन विवक्षणमित्थं यथा—"पर्यायवद्द्रव्यं वस्तु वर्तते" इत्यत्र पर्यायवद्-द्रव्यस्य धर्मिणो गौणत्वेन विवक्षणं वस्तुरूपस्य च धर्मिणः प्राधान्येन विवक्षणम् । द्रव्यपर्याययोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणं यथा—"विषयासक्तजीवः क्षणमेकं सुखी इत्यत्र विषयासक्तजीवस्य धर्मिणः प्राधान्येन विवक्षणं विशेष्यत्वात् सुखात्मकधर्मस्य तु गौणत्वेन विवक्षणं विशेषणत्वात् एतेषु त्रिष्वप्युदाहरणेषु नैगमनयस्य द्रव्यविषयकतया द्रव्यार्थिक नयत्वमवगन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस अभिप्राय के द्वारा दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की और द्रव्यपर्याय की मुख्य और गौण-रूप से विवक्षा की जाती है ऐसा वह वक्ता का अभिप्राय ही नैगमनयरूप कहा गया है ॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्या—नैगमनय द्रव्यार्थिकनय का एक भेद है अतः सर्वप्रथम इसकी प्ररूपणा करने के ख्याल से सूत्रकार ने यहाँ इस सूत्र द्वारा आगमपरम्परा संमत लक्षण कहा है । इसमें यह समझाया गया है कि यह नैगमनय वस्तु का बोध कराने के लिए अनेक मार्गावलम्बी होता है जिस प्रकार से जिज्ञासु वस्तु के स्वरूप को हृदयङ्गम करले उस रूप से यह उसे समझाता है यदि कोई वस्तु को सर्वथा नित्य मानता है और कोई वस्तु को सर्वथा अनित्य मानता है तो यह नय उन दोनों को इस प्रकार की दृष्टि देता है कि जिससे उन दोनों के विचारों में समन्वय की भावना उत्पन्न हो जाय । जितने भी मत हैं ये सब दृष्टि की भिन्नता के ही परिणाम हैं । नय इसी दृष्टि की भिन्नता को दूर करता है और समन्वय करने की बुद्धि देता है वैसे तो सभी नय अपने-अपने मान्य सिद्धान्त का समर्थन करते हैं पर वे एक दूसरे नय के मान्य सिद्धान्त पर कुठाराघात नहीं करते हैं यही सुनय का काम है और जो नय ऐसा नहीं करते हैं वे दुर्नय की कोटि में आ जाते हैं ।

प्रश्न—प्रत्यक्षादि प्रमाण जब वस्तु के व्यवस्थापक माने गये हैं तो फिर इन नयों के कहने की क्या आवश्यकता हुई ?

उत्तर—प्रत्यक्षादि प्रमाण वस्तु के व्यवस्थापक हैं इसका तात्पर्य केवल यही है कि वे वस्तु को वह अनन्त धर्मात्मक है इस रूप से व्यवस्था करते हैं । पर उन धर्मों का दुनिया को प्रकाश नय द्वारा प्राप्त होता है । इसलिये नय की आवश्यकता है ।

प्रश्न—इस कथन का भाव समझ में नहीं आया पुनः समझाइये ?

उत्तर—प्रमाण का काम क्या है यह बात तो हम पीछे अच्छी तरह से स्पष्ट ही कर चुके हैं अतः उसे वहाँ से समझ लेना चाहिए । प्रमाण की व्यवस्था धर्म धर्मी में अभेद मानकर उस व्यवस्था को अच्छी तरह स्पष्टीकरण करके समझाता है ।

प्रश्न—जब वस्तु अनन्त धर्मात्मक है तो उसके एक-एक धर्म को लेकर कथन करने वाला नय प्रमाण कोटि में कैसे आ सकता है ? क्योंकि उसके द्वारा वस्तु के पूर्ण धर्मों का प्रकाशन नहीं किया जाता है ?

उत्तर—यह पहले ही कहा जा चुका है कि नय वस्तु के एक धर्म को लेकर उसका कथन करता है । अतः नय में प्रमाणैकदेशता है । पूर्णरूप से प्रमाणता नहीं है । नहीं तो प्रमाण और नय को अलग-अलग मानने की आवश्यकता नहीं होती ।

प्रश्न—जब नय वस्तु के एक धर्म का प्ररूपक है तो वह समीचीनता की दृष्टि से प्रमाणैकदेश भी कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आगम में नय दो प्रकार का कहा गया है—एक सम्यक् एकान्त और दूसरा मिथ्या एकान्त। जो वस्तुगत इतर धर्मों को तिरस्कार न करते हुए विवक्षित अपने एक धर्म के द्वारा वस्तु की प्ररूपणा करता है वह सम्यक् एकान्त है। तथा जो विवक्षित धर्म से अतिरिक्त अपने प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण करते हुए उस एक ही धर्म द्वारा वस्तु की प्ररूपणा करता है वह मिथ्या एकान्त है। नय का मिथ्यैकान्त दुर्नय का विषय कहा गया है और नय का सम्यक् एकान्त सुनय का विषय कहा गया है अतः इसमें प्रमाणैकदेशता घटित हो जाती है। मूल में नय के संक्षेपतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद हैं जो प्रकट किये जा चुके हैं। तथा वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक हैं यह भी समझाया जा चुका है। यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय के तीन भेदों में से पहला भेद जो नैगमनय है उसका ही लक्षण प्रकट किया गया है।

प्रश्न—जबकि द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को ही मुख्य रूप से विषय करता है तो उसका भेद रूप नैगमनय भी द्रव्य को ही विषय करने वाला होगा—फिर यहाँ सूत्रकार ने "पर्याययोः" ऐसा कथन क्यों किया है ?

उत्तर—यहाँ क्रमभावी पर्याय पर्याय शब्द से गृहीत नहीं हुई है किन्तु गुणविशेषरूप पर्याय ही पर्याय शब्द से गृहीत हुई है। गुणविशेषरूप पर्याय सहभावी होती है। अतः यह किसी अपेक्षा द्रव्य से अभिन्न होती है उसी गुणविशेषरूप पर्याय को यह विषय करता है इसलिए नैगमनय में द्रव्यार्थिकभेदता होने में कोई विरोध जैसी बात नहीं है।

जब ऐसा कहा जाता है कि पर्यायवान् द्रव्य वस्तु है तो इस प्रकार का कथन दो द्रव्यों को मुख्य और गौण करके कहने वाले नैगम नय की अपेक्षा से है। यहाँ जब किसी ने नैगमनयानुयायी से पूछा कि वस्तु क्या है ? तब उसने पूर्वोक्त रूप से उत्तर दिया है। इस उत्तर में दो धर्मी हैं एक वस्तु और दूसरा पर्यायावाला द्रव्य। इसमें मुख्य वस्तु है और पर्यायवाला द्रव्य यह गौण है। इसी तरह जब ऐसा कहा जाता है कि विषयासक्तजीव एक क्षण भर तक सुखी रहता है तो इस प्रकार का यह कथन द्रव्य और पर्याय को मुख्य और गौण करके कहने वाले नैगमनय की अपेक्षा से है। यहाँ जब किसी ने नैगमनयानुयायी से पूछा कि क्षणभर के लिये सुखी कौन है तब उसने इस प्रकार से उत्तर दिया है। यहाँ विशेष्य होने के कारण जीव द्रव्य प्रधान है और सुखात्मक उसकी पर्याय गौण है। इस प्रकार से नैगमनय द्रव्यार्थिक नय का भेद होने से द्रव्य को ही मुख्यरूप से विषय करता है ॥८॥

सूत्र—पर्यायद्वयादिष्वेकान्ततो भिन्नत्वाभिप्रायो तदाभासः ॥९॥

संस्कृत टीका—योऽभिप्रायो नैगमनयवदवभासतौसोऽभिप्रायो नैगमनयाभासोऽवगन्तव्यः। यतः पर्यायद्वयादिषु कथञ्चिद् वर्तमानायाः अभिन्नतायास्तेन तिरस्करणात् एकान्तेन च तेन तत्र भेद प्रतिपादनाच्चातस्तत्र तदाभासत्वमायाति।

अर्थ—दो पर्याय आदिकों में एकान्ततः भिन्नता ही है ऐसा जो अभिप्राय है वही नैगमनयाभास है। क्योंकि इस प्रकार का प्रतिपादन नैगमनय के जैसा तो प्रतीत होता है पर वह वास्तविक नैगमनय के अनुरूप नहीं होता है। दो पर्यायों में सर्वथा भिन्नता नहीं होती है, दो द्रव्यों में सर्वथा भिन्नता नहीं होती है और द्रव्य एवं पर्यायों में सर्वथा भिन्नता नहीं होती है किन्तु कथंचित् भिन्नता होती है और कथंचित् अभिन्नता होती है। नैगमनय अपने विषय का प्रतिपादन करते समय उसका ही समर्थन तो करता है पर वह उनमें वर्तमान अभिन्नता का निराकरण नहीं करता है। पर नैगमनयाभास उनमें कथंचित् रूप से

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्त्तमान उनकी अभिन्नता का निराकरण करता हुआ अपने द्वारा मान्य भिन्नता का ही प्रतिपादन करता है और उसी का समर्थन करता है ॥९॥

सूत्र—सर्वतन्त्र स्वतन्त्रसत्ता मात्रग्राही संग्रहनयः परापरभेदाच्च द्विविधः ॥ १० ॥

संस्कृत टीका—सत्त्वद्रव्यत्वसुवर्णत्वादिरूप सर्वतन्त्रस्वतन्त्रसत्तारूप सामान्य मात्रविषयको योऽभिप्रायविशेषः प्रतिपत्तुः स संग्रहनयः एतेन सम् संगततया पिण्डाकारत्वेन विशेषराशि गृह्णाति इति संग्रहशब्दव्युत्पत्त्या सामान्यमात्र प्रतिपादनमुखेन विशेषराशेरपि संग्राहकोऽभिप्रायविशेषः संग्रहनयः इति फलितम् यथा—"लोकोऽयमेकरसः सत्त्वेनाविशेषात् इत्यनुमानेन संसारस्य सन्मात्ररूपेणैव संगृह्यमाणविषयत्वेन सकलविशेष्वौदासीन्यमवलम्बमानोऽयमभिप्रायविशेषः सत्ताद्वैतमभ्युपगच्छन् संग्रहनयत्वेन व्यपदिश्यते "एगे लोए" इति स्थानाङ्गवचनात् एवं सत्तावान्तरद्रव्यत्वसुवर्णत्वादि धर्माणां स्वीकारेण तदाश्रयभूतधर्मास्तिकायादि विशेषाणोऽवातिरस्कारेण प्रवर्तमानोऽभिप्रायविशेषः संग्रहनयोबोध्यः स चायं संग्रहनयो द्विविधो वर्त्तते—पर संग्रहः नयोऽपरसंग्रह नयश्चेति एतयोः स्वरूपमग्रे वक्ष्यते परसंग्रहरूपामहासत्तैव सकलपदार्थ सार्थव्यापित्वात्, अपर संग्रहरूपासत्ताऽनेकविधाजात्यनुसारेण तस्या अनेक विकल्प संभवात् ॥ १० ॥

अर्थ—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सत्तामात्र को विषय करने वाला जो नय है उसका नाम संग्रहनय है। यह संग्रहनय परसंग्रहनय और अपरसंग्रहनय के भेद से दो प्रकार का है।

हिन्दी व्याख्या—सत्त्व, द्रव्यत्व सुवर्णत्व आदि रूप सर्वतन्त्र स्वतन्त्रसत्तारूप सामान्य मात्र को विषय करने वाला प्रतिपत्ता का जो अभिप्रायविशेष है, वह संग्रहनय है, इस कथन के अनुसार जो विशेष राशि को पिण्डाकाररूप से ग्रहण करने वाला अभिप्राय है वह संग्रहनय है ऐसा इसका निष्कर्षार्थ निकलता है। यह नय स्वतन्त्ररूप से विशेषों का ग्राहक नहीं होता है किन्तु उन विशेषों को वह इस रूप से संग्रह करता है कि जिससे वे सब उसके पेटे में संग्रहीत हुए समा जाते हैं। जैसे यह विश्व एकरूप है यहाँ पर जब विश्व को एकरूप कहा जाता है उस समय वह एक महासत्ता से युक्त हुआ ही प्रतीत होता है। विश्व के जितने पदार्थ हैं वे सब सत्ता से विहीन नहीं हैं सब ही सत्ता से युक्त हैं, अतः इस एक सत्ता धर्म से युक्त होने की अपेक्षा वे सब एक हैं। यह परसंग्रहनय की अपेक्षा कथन है जिस प्रकार मनुष्यत्व जाति की अपेक्षा सब मनुष्य एक होते हैं उसी प्रकार विश्व संसार भी एक महासत्ता संयुक्त होने के कारण एक है। जिस प्रकार यह कथन पर सत्ता महासत्ता की अपेक्षा कहा गया है। उसी प्रकार अपरसंग्रहनय की अपेक्षा से लोक में जितनी-जितनी जातियाँ संभव हैं उन-उन जातियों की अपेक्षा अपरसंग्रहनय उन-उन के विशेष व्यक्तियों का संग्रह करके उनमें एकत्व का कथन करता है। परसंग्रहनय का दूसरा नाम महासत्ता है यह एक रूप ही होती है इसमें भेदों का व्यवहार नहीं होता है। तथा अपरसंग्रह का दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है। यह भिन्न-भिन्न जातियों की अपेक्षा अनेक भेद वाली होती है। सत्त्व यह महासत्ता है और द्रव्यत्व सुवर्णत्व आदि अपर सत्तारूप है। यहाँ इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि नैयायिक और वैशेषिकों ने पर और अपर नाम का व्यापक और नित्य जैसा स्वतन्त्र सामान्य माना है ऐसा सामान्य जैन दर्शन को अभीष्ट नहीं है। स्वरूप सत् और सादृश्य सत् के भेद से सत् दो प्रकार होता है। जो प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूपास्तित्व का बोधक होता है। वह स्वरूप सत् है और जो परिणाम नाना-नाना व्यक्तियों में पाया जाता है वह सादृश्य सत् है संग्रहनय का प्रयोजक यह मुख्यतः सादृश्य सत् ही है, यह बड़ा या छोटा विवक्षित होता है संग्रहनय भी उतना ही बड़ा या छोटा हो जाता है। तात्पर्य इस कथन का यही है कि जो विचार सदृश परिणमन के आश्रय से नाना वस्तुओं में एकत्व की कल्पना करके प्रवृत्त होते हैं वे सब संग्रह नय की श्रेणी में आ जाते हैं ॥ १० ॥

सूत्र—सकलपदार्थं सार्थव्यापि महासत्ताधीनोऽभिप्रायविशेषो परसंग्रहः ॥ ११ ॥

संस्कृत टीका—उक्तमिति परापरभेदाच्च संग्रहनयो द्विविधस्तत्र परसंग्रहनयस्य स्वरूपं विवक्षुः सूत्रकारः सकलपदार्थेत्यादि सूत्रं कथयति—अनेन तेन प्रतिबोधितं यत् सकलपदार्थं सार्थेषु व्यापि यत् महासत्ताख्यं सामान्यं तिर्यक् सामान्यं तदधीनस्तदाश्रित्य जायमानो योऽभिप्रायविशेषः स एव परसंग्रहनयः यथा विश्वमेकं सदाविशेषात् अनेनाभिप्रायविशेषेण सकलविशेषेष्वुदानतामवलम्बमानेन सन्मात्ररूपतिर्यक् सामान्य ग्रहणतत्परेणाऽस्मिन् जगति एकत्वं गृह्यते तदेव च व्यवस्थाप्यते शुद्धद्रव्यरूपसत्तापेक्षया तत्रैकत्वात् विशेषांशातां सन्मात्रान्तर्भावणेन संग्रहणाच्च ॥ ११ ॥

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—सत्ता समस्त पदार्थों में पाई जाती है क्योंकि इसके बिना कोई भी पदार्थ अपनी स्थिति नहीं रख सकता इसलिए इस महासत्तारूप सामान्य की सदृशपरिणमनरूप तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से समस्त जीवादिक पदार्थ एक रूप हैं इस प्रकार से मानने वाला जो अभिप्राय विशेष है वह परसंग्रहरूप है ॥ ११ ॥

हिन्दी व्याख्या—परसंग्रहनय और अपरसंग्रहनय के भेद से संग्रहनय दो प्रकार का कहा गया है। उसमें से परसंग्रहनय के स्वरूप को प्रतिपादन करने की इच्छा वाले आचार्य ने इस सूत्र का कथन किया है। इसके द्वारा उन्होंने यह समझाया है कि संसारस्थ समस्त जीवादिक पदार्थों में एक महासत्ता नाम का गुण है क्योंकि पदार्थ का स्वरूप ही सामान्यविशेषात्मक है। इस महासत्तारूप सामान्य गुण के द्वारा परसंग्रहनय समस्त पदार्थों को एकता में बाँधता है और कहता है कि विश्व सत्ता की अविशेषता से एकरूप है यहाँ एक सत्ता का ही एकछत्र राज्य है। इस प्रकार की उसकी मान्यता से कोई यह न समझ ले कि वह सकल विशेषों का निराकरण करता है, हाँ उसकी अपने विषय की स्थापना करते समय विशेषों की ओर उदासीनता भरी दृष्टि रहती है, इस तरह सन्मात्र रूप तिर्यक् सामान्य के ग्रहण करने में तत्पर बने हुए इस नय के द्वारा जगत में एकत्व गृहीत होता है और वही उसके द्वारा व्यवस्थापित किया जाता है क्योंकि वह शुद्ध द्रव्यरूप सत्ता की अपेक्षा उसमें रहे हुए एकत्व के ऊपर दृष्टि रखता है तथा जितने भी विशेषांश हैं उन सबका वह एक सत्तामात्र के द्वारा उसमें अन्तर्हित कर लेता है ॥ ११ ॥

सूत्र—तद्विपरीताभिप्रायः तदाभासः ॥१२॥

संस्कृत टीका—गुणपर्यायरूप सकलविशेषाणां प्रत्याख्यानपरः सत्ताद्वैतमात्राभ्युपगमविषयकोऽभिप्रायविशेषो भवति तदाभासः परसंग्रहनयाभासरूपः। एतेन सत्ताद्वैतमात्रमेवैकं तत्त्वं न ततोऽतिरिक्ता विशेषाः केचन यथा वेदान्तिनोऽभिप्रायविशेषः स परसंग्रहनयाभासरूपो बोध्यः। ते हि सत्तातिरिक्तं वस्त्वन्तरं विशेषात्मकं नाभ्युपगच्छन्ति ॥१२॥

अर्थ—परसंग्रहनय के अभिप्राय से विपरीत जो अभिप्राय है, वह परसंग्रहनयाभास है ॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—परसंग्रहनयाभास में वेदान्तवादी आदियों की मान्यता आती है क्योंकि इनके सिद्धान्तानुसार गुण पर्यायरूप कोई विशेष पदार्थ हैं ही नहीं उनके अस्तित्व का इनके सिद्धान्त में निराकरण किया गया है। अतः जितने भी अद्वैतवादी सिद्धान्त हैं वे सब इसी परसग्रहनयाभास को मानने वाले हैं ॥१२॥

सूत्र—द्रव्यत्वाद्यवान्तर सामान्य विषयकः स्वव्यक्तिषूदासीनोऽभिप्रायोऽपरसंग्रहः ॥१३॥

संस्कृत टीका—जीवेष्वजीवेषु च धर्माधर्माकाशकालेषु वर्त्तमानं द्रव्यत्व सामान्यं जीवसत्केषु नरनारकादि पर्यायेषु अजीवसत्केषु घट कुण्डलादि पर्यायेषु च वर्त्तमानं पर्यायत्व सामान्यं स्वीकुर्वाणः स्व-

स्वभेदेषु च माध्यस्थ्यभावं भजमानो योऽभिप्रायः सोऽपरसंग्रहः। यथाधर्मास्तिकायादीनामैक्यं द्रव्यत्वाभेदात् द्रव्यमिदं द्रव्यमिदमित्येवमभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गेनानुमितस्य द्रव्यात्वाभेदस्य सद्भावात्। एवमपि चेतनाचेतनपर्यायाणामपि ऐक्यं पर्यायत्वाभेदात् अयमपि पर्यायः अयमपि पर्याय इत्येवमभिन्नज्ञानाभिधानस्वरूपलिङ्गेनानुमितस्य पर्यायत्वाभेदस्य सद्भावात्। एतेन धर्मास्तिकायादि रूपद्रव्यविशेषरूपपर्यायानुपेक्षमाणः सत्तावान्तरद्रव्यत्वसुवर्णत्वादि सामान्य धर्ममात्राभ्युपगन्ता प्रतिपत्तुरभिप्रायोऽपरसंग्रह इति फलितम्। अत्रायमाशयो बोध्यःअशेष विशेषात्मक पर्यायाणां प्रधानतया सत्तामात्र प्रतिपादन द्वारा सन्मात्रेऽन्तर्भावणं परसंग्रहनयस्योद्देश्यं भवति, सत्तावान्तरधर्माणां द्रव्यत्वपृथित्व सुवर्णत्वादीनां प्रधानतया प्रतिपादन द्वारा धर्मास्तिकायादीनां द्रव्यविशेषभेदानां द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्येऽन्तर्भावणमपरसंग्रहनस्योद्देश्यं भवतीति एतदुभयोरपि सत्ताद्रव्यत्वादि सामान्य विषयकत्वेन द्रव्यार्थिक नयत्वमनवसेयम् ॥१३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—द्रव्यत्वादिकरूप अवान्तर सामान्य का विषय करने वाला और उन द्रव्यत्वादिरूप अवान्तर सामान्य के आश्रयभूत व्यक्तियों में विशेषों में माध्यस्थ्यभाव रखने वाला जो अभिप्राय है उसका नाम अपरसंग्रहनय है ॥१३॥

हिन्दी व्याख्या—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छह प्रकार का कहा गया है तथा जीव की नर-नारकादि रूप पर्यायों में और घट कुण्डलादि रूप मृत्तिकादि द्रव्यों की पर्यायों में वर्तमान क्रमशः द्रव्यत्व और पर्यायत्वरूप सामान्य को प्रधानरूप से स्वीकार करने वाला एवं अपने-अपने आश्रयभूत विशेषों में उदासीनता रखने वाला जो प्रतिपत्ता का संकल्प विशेष है उसका नाम अपरसंग्रहनय है। जैसे—धर्मास्तिकायादिक जो द्रव्य के भेद विशेष हैं उन सबमें इस नयवाले का ऐसा विचार रहता है कि ये सब द्रव्यत्वरूप अवान्तर सामान्य की अपेक्षा एक हैं जिस सामान्य का क्षेत्र विस्तृत होता है वह परसामान्य कहा गया है। जैसे सत्ता और परसामान्य की अपेक्षा जिसका क्षेत्र संकुचित होता है वह अपरसामान्य कहा गया है, जैसे द्रव्यत्व पृथिवीत्व सुवर्णत्व आदि। अपरसंग्रहनय इसी अवान्तर सामान्य को विषय करता है अपर सामान्य का नाम ही अवान्तर सामान्य है।

इस प्रकार से इतना अभिप्राय हृदयंगम करके इस सूत्र को समझना चाहिए। धर्मास्तिकायादिकों में द्रव्यत्वरूप अवान्तरसामान्य रहता है अतः इस अवान्तर सामान्य की अपेक्षा ये एक हैं इसी सामान्य को लेकर धर्मास्तिकायादिकों में यह भी द्रव्य है यह भी द्रव्य है इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है और द्रव्य द्रव्य इस शब्द के द्वारा उनमें वाच्यता आती है अतः इस प्रकार की प्रतीति से एवं एक शब्द के द्वारा वाच्यता से अनुमित द्रव्यत्व का अभेद उनमें वर्तमान रहता है। इसी प्रकार चेतन की और अचेतन की पर्यायों में पर्यायत्वरूप अवान्तर सामान्य वर्तमान रहता है। इसी सामान्य को लेकर उन-उन पर्यायों में यह भी पर्याय हैं यह भी पर्याय है इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है और पर्याय-पर्याय इस शब्द के द्वारा उनमें वाच्यता आती है अतः इस प्रकार की प्रतीति से एवं एक शब्द द्वारा वाच्यता से अनुमित पर्यायत्व का अभेद उनमें वर्तमान रहता है।

इस कथन से यही फलित होता है कि धर्मास्तिकायरूपद्रव्य और विशेषरूप पर्याय की ओर दृष्टि न देते हुए अवान्तरसत्तारूप द्रव्यत्व सुवर्णत्व आदि सामान्य को स्वीकार करने वाली जो प्रतिपत्ता की विचारधारा है वही अपरसंग्रहनय है। परसंग्रहनय का तो उद्देश्य ऐसा है कि वह अशेषविशेषात्मक पर्यायों को सत्तामात्र के प्रतिपादन द्वारा सन्मात्र में अन्तर्निहित कर लेता है और अपरसंग्रहनय का उद्देश्य ऐसा है कि वह अवान्तर सत्ता रूप जो द्रव्यत्व पृथिवीत्व और सुवर्णत्व आदि हैं उनके प्रतिपादन

द्वारा धर्मास्तिकायादिक रूप द्रव्य भेदों को उनमें अन्तर्हित कर लेता है इसलिए इन दोनों में सत्तारूप एवं द्रव्यत्वादिरूप सामान्य को विषय करने का कारण द्रव्यार्थिकनयपना है ऐसा जानना चाहिए ॥१३॥

सूत्र—विशेषापलापी द्रव्यत्वादि सामान्यमात्रमन्वानोऽभिप्रायस्तदाभासः ॥१४॥

संस्कृत टीका—अपरसंग्रहनयस्वरूपं निरूप्यधुना तदाभासं निरूपयितुमुपक्रम्यते विशेषापलापीत्यादिना-तथा च विशेषान् अपलपितुंशील इति विशेषापलापी-द्रव्यविशेषाणां धर्मास्तिकायादीनां गत्यादि निमित्तभूतानां कटककुण्डलादिनां च सुवर्णादि द्रव्यविशेषाणां अपलपनशीलो निराचक्षाणः केवलमवान्तरसत्तारूप द्रव्यत्वपृथिवीत्व सुवर्णत्वादिकं मन्वानः स्वीकुर्वाणो योऽभिप्रायः स तदाभासः-अपरसंग्रहाभासः। एतेन द्रव्यत्वमेवतत्त्वं तदतिरिक्तानां धर्मास्तिकायादीनामभावात् एवमेव सुवर्णत्वमेव तत्त्वं तदतिरिक्त कटककुण्डलादिपर्यायाणामनुपलम्भात् इत्येवमवान्तर सामान्यमेवाभ्युपागम्य तद्विशेषान् विह्नुवानोऽपरसंग्रहाभासः ॥१४॥

हिन्दी व्याख्या—जैसा कि अपरसंग्रहनय के स्वरूप वर्णन में प्रकट किया जा चुका है ठीक उससे विपरीत स्वरूपवाला अपरसंग्रहनयाभास है। अपरसंग्रहनय में अवान्तरसत्ता के द्वारा उसके विशेषों का संग्रह किया जाता है जैसा कि उसके स्वरूप कथन में प्रकट किया जा चुका है। उस कथन से यह हम समझ जाते हैं कि वह विशेषों का निराकरण नहीं करता है। किन्तु उनकी ओर उसकी दृष्टि में गौणता का भाव भरा रहता है। तब कि यह अपरसंग्रहाभास अवान्तर सामान्य का कथन करता हुआ उस सामान्य के आश्रयभूत व्यक्तियों का सर्वथा निषेध करता है जैसे—जब यह ऐसा प्रतिपादन करता है कि अवान्तर सामान्यरूप द्रव्यत्व या सुवर्णत्व ही वास्तविक है उससे भिन्न धर्मास्तिकायादिक जो कि जीव और पुद्गल की गत्यादिक क्रिया में उदासीनरूप से निमित्त हैं, नहीं हैं। इसी प्रकार सुवर्णत्व रूप अपरसामान्य ही वास्तविक है उससे भिन्न जो उसकी कटककुण्डलादिरूप पर्यायें हैं, वे नहीं हैं। इस प्रकार से द्रव्यत्वरूप या सुवर्णत्वादिरूप अपर सामान्यों को केवल वास्तविक मानने वाला और उनके विशेषों का धर्मास्तिकायादिकों का निषेध करने वाला जो भी अभिप्राय विशेष है वह सब इसी अपरसंग्रहनयाभास में परिगणित हो जाता है। अवशिष्ट टीकार्थ स्पष्ट है ॥ १४ ॥

सूत्र—संग्रहेण संकलितसामान्यस्य भेदप्रभेदं विधाय व्यवहारपथमवतारकोऽभिप्रायविशेषो व्यवहारः ॥ १५ ॥

संस्कृत टीका—संग्रहेण परापरसंग्रहनयेन संकलितसामान्यस्य-सत्ता सामान्यस्यावान्तर सामान्यस्य च परापरसामान्यरूपस्य भेद प्रभेदं कृत्वायोऽभिप्रायविशेषस्तं लोकव्यवहारोपयोगिनं करोति स व्यवहारनय इति। नहि सामान्येन लोकव्यवहारः संचलति तत्र विशेषाणामेवोपयोगात् नहि वाह दोहादौ कर्मणि अश्वत्वं गोत्वं नोपयोगि अश्वस्य गोश्च तत्रोपयोगात्। एवं च यत् सत् तद्द्रव्यं वा पर्यायोवा यद्द्रव्यं तत् जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं वा जीवद्रव्यं चेत्तत्किम् त्रसरूपं स्थावररूपं वा त्रसरूपं चेत्तत्कि द्वीन्द्रियरूपं पञ्चेन्द्रियरूपं वा पञ्चेन्द्रियरूपं चेत् तत्कि संज्ञिरूपमसंज्ञिरूपं वेत्येवं रूपं भेद प्रभेदं कुर्वन् व्यवहारनयोतावत्पर्यन्तं गच्छति यावदस्य द्वितीय भेदाभावो भवति लोकव्यवहारस्य विशेषेणैव साध्यत्वात् नतु सामान्येन तत्रतस्यानुपयोगित्वात् ॥ १५ ॥

अर्थ—परसंग्रहनय और अपरसंग्रहनय के द्वारा विषयभूत बनाये हुए सत्ता सामान्य और अवान्तर सामान्य के जो अभिप्राय विशेष भेद प्रभेद करता हुआ उस भेद प्रभेद को लोकव्यवहार के लिए उपयोगी करता है ऐसा, वह अभिप्राय व्यवहारनय है॥ १५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हिन्दी व्याख्या—यह पहले प्रकट किया जा चुका है कि संग्रहनय परसंग्रहनय और अपरसंग्रहनय के भेद से दो प्रकार का है। परसंग्रहनय का विषय सत्ता महासत्ता है और अपरसंग्रहनय का विषय अवान्तर सत्ता है। परन्तु व्यवहारनय का ऐसा अभिप्राय है कि लौकिक व्यवहार न परसामान्य से चलता है और न अपरसामान्य से चलता है वह तो सत्ता के विशेषों से या अपरसत्ता के विशेषों से ही चलता है। अतः व्यवहारनय उस परापरसत्ता को भेद और प्रभेदों में विभक्त करता है और उन्हें व्यवहारोपयोगी प्रकट करता है। वह कहता है यद्यपि मनुष्य कहने से सभी मनुष्यों का वर्गीकरण हो जाता है परन्तु जब उनका विशेषरूप से ज्ञान कराना होता है या व्यवहार में उनका भिन्न-भिन्न रूप से उपयोग करना होता है तब उनका विधिपूर्वक विभाग किया जाता है "विधाय" यह पद यह प्रकट करता है जिस विधि से इनका संग्रह किया गया है उसी विधि से इनका विभाग किया जाता है। जैसे—जब परसंग्रहनय सत्ता मात्र से समस्त पदार्थों का वर्गीकरण कर लेता है तब व्यवहारनय उससे ऐसा पूछता है कि जो सत् है वह द्रव्यरूप है या पर्यायरूप है ? यदि वह द्रव्यरूप है तो क्या वह जीव द्रव्यरूप है या अजीव द्रव्यरूप है ? यदि जीव-द्रव्यरूप है तो क्या वह त्रसजीव रूप है या स्थावरजीव रूप है ? यदि वह त्रसजीव रूप है तो क्या वह द्वीन्द्रियजीव रूप है या पञ्चेन्द्रिय जीवरूप है ? यदि पञ्चेन्द्रिय जीवद्रव्यरूप है तो क्या संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवरूप है या असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवरूप है। इस रूप से वह व्यवहारनय परापर सामान्य के यहाँ तक भेद प्रभेद करता हुआ चला जाता है कि फिर द्वितीय भेद करने की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि यह नय लोकव्यवहार विशेषों से ही चलता है सामान्य से नहीं। दूध गाय विशेष से ही दुहा जाता है सवारी घोड़े पर ही की जाती है, गोत्व से दूध नहीं दुहा जाता है और न अश्वत्व को सवारी के काम में लिया जाता है" ऐसा कहता है ॥ १५ ॥

सूत्र—काल्पनिक द्रव्यपर्याय विभागाभिप्रायस्तदाभासः ॥१६॥

संस्कृत टीका—द्रव्यपर्यायविभागः काल्पनिकः अपरमार्थभूत एव वर्तते एवं मन्वानोऽभिप्रायो व्यवहारनयाभासः। इदं सुवर्णादिकं द्रव्यं कटककुण्डलादिकोऽयं पर्याय इत्येवं रूपो व्यवहारो न पारमार्थिकः काल्पनिकत्वाद् द्विचन्द्रदर्शनवत् भ्रमवशादेव प्रतीयते द्रव्यपर्यायविभागः। अयं व्यवहारनयाभासश्चार्वाका सिद्धान्तः-तत्र पृथिव्यप्तेजोवाटवात्मकभूतचतुष्टयमेव वास्तविकरूपत्वेन निगदितमेतदतिरिक्तः सर्वोऽपि द्रव्यपर्यायविभागो वारवधूविलासवन्मनोरंजकमात्रमेव न लोकयात्रानुयायी प्रत्यक्षतोऽप्रतीयमानत्वात् प्रत्यक्षतो यदेव प्रतीयते घटादिकं वस्तु तदेव वास्तविकं न ततोऽतिरिक्तमनुमानगम्यं किञ्चिदपि वस्तु एवं च प्रत्यक्षतः परिदृश्यमानं शरीरमेव जीव न ततो व्यतिरिक्तः परलोकानुयायी चेतनरूपो जीवः परलोकाभावात् प्रमाणाभावाच्च पुण्य पापमपि नास्ति इत्यादि रूपश्चार्वाकसिद्धान्तो व्यवहारनयाभास स्वरूपः ॥१६॥

अर्थ—द्रव्य और पर्याय का विभाग केवल काल्पनिक ही है ऐसा जो अभिप्राय है वही व्यवहाराभास है ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—द्रव्य और पर्याय का विभाग सत्य है काल्पनिक नहीं है ऐसा जो अभिप्राय है वह व्यवहारनय है, इस व्यवहारनय के साथ विपरीत व्यवहार करने वाला व्यवहारनयाभास है। इसकी दृष्टि में यह सुवर्णादि द्रव्य है ये इसकी कटककुण्डलादि रूप पर्यायें हैं इस प्रकार का जो जगत् प्रसिद्ध व्यवहार है वह पारमार्थिक नहीं है, द्विचन्द्रदर्शन की तरह वह केवल कल्पना का ही विषय है क्योंकि भ्रम के वश से ही यह द्रव्यपर्यायविभाग प्रतीत होता है, इस व्यवहारनयाभास में चार्वाक का सिद्धान्त परि-

गणित किया गया है। इस सिद्धान्त के पक्षपातियों की ऐसी मान्यता है कि पृथिवी अप् तेज और वायु ये तत्त्वचतुष्टय ही वास्तविक है क्योंकि इनकी वास्तविकता का प्रख्यापक प्रत्यक्षप्रमाण है, द्रव्य पर्याय प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं ये तो अनुमान प्रमाणगम्य कहे गये हैं, अतः अनुमाण प्रमाण में अवास्तविकता होने के कारण उसके द्वारा संस्थापित द्रव्यपर्याय विभाग सब ही ऐसा है कि जैसा वेश्या का विलास। वह जैसा केवल पर मनोरंजक ही होता है पारमार्थिक नहीं होता है इसी प्रकार यह केवल मनोरंजक ही है। लोक यात्रानुयायी नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से इसकी प्रतीति नहीं होती है। जिसकी प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाण से होती है वही घटादिक वस्तु वास्तविक है इसके सिवाय अनुमानगम्य वस्तु वास्तविक नहीं है। जीव भी स्वतन्त्ररूप से शरीर के सिवाय प्रतीत नहीं होता इसलिये वह भी शरीर से भिन्न कोई परलोकानुयायी स्वतन्त्र सत्तावाला पदार्थ नहीं है शरीर ही जीवरूप है। परलोक पुण्य-पाप ये सब कुछ नहीं है। कोरी कल्पना से ही कल्पित ये किये गये हैं इनके अस्तित्व का ख्यापक कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार की मान्यता वाला चार्वाकसिद्धान्त सिद्धान्त व्यवहारनयाभास है ॥१६॥

सूत्र—पर्यायार्थिकनयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्रशब्दसमभिरुढ़ैवंभूतभेदात् ॥ १७ ।

संस्कृत टीका—त्रिविधं द्रव्यार्थिकनयस्वरूपं प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकनयस्वरूपं निरूप्यते ऋजुसूत्र-शब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् स नयश्चतुर्विधो भवति। पर्येति उत्पत्तिविध्वंसौ प्राप्नोतीति पर्यायः स चासावर्थश्चेति पर्यायार्थः तमधिकृत्य प्रवर्तमानो नयः पर्यायार्थिकनयः वस्तु मात्रस्यैवोत्पत्ति विनाशयोः खलु पर्यायार्थिकनय विषयत्वात् सोऽयं नयः ऋजुसूत्रनयादि भेदात् चतुर्धा तत्र ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्याय-मात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायविशेष ऋजुसूत्र एतेन नयाभासकेतरतुल्य एकांशगोचरः प्रतिपत्तुरभि-प्रायविशेषो नय इत्युक्तत्वेन ऋजुसूत्रनयस्य पर्यायार्थिकनय विशेषत्वात् प्रधानतया वर्तमानकालमात्रपर्याय ग्राहकतया तत्रद्रव्यस्य सत्त्वेऽपि गौणत्वात् तन्नर्जुसूत्रनयो गृह्णाति अपितु केवलं पर्यायानेव क्षणिकान् प्रधानतया प्रतिपादयतीतिभावः यथेदानीं सुखपर्यायो वर्तते" इति वाक्यं वर्तमानलक्षणस्थायि सुखरूपं पर्यायं मुख्यतया गृह्णाति तदधिकरणरूपमात्मद्रव्यं तु विद्यमानमपि गौणत्वेन न गृह्णाति एवं कालकारक लिङ्गसंख्या पुरुषोपसर्गादि भेदेनाभेदं योऽभिप्रायविशेषो वदति स शब्दनय इत्युच्यते यथाभूव अस्ति भविष्यति च सुमेरुः इति वाक्यमेकस्यैव सुमेरोः पर्वतस्य भूतभविष्यद्वर्तमानकालभेदादिभिन्नत्वं प्रतिपादयति किन्तु द्रव्यत्वेन सुमेरोरभिन्नत्वमौदासीन्येन नावलम्बते एवं घटं करोति तेन घटः क्रियते इत्यादि वाक्यं कर्तृकर्मरूपकारक भेदेनाभिन्नस्यापि घटस्य प्रधानतया भिन्नत्वं प्रतिपादयति एवमन्यदपि बोध्यम्। इन्द्र-पुरन्दरादिशब्देषु व्युपत्तिभेदेनाभिन्नस्याप्यर्थस्य भिन्नत्वं योऽभिप्राय विशेषः प्रतिपद्यते स समभिरुढ़नय इत्युच्यते यथा—इन्दनादिन्द्रः पुर्दारणात्पुरन्दरः शकनाच्छक्र इत्येवं विभिन्नव्युत्पत्त्या अभिन्नमपीन्द्ररूपमर्थं पर्यायभेदेन भिन्नार्थत्वेन प्रतिपद्यते समभिरूढ़नय शब्दनयस्तु इन्द्रादिपर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमेव स्वीकरोति एवमिन्द्रादिशब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तीभूतेन्दनादिक्रियाऽऽविष्टमेवार्थं योऽभिप्रायविशेष प्रतिपद्यते तत्क्रिया-ऽनाविष्टमर्थं तूपेक्षते स एवं भूतनय उच्यते एतेनैवं भूतनयः खलु इन्दनादिक्रियापरिणतमिन्द्ररूपार्थ-मिन्दनक्रियाकाले एवेन्द्रादि शब्दवाच्यतया स्वीकरोति समभिरूढ़नयस्तु विद्यमानेऽविद्यमाने वेन्दनादिक्रिया रूपे प्रवृत्तिनिमित्ते इन्द्रादिशब्दवाच्यत्वं स्वीकरोति ॥ १७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवं-भूतनय ॥ १७ ॥

हिन्दी व्याख्या—तीन प्रकार का द्रव्यार्थिकनय प्ररूपित करके अब सूत्रकार इस सूत्र द्वारा चार प्रकार के पर्यायार्थिक नय के स्वरूप की प्ररूपणा कर रहे हैं—यह पर्यायार्थिकनय ऋजुसूत्रनय आदि के

भेद से चार प्रकार का कहा गया है । जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त करता रहता है वह पर्याय है । इस पर्यायरूप अर्थ को लेकर जो विचारधारा चलती है वह पर्यायार्थिकनय है । प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है । इनमें ध्रौव्य धर्म द्रव्यार्थिकनय का विषय है । जो अभिप्राय केवल वर्तमानक्षणस्थायी पर्यायमात्र को प्रधानरूप से विषय करता है ऐसा वह अभिप्राय ऋजुसूत्रनय है । इस कथन का सारांश ऐसा है कि—जब किसी ने सूत्रकार से ऐसा प्रश्न किया कि पर्यायार्थिक नय को स्वतन्त्र रूप से मानने की क्या आवश्यकता थी तो इसी का उत्तर इन चार नयों द्वारा दिया गया है । द्रव्यार्थिकनय की विचारधारा से हम यह समझ चुके हैं कि उसके नैगमादिनय किसी भी पदार्थ की विविध दशाओं की ओर नहीं निहारते हैं वे नहीं जानना चाहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की त्रिकालवर्ती अवस्थाएँ किस रूप में हुई हैं किस रूप में हो रही हैं और आगे भी इनका क्या रूप होने वाला है । ये नय तो पर्यायभेद विवक्षित करते ही नहीं है । परन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता कि विचारधारा पर्याय की ओर नहीं जावे । पर्याय वर्तमान क्षणवर्ती ही होती है भूतकालीन पर्याय विनष्ट हो जाने के कारण और आगामी पर्याय अनुत्पन्न होने के कारण इस नय की दृष्टि से पर्याय की गणना में नहीं आती है, पर्याय की गणना में तो केवल द्रव्य की वर्तमानक्षणालिङ्गित अवस्था ही आती है । एक द्रव्य की वर्तमानक्षणवर्ती एक ही अवस्था होती है, अनेक नहीं । यद्यपि प्रदीपादिकों में हमें यह प्रतीत होता है कि एक ही समय में उसके द्वारा प्रकाश वर्त्तिका-दाह, तैलशोषण, अन्धकार विनाशन आदि अवस्थाएँ हो रही हैं—परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इन अवस्थाओं के होने में समयविभाग होता है । इस तरह से इतना सब समझकर हम यह सुगमरीति से समझ जाते हैं कि ऋजुसूत्रनय का विषय क्या है । वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय ही ऋजुसूत्रनय का विषय है । ऋजुसूत्रनय जब वर्तमानक्षणवर्ती पर्याय को विषय करता है तो उस समय वह पर्याय विना द्रव्य के तो होती नहीं हैं । तो ऐसी स्थिति में वह द्रव्य को भी विषय करता होगा तो इसका ही उत्तर "तत्र द्रव्यस्य सत्वेऽपि गौणत्वात् तन्न ऋजुसूत्रनयो गृह्णाति" इस पाठ द्वारा दिया गया है । इस से यह समझाया गया है कि जिस प्रकार "अभ्रे चन्दमसं पश्य" कहने पर देखने वाले का ध्यान चन्द्रमा पर ही केन्द्रित होता है आकाश पर नहीं उसी प्रकार ऋजुसूत्रनय का ध्यान वर्तमानक्षणवर्ती पर्याय पर ही अवलम्बित होता है उस पर्याय के आश्रयभूत द्रव्य पर नहीं । इस तरह वह पर्याय को ही मुख्य रूप से ग्रहण करता है द्रव्य को नहीं । द्रव्य तो उसकी दृष्टि में गौण हो जाता है, इसी बात को टीकाकार ने "यथेदानीं सुख पर्यायोवर्त्तते" इस पद द्वारा प्रस्फुटित किया है । यहाँ पर आत्मा की एकवर्तमानक्षणवर्त्ती पर्याय गृहीत हुई है, उस सुख पर्याय का आश्रयभूत आत्मा गृहीत नहीं हुआ है । क्योंकि वह उस विवक्षा में गौण कर दिया गया है । अपने-अपने अभिप्रायों को प्रकट करने का साधन शब्द है । अतः शब्द की प्रमुखता से जितना भी विचार किया जाता है वह सब शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनय की मान्यता में आ जाता है । अब इसी बात को स्पष्ट करने के लिए शब्दनय की विचारधारा क्या है, यह प्रकट किया जाता है । काल, कारक, लिङ्ग, संख्या, पुरुष और उप-सर्ग आदि के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है ऐसी मान्यता वाला यह शब्दनय है । यह स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि जब काल आदि अलग-अलग हैं तो फिर इनके द्वारा कहा जाने वाला अर्थ भी भिन्न-भिन्न न हो ऐसा कैसे हो सकता है ? जब कोई वक्ता ऐसा कहता है—"सुमेरु हुआ, सुमेरु है, सुमेरु होगा" इन तीन वाक्यों द्वारा एक सुमेरु का ही त्रिकाल सम्बन्धी अस्तित्व प्रकट किया गया है । पर शब्दनय की दृष्टि से यहाँ काल भेद होने के कारण सुमेरुरूप अर्थ में भिन्नता स्वीकार की गई है । यद्यपि विचार किया जावे तो द्रव्य की अपेक्षा कोई भिन्नता सुमेरु पर्वत में नहीं है पर वह दृष्टि यहाँ नहीं है । इसी प्रकार जब ऐसा कहा जाता है कि "स घटं करोति, तेन घटः क्रियते" तो इस प्रकार के प्रतिपादन में भी शब्दनय कारक के भेद से घट अर्थ में भिन्नता स्वीकार करता है 'घटं' में द्वितीया विभक्ति है 'घटः

क्रियते' में घट में प्रथमाविभक्ति है अतः कारक की भिन्नता से घट में भिन्नता आती है इसी तरह लिङ्गादिक के भेद से भी शब्द के वाच्यार्थ में भिन्नता यह नय स्वीकार करता है ऐसा जान लेना चाहिये। इसी प्रकार 'तटः, तटी, तटम्' ये शब्द एक ही तट अर्थ के वाचक हैं। परन्तु शब्दनय के अभिप्रायानुसार पुल्लिग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग वाले होने के कारण इनका वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। 'इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः' ये तीनों शब्द समानलिङ्ग वाले हैं अतः इनका वाच्यार्थ इसकी दृष्टि में एक है इसी तरह 'जलमापो' यह संख्याव्यभिचार है जल एक वचन एवं 'आपः' बहुवचन है अतः इन शब्दों का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है इसी तरह 'उपतिष्ठति संतिष्ठते' यहाँ उपसर्ग की भिन्नता है इस से स्था धातु का अर्थ भिन्न-भिन्न है ऐसा मानता है इस तरह से शब्दनय अपनी मान्यता को उपस्थित करता है।

समभिरूढनय का अभिप्राय ऐसा है कि शब्दों के लिङ्गादिकों की भिन्नता से भले ही भिन्न-भिन्न अर्थ हों परन्तु जिन शब्दों का एक जैसा भी लिङ्गादि है उन शब्दों के भी वाच्यार्थ जुदे-जुदे हैं। वे एकार्थक नहीं हो सकते। इस तरह यह नय व्युत्पत्ति के भेद से शब्दों के अर्थ का समर्थक होता है। इन्द्र शब्द का वाच्यार्थ इन्द्र तभी हो सकता है कि जब वह परमैश्वर्य का भोक्ता है। पुरों का दारण करने से वह पुरन्दर और शक्तिशाली होने से ही वह शक्र कहा गया है। इस तरह यह समभिरूढनय इन्द्र शक्र पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ की भिन्नता का प्रतिपादन करता है।

एवंभूतनय का अभिप्राय ऐसा है कि जिस समय पदार्थों में जो क्रिया होती हो उस समय उस क्रिया के अनुरूप शब्दों से अर्थ का प्रतिपादन करना जैसे परमैश्वर्य का अनुभवन करने रूप क्रिया से युक्त होने पर ही इन्द्र को इन्द्र कहना आदि आदि ॥१७॥

सूत्र—वर्तमान समयमात्र पर्यायग्राहीनय ऋजुसूत्रः ॥१८॥

संस्कृत टीका—पर्यायार्थिकनय भेदत्वेनोक्तस्य ऋजुसूत्रनयस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह—वर्तमानसमयमात्रेत्यादि—चतुर्षु पर्यायार्थिकनयेषु मध्येयोऽभिप्रायविशेषो वर्तमानकालस्थायि पर्यायानेव स्वीकरोति पूर्वापराश्च पर्यायानत्येति विनष्टानुत्पन्नत्वेन, पर्यायाश्चयभूतं द्रव्यमपि गौणत्वेन नाभिमन्यते एवं विधोऽभिप्रायविशेष ऋजुसूत्रनय इत्युच्यते। अत्रोदाहरणं पूर्वमेव निगदितम् ॥१८॥

अर्थ—वर्तमान समयमात्र में जो पर्याय हो रही हो उसी पर्याय को ग्रहण करने वाला जो नय है वह ऋजुसूत्रनय है यह ऋजुसूत्रनय जिस समय वर्तमानक्षणालिङ्गित पर्याय को एक समयवर्ती पर्याय को—अपना विषय बनाता है उस समय पर्याय का आश्रयभूत द्रव्य उस पर्याय के साथ ही रहता है परन्तु यह उसे ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि इसका लक्ष्य सिर्फ अपने ही विषय को ग्रहण करने की ओर रहता है अतः वर्तमान भी द्रव्य को ग्रहण न करने से वह उसका अपलापकर्त्ता नहीं है किन्तु माध्यस्थ्यभाव रखता है। भूतपर्याय को वह विनष्ट हो जाने के कारण और होने वाली पर्याय को अनुत्पन्न होने के कारण वह अपना ज्ञेय नहीं बनाता है इस नय के विषय को हमने पहले ही दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया है ॥१८॥

सूत्र—द्रव्यापलापी तु तदाभासः ॥१९॥

संस्कृत टीका—योऽभिप्रायविशेषः पर्यायानुयायि द्रव्यं नास्त्येवेत्येवं प्रकारेण वर्तमानमपि द्रव्यं निषेधति न तत्प्रति गजनिमीलिकां दधाति केवलं पर्यायानेव विषयीकरोतिसोऽभिप्रायविशेष एव ऋजुसूत्र-

नयाभासः। द्रव्यमुपसर्जनीकृत्य पर्यायं चानुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानो विचार ऋजुसूत्रनयः। ऋजुसूत्रनयाभासी बौद्धो यतस्स हि पर्याया नेवाङ्गी करोति न द्रव्यम्।

हिन्दी व्याख्या—द्रव्य का अपलाप करने वाली विचारधारा ऋजुसूत्रनयाभास है। पर्यायें स्वतन्त्र नहीं होती हैं वे द्रव्याश्रित ही होती हैं। परन्तु बौद्धसिद्धान्त उत्पाद व्ययात्मक पर्याय को ही वास्तविक मानता है क्योंकि उसके मतानुसार द्रव्य नाम का कोई पर्यायानुयायी पदार्थ नहीं माना गया है अतः द्रव्य के प्रति माध्यस्थ्यभाव न रखकर केवल वर्तमान पर्याय को ही प्रधानरूप से मानने वाला बौद्धसिद्धान्त ऋजुसूत्रनयाभास कहा गया है। ऋजुसूत्रनय द्रव्य के प्रति माध्यस्थ्यभाव रखकर वर्तमान पर्याय को विषय करता है। इसलिए यह सम्यक् एकान्त माना गया है और ऋजुसूत्राभास मिथ्यैकान्त कहा गया है क्योंकि यह सर्वथा द्रव्य का निषेध करता है ॥१९॥

सूत्र—कालादिभेदेनवाच्यार्थभेदज्ञोऽभिप्रायः शब्दनयः ॥२०॥

संस्कृत टीका—आदिनाकारकलिङ्गसंख्यापुरुषोपसर्गा ग्राह्याः। एवं च कालादिभेदेन वर्णपदवाक्यात्मकस्य शब्दस्य वाच्यार्थभेदाभ्युपगन्ताऽर्थभेदं स्वीकारात्मकोऽभिप्रायः शब्दनय इति। यथा—'सुमेरुपर्वतो बभूव अस्ति भविष्यति' इत्यादौ शब्दनयः भूतभविष्यद्वर्तमानरूपकालभेदेन द्रव्यरूपतयाऽभिन्नस्यापि सुमेरुपर्वतस्य भिन्नत्वं प्रतिपादयति एवं 'घटं क्रियते' इत्यादौ प्रथमाद्वितीयाकारकभेदेनाभिन्नस्यापि घटपदार्थस्यभिन्नत्वं मन्यते 'तटः तटी तटम्' इत्यादौ पुंस्त्वस्त्रीत्वनपुंसकत्वरूपलिङ्गत्रयभेदेनाभिन्नस्यापि तटरूपार्थस्यभिन्नत्वं जानाति 'दाराः कलत्रम्' इत्यादौ एकत्वबहुत्वादिसंख्याभेदेनैकस्यापि स्त्रीरूपार्थस्य भिन्नत्वं प्रतिपादयति 'त्वं भवान्' इत्यादौ उत्तममध्यमपुरुषभेदेनाभिन्नस्यापि त्वं पदार्थस्य भिन्नत्वं स्वीकरोति शब्दनयः। एवमेव 'प्रतिष्ठते उपतिष्ठते' इत्यादौ उपसर्गभेदेन भिन्नार्थत्वं स्थाधातोः प्रतिपादयति ॥२०॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्यार्थ को भिन्न-भिन्न मानने वाला अभिप्रायविशेष शब्दनय है ॥२०॥

हिन्दी व्याख्या—यद्यपि नय का स्वरूप सामान्यतः पहले कहा जा चुका है और उसमें शब्दनय का भी स्वरूप प्रकट किया गया है परन्तु यहाँ उसी स्वरूप को विशेष रूप.से समझाने के निमित्त सूत्रकार ने सूत्र की रचना की है। इसमें काल कारक लिङ्ग संख्या पुरुष और उपसर्ग के भेद से शब्द के वाच्यार्थ में भिन्नता कैसे आती है यह स्पष्ट करके समझाया गया है। वर्णरूप शब्द पदरूप शब्द और वाक्यरूप शब्द इस प्रकार से शब्द को तीन विभागों में विभक्त किया गया है। इस पर विवेचन पीछे हो चुका है। काल के भेद को लेकर शब्दनय अभिन्न अर्थ में भी भिन्नता का कथन इस प्रकार से करता है—जैसे—'सुमेरुपर्वत' पहले हुआ, अब भी है और आगे भी रहेगा' इस वाक्य में भूत क्रिया वाले सुमेरुपर्वत में वर्तमान क्रिया वाले सुमेरुपर्वत में भविष्यत् क्रिया वाले सुमेरुपर्वत में क्रिया के भेद को लेकर काल का भेद है। अतः उसके भेद को लेकर सुमेरु में भी त्रिरूपता आती है। यद्यपि विचार किया जावे तो इन तीनों वाक्यों में एक सुमेरुपर्वत का ही त्रिकाल सम्बन्धी अस्तित्व बताया गया है पर भूतकालिक पर्याय, वर्तमान कालिकपर्याय और भविष्यत्कालिक पर्याय परस्पर भिन्न-भिन्न हैं अतः पर्यायों में भिन्नता होने के कारण सुमेरुपर्वत में भी भिन्नता है। जब कोई ऐसा प्रतिपादन करता है कि वह घट को बनाता है, तथा—उसके द्वारा घट बनाया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग में द्वितीया कारक और प्रथमा कारक वाला होने से शब्दनय घट शब्द के अर्थ में भिन्नता का कथन करता है। यह दृष्टान्त कारक की भिन्नता

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

से अर्थ की भिन्नता बतलाने के लिये कहा गया है उसी प्रकार जब कोई 'तटः तटी तटम्' इस प्रकार के तट के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करता है तो शब्दनय कहता है कि जहाँ पर लिङ्ग की भिन्नता होती है, वहाँ पर अर्थ में भी भिन्नता होती है। तट शब्द पुल्लिङ्ग है, तटी शब्द स्त्रीलिङ्ग है और तटम् यह नपुंसकलिङ्ग है। इन लिङ्गों में जब भेद है तो इन लिङ्गों वाले शब्दों के अर्थ में भी भेद है। इस तरह यह शब्दनय अभिन्नता अर्थ वाले भी तटादि शब्दों के अर्थ में लिङ्ग के भेद से अर्थ भेद का कथन करता है। इसी तरह जब कोई 'दाराः कलत्रम्' ऐसा शब्द प्रयोग स्त्री शब्द के पर्यायवाची के रूप में करता है तब शब्दनय कहता है कि दारा शब्द बहुवचनान्त है और कलत्र शब्द एक वचनान्त है अतः इनका एक स्त्री रूप अर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि एकवचनान्त और बहुवचनान्त की अपेक्षा इनके अर्थ में भिन्नता है। इसी प्रकार जब कोई बातचीत के प्रसङ्ग में किसी एक ही व्यक्ति के प्रति तुम और आप शब्दों का प्रयोग करता है तो यह नय तुम शब्द द्वारा कहे गये व्यक्ति को और आप शब्द द्वारा कहे गये व्यक्ति को पुरुष भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न मानता है। यह पुरुषभेद की अपेक्षा अर्थभेद है। इसी प्रकार से यह नय 'प्रतिष्ठिते, उपतिष्ठते' इत्यादि प्रयोग में उपसर्ग की भिन्नता के कारण स्था धातु के अर्थ में भी भिन्नता का कथन करता है ॥२०॥

सूत्र—कालादिभेदेन शब्दस्य भिन्नार्थत्वमेव मन्वानोऽभिप्रायविशेषस्तदाभासः ॥ २१ ॥

संस्कृत टीका—शब्दनयस्तु कालादिभेदेन शब्दस्य भिन्नार्थत्वं प्रतिपादयन्नपि द्रव्यापेक्षया तत्र विद्यमानमप्यभिन्नार्थत्वं न निषेधति तदाभासस्तु स्वाभिमतमेव दृढीकुर्वंस्तत्र सद्भूतमपि अभिन्नत्वं प्रतिषेधति ॥२१॥

अर्थ—काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से शब्द के वाच्यार्थ में भिन्नता ही है, किसी भी अपेक्षा से उसमें अभिन्नता नहीं है ऐसा मानने वाला अभिप्रायविशेष शब्द-नयाभास है।

हिन्दी व्याख्या—यह तो पहले कह ही दिया गया है कि काल आदि के भेद को लेकर शब्दनय शब्द के वाच्यार्थ में भिन्नता का कथन करता है। पर भिन्नता का वाच्यार्थ में कथन करता हुआ भी यह द्रव्य की अपेक्षा उसमें रही हुई अभिन्नता का तिरस्कार नहीं करता है परन्तु शब्द-नयाभास ऐसा नहीं करता वह तो शब्द के वाच्यार्थ में कालादिक को भिन्नता को लेकर सर्वथा भिन्नता का ही प्रतिपादन करता है और द्रव्यदृष्टि से वर्तमान अभिन्नता का प्रतिषेध करता है ॥ २१ ॥

सूत्र—पर्यायवाचिशब्दानां भिन्नार्थत्वमभिमन्यमानोऽभिप्रायः समभिरूढः ॥ २२ ॥

संस्कृत टीका—पर्यायवाचिशब्दानां भिन्नार्थता व्युत्पत्तिभेदामन्तरेण नोपपद्यतेऽतो व्युत्पत्तिभेदो गतार्थत्वान्नोक्तः—एवं च व्युत्पत्तिभेदेन पर्यायशब्दानामिन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानामर्थभेदप्रतिपादकोऽभिप्रायः समभिरूढनय इत्युच्यते। शब्दनयाभिप्रायेणेन्द्रशक्रपुरन्दराः शब्दाः समानार्थकाः सन्तोऽपि समभिरूढनयाभिप्रायेणेते भिन्नाभिन्नार्थवाचकाः भवन्ति घोटकघटकटशब्दवदभिन्नाभिन्नशब्दत्वात् यद्यपीन्द्रशक्रादयः शब्दा न केवलं पर्यायरूपार्थस्यैव वाचका अपितु द्रव्यविशिष्टपर्यायवाचकाः सन्तीति वस्तुस्थिति वर्तते तथाप्ययं नयस्तेषां द्रव्यवाचकत्वं गौणं विधाय पर्यायवाचकत्व प्रधानतया तत्र भिन्नार्थत्वमेव समर्थयते। नास्य मतेऽनेकार्थवाचक एकः शब्दोऽनेकेषां शब्दानां वैकोऽर्थोविद्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—पर्यायवाचक शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है ऐसा स्वीकार करने रूप जो अभिप्राय है वह समभिरूढनय है ॥ २२ ॥

हिन्दी व्याख्या—व्युत्पत्ति भेद के विना पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भिन्नता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। अतः इस सूत्र में 'व्युत्पत्ति भेद' ऐसा पद गतार्थ होने से नहीं कहा गया है वह तो स्वयं ही अध्याहृत हो जाता है इस तरह व्युत्पत्ति के भेद को लेकर जो नय इन्द्र शक्र पुरन्दर आदि समान अर्थ वाले शब्दों का एक अर्थ न मानकर उनका प्रत्येक का भिन्न-भिन्न अर्थ मानता है वह समभिरूढनय है। शब्दनय के अभिप्रायानुसार समानलिंग वाले ये इन्द्रशक्रादिक शब्द एक अर्थ के वाचक माने गये हैं परन्तु समभिरूढनय का अभिप्राय ऐसा है कि घोड़ा घट, कट—चटाई आदि भिन्न-भिन्न शब्द जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं उसी प्रकार पर्यायवाची शब्द भी भिन्न-भिन्न शब्द होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ के ही वाचक होते हैं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है कि कोई भी इन्द्रादि शब्द केवल पर्यायरूप अर्थ का ही वाचक नहीं होता है किन्तु द्रव्यविशिष्ट पर्याय का ही वाचक होता है परन्तु यह नय उसमें द्रव्यवाचकता को गौण करता हुआ पर्यायवाचकता की प्रधानता कर देता है इस तरह यह नय उन इन्द्रादिक शब्दों के वाच्यार्थ में भिन्नता का समर्थक होता है। इस नय के मत में न एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और न अनेक शब्दों का एक अर्थ होता है॥ २२॥

सूत्र—पर्यायवाचिषु भिन्नार्थत्वमेव समर्थयमानस्तदाभासः॥ २३॥

संस्कृत टीका—सर्वेऽपि पर्यायवाचकाः शब्दा भिन्नार्थाभिधायिन द्रव्यापेक्षयाप्यभिन्नार्थाभिधायका न भवन्ति करिकुरङ्गतुरङ्गादि शब्दवत् इत्येवं समर्थयमानोऽभिप्रायस्तदाभासः—समभिरूढनयाभासो वस्तुमात्रस्यैव सामान्यविशेषधर्मात्मकतया सामान्यधर्मापेक्षयाऽनेनाभिन्नार्थस्य निराकृतत्वादिति॥ २३॥

हिन्दी व्याख्या—जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं वे सब ही भिन्न-भिन्न अर्थ के ही कहने वाले हैं एकार्थ के नहीं। इस प्रकार से जो नय एकान्तरूप से अपनी ही मान्यता का प्रतिपादन करता है और उसी का समर्थन करता है तथा दूसरे नयों की मान्यता का खण्डन करता है वह समभिरूढनयाभास है। करि, हाथी कुरङ्ग-हिरण और तुरङ्ग ये सब ही शब्द अपने-अपने भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ के जिस प्रकार से प्रतिपादक हैं उसी प्रकार से इन्द्र शब्द अपने ऐश्वर्यविशिष्ट वाच्यार्थ का, शक्र सामर्थ्य विशिष्ट वाच्यार्थ का और पुरन्दर—नगरविध्वंस करने रूप वाच्यार्थ का प्रतिपादक होता है क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने व्युत्पत्तिभेद से ही अर्थ का कथक होता है फिर इनमें किसी अपेक्षा भी एकार्थकता नहीं आ सकती है इस प्रकार का इस नयाभास का अभिप्राय होता है। यह इस बात को बिलकुल स्वीकार नहीं करता है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष धर्मों से ओतप्रोत है। अतः सामान्य द्रव्य की अपेक्षा शब्द के वाच्यार्थ में अभिन्नता एकार्थकता भी आ सकती है, प्रत्युत यह तो उस मान्यता का निराकरण ही करता है। इसी कारण इस प्रकार के अभिप्राय को समभिरूढनयाभास कहा गया है। समभिरूढनय अपने अभिप्राय का कथन करता हुआ भी इतरनय के अभिप्राय का निराकरण खण्डन नहीं करता है। इस कारण वह सुनय कोटि में रखा गया है॥ २३॥

सूत्र—एवंभूतमर्थं स्ववाच्यत्वेनकक्षीकुर्वाणो विचारो ह्येवंभूतः॥ २४॥

संस्कृत टीका—एवंभूतनयाभिप्रायेण यावन्त शब्दाः स्वार्थाभिधायकाः सन्ति ते सर्वेऽपि प्रकृति-प्रत्ययसंभूता एवातः प्रत्येकशब्दाक्रियार्थोऽभिव्यक्तो भवति। यस्माच्छब्दाद् यस्याः क्रियाया अर्थो भावो वा प्रकटितो भवति तया क्रियाया समन्वितोऽर्थस्तेन शब्देन तदा वाच्यो जायते। अयमेवाभिप्राय एवंभूतशब्द-स्यात्र सूचितो भवति प्रसङ्गवशात्। तथा सति अयमर्थो लब्धो जायते यदेन्दनादिक्रियापरिणत इन्द्रो भवति तदैव स इन्द्रपदवाच्यो भवितुमर्हति नान्यक्रियापरिणतिसमये तत्रेन्द्रशब्द प्रवृत्तिनिमित्तीभूतक्रियापरिणत्य-

भावात् एवमेव पाचकादि शब्दवाच्ये पाचकाद्यर्थे तच्छब्दप्रवृत्ति निमित्तीभूतक्रियाविष्टत्वे सत्येव वाच्यत्व-मवगन्तव्यमित्थं प्रकारं भूतः प्राप्तो नयः अभिप्राय एवंभूत इति व्युत्पत्तेः तथाविधक्रियानाविष्टमर्थन्त्वयं न निषेधति तत्र केवलं गजनिमीलिकाया एवावलम्बनात् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो नय ऐसा मानता है कि वही पदार्थ उस शब्द का वाच्य होता है कि जो उस शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूतक्रिया से युक्त हो रहा हो, ऐसे नय का नाम ही एवंभूत नय है।

हिन्दी व्याख्या—इस नय की मान्यतानुसार जितने भी शब्द अपने-अपने अर्थ के वाचक हैं वे सब प्रकृति धातु क्रिया और प्रत्यय के सम्बन्ध से निष्पन्न हुए हैं। अतः हर एक शब्द से किसी न किसी क्रिया का अर्थ अभिव्यक्त होता है। ऐसी स्थिति में जिस शब्द से जिस क्रिया का अर्थ या भाव प्रकट होता है उस क्रिया से समन्वित पदार्थ उस समय उस शब्द का वाच्य होता है ऐसे इस अभिप्राय को ही सूत्रस्थ 'एवंभूतं' पद प्रकरण के वश से सूचित करता है। अतः इस कथन से ऐसा अर्थ निकलता है कि जब इन्दनादि क्रिया से आलिङ्गित इन्दनादिरूप परमैश्वर्यादि का जिस काल में अनुभवन किया जा रहा हो—उसी काल में इन्द्ररूप अर्थ इन्द्र शब्द का वाच्य होता है, शेष समय में नहीं। और अन्य क्रिया के अनुभवन करने के समय में भी नहीं क्योंकि उस समय में वह विवक्षित इन्दनादि शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तीभूत क्रिया की परिणति के अभाव वाला है। इसी प्रकार से पाचक आदि शब्दों का वाच्य पाच-कादि रूप अर्थ तभी हो सकता है जब वह पाचक शब्दादि की प्रवृत्ति की निमित्तभूतक्रिया से युक्त हो जो इस प्रकार की क्रिया से युक्त नहीं होता है उसका यह निषेध नहीं करता है किन्तु उसकी ओर यहाँ केवल गजनिमीलिका माध्यस्थ्यभाव ही धारण कर लेता है ॥२४॥

सूत्र—अनैवंभूतं वस्तु शब्दवाच्यतया निराकुर्वंस्तु तदाभासः ॥ २५ ॥

संस्कृत टीका—शब्दप्रवृत्तिनिमित्तीभूत क्रियाविहीनं वस्त्वत्रानैवं भूतशब्देन सूचितं भवति—अतः योऽभिप्रायः इन्द्रादिशब्दानां सर्वथा इन्दनादि क्रिया समन्वितं सन्तमेवार्थं वाच्यतयाऽङ्गीकरोति तद्विरहितं तु सर्वथाऽन्यसमयेऽपि तद्वाच्यतया तदर्थं प्रतिषेधति न तत्रोपेक्षावृत्ति दधाति तथाविधोऽभिप्राय एवं भूत-नयाभासो भवति यथा—यदा पुर्दारणक्रियारहित इन्द्रोऽस्ति तदा स पुरन्दरशब्दवाच्यो न भवितुमर्हति तदतिरिक्तसमयेऽपि इत्येवं रूपेणेन्द्रस्य पुरन्दरशब्दवाच्यत्व प्रतिक्षेपको विचार एवंवंभूतनयाभासो निगदितः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वस्तु जिस शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त नहीं है वह वस्तु शेष काल में भी उस शब्द के द्वारा वाच्य नहीं होती है—अर्थात् अमुक क्रिया होने के समय को छोड़कर दूसरे समय में वह पदार्थ उस शब्द से नहीं कहा जा सकता है ऐसा जो सर्वथा एकान्त अभिप्राय है वही एवंभूत-नयाभास है।

हिन्दी व्याख्या—यह तो पहले स्पष्ट ही कर दिया गया है कि एवंभूतनय जिस शब्द के द्वारा जिस पदार्थ को वाच्य कोटि में लाता है वह पदार्थ उस शब्द की प्रवृत्ति के योगक्रिया से समन्वित होता है। इस प्रकार के अभिप्राय से हम यही समझते हैं कि एवंभूतनय अपने विषय को ही प्रधानतया पुष्टि करता है, वह यह नहीं कहता है कि जो पदार्थ अमुक क्रिया से हीन है वह उस शब्द के द्वारा शेष समय में भी वाच्य नहीं होता है क्योंकि वह तो उस ओर केवल माध्यस्थ्यभाव ही रखता है परन्तु जो इसका आभास है वह इससे बिलकुल विपरीत विचार वाला होता है, इसी बात का कथन इस सूत्र द्वारा किया गया है। शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से जो वस्तुविहीन है, रहित है, वह अनैवंभूतवस्तु है ऐसी

वस्तु अन्य समय में भी उस शब्द द्वारा वाच्य नहीं होती है इस प्रकार का जो एकान्त अभिप्राय है वही एवंभूतनयाभास है। यह एवंभूतनयाभास एकान्त मान्यता को ही अपनाता है और अन्य नय के विषय का निराकरण करता है। यह कहता है जब इन्द्र नगर को ध्वस्त करने की क्रिया से रहित होता है तब पुरन्दर शब्द के द्वारा वह वाच्य नहीं हो सकता है—अर्थात् शब्द नय की दृष्टि के अनुसार इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन तीनों शब्दों का अर्थ एक इन्द्ररूप पदार्थ होता है। इन्द्र शब्द से भी इन्द्र अर्थ का बोध होता है, शक्र शब्द से भी इन्द्र अर्थ का बोध होता है और पुरन्दर शब्द से भी इन्द्र अर्थ का बोध होता है परन्तु जब यह अपनी इस प्रकार की एकान्त मान्यता को समर्थित करता है तब यह शब्द नय की मान्यता निषिद्ध हो जाती है। अतः जो नय अपनी मान्यता का समर्थन करता हुआ अन्य नय की मान्यता पर कुठाराघात करता है, वही तदाभास है ॥२५॥

सूत्र—एष्वाद्याश्चत्वारोऽर्थनयाश्चरमे त्रयश्च शब्दनयाः ॥२६॥

संस्कृत टीका— एषु नैगमादिषु सप्तनयेषु आद्या नैगम संग्रह व्यवहारर्जुसूत्राभिधाश्चतुः संख्यका नयो अर्थनिरूपणतत्परत्वात् अर्थनया व्यपदिश्यन्ते शेषाश्चरमे त्रयश्च शब्दसमभिरूढैवंभूताख्यानयाः शब्द-विशेषानेवाश्रित्य तद्वाच्यार्थं प्रतिपादनपरत्वात् शब्दनया व्यपदिश्यन्ते।

हिन्दी व्याख्या—अर्थनय और शब्दनय का विभाग स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र का निर्माण किया है—इसके द्वारा यह समझाया गया है कि इन पूर्वोक्त सात नयों में जो आदि के नैगम संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय हैं वे सीधे रूप में अपने-अपने विषयरूप पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं इसलिये इन्हें अर्थनय कहा गया है। तथा शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन अन्तिम नय शब्द के आश्रित होकर अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं इसलिये इन्हें शब्दनय कहा गया है ॥२६॥

सूत्र—पश्चानुपूर्व्यं ते बहुविषयाः पूर्वानुपूर्व्या चाल्पविषयाः ॥ २७ ॥

संस्कृत टीका—पश्चानुपूर्व्या—एवंभूतमारभ्य नैगमान्तपरिगणनया चैते परिमितविषयत्वादल्प-विषयाः तथाहि—नैगमनयस्तावत् प्रधानाप्रधानतया भावाभावात्मकयोर्धर्मधर्मिणोर्धर्मिद्वयोर्वा प्रतिपादन करोति। संग्रहनयस्तु सामान्यविशेषात्मकपदार्थस्य प्राधान्येन सत्तासामान्यमेव प्रतिपद्यते अतः संग्रहनयो-पेक्षया नैगमनयो भूमविषयः संग्रहन स्तु परिमितविषयः। सत्तासामान्यविषयकः संग्रहनयः प्रतिपादितस्तद-पेक्षया व्यवहारनयः सद्विशेषविशिष्टपदार्थप्रतिपादकत्वात् सद्विशेषप्रकाशकः कथितः अतो व्यवहारनयापे-क्षया संग्रहनयः सत्तासामान्य विषयत्वात् प्रचुरविषयः व्यवहारनयस्त्वल्प विषयः। व्यवहारनयस्त्रिकाल-वर्तिसद्विशेषविशिष्टान् पदार्थान् व्यवहारपथमानयति, ऋजुसूत्रस्तु केवलं वर्तमानक्षणालिङ्गेति पदार्थमे-वावगच्छति। अतः ऋजुसूत्रनयापेक्षया व्यवहारनयः प्रचुरविषयः ऋजुसूत्रं त्वल्पार्थविषयकम्। कालादि-भेदेन शब्दनयः स्ववाच्यं भिन्नं-भिन्नं प्रतिपादयति ऋजुसूत्रं तु तद्भेदेनाप्यभिन्नं प्रतिपादयति अतः कालादि-भेदेन भिन्नार्थप्रतिपादकशब्दनयापेक्षया कालादिभेदेऽप्यभिन्नार्थं प्रतिपादकत्वात् ऋजुसूत्रनयः महार्थः शब्द-नयस्त्वमहार्थः। प्रतिपर्यायवाचिशब्दस्यार्थभेदं समभिरूढनयः स्वीकरोति शब्दनयस्तु नैवं मन्यतेऽतो व्युत्पत्तिभेदेनेन्द्रादिपर्यायवाचि शब्दानां भिन्नार्थत्वाभ्युपगन्तृसमभिरूढ़नयापेक्षया शब्दनयो महाविषयः सम-भिरूढनयस्त्वल्पविषयः। एवंभूतनयः शब्दप्रवृत्ति निमित्तीभूत क्रियासमन्वितमर्थं तत्तच्छब्दस्य वाच्यभंगी करोति, समभिरूढनयस्तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तीभूतक्रियाकरणकालेऽपि तत्क्रियाशून्यकालेऽपि च तत्तच्छब्दस्य वाच्यमर्थं स्वीकरोति अत एवंभूतनयापेक्षया समभिरूढनयो हि प्रभूतविषयः एवंभूतनयस्त्वल्पविषयः। इत्येवं रीत्योत्तरोत्तरनयापेक्षया पूर्वपूर्वनयानामधिकविषयत्वं पूर्वपूर्वनयापेक्षया चोत्तरोत्तरनयानामल्प-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषयत्वं च ज्ञातव्यम् एवं सति नैगमनयः सर्वनयापेक्षया महाविषय एवंभूतस्तु परिमितविषयः। शेषनया यथास्वं परिमितविषया अपि महाविषया अपि ज्ञातव्याः ॥ २७ ॥

हिन्दी व्याख्या—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने यह समझाया है कि इन नयों में महाविषयता और अल्पविषयता किस प्रकार से आती है। जब हम इनके विषय का विचार करते हैं तो पश्चानुपूर्वी के अनुसार यहाँ एवंभूतनय को पहले ग्रहण किया जाता है, उसके बाद समभिरूढनय को फिर शब्दनय को फिर ऋजुसूत्र नय को फिर व्यवहारनय को फिर संग्रहनय को और अन्त में नैगमनय को ग्रहण किया जाता है। तथा पूर्वानुपूर्वी के अनुसार नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत इस प्रकार इनका ग्रहण होता है। पश्चानुपूर्वी के अनुसार इनके विषय के अल्पबहुत्व का विचार करने पर सबसे कम विषय वाला एवंभूतनय है और सबसे अधिक विषयवाला नैगमनय है। क्योंकि यह नय भावात्मक सत्ता और अभावात्मक असत्ता दोनों धर्म धर्मी रूप पदार्थों को दोनों धर्मों को एवं दोनों धर्मियों को प्रधान और अप्रधानरूप से प्रतिपादित करता है, तथा संग्रहनय सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को प्रधान रूप से सत्ता सामान्य को लेकर प्रतिपादित करता है अतः नैगमनय की अपेक्षा यह अल्प विषयवाला है और इसकी अपेक्षा नैगमनय अधिक विषय वाला है। संग्रहनय सत्ता सामान्य को विषय करता है और व्यवहारनय अवान्तर सत्ताविशिष्ट पदार्थों का इस ढंग से प्रतिपादन करता है कि जिससे वे व्यवहारोपयोगी बन सकें। इस तरह संग्रहनय की अपेक्षा व्यवहारनय अल्पविषयवाला और व्यवहारनय की अपेक्षा संग्रहनय अधिक विषयवाला सिद्ध हो जाता है। व्यवहारनय त्रिकालवर्ती सत्ताविशिष्ट पदार्थों का विधिपूर्वक भेद-प्रभेद करता हुआ उन्हें विषय करता है और ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमानक्षणवर्ती पदार्थों को विषय करता है अतः व्यवहारनय की अपेक्षा ऋजुसूत्रनय अल्पविषयवाला है और ऋजुसूत्र की अपेक्षा व्यवहारनय अधिक विषयवाला है। शब्दनय कालादि के भेद को लेकर पदार्थ में भेद मानता है और ऋजुसूत्रनय कालादि के भेद को लेकर पदार्थ में भेद नहीं मानता है अतः कालादि की अपेक्षा लेकर पदार्थ में भेद मानने वाले शब्द नय की अपेक्षा कालादिक को लेकर पदार्थ में भेद नहीं मानने वाले ऋजुसूत्र का विषय अधिक है और शब्दनय का विषय अल्प है। समभिरूढनय तो ऐसा है कि काल आदि का भेद न होने पर भी प्रत्येक शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ मानता है परन्तु शब्दनय ऐसा नहीं मानता है अतः समभिरूढनय की अपेक्षा शब्दनय का विषय अधिक है और शब्दनय की अपेक्षा समभिरूढनय का विषय अल्प है। समभिरूढनय पर्यायवाचि शब्दों का क्रियाभेद को लेकर और क्रियाभेद को नहीं भी लेकर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतिपादन करता है और एवंभूतनय क्रियाभेद को लेकर ही—अर्थात् जिस शब्द के द्वारा उस पदार्थ का प्रतिपादन करता है वह पदार्थ यदि उस समय उस शब्द की प्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त है तब ही वह पदार्थ उस शब्द का वाच्य हो सकता है इस रूप से उसका प्रतिपादन करता है अतः एवंभूतनय की अपेक्षा समभिरूढनय महान् विषयवाला है और एवंभूतनय अल्पविषयवाला है। इस तरह उत्तरोत्तर नयों की अपेक्षा पूर्वनयों में अधिक-अधिक विषयता आती है और पूर्व-पूर्व नयों की अपेक्षा आगे के नयों में अल्पविषयता आती है ऐसा जानना चाहिये। इस कथन से यह हम अच्छी तरह से ज्ञान कर लेते हैं कि नैगमनय सर्वनयों की अपेक्षा अधिक विषय वाला और एवंभूतनय अल्पविषयवाला है। बाकी के और नय यथायोग्यरीति से अपेक्षाकृत अल्पविषय वाले भी हैं और अधिक विषय वाले भी हैं ॥ २७ ॥

सूत्र—विधिनिषेधाभ्यां नयवाक्यमपि सप्तभङ्गात्मकम् ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका—अपि शब्दात् प्रमाणवाक्यवदिति सूच्यते तथा च यथा विधिनिषेधाभ्यां प्रमाण-

वाक्यं सप्तभङ्गात्मकं पूर्वं प्रतिपादितम् तथैव स्वविषये विधिनिषेधाभ्यां नयवाक्यमपि सप्तभङ्गात्मकं भवतीति ज्ञातव्यम् यथा प्रतिभङ्ग अभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा सकलादेश स्वभाव प्रमाणसप्तभङ्गी पूर्वं प्रतिपादिता तथैवाभेदवृत्तेरभेदोपचारस्य वाऽनाश्रयणे प्रतिभङ्गं विकलादेशस्वभावा नयसप्तभङ्गी भवति अखण्डात्मकस्य वस्तुनः खण्डं-खंडं कृत्वा प्रतिपादकं वाक्यं नयः अर्थात् जीवाजीवरूपस्य सर्वस्यैव वस्तुनोऽनन्त धर्मात्मकत्वेनाखण्डात्मकस्यैकैकधर्ममधिकृत्य विधिनिषेधाभ्यां जायमानात्सप्तविधप्रश्नवशात् सप्तधोत्तररूपं यत् वाक्यं प्रवर्तते तदेव नयवाक्यम् ॥२८॥

हिन्दी व्याख्या—विधि और निषेध को लेकर नयवाक्य भी सात भङ्गों वाला होता है। सूत्र में जो अपि शब्द आया है वह इसी बात को सूचित करता है कि यह नय वाक्य भी अपने विषय में विधि-निषेध को आश्रित करके प्रमाण वाक्य की तरह ही सात भङ्गों वाला होता है। प्रमाण वाक्य सात भङ्गों वाला होता है यह बात हमने चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कर दी है। प्रमाण वाक्य सकलादेश स्वभाव वाला होता है और नयवाक्य विकलादेश स्वभाव वाला होता है। सकलादेश स्वभाव वाले प्रमाणवाक्य में वस्तुगत अनन्त धर्मों की प्रतिपादित एक धर्म के साथ अभेदवृत्ति और अभेद का उपचार किया जाता है और नयवाक्य में यह सब कुछ नहीं किया जाता है किन्तु एक ही धर्म की किसी अपेक्षा मुख्यता और गौणता करके वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रतिपादन में जिस धर्म को जिस किसी अपेक्षा मुख्य किया गया होता है उसी धर्म को किसी दूसरी अपेक्षा गौण कर दिया जाता है। इस तरह एक धर्म के प्रतिपादन में उद्भूत सात प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में सात भंगात्मक विकल्प होते हैं इन्हीं का नाम नय सप्तभंग है। वस्तु अखण्डात्मक है उसका खण्ड-खण्ड करके विवेचन करना यह काम नय का है। जीवाजीवादिरूप एक-एक वस्तु अनन्त धर्मों से युक्त है। नय वाक्य के द्वारा इन अनन्त धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं होता है अतः नय वाक्य उन अनन्त धर्मों में से एक-एक धर्म को लेकर के उस वस्तु का प्रतिपादन किया करता है। इस प्रतिपादन में शेष धर्मों का वह तिरस्कार नहीं करता है किन्तु उनके प्रति वह उदासीन भाव रखता है यही सुनय है और यह सुनय ही सप्त भंगात्मक होता है।

सूत्र—नयस्य फलमपि तस्मात्कथंचिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ २९॥

संस्कृत टीका—यथा प्रमाणस्य फलं प्रमाणात्कथंचिद् भिन्नं कथंचिदभिन्तं प्रतिपादित् तथैव नयफलमपि वस्त्वंशाज्ञाननिवृत्तिरूपं साक्षात्फलं वस्त्वंशाविषयक हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूपं परम्पराफलं चेति तस्मात् नयात् कथंचिद् भिन्नं कथञ्चिदभिन्नं च बोद्धव्यम् एकान्ततो तस्यभिन्नत्वेन तस्येदमिति नयफलभावव्यवहारो न स्यात् सर्वथाऽभिन्नत्वे एक एवावशिष्टो भवेत् न तदुभयम् अतः तत् तस्मात्कथंचित् भिन्नमभिन्नं च मन्तव्यम् ॥सू० २९॥

हिन्दी व्याख्या—नय का फल भी नय से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न होता है। जिस प्रकार प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न पहले प्रतिपादित किया जा चुका है उसी प्रकार से नय का वस्त्वंश विषयक हान उपादान और उपेक्षारूप परम्पराफल नय से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न कहा गया है। एकान्त रूप से नय का फल यदि नय से भिन्न माना जावे तो यह नय का फल है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है और यदि नय का फल नय से सर्वथा अभिन्न माना जावे तो यह नय है और यह उसका फल है ऐसा व्यवहार नहीं बन सकता है अतः नय का फल नय से कथंचित् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न है ऐसा ही मानना युक्तियुक्त है।

सूत्र—प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धः प्रमाता चैतन्यस्वरूपो ज्ञानादि परिणामी कर्त्ता भोक्ता, गृहीत परिमाणः प्रतिशरीरं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवान् कथंचिन्नित्यः आत्मा ॥ ३०॥

संस्कृत टीका—प्रमातुरात्मनः स्वरूपं निरूपयितुमिदं सूत्रं प्रतिपादितं सूरिभिस्तथा च अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं जानामि, अहमिच्छामीत्यादिरीत्या प्रत्येक जीवानां स्वसंवेदनेन सिद्धः—अहं प्रत्ययेनवेद्यः, स्वशरीरवर्तिन आत्मनो मानसप्रत्यक्षसिद्धत्वात् परशरीरवर्तिन आत्मनस्तु अनुमान गम्यत्वात् ऐतेन यदुक्तं परेण—अहंकार प्रत्ययसमुत्थेन मानसप्रत्यक्षणेणोहं गौरः श्यामो वेत्यादौ शरीराश्रयतयाऽपि समुत्पद्यमानः त्वेनानैकान्तिकत्वान्नामनस्तेन सिद्धिस्तदपाकृतमहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्यात्मालम्बनतयैवोत्पत्तेः। न च वाक्यं पृथिव्यादि पाञ्चभौतिकमेव शरीरं चैतन्यरूप आत्मा मृतशरीरेषु चैतन्यानुपलब्ध्यात्मस्य स्वतन्त्र सिद्धेः। योऽहमेनद्राक्षं सोऽहमधुना एनं स्पृशामित्येवं रूपेण प्रत्यभिज्ञानेनाप्यात्मनोऽस्तित्वसिद्धेः कथं तदभावो वक्तुमुचितः स्यात्। यदि च शरीरमेवात्मा स्यात्तर्हि बालशरीरयुवशरीराणामुपयापचयेन परस्परभिन्नेन बाल्ये विलोकितु यौवने स्मरणं न स्यात् अन्य दृष्यस्य वस्तुनोऽन्येन स्मरणाभावात् इत्यादिरूपानेकविधकार्याणां सद्भावएवात्मनः स्वतन्त्रसत्ताख्यापकोऽस्तीतिमन्तव्यम्। आत्मा चैतन्ये स्वरूपत्वात् प्रमाता संवेदनशीलो वर्तते अचेतनत्वात् शरीरस्य संवेदनशीलत्वाभावो वर्तते ज्ञानेच्छा सुख-दुःखादि पर्यायतया परिणमनस्वभावात् ज्ञानादि परिणामी सः। शुभाशुभकर्मणां कर्तृत्वात् कर्त्ता, तेषां फलभोक्तृत्वाद्भोक्ता च प्रदेशसंहार विसर्पण स्वभाववत्त्वात् प्राप्तशरीरं परिमाणः, प्रतिशरीरं पृथक्-पृथक् तस्य वर्तमानत्वात् प्रतिशरीरं भिन्नः, न तु सर्वशरीरव्येक एवात्माऽव्यापकत्वात् पुद्गलमय पुण्यपापरूपादृष्टवत्त्वात् पौद्गलिकादृष्टत्वान् आत्मद्रव्यत्वेन कथंचिच्च नित्यः। अत्रात्मनश्चैतन्य स्वरूपप्रतिपादनेन ज्ञानाद्भिन्नात्मवादिनां नैयायिकानां मतमपाकृतम्। परिणामिपदोपादेन आत्मनः कूटस्थनित्यवादिवेदान्त्यादीनां मतं निरस्तम्। कर्त्तृभोक्तृपदोपादेन सांख्याभिमतपुष्कर पलाशवन्निर्लेपस्वरूपत्वमात्मनो निर्लोठितम्। स्वशरीरं परिमाणकथनेन आत्मनो विभुत्ववादिनां नैयायिकानां मतमपाकृतम्। प्रतिशरीरं भिन्नत्वकथनेनाद्वैतात्मवादिवेदान्तीनां मतं पराहृतम्। पौद्गलिकादृष्टवानिति कथनेन च अपौद्गलिकादृष्टवादिनां नैयायिकानां मतं व्यपोहितम् ॥३०॥

अर्थ—प्रमाणादि के स्वरूप का कथन करके अब सूत्रकार प्रमाता के स्वरूप का कथन करते हुए समझाते हैं कि प्रमाता आत्मा होता है और यह आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, संवेदनशील है, चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानादिरूप परिणामों वाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने द्वारा प्राप्त किये हुए शरीर के बराबर है। हर एक शरीर में यह भिन्न-भिन्न है। पौद्गलिक अदृष्ट वाला है और कथञ्चित् नित्य है ॥ ३० ॥

हिन्दी व्याख्या—यह सूत्र सूत्रकार ने प्रमाता-आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए रचा है। इसके द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि यह आत्मा नाम का पदार्थ कल्पित नहीं है किन्तु इसके अस्तित्व के व्यापक प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं—मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ, मैं चाहता हूँ, इत्यादि रूप से जो प्रत्येक जीवों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है उससे इसकी सिद्धि होती है ॥ ३० ॥

प्रश्न—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप से जो अहं प्रत्यय होता है वह आत्माश्रित नहीं होता है किन्तु मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ इत्यादि प्रत्यय की तरह शरीराश्रित ही होता है अतः इससे आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ ऐसा जो प्रत्यय होता है वह शरीराश्रित नहीं होता है किन्तु प्रिय नौकर में अहं बुद्धि की तरह आत्मा का उपकारक होने से ही शरीर

सम्बन्ध में आत्मा को होता है अतः यह मानना चाहिए कि मैं सुखी हूँ, और मैं दुःखी हूँ ऐसा जो अहं प्रत्यय होता है वह आत्माश्रित ही होता है।

प्रश्न—यदि यह अहं प्रत्यय आत्माश्रित ही होता है तो आत्मा तो सदा विद्यमान ही रहती है इसलिये रात-दिन इस प्रत्यय को होते रहना चाहिए ? परन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः इसका कारण क्या है ?

उत्तर—यह शंका इसलिये ठीक नहीं है कि यह विना विचारे की गई है। पहले आपको यह मालूम होना चाहिये कि आत्मा का लक्षण क्या है ?

प्रश्न—तो कहिये ना, आत्मा का लक्षण क्या है ?

उत्तर—आत्मा का लक्षण उपयोग है। इसका दूसरा नाम चेतना है। यह ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। अहं प्रत्यय यह एक प्रकार का उपयोग है। कर्मों के क्षय और क्षयोपशम आदि की विचित्रता से इन्द्रिय, मन, आलोक आदि की सहायता मिलने पर उपयोगरूप अहं प्रत्यय उत्पन्न होता है। इसलिए यह अहं प्रत्यय आत्मा के सदा विद्यमान रहते हुए भी आत्मा में सदा उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—आपकी इस बात से तो आत्मा में अनित्यता का आरोप होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि आत्मा का लक्षण जब उपयोग अनित्य है तो फिर लक्ष्य भी अनित्य ही सिद्ध होगा।

उत्तर—अंकुर की उत्पत्ति की अनित्यता को देखकर जिस प्रकार अंकुरोत्पादन शक्ति अनित्य नहीं मानी जाती है उसी प्रकार कर्मों के क्षय क्षयोपशमादि की विचित्रता से इन्द्रिय मन आदि के सहकार मिलने पर ही अहं प्रत्यय होता है इसलिए अहं प्रत्यय के अनित्य होने से आत्मा को अनित्य नहीं कह सकते। अतः इससे आत्मा में अनित्यता का आरोप नहीं होता है। इसी कंटक की शुद्धि के निमित्त 'अहं प्रत्यय वेद्यः' ऐसा टीकाकार ने कहा है। अपने-अपने शरीरवर्ती आत्मा का अस्तित्व सिद्ध स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से होता है और पर शरीरवर्ती आत्मा का अस्तित्व सिद्ध अनुमान से होता है। अतः 'आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि' अहं सुखी अहं दुःखी 'इस प्रकार के अहंकार प्रत्यय से उत्थ मानस प्रत्यक्ष से होती है'। इस प्रकार के कथन पर जो किसी ने ऐसा आक्षेप किया है कि 'अहं गौरः अहं श्यामः' मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ "ऐसा अहं प्रत्यय तो शरीर के आश्रित भी होता है अतः इससे आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है" सो इसका उत्तर हम पीछे दे चुके हैं। तथा यह अहं प्रत्यय सदा नहीं होता है इसका भी कारण युक्तिपूर्वक हम समझा चुके हैं।

प्रश्न—यदि आत्मा को स्वतन्त्र न माना जावे और पृथिवी आदि पाँच भूतों से उद्भूत हुए शरीर को ही चैतन्यरूप आत्मा माना जावे तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—यदि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जावे और पंचभूतों से उत्पन्न हुए इस शरीर को ही आत्मा माना जावे तो चैतन्यरूप आत्मा से रहित हुए मुर्दे के शरीर में भो चैतन्यरूप आत्मा की उपलब्धि मानना पड़ेगी परन्तु ऐसा तो किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है, अतः शरीर से भिन्न आत्मा है ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का इस प्रकार से स्थापक होता है कि 'जिसे मैंने पहले देखा था उसे ही मैं अब छू रहा हूँ' यदि आत्मा नाम का कोई पदार्थ स्वतन्त्र नहीं होता तो आत्मा में जो इस प्रकार का एकत्व प्रत्यय होता है वह नहीं होना चाहिए।

यदि शरीर को ही आत्मा रूप माना जावे तो बाल शरीर और युवा शरीर में अवयवों के उपचय और अपचय को लेकर परस्पर में भिन्नता आ जाती है। अतः इस भिन्नता के कारण जिस प्रकार एक के द्वारा देखा हुआ पदार्थ दूसरे के द्वारा स्मृत नहीं होता है उसी प्रकार बाल्यकाल में देखी हुई वस्तु का स्मरण युवाकाल में नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा होता तो है अतः आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही इन पूर्वोक्त युक्तियों से प्रसिद्ध होता है तथा शरीर में जितनो भी क्रियाएँ होती हैं वे रथ से चालन क्रिया में कारणभूत सारथी की तरह आत्मा के निमित्त को लेकर ही होती हैं। यदि आत्मा शरीर रूपी भवन के भीतर विराजमान न हो तो शरीर में हलन-चलन आदि रूप क्रिया नहीं हो सकती है। अतः इन सब अनेक प्रकार के कार्यों का सद्भाव ही आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का कथन करता है।

आत्मा चैतन्य स्वरूप वाला है इसलिए वह प्रमाता है संवेदनशील है। शरीर अचेतन है—अतः वह संवेदनशील नहीं है। ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःख आदि भिन्न-भिन्न परिणामों में इसका परिणमन होता रहता है। इसलिए यह ज्ञानादि परिणामों वाला है, शुभ-अशुभ आदि कर्मों का यह कर्त्ता है और उनके फलों का भोक्ता है तथा इसका स्वभाव संकोच विस्तारयुक्त है इसलिए नामकर्म के उदयानुसार प्राप्त शरीर में इसके प्रदेशों का संकोच विस्तार हो जाता है। इसी कारण हाथी के शरीर में जाने पर इसके प्रदेशों का फैलाव हो जाता है और चींटी के शरीर में जाने पर इसके प्रदेशों का संकोच हो जाता है। हर एक शरीर में एक जीव नहीं रहता है किन्तु भिन्न-भिन्न रूप से भिन्न शरीरों में जीव रहता है क्योंकि यह व्यापक नहीं माना गया है। पुद्गलमय पुण्यपापरूप से यह संसार अवस्था में युक्त बना रहता है तथा इसका स्वभाव कथंचिन्नित्य है क्योंकि इसका विनाश नहीं होता है। आत्मा के ये सब विशेषण अन्य योग-व्यवच्छेदरूप हैं। अतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है इस विशेषण से आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानने वाले नैयायिक के मत का कथन निरस्त किया गया है। 'ज्ञानादि परिणामी' विशेषण द्वारा आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले वेदान्तियों का सिद्धान्त दूर किया गया है। कर्त्ता एवं भोक्ता पद के द्वारा आत्मा में सांख्यों की पुष्करपलाश—कमलपत्र की तरह निर्लेपस्वरूपता की मान्यता दूर की गई है—अर्थात् सांख्यों की ऐसी मान्यता है कि आत्मा कर्मों से लिप्त नहीं होता है, लिप्त तो प्रकृति ही होती है और फल का भोक्ता, 'अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कपिलदर्शने' आत्मा होता है तथा प्रकृति ही कर्मों को करने वाली है, आत्मा नहीं। तब जैन दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है कि कर्मों का कर्त्ता आत्मा ही है और वही उनके फलों का भोक्ता है, आत्मा गृहीत शरीर के बराबर है, व्यापक नहीं है। इस बात का कथन गृहीत शरीर परिमाण पद से किया गया है। अतः आत्मा व्यापक है सब जीवों के शरीर में एक ही आत्मा है भिन्न-भिन्न आत्मा नहीं है ऐसा जो आत्मा को व्यापक मानने वाले नैयायिकों का सिद्धान्त है वह इस विशेषण द्वारा दूर हो जाता है। प्रति शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न है ऐसा जो कहा गया है वह आत्म अद्वैतवादी वेदान्तियों के सिद्धान्त को दूर करने के लिए कहा गया है। अदृष्ट का जो पौद्गलिकत्व विशेषण से युक्त किया गया है वह पुण्यपापरूप अदृष्ट को अपौद्गलिक मानने वाले नैयायिकों के मत को दूर करने के लिए कहा गया है॥ ३०॥

सूत्र—गृहीतपुरुष-स्त्री-नपुंसक शरीरस्यात्मनः सम्यग्ज्ञान क्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥३१॥

संस्कृत टीका—स्वपूर्वभवोपार्जित कर्मानुसारात् उपात्तपुरुषस्त्रीकलेवरस्यात्मनः जीवस्य सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रैः कृत्स्नकर्मक्षयः सकल शुभाशुभकर्मप्रध्वंसरूपो मोक्षो भवति तथा चोक्तमुत्तराध्ययने २८ अध्ययने 'नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा, एवं मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं'

स्त्रीणां मोक्षानभ्युपगन्तृणां दिगम्बराणां मतं स्त्री पदेन निरस्तम् सम्यक् पदेन मिथ्यादर्शनादीनां मोक्ष-कारणत्व व्युदस्तम् कृत्स्नकर्मक्षयोपादेन च यत् किञ्चित् कर्मावशेषे मोक्षरूपा सिद्धिर्न संभवतीति सूचितम्। ज्ञानादि विशेषगुणोच्छेदेनात्मनो मुक्ति मन्य मानस्य नैयायिकस्य मतं च निरस्तम् मोक्षावस्थायामात्मनो ज्ञानाद्यभावेन जडत्वापत्तेः।

हिन्दी व्याख्या—अपने पूर्वभवोपार्जितकर्म के अनुसार पुरुष अथवा स्त्री या नपुंसक के शरीर में वर्तमान जीव की जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा समस्तकर्मों के सकल शुभाशुभरूप कर्मों के अत्यन्त क्षयरूप अवस्था है उसी का नाम मोक्ष है।

प्रश्न—सूत्र में तो 'सम्यग्ज्ञान क्रियाभ्यां' ऐसा ही पद है फिर सम्यग्दर्शन को आपने कैसे ग्रहण किया ?

उत्तर—'सम्यग्ज्ञान' पद से सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान बिना सम्य-ग्दर्शन के नहीं होता है इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

प्रश्न—सम्यक्चारित्र को ग्रहण कैसे किया ?

उत्तर—क्रियापद से सम्यक्चारित्र को ग्रहण किया है क्योंकि मोक्षमार्ग के प्रकरण में क्रियापद से सम्यक्चारित्र ही गृहीत होता है।

प्रश्न—कहीं-कहीं तप को भी मुक्ति का मार्ग कहा गया है जैसा कि उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में कहा है सो उसे यहाँ पर क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—तप चारित्र रूप ही होता है अतः उसका अन्तर्भाव चारित्र में ही हो जाता है। इसलिए उसे पृथक् रूप से सूत्रकार ने नहीं कहा है।

प्रश्न—यहाँ पर 'गृहीत पुरुष स्त्री नपुंसक शरीरस्य' इतने बड़े विशेषण की क्या आवश्यकता थी क्योंकि पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मनुष्य ही भव्यावस्थावाला हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है अतः 'तथा भव्यस्यात्मनः' इतना ही कह देना पर्याप्त था फिर इस प्रकार संकोच न करके इतने बड़े विस्तार की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—सूत्र में जो इस प्रकार से विस्तार किया गया है वह दिगम्बर मत में 'द्रव्य स्त्री को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है' कथित इस सिद्धान्त को हटाने के लिये किया गया है तथा कृत्रिम नपुंसक को मुक्ति लाभ करने का निषेध नहीं है वह तो अकृत्रिम नपुंसक को ही है इस बात को समझाने के लिए सूत्र में नपुंसक पद का न्यास हुआ है। 'कृत्स्न कर्मक्षय' पद से सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि थोड़ा-बहुत भी कर्म यदि क्षय होने से आत्मा में बाकी बचता है तो उसके सद्भाव में आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है, तथा नैयायिकों ने जो ऐसा माना है कि आत्मा के ज्ञानादि विशिष्ट गुणों के नष्ट होने पर ही मुक्ति होती है सो ऐसा उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में आत्मा में जड़ता की प्रसक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानादि विशेष गुण आत्मा के स्वरूप हैं और जब मोक्ष में इनका अभाव है तो इस प्रकार के मोक्ष की चाहना भला कहो तो कौन करेगा ॥ ३१ ॥

सूत्र—तत्त्वनिर्णयेच्छु विजिगीषुकथाभेदात् कथा द्विविधा ॥३२॥

संस्कृत टीका—तत्त्व निर्णयेच्छुक विजिगीषु कथा भेदात् द्विविधा कथा प्रतिपादिता।

हिन्दी व्याख्या—कथा दो प्रकार की कही गई है एक तत्त्वनिर्णयेच्छु की कथा और दूसरी विजिगीषु की कथा।

संस्कृत टीका—तत्र जयपराजय निरपेक्षयो गुरुशिष्ययोस्तत्त्वनिर्णयार्थं क्रियमाणो विचारो तत्त्वनिर्णयेच्छु कथा तद्विपरीता च कथा विजिगीषु कथा सैवं वादरूपा सा च वादि प्रतिवादिभ्यां जयपराजयपर्यन्तं स्वाभिमत धर्मव्यवस्थापनार्थं परपक्ष निराकरणार्थं च क्रियते ।

हिन्दी व्याख्या—जय पराजय की इच्छा नहीं रखते हुए गुरु आदि और शिष्य आदि का जो केवल तत्त्वनिर्णय करने के निमित्त परस्पर में विचार विनिमय होता है उसका नाम तत्त्वनिर्णयेच्छु कथा है । यह कथा वीतराग कथा रूप होती है । इस कथा को वाद रूप नहीं माना गया है। वाद तो विजिगीषु कथा को ही माना गया है । यह वादी प्रतिवादी दोनों में होती है, गुरु शिष्य में नहीं होती है, एक ही अधिकरण में, एक ही काल में जब परस्पर सहानवस्थारूप विरोध वाले दो धर्मों में से किसी एक स्वाभिमत धर्म की व्यवस्था करने के लिये और पराभिप्रेत धर्म का निराकरण करने के लिये वादी और प्रतिवादी द्वारा साधन और दूषणरूप वचनों का प्रयोग किया जाता है उसी का नाम वाद है । यह वाद वादी-प्रतिवादियों में जय और पराजयपर्यन्त चलता है ॥ ३२ ॥

सूत्र—तत्त्वनिश्चयार्थं क्रियमाणो जयपराजयविहीनो विचारः तत्त्वनिर्णयेच्छु कथा ॥३३॥

संस्कृत टीका—तत्त्वनिर्णयेच्छुस्तावत् सिद्धान्तप्रतिपादितं तत्त्वं सम्यग्रीत्या स्वात्मनि परात्मनि वा व्यवस्थापनार्थमभिलषति न चात्र कश्चित् पक्ष-प्रतिपक्षग्रहो भवति—रागद्वेषाभावात् तत्त्वनिर्णयकामुकत्वात् तत्र तत्त्वनिर्णयार्थं यद्यपि पक्ष-प्रतिपक्षग्रहो भवति तथापि तत्र जयपराजयाभिलाष प्रयुक्तयोस्तयोरभावाज्जयपराजय व्यवहारो न जायते वादि-प्रतिवादित्वाभावाच्च वादव्यवहारो न जायते केवलं तत्त्वनिर्णयार्थं विचार विनिमयस्य जायमानत्वेन तत्र वीतरागत्वेम ।

अर्थ—तत्त्वनिर्णय के लिये जयपराजय विहीन किया गया जो विचार है वह तत्त्वनिर्णयेच्छु कथा है ।

हिन्दी व्याख्या—जो सिद्धान्तोक्त तत्त्वों को अच्छी तरह से समझने के लिये तथा पर को समझाने के लिये अभिलाषी होता है उसका नाम तत्त्वनिर्णयेच्छु या तत्त्वबुभुत्सु है । शिष्य को जब किसी सिद्धान्तोक्त तत्त्व में सन्देह होता है तब वह उसके समाधानार्थ गुरुजनादि से पूछता है, उनके साथ विचार-विनिमय करता है । उस विचार-विनिमय में पक्ष-प्रतिपक्ष का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि वहाँ तो केवल तत्त्व निर्णय करने की ही अभिलाषा रहा करती है, रागद्वेष का अभाव होता है, वे तो सिर्फ तत्त्व निर्णय करने के ही कामना वाले होते हैं । यद्यपि तत्त्व-निर्णय के निमित्त पक्ष-प्रतिपक्ष का भी ग्रहण होता है परन्तु वह जय-पराजय की अभिलाषा से प्रयुक्त नहीं होता है अतः उन दोनों के विचार विनिमय में जय-पराजय का व्यवहार नहीं होता है तथा वे जय-पराजय की भावनावाले वादी और प्रतिवादी के रूप में नहीं होते हैं, इसलिये उनके उस विचार में वाद का व्यवहार नहीं होता है । इस प्रकार तत्त्वनिर्णय के निमित्त उन दोनों में जो विचार-विनिमय होता है वह रागद्वेष विहीन होने के कारण तत्त्वनिर्णयेच्छु कथा या वीतराग कथारूप माना गया है ॥३३॥

सूत्र—स्वाभिमतधर्मव्यवस्थापनार्थं स्वपरपक्षसाधनदूषणाभ्यां परपराजयेच्छुकथा विजिगीषु कथा ॥३४॥

संस्कृत टीका—स्वस्य अभिमतोऽभिप्रेतो यो धर्मः पक्षः आत्मादेः कथञ्चिन्नित्यत्वादिरूपस्तस्य व्यवस्थापनार्थं स्थिरीकरणार्थं स्वपक्षसाधनेन परपक्षदूषणेन च प्रतिवादिनं पराजेतुमिच्छुः पुरुषः परपराजयेच्छुः कथ्यते तस्य वादरूपा या कथा सा विजिगीषु कथा । परपक्षखण्डनेन स्वपक्षसंस्थापनेनैव च विजयलाभात्तेन क्रियमाणायाः कथाया विजिगीषु कथात्वसंभवात् ॥३४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हिन्दी व्याख्या—अपने अभिमत पक्ष को स्थिरता करने के लिये जो स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का खण्डन करता है उसका नाम विजिगीषु है। यह विजिगीषु प्रतिवादी को परास्त करने का अभिलाषी होता है। इसकी इस वादरूप कथा का नाम ही विजिगीषु कथा है।

प्रश्न—यदि वादी अपने पक्ष की ही सिद्धि कर लेता है तो क्या इतने मात्र से उसे विजयश्री का लाभ नहीं होता है ? यदि होता है तो फिर यहाँ सूत्र में 'स्वपरपक्षसाधनदूषणाभ्यां' ऐसा द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया है ?

उत्तर—अकेले स्वपक्ष की सिद्धि कर लेने मात्र से ही वादी को विजयश्री का लाभ नहीं होता है किन्तु स्वपक्ष की सिद्धि और पर पक्ष का निराकरण करना इन दोनों से ही विजयश्री का लाभ होता है अतः वादी को दोनों ही करना चाहिये इस बात को सूचित करने के लिये ही सूत्र में 'स्वपरपक्षसाधन दूषणाभ्यां' ऐसे द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—स्वपक्ष की सिद्धि ही परपक्ष का खण्डन है या परपक्ष का खण्डन ही स्वपक्ष की सिद्धि है ऐसा मानने में क्या हानि है ?

उत्तर—हानि तो कुछ नहीं है। परन्तु ऐसा कथन जो यहाँ पर किया गया है उसका कारण एकान्तमान्यता का निराकरण करना है। बौद्ध सिद्धान्त की ऐसी मान्यता है कि वादी यदि अपने पक्ष की सिद्धि करता हुआ परपक्ष का खण्डन करता है तो वह वचनाधिक्य के प्रयोग करने के कारण पराजित ही माना जाता है, विजयी नहीं माना जाता है। अतः इस एकान्त मान्यता को दूर करने के लिये यहाँ वादी को स्वपक्ष की सिद्धि करने के साथ-साथ परपक्ष का खण्डन अवश्य करना चाहिये—तभी उसे जय की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है, स्वपक्ष की सिद्धि करने के साथ-साथ परपक्ष के खण्डन करने रूप वचनाधिक्य से उसका पराजय नहीं होता है।[1] इस तरह अपने अभिमत पक्ष की सिद्धि के लिये जो वादी प्रतिवादी बनकर दो मल्लों की तरह शास्त्रार्थ भूमिरूपी अखाड़े में उतर करके जयपराजय की इच्छा से प्रेरित हुए वाद करते हैं उस कथा का नाम विजिगीषु कथा है ऐसा जानना चाहिये ॥३४॥

सूत्र—तत्त्वनिर्णयेच्छु द्विविधः स्वात्मनि परात्मनि च ॥३५॥

संस्कृत टीका—तत्त्वनिर्णयेच्छुना क्रियमाणायाः कथायाः प्रसङ्गात्तस्य भेदमाह तत्त्वनिर्णयेच्छु द्विविध इत्यादिना तथा च तत्त्वनिर्णयेच्छु द्विविधो भवति—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुः परात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुश्चेति तत्र कश्चित्पुरुषः आत्मादेः कथञ्चिन्नित्यत्वादि तत्त्वविषयकसंशयात् स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छया गुर्वादि निकटं गत्वा वीतरागकथायां प्रवर्त्तते कश्चित्तु परानुग्रहेण प्रेरितः परात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छया वीतरागकथायां प्रवर्त्तते एतेन वीतरागकथायां प्रवर्त्तमानस्य तत्त्व निर्णयेच्छोः वीतराग कथाकरणेन स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयो जायते स्वद्वारा शिष्याद्यात्मनि च तत्त्वनिर्णयो भवतीति फलितम् ॥३५॥

हिन्दी व्याख्या—तत्त्वनिर्णयेच्छु दो प्रकार का होता है—एक स्वात्मा में तत्त्वनिर्णय की इच्छा वाला और दूसरा परात्मा में तत्त्वनिर्णय का इच्छुक। यहाँ पर जो तत्त्वनिर्णयेच्छु के ये दो भेद कहे गये हैं वे तत्त्व-निर्णयेच्छु द्वारा की गई कथा के प्रसङ्ग को लेकर कहे गये हैं। इनमें कोई एक पुरुष ऐसा होता है जो सिद्धान्तोक्त तत्त्व को समझने के लिये अभिलाषा वाला होता है—उसे जब सिद्धान्तोक्त आत्मा के कथंचित् नित्यत्वादि धर्म में संशय उत्पन्न हो जाता है तो वह अपने में उस तत्त्व को समझने के अभिप्राय से

---

१ विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम्'—अष्टशत्याम्।

गुर्वादि के निकट जाकर वीतराग कथा में प्रवृत्त होता है। अर्थात् बड़े नम्रभाव से बिना किसी जय-पराजय की भावना के वह उनसे उस संशय को दूर करने की चेष्टा करता है, उनसे तर्क-वितर्क करता है और कोई एक शिष्य ऐसा होता है कि दूसरे जन इस तत्त्व को समझें इस अभिप्राय से गुर्वादिजनों से उस तत्त्व के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करता है इस तरह की वीतराग कथा के करने से तत्त्व निर्णयेच्छुजन स्वात्मा में तत्त्व का निर्णय प्राप्त कर लेता है और फिर वह अपने द्वारा पर की आत्मा में तत्त्व का निर्णय करा देता है।

सूत्र—प्रथमः शिष्यादिर्द्वितीयः क्षायोपशमिकक्षायिकज्ञानवान् गुर्वादिः ॥ ३६ ॥

संस्कृत टीका—पूर्वं तत्त्वनिर्णयेच्छोरपरपर्यायस्य तत्त्वनिर्णिनीषो र्द्वैविध्यमुक्तं सम्प्रति तदेव द्वैविध्यमुदाहरणमुखेन प्रतिपादयितुं प्रकारान्तरं प्रदर्श्यते तत्र प्रथमः शिष्यादिर्विनेयजनः, द्वितीयो गुर्वादिः प्रथमादिशब्दात् शिष्यसहाध्यायिसुहृद् वर्गादिर्ग्राह्यः, द्वितीयादि शब्दादाचार्योपाध्यायगणि तीर्थंकरादिर्ग्राह्यः। परात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छोर्गुर्वादेर्द्वैविध्यं क्षायोपशमिकक्षायिकज्ञानिभेदा जायते। तत्र ज्ञानावरण कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाविक्षयात्तेषामेव सदुपशमाददेश घातिस्पर्धकानामुदये निष्पन्नं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपं ज्ञानं व्यस्तं समस्तं वा यस्यास्ति स क्षायोपशमिकज्ञानी, ज्ञानावरणकर्मणः सर्वथा क्षयेण निष्पन्नं केवलज्ञानं यस्यास्ति स क्षायिकज्ञानी शिष्यादिरूपपरात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुः क्षायोपशमिक ज्ञानशाली क्षायिकज्ञानशाली च भवति एतेनेदमवगन्तव्यं यत् वीतरागकथारम्भकाणां स्त्रयोभेदा भवन्ति। विजिगीषु कथारम्भकाणामेक एव भेदो भवति, यथा—(१) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुः (२) परात्मनि तत्त्व निर्णयः क्षायोपशमिकज्ञानी (३) परात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुः क्षायिकज्ञानी च। नहि कश्चिदपि प्रेक्षावान् विजिगीषुः स्वात्मानं विजेतुमिच्छति नापि केवली परं पराजेतुमिच्छति तस्य वीतरागत्वात् अतः स्वात्मनि विजिगीषुभेदो न भवति परात्मनि केवलिरूपो विजिगीषु भेदश्च न संभवति अपितु परात्मनि क्षायोपशमिकशालि विजिगीषु एक एव भेदो भवति स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छुरपि क्षायोपशमिकज्ञानशाल्येव भवति न तु क्षायिकज्ञानशाली केवली तस्य क्षायिकज्ञानशालिनः केवलिनो निर्णीत सकल तत्त्व ज्ञानशालित्वात् स्वात्मनि तत्त्वबोधस्य निष्पन्नत्वेन तत्त्व बुभुत्साऽभावात् तस्मात् स्वात्मनि तत्त्वबुभुत्सुरपि विजिगीषुवदेकरूप एव क्षायोपशमिकज्ञानशाली भूतोबोध्य परात्मनि तत्त्वबुबोधयिषुस्तु द्विविधो भवति क्षायोपशमिक ज्ञानशाली क्षायिकज्ञानशाली चेति ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो तत्त्वबुभुत्सु तत्त्वनिर्णयेच्छु प्रथम प्रकार का होता है अर्थात् स्वात्मा में तत्त्वनिर्णय की इच्छावाला होता है वह शिष्य आदि रूप होता है और जो परात्मा में तत्त्वनिर्णय की अभिलाषावाला गुरु आदि दो प्रकार का होता है एक क्षायोपशमिकज्ञानशाली गुरु आदि और दूसरा क्षायिकज्ञानशाली गुरु आदि ॥ ३६ ॥

हिन्दी व्याख्या—तत्त्वनिर्णयेच्छु शब्द का पर्यायवाची तत्त्वनिर्णिनीषु है। यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह तत्वनिर्णयेच्छु स्वात्मा में और परात्मा में तत्त्वनिर्णय की ही अभिलाषा वाला होता है, जय-पराजय की अभिलाषा वाला नहीं होता है इसी बात को सूत्रकार ने यहाँ उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। प्रथम प्रकार का जो तत्त्वनिर्णयेच्छु होता है वह शिष्यादिरूप होता है और द्वितीय प्रकार का जो तत्त्वनिर्णयेच्छु होता है वह गुरु आदि रूप होता है। प्रथम आदि शब्द से शिष्य के सहाध्यायी सुहृदवर्ग का संग्रह और द्वितीय आदि शब्द से आचार्य उपाध्याय गणी एवं तीर्थंकर आदिकों का संग्रह हुआ है। स्वात्मा में तत्त्वनिर्णयेच्छु एक ही प्रकार के ही होते हैं। क्योंकि परात्मा में तत्त्वनिर्णय की

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

इच्छावाला गुरु आदि जन क्षायोपशमिक ज्ञानशाली भी होता है और क्षायिक ज्ञानशाली भी होता है इसी कारण उसके क्षायोपशमिक ज्ञानवान और क्षायिकज्ञानवान् ऐसे दो भेद प्रकट कये गये हैं।

प्रश्न—क्षायोपशमिक शब्द का वाच्यार्थ क्या है ? यह हमें दृष्टान्त देकर समझाइए ?

उत्तर—सुनो—कल्पना करो—किसी अमुक व्यक्ति के घर पर दस तस्कर चोरी करने के लिए अपने स्थान से एक साथ चले और २५ कदम पर आकर उनमें से ५ तस्कर दूसरी तरफ चले गये, जिस व्यक्ति के यहाँ पर उन्हें चोरी करनी थी वहाँ तक नहीं आये, सिर्फ ५ तस्कर ही उस व्यक्ति के घर तक आये। अब इनमें से ४ तस्कर बाहर बैठे रहे और १ तस्कर ने उस व्यक्ति के घर में घुसकर चोरी करना प्रारम्भ कर दिया। यह तो दृष्टान्त है। अब इस दृष्टान्त से हम आपको यह समझाते हैं कि इसी प्रकार से ज्ञानावरण कर्म में दो जाति के स्पर्द्धक होते हैं—एक सर्वघातिस्पर्द्धक और दूसरे देशघातिस्पर्द्धक। इनमें से कुछ सर्वघातिस्पर्द्धकों का उदयाभावरूप क्षय और कुछ स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देश-घाति स्पर्द्धकों का उदय जब होता है तब ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होना कहा जाता है। इस ज्ञाना-वरण कर्म के क्षयोपशमवाला जो व्यक्ति होता है वह क्षायोपशमिक ज्ञानशाली कहा गया है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान्, अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तक उत्पन्न होते हैं। यदि दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि-ज्ञान या मतिज्ञान श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं और यदि चारों ज्ञान हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। पाँच ज्ञान एक साथ एक आत्मा में नहीं होते हैं। केवलज्ञान केवलज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से होता है यह ज्ञान जिसके होता है वह क्षायिकज्ञानी कहा जाता है। शिष्यादिरूप परात्मा में तत्त्वनिर्णय होने की इच्छा वाला क्षायोपशमिक ज्ञानशाली भी होता है और क्षायिकज्ञानशाली भी होता है। इस कथन से यह हमें समझ में आ जाता है कि तत्त्वनिर्णयेच्छुकथा या वीतरागकथा के आरम्भकों के तीन भेद होते हैं—एक तो स्वात्मा में तत्त्वनिर्णय का अभिलाषी, दूसरा पर आत्मा में तत्त्वनिर्णय का अभिलाषी क्षायोपशमिकज्ञानशाली गुरु आदि और तीसरा पर आत्मा में तत्त्वनिर्णय का अभिलाषी क्षायिक ज्ञानशाली तथा विजिगीषु के आरम्भ का एक ही भेद होता है क्योंकि कोई भी विजिगीषु अपने आपको जीतने का अभिलाषी नहीं होता है, वह तो दूसरे को ही जीतने का अभिलाषी होता है इसलिये जिस प्रकार तत्त्वनिर्णयेच्छु के स्वात्मतत्त्वनिर्णयेच्छु और परात्मतत्त्वनिर्णयेच्छु ऐसे दो भेद कहे गये हैं ऐसे ये दो भेद यहां संभवित नहीं होते हैं। परात्म विजिगीषु में परात्मतत्त्व निर्णीषु की तरह दो भेद इसलिए संभवित नहीं होते हैं कि जो क्षायिकज्ञानशाली केवली होता है वह वीतराग होने से परात्मविजिगीषु नहीं होता है अतः वहाँ पर परात्मविजिगीषु क्षायोपशमिकशाली ऐसा एक ही भेद होता है। इसी तरह स्वात्मनिर्णयेच्छु में क्षायोपशमिक ज्ञानशाली ऐसा ही एक भेद होता है वहाँ स्वात्मनिर्णयेच्छु क्षायिकज्ञानशाली केवली ऐसा भेद नहीं होता है क्योंकि वह तो क्षायिकज्ञानरूप केवलज्ञान वाला होता है अतः निर्णीतसकलतत्त्वज्ञानशाली होने से वह स्वात्मा में सकल पदार्थ के बोधवाला ही होता है फिर उसे सकलपदार्थ के निर्णय की स्वात्मा में इच्छा ही नहीं रहती है। इसलिये स्वात्मा में जो तत्त्वनिर्णयेच्छु होता है वह क्षायोपशमिकज्ञानशाली ही होता है, क्षायिक-ज्ञानशाली नहीं होता है ऐसा जानना चाहिये। हाँ, जो परात्मा में तत्त्व-निर्णयेच्छु होता है वह क्षायिकज्ञानशाली भी होता है और क्षायोपशमिकज्ञानशाली भी होता है। अतः ये दो भेद यहीं पर संभवित होते हैं। स्वात्मतत्त्वनिर्णयेच्छु में नहीं ॥ ३६ ॥

सूत्र—विजिगीषुकथारूपो वादो वादिप्रतिवादि सभ्यसभापति चतुरङ्गोपेतः कदाचित् त्रिद्व्यङ्गोपेतश्च ॥सू० ३७॥

संस्कृत टीका—वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतिभेदाद् वादस्य विजिगीषु कथाया चत्वार्यंगानि भवन्ति यदा विजिगीषुणा सह विजिगीषोर्वादो भवति तदा तत्र वादस्य चत्वार्येवाङ्गानि अतो विजिगीषु कथारूपो वादश्चतुरंगोपेत उक्तः। अन्यथा विजयपराजयव्यवस्थाच्छिद्येत। तत्त्वनिर्णयेच्छुकथापेक्षया सा कथा कदाचित् त्र्यङ्गोपेता कदाचित् च द्व्यंगो पेता च भवति तथाहि—स्वात्मनि तत्त्वबुभुत्सौ वादिनि सति प्रतिवादिनि च परत्र तत्त्वनिर्णयेच्छुक्षायोपशमिकज्ञानशालिनि सति च तस्मिन् स्वयं तत्त्वनिर्णयजनक सामर्थ्ये च सा कथा वादिप्रतिवादिरूप द्व्यङ्गोपेता भवति तथाविध सामर्थ्याभावे तु वादिप्रतिवादि-सभ्यरूपत्र्यङ्गोपेता भवति इदमत्र बोध्यम्—यदा स्वात्मनि तत्त्वनिर्णययेच्छुर्वादी शिष्यादिर्भवति प्रतिवादी तु परात्मनि बुबोधयिषुः क्षायोपशमिकज्ञानी गुर्वादिर्भवति अथ च प्रतिवादी स्वयमेव तथाविधे वादिनि शिष्यादौ जयपराजय निरपेक्षतया तत्त्वनिर्णयं कर्तुं समर्थो भवति तदा तदितरयोः सभ्यसभापतिरूपाङ्ग-योस्तत्र प्रयोजनाभावात् वादिप्रतिवादिरूपद्व्यङ्गोपेता सा कथिता यदा तु कृतप्रयत्नोऽपि गुर्वादिः प्रति-वादी परात्मनि शिष्यादौ तत्त्वबुबोधयिषुः क्षायोपशमिकज्ञानी तथाविधे वादिनि शिष्यादौ तत्त्वनिर्णयं कर्त्तुं न पारयति तदा तन्निर्णयार्थं सभ्यानामप्यपेक्ष्यमाणत्वात् सभ्यवादिप्रतिवादीरूपत्र्यङ्गोपेताऽपि सा कथिता एतयोः शाठ्यकलहादि विवादाऽसम्भवेन सभापतेः प्रयोजनाभावात् यदा च केवली परात्मनि तत्त्वबुबोधयिषुर्भवति—तदा सा द्व्यङ्गोपेतैव भवति। विशेषतोऽन्यतोऽवगन्तव्योऽयं विषयः। विस्तर-भयादधिकमत्र नैव चिन्तितम्।

अर्थ—विजिगीषुकथारूप वाद—वादी प्रतिवादी सभ्य और सभापतिरूप चार अंगों वाला होता है तथा वीतरागकथारूप वाद कदाचित् दो अंगों वाला होता है और कदाचित् तीन अंगों वाला होता है।

हिन्दी व्याख्या—जब जय-पराजय की भावना से प्रेरित होते हुए दोनों का—वादी और प्रतिवादी का परस्पर में वाद—शास्त्रार्थ होता है अपने-अपने स्वीकृत धर्म की संस्थापना के निमित्त तब तो वह वाद सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी इन चार अंगों वाला ही होता है, इनमें से यदि एक भी अङ्ग की कमी होती है तो वहाँ पर जय पराजय की व्यवस्था नहीं हो सकती है। जब तत्त्वनिर्णय करने की अभिलाषा वाले किसी शिष्यादि का विचार-विनिमय गुर्वादिजनों के साथ होता है वहाँ वह वाद की संज्ञा में परिगणित नहीं होता है क्योंकि वहाँ जय-पराजय की भावना नहीं होती है किन्तु तत्त्व-संदेह दूर कर तत्त्व के निर्णय करने की होती है। यह निर्णय विशिष्ट ज्ञानीजन द्वारा ही किया जा सकता है। विशिष्ट ज्ञानी क्षायोपशमिक ज्ञानी भी होते हैं और केवली भी होते हैं। जब कोई क्षायोपशमिक ज्ञानी विशिष्ट क्षायो-पशमिक ज्ञानशाली के पास अपने तत्त्वनिर्णय करने के अभिप्राय से प्रेरित हुआ जाता है और वह विशिष्ट क्षायोपशमिक ज्ञानी गुर्वादि जन उसके संदेह को दूर कर तत्त्वनिर्णय उसे करा देने में समर्थ होता है तब तो उस स्थिति में वहाँ पर व्यवहार की अपेक्षा वादी और प्रतिवादी ऐसे ये दो ही अंग होते हैं और जब यह प्रतिवादी क्षायोपशमिक ज्ञानशाली गुर्वादि जन उसे तत्त्वनिर्णय करा देने में अपने आपको असमर्थ देखता है तब ऐसी परिस्थिति में वहाँ वादी प्रतिवादी और सभ्य इन तीन अङ्गों की आवश्यकता होती है अतः उस तत्त्वनिर्णय के अर्थ की गई वह वीतराग कथा तीन अंगोंवाली होती है। दो अंगोंवाली वीतराग कथा में सभ्य सभापति रूप दो अंगों की आवश्यकता इसलिए नहीं होती है कि वहाँ पर जय-

पराजय की भावना नहीं है और प्रतिवादी गुर्वादिजन उसे स्वयं ही तत्त्वनिर्णय करा देने की शक्ति वाले हैं तथा जब वह वीतराग कथा तीन अंगों वाली होती है तो उसका तात्पर्य ऐसा है कि शिष्यादि तो अपने तत्त्वविषयक संदेह को दूर करने के लिए गुर्वादि के पास ही जाते हैं परन्तु गुर्वादिजन प्रयत्न करने पर भी उस शिष्य को तत्त्वनिर्णय करा देने में समर्थ नहीं होते हैं तो वहाँ पर सभ्य रूप तृतीय अंग की भी आवश्यकता होती है। यहाँ सभापति रूप चतुर्थ अंग की आवश्यकता इसलिए नहीं होती है कि इन दोनों शिष्य और गुर्वादिकों में शाठ्यकलह आदिरूप विवाद तो होता नहीं है इसलिए प्रयोजन के अभाव में इस चतुर्थ अंग की आवश्यकता नहीं प्रकट की गई है। तथा—

तत्त्वनिर्णीषु शिष्यादि जन जब केवलज्ञानी के पास जाकर तत्त्वनिर्णय करता है—तब वहाँ पर भी पूर्वोक्त दो ही अंग होते हैं तीन नहीं। इस विषय को और भी अधिक विशद रूप से जानने के लिए अन्य ग्रन्थों को देखना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर वादांगों का विस्ताररूप से वर्णन है। यह बालकोपयोगी ग्रन्थ है अतः विस्तार हो जाने के भय से हमने उसे यहाँ पर चर्चित नहीं किया है ॥३७॥

॥ छठवाँ अध्याय समाप्तः ॥

॥ न्यायरत्नावली टीका सहित न्यायरत्न समाप्त ॥